

# माण्डूक्यकारिका

(अलातशान्ति प्रकरण) प्रवचन



स्वामीश्री अखण्डानन्द सरस्वती



## महाराजश्री : संक्षिप्त परिचय

पितामहकी प्रार्थनाके ठीक नौ मास पूर्ण होनेके ब्रजके ठाकुर श्रीशान्तनुविहारीजीकी कृपासे भारतवर्ष विचित्रतम वाराणसी मण्डलके महाराई नामक ग्राममें, सरयूपार ब्रह्मण वंशमें महाराजश्रीका जन्म संवत् १९६८ श्रावण शुक्ल तृतीया तदनुसार शुक्रवार २५ जुलाई १९११ को पुष्य नक्षत्रमें हुआ था। श्रीठाकुरजीकी कृपासे प्राप्त होनेके कारण बालकका नाम 'शान्तनुविहारी' रखा गया।

बड़े-बड़े ज्योतिषशास्त्रियोंने महाराजश्रीकी उम्र १९ वर्ष महाराई। मृत्युका भय महाराजश्रीको आध्यात्मिक मार्गकी ओर ले गया। सभी संत महापुरुषोंने स्पष्ट कहा कि प्रारब्धसे जन्म चुननेका उपाय तो हम नहीं कर सकते किन्तु ऐसा ज्ञान दे सकते हैं जिससे मृत्युकी विभीषिका सर्वदाके लिए मिट जाये। वस्तुतः ऐसा हो हुआ। महाराजश्रीके अन्तःकरणमें अमृतब्रह्मका आविर्भाव हुआ और मृत्युकी काली छाया सर्वदाके लिए दूर भाग गयी।

एक बार महाराजश्री प्रयागमें झुसीके सुप्रसिद्ध ब्रह्मचारी भुदत्तजीसे मिलने गये थे। वहीं पहली बार महाराजश्री महाराजके दर्शन हुए थे और उनके साथ वेदान्त के अनेक प्रश्नोत्तर हुए। बाबाकी अद्वय-निष्ठा और जीवन-वैदिक विलक्षण स्वरूपकी मस्ती देखकर महाराजश्री मंत्रमुग्ध हो गये। बाबाकी प्रेरणा और वात्सल्य उन्हें प्राप्त हुआ। महाराजश्रीके संन्यास-प्रारम्भ करनेमें बाबाकी ही अन्तरंग प्रेरणा थी और ज्योतिषीठाध्याय करारचार्य स्वामीश्री ब्रह्मानन्दजी सरस्वतीसे संन्यास-दीक्षा ग्रहण की। संन्याससे पूर्व गोरखपुरमें 'कल्याण' के सन्तोंके मण्डलमें महाराजश्री सात वर्ष तक रहे।

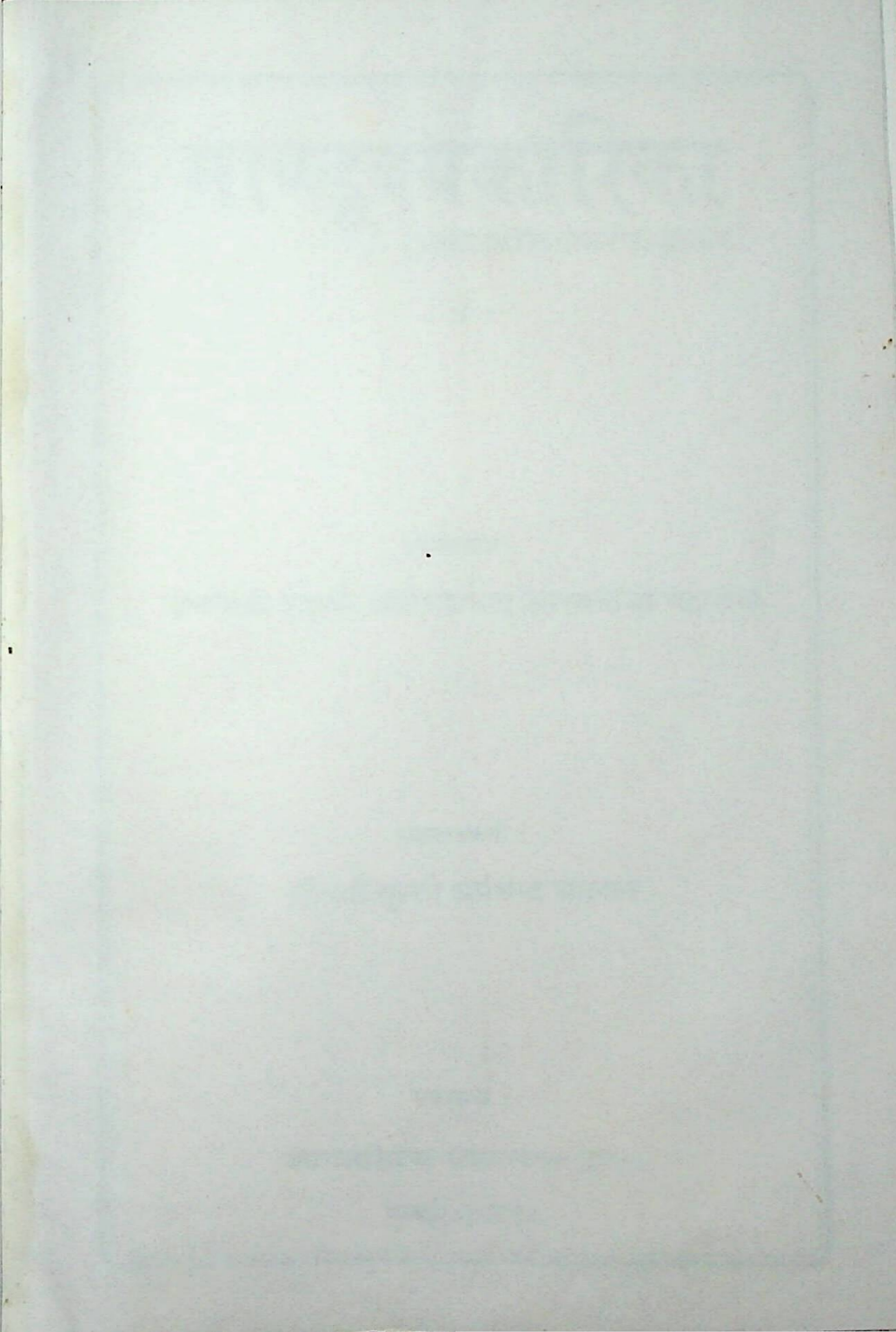
सर्वप्रथम दस वर्षकी वयमें इनके पितामहने इनसे मन्दागवतका पाठ कराया और तबसे लीला संवरण पर्यन्त मन्दागवत एक सुहृदके समान उनका साथी रहा। उनका अध्ययन सत्संग भी निजानन्दकी मस्ती थी, जो १७ नवम्बर १८७७ की सायं सत्संग सभा तक अनवरत चलता रहा। आज भी सत्संग-प्रेमी ऑडियो-वीडियो कैसेटों एवं ग्रन्थोंके माध्यमसे उनकी अमृतवाणीका आनन्द लुटते रहते हैं।

१९ नवम्बर, १९८७ मार्गशीर्ष कृष्ण त्रयोदशी, प्रातः दो बजे के करीब अर्थात् ब्रह्मबेलामें व्यष्टि-प्राण समष्टि-प्राणसे एक सर्वव्यापक हो गये।

महाराजश्रीके जीवनमें प्रत्यक्ष दीखता था कि चाहे कोई भी सत्प्रदायका हो, मूर्ख हो या विद्वान्, स्त्री हो या पुरुष, गरीब हो या वृद्ध, निर्धन हो या धनी, सबके प्रति आपका समान व्यवहार था। जो व्यक्ति जिस कामनासे उनके पास आया, उसे वह प्रत्यक्ष ही पूर्ण कर देता था। चारों पुरुषार्थ एवं पञ्चम पुरुषार्थ भक्तिको वे अन्त तक प्रदान करते रहे।

महाराजश्री द्वारा स्थापित 'आनन्द-वृन्दावन आश्रम' श्री गुरुदेव धाममें तीर्थराज प्रयाग सदृश है, जहाँ कर्म, भक्ति और ज्ञान का संगम है। आश्रममें सत्संग, श्रीठाकुर-सेवा, गौ-सेवा, श्व-सेवा, वेद-विद्यालयमें शास्त्रोंका स्वाध्याय, निःशुल्क शिक्षा आदि विभिन्न गतिविधियोंके साथ-साथ महाराजश्रीके शिष्य शुरु की गयी सभी आचार्योंकी जयन्ती मनानेकी प्रथा अत्यन्त सन्तुष्टिकारी दृष्टिसे अविस्मरणीय रहेगी। यह महाराजश्रीके उदार दृष्टिकोणका उत्तम उदाहरण है।











# माण्डूक्यकारिका

(अलातशान्ति प्रकरण) प्रवचन

: ४ :

प्रवचनकार :

अनन्तश्री स्वामी अखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज

संकलनकर्त्री :

श्रीमती कुन्ती धर्मचन्द जालान

प्रकाशक :

सत्साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट

मुम्बई-400006



पुस्तक प्राप्ति स्थान :

सत्साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट

‘विपुल’ 28/16 बी. जी. खेरमार्ग  
मालावार हिल  
मुम्बई - 400 006  
फोन : (022) 23682055  
मो. : 09619858361 (नरेश भाई)

स्वामीश्री अखण्डानन्द पुस्तकालय  
आनन्द कुटीर, मोतीझील  
वृन्दावन - 281 121  
फोन : (0565) 2913043, 2540487  
मो. : 09837219460

●  
प्रथम संस्करण : 3000  
जनवरी 1990  
द्वितीय संस्करण : 1100  
गुरुपूर्णिमा 2004  
तृतीय संस्करण : 1100  
संन्यास जयन्ती  
3 फरवरी 2012

●  
मूल्य : रु. 150/-

●  
मुद्रक :

आनन्दकानन प्रेस  
डी. 14/65, टेढ़ीनीम  
वाराणसी - 221001  
फोन : (0542) 2392337

माण्डूक्य (अलातशान्ति प्रकरण)

## प्रकाशकीय

माण्डूक्य - कारिका - प्रवचनका यह चतुर्थ प्रकरण 'अलातशान्ति'का प्रथम संस्करण जनवरी 1990 में प्रकाशित हुआ था। प्रकाशन किया था-स्वामीश्री अखण्डानन्द सरस्वती सेवा-संस्थान, वाराणसीने। अब इधर वह संस्करण अनुपलब्ध हो गया। हमारे प्रकाशनोंमें इसके पूर्वके तीन प्रकरण आगम, वैतथ्य और अद्वैत की व्याख्याएँ तीन ग्रन्थोंके रूपमें प्राप्त हैं। चतुर्थ इस 'अलातशान्ति'की माँग थी। अब ये चारों चार खण्डोंमें हमारे यहाँसे प्रकाशित होकर विक्रयके लिए उपलब्ध हैं। पाठक अपनी आवश्यकतानुसार इन्हें विक्रय-केन्द्रोंसे प्राप्त करें।

जिज्ञासु वेदान्त-प्रेमियों, विचारकों, विद्वानों, अनुसन्धित्सुओंके लिए ये सद्ग्रन्थ अत्यन्त उपयोगी हैं।

गुरुपूर्णिमा

2 जुलाई, 2004 ई0

प्रकाशक

सत्साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट

मुम्बई / वृन्दावन

## तृतीय संस्करण

## प्रकाशकीय

माण्डूक्यकारिका (अलातशान्ति प्रकरण) प्रवचनके तृतीय संस्करणके साथ ही अब एक बार फिरसे माण्डूक्यके चारों प्रकरणों पर परमपूज्य महाराजश्रीकी अब्दुत व्याख्याका अलौकिक प्रसाद उपलब्ध करवाया जा रहा है। हमें पूर्ण विश्वास है कि वेदान्त-विचार अनुसन्धित्सुओं द्वारा इसका स्वागत होगा।

—ट्रस्टी

सत्साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट

मुम्बई / वृन्दावन



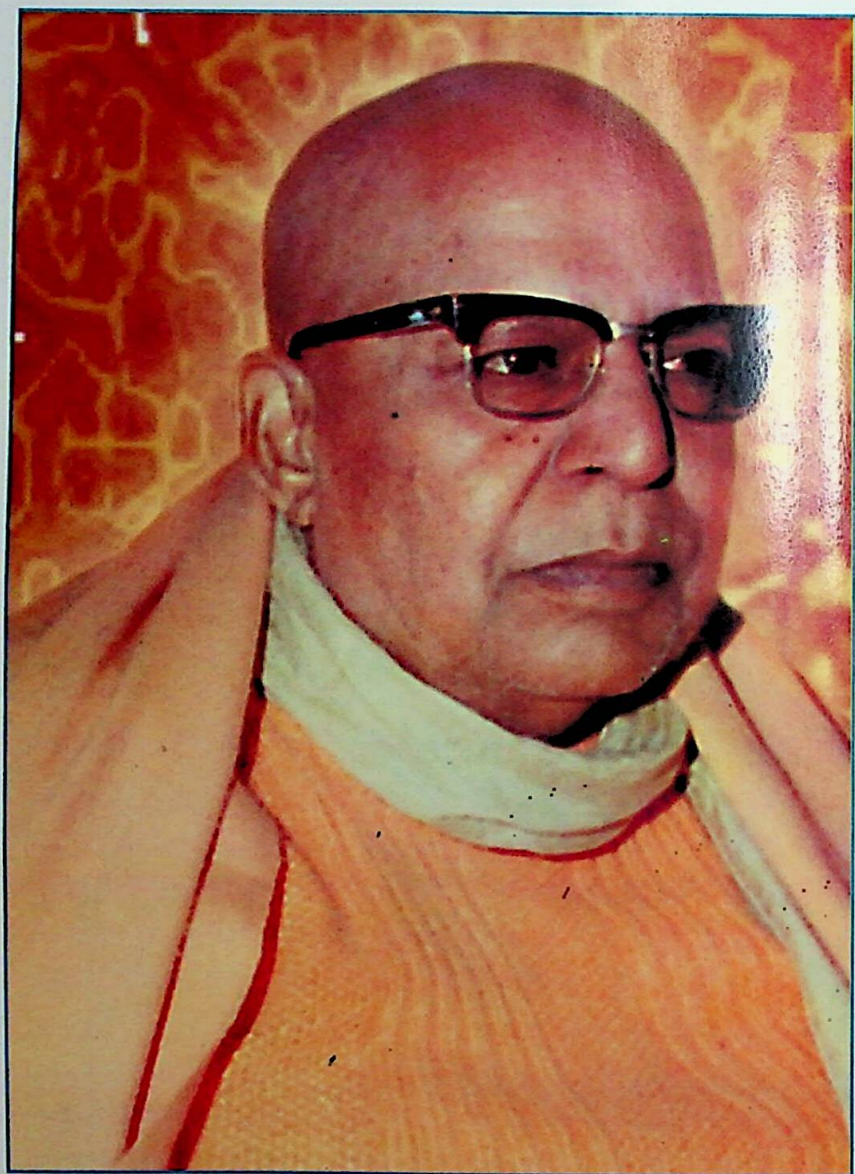
## ढङ्गलाचरण

विश्वं दर्पणदृश्यमाननगरीतुल्यं निजान्तर्गतं  
पश्यन्नात्मनि मायया बहिरिवोद्भूतं यथा निद्रया ।  
यः साक्षात्कुरुते प्रबोधसमये स्वात्मानमेवाद्वयं  
तस्मै श्रीगुरुमूर्तये नम इदं श्रीदक्षिणामूर्तये ॥









स्वामीश्री अखण्डानन्दजी सरस्वती

## अलातशान्ति

### प्राक्कथन

माण्डूक्य उपनिषद् मूलमें ही ब्रह्मका निरूपण करनेके लिए चार विभागोंकी प्रक्रिया स्वीकार करती है। जैसे परमार्थ वस्तुको समझानेके लिए विश्व, तैजस, प्राज्ञ और तुरीयका विभाजन है। इनके प्रतीक ओंकारको भी चार विभागों में विश्लिष्ट करके अकार, उकार, मकार और अमात्रके रूपमें चित्रित किया गया है। इनमें तीन आरोपित विभाग होते हैं और चतुर्थ अपवादोपलक्षित आत्मतत्त्व। इसी आधारपर लिखी हुई और उसी वस्तुको विवृत करनेवाली गौडपादीय माण्डूक्यकारिकामें भी चार प्रकरण होना उचित है। पहले प्रकरणमें वैश्वानर अकार, दूसरेमें तैजस उकार, तीसरेमें प्राज्ञ मकार और चौथेमें अमात्र तुरीयका निरूपण है। 'पाद' शब्दका अर्थ है तीन प्रकरणोंमें प्रतिपत्तिका साधन। चतुर्थ प्रकरणमें 'पाद' शब्दका अर्थ है प्रतिपन्न वस्तु। व्याकरणके अनुसार पहली करण व्युत्पत्ति है और दूसरी भाव व्युत्पत्ति।

जब हम पहले-पहल परमार्थ वस्तुके विज्ञानके लिए अग्रसर होते हैं तब हमारा पहला कदम यह होता है कि व्यक्तिगत देहकी अहंता-ममतासे मुक्त होकर अपनेको वैश्वानरके रूपमें समझें। विचारसे सिद्ध होता है कि जाग्रत्-अवस्थामें वर्तमान यह शरीर स्वप्न-पुरुषके समान है। जैसे सब हैं, किसी भीड़में लाखों, उन्हींमें-से एक यह शरीर भी है। अपना असली शरीर तो वह है जो शय्यापर सोया हुआ है। जो भीड़में दीख रहा है वह स्वप्न-पुरुष मनःकल्पित व्यक्ति है। अतः अपनेको सप्तांगके रूपमें अनुभव करना अर्थात् पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, सूर्य और द्युलोकको अपने शरीरके रूपमें समझना वैश्वानरसे एकता है। इसका अर्थ है कि हम परमार्थ-पथपर एक पग आगे बढ़ें। अपनेको विश्वात्माके रूपमें अनुभव किया।

परमार्थ-पथपर द्वितीय पादविन्यास है तैजससे अपनी एकताको समझना। देह-व्यक्तिमें स्थिति साधन मार्गमें कोई कदम नहीं है। जाग्रदवस्थाकी प्रधानतासे समग्र जाग्रत् दृश्यको अपनी प्रज्ञाका विलास मानना वैश्वानरसे एकता है। उसमें अपना शरीर भी है। तैजसका स्थान स्वप्न है। जाग्रदवस्थाके संस्कार ही पटमें



चित्रके समान अंकित हो जाते हैं और बिना विषयेन्द्रिय-संयोगके ही अविद्या, कामना और कर्मके अनुसार जाग्रद्-व्यवहारके समकक्ष ही भासने लगते हैं। विषय-शून्य प्रज्ञामें, जो केवल प्रकाशस्वरूप है, ज्ञाता अथवा विषयीके रूपमें स्थित होनेके कारण इसे तैजस कहते हैं। जाग्रदमें स्थूल भोग है और स्वप्नमें सूक्ष्म भोग है परन्तु यह ध्यान रखने योग्य है कि यह स्वप्न स्वप्नपुरुषको होनेवाला स्वप्न नहीं है। तैजस भी वैश्वानरके समान ही सप्तांग है और व्यष्टिगत नहीं, समष्टिगत है। अतएव जो लोग व्यक्तिगत स्थूल, सूक्ष्म शरीर-सम्बन्धी साधनोंमें अभिनिविष्ट रहते हैं वे स्वप्नपुरुषका ही निर्माण करते हैं, सप्तांगकी उपाधिका विषयी अपनेको नहीं जान पाते। इसी तैजसको अपने आत्माके रूपमें जानना तैजससे एक होना है। यह भी ध्यान देने योग्य है कि इस उपनिषदमें व्यष्टि-समष्टि, जीव-ईश्वर, तैजस-हिरण्यगर्भ और वैश्वानर-विराट्का भेद करके निरूपण नहीं है। अतः इसमें पंचकोश-विवेककी भी आवश्यकता नहीं होती। तत्पदवाच्यार्थ और त्व-पदवाच्यार्थका पृथक्-पृथक् विवेचन भी अपेक्षित नहीं है। पहले ही व्यष्टि समष्टिको एक करके जिज्ञासु देहाभिमानसे मुक्त होकर विश्वात्माका अनुभव करने लगता है। आत्मचैतन्य तो स्थूल और सूक्ष्म दोनोंका एक ही ज्ञाता है। अन्तर व्यष्टि-समष्टिका नहीं है, स्थूल-सूक्ष्मका है। वे दोनों उपाधि हैं और आत्मा एक है।

इसके अनन्तर हम सुषुप्ति-स्थान आत्माका अनुभव करते हैं। उसके सूक्ष्म अथवा स्थूल सातो अंग नहीं हैं। वहाँ न विषय है, न वासना। वहाँ केवल चित्तसे आनन्दका भोग होता है। वहाँ विषय-विषयी-भावका स्फुरण नहीं है। बिना किसी प्रयासके ही दुःखभाव हो जाता है। वह सभी प्रज्ञाओंका घनीभाव है परन्तु वहाँ विद्यमान चेतन जीव नहीं कहा जा सकता। वह सर्वेश्वर है, सर्वज्ञ है, अन्तर्यामी भी है। सबका अभिन्ननिमित्तोपादान कारण है। उसीसे सभी वस्तुओं व प्राणियोंकी उत्पत्ति एवं प्रलय होते हैं। उसीसे, उसीमें, उसीकी उत्पत्ति और उसीसे उसीमें उसीका प्रलय। यह प्राज्ञ ईश्वर ही है; क्योंकि बीजात्मक है। परन्तु यहाँ भी आत्मा वही है जो तैजस और वैश्वानरमें है। संज्ञाका भेद स्थानके भेदसे है, वस्तुके भेदसे नहीं। इस प्रकार मायाके सम्बन्धमें आत्माके तीन पादोंका निरूपण है। यह इस मायाकी अपेक्षासे चतुर्थ होनेके कारण 'तुरीय' नामसे व्यवहृत होता है। इस तुरीयके रूपमें आत्माको जाननेके लिए ही तीनों पाद-विन्यास हैं।

चतुर्थ पाद साधन नहीं है, स्वतः सिद्ध है। समस्त उपाधियों एवं स्थानोंका अपवाद करनेपर वह अपने स्वरूपके रूपमें ही शेष रहता है। अतएव तुरीयकी



प्रतिपत्तिके लिए निषेधकी प्रधानतासे ही संकेत किया जाता है। देखिये, माण्डूक्यका मूलमन्त्र—

नान्तःप्रज्ञं न बहिःप्रज्ञं नोभयतः प्रज्ञं न प्रज्ञानघनं न प्रज्ञं नाप्रज्ञम्।  
अदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्मप्रत्यसारं प्रपञ्चोपशमं शान्तं  
शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः ॥ ७ ॥

अन्तःप्रज्ञका निषेध तैजसका अपवाद है। बहिःप्रज्ञका निषेध करके वैश्वानरका अपवाद किया है। उभयतः प्रज्ञं न होना अन्तराल अवस्थाका निषेध है। सुषुप्ति-अवस्थाका प्रतिषेध करनेके लिए 'प्रज्ञानघन नहीं, ऐसा कहा गया है; क्योंकि उस अवस्थामें बीजभावसे पृथक्करण नहीं होता। 'प्रज्ञ नहीं है' यह कहनेका आशय है कि एक साथ सब विषयोंको नहीं जानता। 'अप्रज्ञ नहीं है' अर्थात् जड़ नहीं है। अतएव वह अदृष्ट, अव्यवहार्य, कर्मेन्द्रियोंसे अग्राह्य, लक्षणचिह्न रहित होनेके कारण अनुमानका अविषय अचिन्त्य, एवं वर्णनातीत है। जाग्रत् आदि स्थानोंमें यह आत्मा एक है, इस प्रत्ययका अनुसरण करके अपनी एकताका अनुभव करना चाहिए। इसमें जाग्रदादिका कोई प्रपंच नहीं है। यह शान्त, शिव, अद्वैत है तथापि मायाके तीन स्थानोंका अपवाद करनेके लिए चतुर्थ कहा गया है।

ठीक इसी प्रकार प्रतीकात्मक प्रणवका निरूपण करते समय अमात्रको भी चतुर्थ कहा गया है। उसमें किसी प्रकारकी मात्रा नहीं है। उसमें वाणी और मनका व्यवहार नहीं है। इसका कारण यह है कि तुरीय अभिधान और अभिधेयके व्यापारसे मुक्त है। उसमें किसी प्रकारका प्रपंच नहीं है, शिव है एवं अद्वैत है। देखिये, मन्त्र—अमात्रश्रुतुर्थोऽव्यवहार्यः प्रपञ्चोपशमः शिवोऽद्वैतः। इत्यादि।

वैतथ्य-प्रकरणके द्वारा तैजसका पूर्ण निरूपण हो जाता है; उसमें उपनिषदोंके अनेक मन्त्रोंका उद्धरण देकर तैजसको स्पष्ट किया गया है; ठीक इसी प्रकार अद्वैत प्रकरणमें स्वाभाविक सुषुप्तिके स्थानपर आभ्यासिक सुषुप्ति अर्थात् समाधिका निरूपण करके प्रपञ्चकी विलय-अवस्थाका वर्णन है। वहाँ भी श्रुतियोंके उद्धरण दिये गये हैं एवं पूर्णरूपसे प्राज्ञका वर्णन किया गया है। अब प्रश्न यह है कि क्या अद्वैत प्रकरणमें औपनिषद रीतिसे प्राज्ञका निरूपण कर देने मात्रसे ही तुरीय अथवा अमात्रका स्पष्टीकरण हो गया? उन प्रकरणोंमें 'नान्तःप्रज्ञं' अथवा 'अमात्रः' इन दोनों श्रुतियोंका विवरण कहाँ है? वस्तुतः उनमें अनिर्देश्य तुरीयका वर्णन नहीं है। उसके वर्णनके लिए अपवाद-प्रधान 'अलातशान्ति' प्रकरणका होना कारिकामें अनिवार्य है। उसके बिना मूल उपनिषद्की व्याख्या ही पूर्ण नहीं



होती। अभिप्राय यह है कि अलात शान्ति प्रकरण माण्डूक्य उपनिषद्का ही व्याख्यान होनेके कारण कारिका ग्रन्थका अंग है।

गौडपादाचार्य शांकर सम्प्रदायके शंकरसे पूर्ववर्ती आचार्य हैं। दोनोंके बीचमें श्रीगोविन्दपाद हैं। शंकरने गौडपादको परमगुरु कहा है। ब्रह्मसूत्रके भाष्यमें उन्होंने गौडपादको सम्प्रदायविद्के रूपमें स्मरण किया है और कारिकाओंके उद्धरण भी दिये हैं। शंकरके शिष्य सुरेश्वराचार्यने 'बृहदारण्यकोपनिषद्-भाष्य-वार्तिक' एवं 'नैष्कर्म्यसिद्धि'में गौडपादका नामोल्लेख करके अनेक कारिकाएँ उद्धृत की हैं। दस उपनिषदोंके अन्तर्गत होनेके कारण माण्डूक्यपर शांकरभाष्य प्रामाणिक माना जाता है और साथ ही कारिकाओंपर भी उनका भाष्य है। भाष्यपर आनन्दगिरिकी टीका भी संलग्न है। सम्प्रदायपरम्परासे अविच्छिन्न रूपमें इसका अध्ययन-अध्यापन होता चला आया है। अतः यह शंका करनेका कोई अवसर ही नहीं है कि 'अलातशान्ति' प्रकरण औपनिषद नहीं है। हम आगे चलकर यह स्पष्ट करेंगे कि उपनिषद्के किस मन्त्रका व्याख्यान किस कारिकामें है ?

जो लोग सम्प्रदाय-परम्परासे उपनिषदोंका श्रवण-मनन करते हैं जो कि स्वाध्यायविधिसे अध्ययन करनेकी अपेक्षा विलक्षण है, उन्हें ज्ञात है कि प्रमाणवृत्ति अज्ञान मात्रका ही अपनयन करती है, प्रमेय वस्तुको उत्पन्न नहीं करती। प्रकाश केवल अन्धकारको मिटाता है, घटको उत्पन्न नहीं करता। कुठारके द्वारा काष्ठका अवयवविच्छेद मात्र होता है, काष्ठका उत्पादन नहीं। यह बात ऐसी है जो धर्म, उपासना और योगाभ्याससे, जो कि पुरुषद्वारा अनुष्ठेय हैं और साध्य-विशेषके उत्पादक हैं, ज्ञान-प्रकरणको पृथक् कर देती है। इतना और भी विशेष है कि जहाँ लोक-व्यवहारमें प्रमाण अज्ञातज्ञापक होता है, वहाँ वेदान्तमें केवल अविद्यानिवर्तक होता है। जबतक अविद्या रहती है तबतक प्रमाता ही अज्ञातरूपसे प्रमेय रहता है और प्रमाणके द्वारा ढूँढ़ा जाता है परन्तु जब उपनिषद्-प्रमाणके द्वारा अविद्याकी निवृत्ति हो जाती है तब प्रमाता और प्रमेयमें व्यवधान डालनेवाली प्रमाण-वृत्ति नहीं रहती। अविद्या-निवृत्तिसे उपलक्षित आत्मा ही शुद्ध-बुद्ध-मुक्त ब्रह्म है। इन सब शब्दोंके प्रयोग भी अपवादकी विधासे ही किये जाते हैं। उदाहरणार्थ प्रमेय अनात्मा नहीं है इसलिए उसकी संज्ञा आत्मा है। मायासंबलित नहीं है इसलिए शुद्ध है। वह अबोधका भी साक्षी, प्रकाशक एवं अधिष्ठान है, अबोध उसका स्पर्श नहीं करता अतः बुद्ध है। बन्धनकी व्यावृत्तिके लिए ही उसे मुक्त कहा जाता है। परिच्छिन्नकी निवृत्तिके लिए ब्रह्म और द्वैतके निषेधके लिए अद्वैत। तात्पर्य यह कि जो अनिर्देश्य

है उसमें निर्देशनकी प्रक्रियाका भी निषेध है। अतः निषेधावधि आत्माका निरूपण अपवादकी प्रधानतासे होता है। आप देखेंगे अलातशान्तिमें—‘यत्र वर्णा न विद्यन्ते विवेकस्तत्र नोच्यते’ यह निर्देशका अपवाद है।

प्राचीनकालसे यह प्रथा रही है और गाँवोंमें अब भी है कि जैसे मशाल जलाया जाता है लकड़ीके एक ओर और उससे काम लिया जाता है, वैसे ही क्रीडा-कौतुकके लिए एक लकड़ीके दोनों सिरोंपर आग जलाकर उसे भिन्न-भिन्न प्रकारसे चारों ओर घुमाया जाता है। जलती हुई आगकी लपटोंसे भिन्न-भिन्न प्रकारकी आकृतियाँ बनती हैं—लम्बी, गोल, चौड़ी, स्त्री, पुरुष, पशु, पक्षी। परन्तु वे सारी आकृतियाँ अलात-स्पन्दके अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं। दोनों ओर जलती हुई लकड़ीको विविध प्रकारसे घुमानेपर अलात-चक्र बनते हैं। यह कहीं अलगसे नहीं आते। इस अलातके बुझ जानेपर न आकृति रहती है, न क्रिया और मनोरंजन भी शान्त हो जाता है। इस अलातके शान्त हो जानेके समान ही प्रपंचकी शान्ति है और अलातका चक्रव्यूह ही प्रपञ्च है। अलात शान्ति मूल उपनिषद्के ‘प्रपञ्चोपशम’ शब्दका अर्थ है।

महामहोपाध्याय वेदान्तशिरोमणि श्रीअनन्तकृष्ण शास्त्रीने, जिन्होंने पूर्वोत्तर मीमांसापर अनेक विशाल ग्रन्थोंका निर्माण किया है, अलातशान्तिका विवेचन करते हुए कहा है कि इसके सांख्योंकी सत्ख्याति और नैयायिकोंके आरम्भवादका खण्डन करके दृश्यमान प्रपंचकी सद्विवर्तता ही स्पष्ट की गयी है। कारिकाका सिद्धान्त है कि सिद्ध वस्तुका जन्म होता है, यह एक वाद है। असिद्ध वस्तुका जन्म होता है, यह दूसरा वाद है। ये दोनों परस्पर विवाद करते हैं। इनके विवादसे यह निष्कर्ष निकलता है कि प्रपंचका न जन्म है, न नाश। साथ ही, यह स्वभावतः अज भी नहीं है।

वार्तिककारके इस वचनसे कि आरम्भवाद और परिणामवाद विवर्तवादकी भूमिका है, यही अर्थ प्रकट होता है। सदानन्द स्वामीने अद्वैतब्रह्मसिद्धिके प्रथम मुद्गरमें ऐसा ही निरूपण किया है। श्रीविधुशेखर भट्टाचार्यने अलात-शान्ति प्रकरणको बौद्धमतका समर्थक माना है। उनकी यह मान्यता विचार-युक्तिसे सिद्ध नहीं है। पहले आप उनका पक्ष सुनिये—

‘उपनिषदोंमें जगज्जन्मादि कारणके रूपमें ब्रह्मका निरूपण है। ब्रह्मसूत्र भी सांख्यमतका निरास करके ब्रह्मके कारणत्वका निर्धारण करते हैं। उनपर शांकरभाष्य भी वैसा ही है। गौडपादकारिका उनके विरुद्ध अर्थका वर्णन करती है



और उसका शांकरभाष्य भी अपने ही पूर्वोक्त भाष्योंके विष्णुगत है। अतः अलातशान्तिका अजातवाद सौगत मतानुकूल है।'

इसपर हमारा यह निवेदन है कि भट्टाचार्य महाशय बौद्धोंके साथ कारिकाका शब्दसाम्य देखकर सरल पथसे विचलित हो गये हैं। शब्दसाम्यसे सिद्धान्तसाम्य नहीं होता, अर्थसाम्यसे होता है। यह ठीक है कि उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र, आचार्य शंकर ब्रह्मकारणवादका समर्थन करते हैं परन्तु वह कारणवाद अजातसिद्धान्तका विरोधी नहीं है। ये सब जगत्की उत्पत्ति एवं प्रलय स्वीकार करते हैं एवं सद्वस्तुको अजात स्वीकार करते हैं। जगत् कार्यात्मक है, इदम् है। ब्रह्म कारणात्मक है, अनिदम् है। कार्य-कारणकी प्रक्रियाकी दृष्टिसे दोनोंमें भेद है परन्तु सद्वस्तुकी दृष्टिसे जो कि अजात है, दृश्यमान कार्य भिन्न नहीं है। सत् परमार्थ है, जगत् विवर्त है। देखिये, ब्र० सू० 'तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः' (2.1.14)। इस अधिकरणके भाष्यमें आचार्य शंकरका कहना है कि इस व्यावहारिक भोक्ता एवं भोग्यरूप विभागको स्वीकार करके यह परिहार किया गया कि लोकवत् इसकी उपपत्ति है। भोक्ता और भोग्यका विभाग पारमार्थिक नहीं है; क्योंकि कार्यकारणकी अनन्यता उपनिषदोंमें स्पष्ट प्रकट होती है। कार्य अर्थात् आकाशादि रूप सम्पूर्ण प्रपञ्च। कारण माने परब्रह्म। उस कारणसे परमार्थ-दृष्ट्या कार्य अनन्य है। अभिप्राय यह कि कारणसे अतिरिक्त कार्यकी कोई सत्ता नहीं है। ऐसा क्यों? इसी प्रश्नका उत्तर है—'आरम्भण-शब्दादिभ्यः'। इसकी व्याख्यामें 'भामती' कहती है—'अनन्यताका अर्थ अभेद नहीं है भेदका प्रतिषेध है।' ब्रह्मसूत्र-भाष्य अथवा आचार्य शंकर कार्यके सद्भावका प्रतिपादन करके अजातका विरोध नहीं करते, प्रत्युत उसका समर्थन करते हैं। उपनिषदोंमें स्पष्ट है—'वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्'—विकार केवल वाग्व्यवहार नाम मात्र हैं, मृत्तिका ही केवल सत्य है। यहाँ 'मृत्तिका' शब्द सत्स्वरूप ब्रह्मका वाचक है। वही सत् है, परमार्थ है, अजात है। कार्यका स्वरूपतः अभाव है।

गौडपादकारिकाके अजात प्रतिपादनकी प्रणाली निराली है। सांख्योंकी परिणाम-दृष्टि और वैशेषिकोंकी आरम्भ-दृष्टि परस्पर विरुद्ध है। सांख्य सत्से सत्की उत्पत्ति मानता है। वैशेषिक असत्से सत्की। ये दोनों एक-दूसरेसे विवाद करते हैं और एक दूसरेका खण्डन करते हैं। सद्विद्वादीने असद्विद्वादका खण्डन किया और असद्विद्वादीने सद्विद्वादका। उनके परस्पर खण्डित हो जानेपर अजातकी स्वतः सिद्धि हो गयी। अभिप्राय यह कि वास्तविक उत्पत्ति है ही

नहीं। यह सद्बस्तुका विवर्त है। बौद्ध जिस अजातको स्वीकार करते हैं वह प्रपञ्चका स्वभाव है। गौडपादकारिका अलातशान्ति-प्रकरणमें 'सत्स्वभावकी दृष्टिसे प्रपञ्च अजात है' ऐसा कहती है। प्रपञ्चका स्वभाव दूसरी वस्तु है और सत् अधिष्ठानकी दृष्टि दूसरी वस्तु। अतएव कारिका-प्रतिपादित अजात उपनिषद्, सूत्र एवं भाष्यके अनुकूल है, विरुद्ध नहीं। आचार्यने पहले ही कह दिया है— द्वैत मायामात्र है, परमार्थतः अद्वैत है। भगवत्पाद शंकरने 'श्रुतेस्तु शब्द-मूलत्वात्' (ब्र० सू० 2.1.27)के व्याख्यानमें कहा है कि अविद्यासे कल्पना होनेपर जो रूप-भेद जान पड़ता है वह कोई सावयव वस्तु नहीं होता। नेत्रमें तिमिर रोग होनेके कारण दीखनेवाली चन्द्रमाकी अनेकता उसकी वास्तविक अनेकता नहीं होती। अविद्या-कल्पित नामरूपात्मक रूपभेद चाहे वह कार्य हो अथवा कारण ब्रह्ममें व्यावहारिक रूपसे प्रतीत होता है। परमार्थ-रूपसे ब्रह्म सम्पूर्ण व्यवहारसे अतीत परिणामरहित ही रहता है; क्योंकि परिणाम आदि विषय वाचारम्भण मात्र हैं।

अविद्या-कल्पित होनेके कारण ही नामरूपके प्रतीत होनेपर भी ब्रह्मके निरवयव होनेमें कोई दोष नहीं आता। परिणामका प्रतिपादन उसकी वास्तविकताके लिए नहीं है; क्योंकि परिणामकी वास्तविकताके ज्ञानसे मोक्षादि-रूप फलकी प्राप्ति नहीं होती। परिणाम-प्रतिपादनका उपयोग व्यवहारातीत ब्रह्मात्मभावमें ही है। ब्रह्मात्मैक्यका बोध मोक्ष-रूप फल देनेवाला है।

भगवत्पाद श्रीशंकराचार्य जब यह कहते हैं कि परिणाम श्रुति वस्तुतः परिणामका प्रतिपादन करनेके लिए नहीं है तो निर्विवाद रूपसे स्पष्ट हो जाता है कि परिणाम रहित निर्विकार ब्रह्मके प्रतिपादनमें ही तात्पर्य है। इस प्रकार वे अत्यन्त स्पष्टरूपसे अजातवादका समर्थन करते हैं। यह ध्यान रखने योग्य है कि सद्बस्तु अपरिणाम है। उसमें विवर्तरूपसे यह प्रपञ्च है। सद्बस्तु ही अजात है। उनका अभिप्राय व्यावहारिक भोक्ता-भोग्य लक्षण व्यवहार दशाके अपलापमें नहीं है। प्रत्यक्चैतन्याभिन्न ब्रह्म वस्तुके ज्ञानसे व्यावहारिक सत्ताका बोध होता है। ज्ञान भ्रममात्रका ही निवर्तक है, भानका नहीं।

इसका निष्कर्ष यह है कि सृष्टि-श्रुति, जन्मादि-श्रुति, उनका उपपादन करनेवाले ब्रह्मसूत्र, भगवत्पाद शंकराचार्यके भाष्य—ये सब त्रिविध सत्ताका आश्रय लेकर अजात ब्रह्मका निरूपण करते हैं। गौडपाद केवल एक पारमार्थिक सत्ताका आश्रय लेकर अजातका निरूपण करते हैं। जगज्जन्मादि श्रुतियोंका तात्पर्य



भी अजात ब्रह्मके प्रतिपादनमें ही है। अतः गौडपादके सिद्धान्तसे ब्रह्मसूत्र एवं भाष्यादिका किञ्चित् भी विरोध नहीं है।

संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसीके वेदान्त-विभागाध्यक्ष पण्डितश्री रघुनाथ शर्माने एक विस्तृत निबन्ध लिखकर गौडपादका सिद्धान्त औपनिषद एवं शंकराचार्यके द्वारा व्याख्यात है, यह सिद्ध किया है। उनका कहना है कि एक विज्ञानसे सर्व-विज्ञानकी प्रतिज्ञा श्रुतिसिद्ध है। सूत्रमें भी इसका उपपादन है। गौडपादने विशेष रूपसे अजात तत्त्वका ही निरूपण किया है तथापि स्थान-स्थानपर मायाका भी उल्लेख किया है। न केवल पहलेके तीन प्रकरणोंमें, चतुर्थ प्रकरणमें भी जगज्जन्मादिको मायिक बताया है। हस्ती चाहे मायिक हो चाहे वास्तविक वर्णन करनेके समय उसे हस्ती ही कहा जाता है। सृष्टि चाहे तात्त्विक हो, चाहे अतात्त्विक उसका सृष्टिके रूपमें ही वर्णन होता है। जो अनुभवानुरूप युक्तिसे युक्त होता है वही ग्रहण किया जाता है। इस प्रसंगका सामंजस्य यही है कि मायासे जगज्जन्मादि हैं और परमार्थतः अजात। गौडपादको यही अभिप्रेत है। सर्वथा अलीक और निरधिष्ठान—कल्पना जो कि माध्यमिक बौद्धोंका मत है, गौडपादको स्वीकार नहीं है। वे क्षणिक विज्ञान अथवा शून्यको अंगीकार नहीं करते। अद्वय आत्माकी स्वतः सिद्ध सत्ता ही उन्हें स्वीकार है और वही उपनिषदोंका मत है।

भाषाका सादृश्य सिद्धान्तकी एकताका सूचक नहीं है। वाक्यार्थ और तात्पर्यकी एकता ही सिद्धान्तकी एकताका सूचक है। अतएव गौडपादका बौद्धोंके साथ भाषा-साम्य होने पर भी अर्थसाम्य न होनेके कारण यह सिद्ध है कि न वे बौद्ध हैं, न बौद्धोंपर उनकी श्रद्धा है, न उनके अनुयायी हैं। यही कारण है कि बौद्ध-सिद्धान्तके साथ उनका भेद नहीं है। पण्डित श्रीविधुशेखर भट्टाचार्य भाषाकी समता देखकर भ्रान्तिमें पड़ गये हैं। श्रद्धापूर्वक मन एकाग्र करके गम्भीर विचार करने पर गौडपादका सिद्धान्त औपनिषद है—यह सिद्ध होता है।

अब हम श्रीसच्चिदानन्देन्द्र संरस्वती द्वारा प्रस्तुत अलातशान्तिका संक्षिप्त सार उद्धृत करते हैं—

ब्रह्मविद् महापुरुषोंमें प्रसिद्ध अस्पर्शयोग सम्पूर्ण वेदान्तोंका सार है। अस्पर्शयोग अर्थात् अज, अद्वय आत्माका साक्षात्कार इस योगमें ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेयका विभाग नहीं है। द्वैत इसका स्पर्श नहीं कर सकता। यह अद्वय, अखण्ड ज्ञानमात्र है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि यह सम्पूर्ण प्राणियोंके लिए सुख एवं हित

है। इसका न किसीसे विवाद है, न विरोध; क्योंकि इसके अतिरिक्त दूसरा कुछ है ही नहीं।

द्वैतदर्शन परस्पर विरुद्ध होनेके कारण विवादके आलम्बन हैं। उनमें कोई कहता है कि सत् ही अर्थात् पहलेसे विद्यमान ही कार्यके रूपमें उत्पन्न होता है। कुछ दूसरे कहते हैं कि असत् अर्थात् जो पहले नहीं था, वही उत्पन्न होता है। परस्पर विरुद्ध पक्ष ग्रहण करके वे कलह करते हैं। दोनों दोनोंके मतका खण्डन कर देते हैं। इस प्रकार जातकी सिद्धि नहीं होती और अद्वैतियोंके द्वारा प्रतिपादित अजात आत्मा-ब्रह्मकी सिद्धि हो जाती है। वे एक दूसरेसे लड़कर अजातकी सिद्धिमें सहायक ही होते हैं।

कुछ लोग ऐसे हैं जो अपनेको वेदान्ती तो मानते हैं परन्तु अजात ब्रह्मका जीव रूपसे जन्म लेना स्वीकार करते हैं। अजातका जन्म लेना सर्वथा असंगत है। क्या अमृत कभी मृत्यु हो सकता है? किसी भी वस्तुका स्वभाव परिवर्तन नहीं देखा जाता। आत्मा अज, अजर, अमृत है। यही उसका स्वभाव है। उपाधि-भेदके कारण अनेकता जान पड़ती है। वे अविद्या-वासनासे ही अपनेको पापी-पुण्यात्मा, सुखी-दुःखी गमनागमन एवं परिच्छिन्न मान बैठते हैं। यही युक्ति-युक्त पक्ष है।

1. अजका जन्म होता है—यह पक्ष युक्ति-विरुद्ध है। जो जायमान है उसका अज होना सोपपत्तिक है। जातका जन्म होता है—यह भी युक्ति-विरुद्ध है। वह किसी दूसरे जातसे पैदा हुआ होगा, और वह भी किसी दूसरेसे। इस प्रकार अनवस्था दोषका अन्त नहीं होगा। अतः अजात ही परमार्थ है—यह सिद्ध होता है।

2. धर्माधर्म कारण है। उसका फल है जीवकी शरीरप्राप्ति। यह प्रतिज्ञा भी युक्तियुक्त नहीं है। बिना शरीरके कर्म कहाँसे आया। बिना कर्मके शरीर कैसे हो गया। कर्मका कारण शरीर है कि शरीरका कारण कर्म है। दोनोंके अनादि होनेपर परस्पर सम्बन्ध नहीं बनेगा समानान्तर रेखाके समान। दोनोंके आदि होनेपर दोनों ही कार्य हो जायेंगे, कारण कोई नहीं रहेगा। बतलाइये, पहले कौन है? कर्म या शरीर? कार्य, कारण अथवा उनकी परम्पराको बीजांकुरवत् अनादि नहीं माना जा सकता, क्योंकि वे जायमान दृश्यके रूपमें ही उपलब्ध होते हैं। उनके अतिरिक्त परम्परा नामकी कोई स्वतन्त्र वस्तु उपलब्ध नहीं होती। इसलिए अनुभवी पुरुष इस निष्कर्षपर पहुँचते हैं कि हेतु एवं फलका कभी जन्म नहीं हुआ, अजात ही परमार्थ है।

3. चित्त और चेत्य (चित्तका विषय) इन दोनोंमें कौन-सा निमित्त है और



कौन-सा नैमित्तिक? इस विषयपर वादी और प्रतिवादियोंमें परस्पर कलहकी विशाल परम्परा है। बाह्य वस्तुवादियोंका कहना है कि वृत्तियोंकी विचित्रताका कोई बाह्य कारण होना आवश्यक है। यदि बाह्य वस्तुरूप निमित्त न होते तो वृत्तियाँ विविध प्रकारकी न होतीं और सुख-दुःखके अनुभवमें भेद ज्ञात नहीं होता। इसपर केवल विज्ञानवादियोंका कहना है कि जब हम वस्तु तत्त्वका निरूपण या निर्वचन करने लगते हैं तो चित्तसे व्यतिरिक्त किसी वस्तुका अनुभव नहीं होता। अतएव बाह्य वस्तुका अस्तित्व निमित्तके रूपमें स्वीकार करना युक्ति-युक्त नहीं है। इसपर अद्वैतवादी वेदान्तियोंका यह कहना है कि यदि घटादि-रूप निमित्तके न होनेपर भी चित्त ही घटादिके रूपमें आभासित होता है तो तुम्हें हमारा यह सिद्धान्त माननेमें क्या आपत्ति है कि चित्तवस्तुके अतिरिक्त चित्त या चेत्य न होनेपर भी अखण्ड चिद्वस्तु ही चित्त और चेत्यके रूपमें आभासित होती है। इस प्रकार विज्ञानवादीके द्वारा दी हुई युक्ति ही चित्त और चेत्य दोनोंके अस्तित्वको काट देती है और वेदान्त प्रतिपादित अज्ञात ब्रह्मको सिद्ध कर देती है।

4. पूर्वोक्त रीतिसे यही सिद्ध होता है कि बन्ध एवं मोक्षकी भी उत्पत्ति नहीं होती। यही युक्तियुक्त भी है। संसार अनादि है तो उसका अन्त मानना असंगत है। यदि मोक्षकी उत्पत्ति मानेंगे तो वह अनन्त नहीं हो सकेगा, उसका भी अन्त मानना पड़ेगा। अतः बन्ध-मोक्ष दोनों असत्य हैं। सत्यके समान भासते हैं। वैतथ्य-प्रकरणकी दृष्टिसे भी दोनोंका मिथ्यात्व ही उचित है; क्योंकि दोनोंका आदि और अन्त है। स्वप्नके बन्ध-मोक्षमें कोई अन्तर नहीं है, समान ही हैं। स्वप्न एवं जागरित दोनोंके असत्त्वका बोध हो जानेपर उनका कार्य-करण भाव भी असत्य ही है। इन सब युक्तियोंसे अज्ञात ब्रह्मकी ही सिद्धि होती है।

यही कारण है कि जीव और बाह्य पदार्थ सभी असत् हैं। चित्तसे व्यतिरिक्त उनका कोई अस्तित्व नहीं है। इसी प्रकार चित्तका भी अस्तित्व नहीं है। कहीं-कहीं वेदान्ती भी जंगत्के जन्मादिका वर्णन करते हैं। वह माया-व्यवहारकी दृष्टिसे है, वास्तविक नहीं। जिनके मनमें यह दृढ़ आग्रह बैठ गया कि बाह्य वस्तुओंकी उपलब्धि होती है और वह कर्मके अंग हैं इसलिए सत्य हैं, उन मुमुक्षुजनोंको अज्ञात तत्त्वका निश्चित बोध करानेके लिए उपायके रूपमें ही सृष्टि-श्रुतियाँ जगज्जन्मादिका निर्देश करती हैं, परमार्थ दृष्टिसे नहीं। कोई भी वस्तु केवल उपलब्धि होनेसे या कर्मका अंग होनेसे परमार्थ सत्य नहीं हो जाती। स्वप्न मायाके पदार्थ भी प्रतीत होते हैं और उनसे कर्माचरण भी होता है परन्तु वे सत्य नहीं हो



जाते। इसलिए भले ही यह जगत् जन्मादि-रूप धर्मसे युक्त प्रतीत हो परन्तु परमार्थतः अज, अचल, अनाभास, अद्वितीय चैतन्य मात्र ही है।

इस विषयमें अलात = दोनों ओरसे जलती हुई मसालको हिलानेका दृष्टान्त है। वह सीधा या टेढ़ा जान पड़े, आँखोंसे देखा जाय, फिर भी वस्तुतः वह अलातसे या और किसीसे उत्पन्न नहीं हुआ है और न तो कहीं आता-जाता ही है। इसी प्रकार कूटस्थ विज्ञप्ति स्वरूप प्रत्यक्चैतन्याभिन्न ब्रह्ममें चित्त, चेत्य आदि अवभास अविद्यासे ही प्रतीत होते हैं। ये न परमार्थ सत्यसे और न किसी औरसे उत्पन्न होते हैं और न कहीं आते-जाते हैं।

ठीक इसी प्रकार आत्मासे अतिरिक्त न चित्त है और न चित्तके दृश्य। कर्म कारण है, शरीर फल अथवा शरीर फल और शरीर कारण है, कर्म फल—यह कार्य-कारण भाव भी सिद्ध नहीं होता। केवल कर्म और देहमें अभिनिवेश अर्थात् अज्ञानकृत तादात्म्यसे ही कार्य-कारण भाव एवं संसारके दुःख ज्ञात होते हैं। अतएव वेदान्तकी रीतिसे अज्ञानकी निवृत्ति होना ही अपेक्षित है। आत्मासे अतिरिक्त जो जीव या बाह्य पदार्थ उत्पन्न होते हुए देखे जाते हैं, वे सब मायाके खेल हैं। जैसा स्वप्न है, वैसा ही जाग्रत्। जैसे चित्तसे अतिरिक्त उसके दृश्य नहीं हैं, वैसे ही द्रष्टासे अतिरिक्त चित्त भी नहीं है। चित्त और चेत्य दोनोंकी प्रतीति परस्पर सापेक्ष है। अतः दोनोंमें-से किसी एकका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है और अज ही परमार्थ तत्त्व है। यहाँ तक कि हम आत्मामें प्रतीयमान जिन भावोंका निषेध करते हैं वे भी दूसरे शास्त्रोंकी स्वीकृति—अध्यारोपोंको ध्यानमें रखकर ही। हमारा यह अभिप्राय कदापि नहीं होता कि वे पदार्थ कभी-कहीं, कुछ हैं और हम उनका निषेध करते हैं। अतएव निषेध भी परमार्थ नहीं है। यहाँतक कि परमार्थको अज कहना भी प्रतीयमान जायमानताका निषेध करनेके लिए कल्पित संवृत्तिसे ही है, आत्मामें कोई अजत्व नामका धर्म नहीं है।

हम इस निष्कर्षपर पहुँचते हैं कि द्वैत अर्थात् अपनी ही कल्पनाके साथ अभिनिवेश= तादात्म्यापत्ति वस्तुसत्य नहीं है। विभिन्न प्रकारके धर्माधर्म आदि कारण ही सत्य नहीं हैं। अतएव धर्माधर्म-रूप निमित्तसे मनुष्य, देवता आदिका जन्म भी नहीं है। यह अजात किसी उपादान या निमित्तसे नहीं है, किन्तु वास्तविक है। जो पुरुष इस निर्निमित्त वस्तु-सत् अजातको ही परमार्थके रूपमें अधिगत कर लेता है वह केवल अधिगम मात्रसे बिना किसी साधनके शोक, मोह, भय आदिसे निर्मुक्त, अज, साम्य, अद्वय पदका अनुभव करता है। यह पद स्वयंप्रकाश एवं अनुभवैक्यगम्य है।



जिन्होंने शमदमादि-रूप बहिरंग साधन एवं मुमुक्षापूर्वक श्रवण-मननादिके द्वारा शुद्ध प्रज्ञा सम्पादित नहीं की है, उनके लिए इस अज, अद्वय आत्मतत्त्वका अधिगम अत्यन्त कठिन है क्योंकि बड़े-बड़े परीक्षक और समीक्षक भी आत्म-तत्त्वपर अस्ति, नास्ति, अस्ति-नास्ति और नास्ति-नास्तिके चार प्रकारके आवरण-धर्मोंका अध्यारोप कर बैठते हैं। अतः उन्हें शुद्ध ज्ञानकी प्राप्ति नहीं होती। तत्त्वमें किसी प्रकारका विशेष नहीं है। निर्विशेषता भी समझानेके लिए एक विशेषता ही है। यह नित्य अपरोक्ष होनेपर भी अज्ञात-सा हो रहा है। इसलिए केवल वेदान्तके द्वारा ही अज्ञानावरणका भंग होता है, किसी दूसरे साधन या प्रमाणसे नहीं। परमार्थका अनुभवी कृतकृत्य हो जाता है।

जैसा कि आगम प्रकरणमें कहा जा चुका है, जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति तीनों ही अवस्थाओंमें ज्ञानस्वरूप आत्मा अद्वय ही है। अवस्थाओंके भेदके कारण एक ही चेतनमें वैश्वानर आदि संज्ञाभेद कल्पित होते हैं। पूर्व-पूर्व अवस्थाको उत्तर-उत्तर अवस्थामें विलीन कर देनेपर स्वयं तुरीय आत्मा ही शेष रहता है। उसकी दृष्टिसे अवस्थाएँ अकिञ्चित्कर हैं। यही चतुष्कोटि विनिर्मुक्त आत्मा है। कोई परिच्छेदक या अवच्छेदक न होनेके कारण यही अद्वितीय ब्रह्म है।

इसका साक्षात्कार करनेके लिए ही राग-द्वेषादि-रूप कषायोंका पाचन करना आवश्यक है। क्रियात्मक दोष हेय हैं, जैसे हिंसा, चोरी, व्यभिचार। शम, दमादि सद्गुण अभ्यासके द्वारा प्राप्य हैं। वृत्तिगत कामादि दोष पाक्य हैं। वे पकनेपर आनन्दस्वरूप आत्मामें मधुर हो जाते हैं। आत्मा ब्रह्मत्वेन ज्ञेय है। 'ज्ञेय' शब्दका अर्थ ज्ञानका विषय नहीं है, ज्ञानार्ह है। इसके लिए बाल्य, पाण्डित्य आदि धारण करना पड़ता है। 'बाल्य' शब्दका अर्थ किसी भी प्रतिबन्धकी निवृत्तिके लिए ज्ञानबलसे बाध करनेके अतिरिक्त साधन, शक्ति, अभ्यास, ईश्वर आदिका सहारा न लेना। पाण्डित्यका अर्थ प्रज्ञाकी विशदता। मौनका अर्थ है साक्षिस्वरूपसे अवस्थान। परमार्थका बोध होनेपर स्वयं ही परमार्थ है। वह नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त स्वरूप है। उसमें कर्माभिमान, भोगाभिमान, ज्ञानाभिमान और ईश्वराभिमानका लेश भी नहीं है। जब द्वैत ही नहीं है तब लेपका प्रसंग क्या? अतः कर्तव्य नहीं है।

ज्ञानसे अज्ञानको नाश होता है, यह भी एक सांवृतिक अर्थात् व्यावहारिक सत्य है। परमार्थमें न अज्ञान है, न नाश है और न उसका नाशक ज्ञान। तत्त्व विशुद्ध विज्ञानस्वरूप है। ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेयके विभागसे रहित है और नित्य निरावरण है। यह है अलातशान्तिका सार।



# अलातशान्ति

## मंगलाचरण

ज्ञानेनाऽऽकाशकल्पेन धर्मान् यो गगनोपमान् ।

ज्ञेयाभिज्ञेन सुबुद्धस्तं वन्दे द्विपदां वरम् ॥ १ ॥

अब माण्डूक्य-कारिकाका चतुर्थ प्रकरण प्रारम्भ करते हैं। माण्डूक्यकारिकाकी प्रक्रियाके अनुसार आत्मा चतुर्थ वस्तु है। माया संख्या तुरीय है। एक, दो, तीन—यह माया है। जो बोलनेवाला है, वह चौथा है और वह मायासे परे है। क्या बोला गया यह मत देखो, बोलनेवाला कौन है यह देखो। वक्ताके बारेमें जिज्ञासा करो। जीभके पीछे कौन बैठा हुआ है जो बोल रहा है? कानके पीछे कौन बैठा हुआ है जो सुन रहा है? मनके पीछे कौन बैठा हुआ है जो मनन कर रहा है, सुषुप्तिके पीछे कौन बैठा हुआ है जो सुषुप्तिको जानता है? इसीलिए इसको चतुर्थ प्रकरण बोलते हैं। यह सचमुच निषेध प्रधान प्रकरण है, बड़ा वैज्ञानिक है। कैसे?

विश्वमें जाग्रत् अवस्था उपाधि है आगम-प्रधान-प्रकरणमें अकार, उकार, मकारका अध्यारोप करके समझाया गया है और दूसरे तैजस्में स्वप्नावस्था उपाधि है। वहाँ वैतथ्य समझाया गया है। तीसरा प्रकरण—प्राज्ञ है।

एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञ एषोऽन्तर्याम्येष-

योनिः सर्वस्य प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम्॥

सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति और प्रलयका स्थान। असलमें सर्वेश्वर, सर्वज्ञ, सर्वयोनिका निरूपण एकत्वकी प्रतिपत्तिके लिए है। यह अद्वैतको समझनेका उपाय है।

अब चतुर्थ प्रकरण। मूल उपनिषद्के चतुर्थ प्रकरणमें निषेधकी ही प्रधानता है—

नान्तःप्रज्ञं, न बहिष्प्रज्ञं, नोभयतः प्रज्ञं ।

इस तरह कारिकाकार श्रीगौड़पादाचार्य भी निषेधकी प्रधानतासे ही चतुर्थ-प्रकरणको आरम्भ करते हैं। यह बात कई लोगोंके ध्यानमें नहीं आती है जिससे उनको मालूम पड़ता है कि यह कोई शून्यवादी ग्रन्थ है।



तुरीयका निरूपण मूल उपनिषद्में ही—‘नान्तःप्रज्ञं, न बहिष्प्रज्ञं’से किया गया है। विश्व और तैजस—दोनोंका निषेध कर दिया। ‘नोभयतः प्रज्ञं’ इससे अन्तराल अवस्थाका निषेध कर दिया।

न प्रज्ञानघनं न प्रज्ञं नाप्रज्ञम्।

इसमें नेति-नेतिके द्वारा निषेधावधि रूपसे निरूपित जो वस्तु है वह तुरीय वस्तु है। अलातशान्ति प्रकरणमें भी यदि निषेधकी प्रधानतासे निरूपण नहीं करेंगे तो उपनिषद्के मूलकी रक्षा कैसे होगी या उसका समर्थन कैसे होगा? उसके समर्थनके लिए चतुर्थ-प्रकरणमें निषेधकी प्रधानता ही होना आवश्यक है। अन्वय-व्यतिरेकके द्वारा विश्व-तैजस-प्राज्ञको हम समझ सकते हैं।

जाग्रत् स्वप्नमें नहीं है, स्वप्न जाग्रत्में नहीं है, ‘जाग्रत्-स्वप्न’ सुषुप्तिमें नहीं है, सुषुप्ति ‘जाग्रत्-स्वप्नमें’ नहीं है, परन्तु आत्मा सबमें और सबसे न्यारा है। पञ्चदशी आदिमें आत्माको समझानेके लिए—अनुवृत्ति और व्यावृत्ति—सबसे न्यारा और सबमें भरपूर; सबका कारण और सबसे न्यारा—यह युक्ति दी हुई है।

चौथे प्रकरणमें बताते हैं कि यह अन्वय-व्यतिरेककी युक्ति भी एक प्रक्रिया ही है। यह भी अद्वैत-तत्त्वको समझानेके लिए एक युक्ति है, एक तरकीब है, एक उपाय है। असलमें, जब द्वैत है ही नहीं, तब किसमें, कौन अन्वित होगा और किससे कौन व्यतिरिक्त होगा? इसलिए न अन्वय और न तो व्यतिरेक, अन्वय-व्यतिरेकसे रहित शुद्ध अपना तुरीय-आत्मा है।

अन्तः शून्यं बहिः शून्यं शून्यशून्यं भवाम्बरे।

अन्तःपूर्णं बहिःपूर्णं पूर्णकुम्भ इवाम्बरे॥

ऐसे औपनिषद् लोग बोलते हैं। आत्मा कैसा? कि अन्तःशून्य बहिःशून्य—न कुछ/बाहर, न कुछ भीतर। जैसे एक खाली घड़ा आकाशमें रक्खा है या एक भरा हुआ घड़ा आकाशमें रक्खा है। शून्यता और पूर्णता दोनोंसे उपलक्षित, दोनोंसे व्यतिरिक्त दोनों जिसमें कल्पित, दोनोंका जो अधिष्ठान, दोनोंका जो प्रकाशक और दोनों जिसमें बिलकुल नहीं—ऐसा आत्म-स्वरूप है। क्या निषेधके द्वारा आत्मज्ञान कराना कठिन है? सम्पूर्ण श्रुतियोंका स्वाध्याय करनेपर भी इसको समझना बड़ा मुश्किल है। यह ज्ञेय नहीं है। श्रुतिने बतलाया ‘अणुरेषधर्मा’—यह धर्म बड़ा सूक्ष्म, बड़ा गहन है, इसके ज्ञानमें गुरुकी जरूरत है जो अनुभवी पुरुष होना चाहिए। यह केवल किसी भी कर्मानुष्ठानसे प्राप्त होनेवाला नहीं, केवल किसी भी उपासनानुष्ठानसे प्राप्त होनेवाला नहीं, केवल किसी भी योगानुष्ठानसे प्राप्त होनेवाला

नहीं, यह केवल अनुभवी-गुरुके द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। इसलिए ऐसे प्रकरणके प्रारम्भमें श्रीगौड़पादाचार्यजी महाराज गुरुकी वन्दना करते हैं—

तं वन्दे द्विपदां वरम्।

दो पाँववालोंमें जो सबसे श्रेष्ठ हैं। 'अयं आत्मा चतुष्पात्'—अपनेमें कल्पना तो इन्होंने की चतुष्पादपनेकी—विश्व-तैजस-प्राज्ञ और तुरीय; परन्तु ये हैं द्विपाद मनुष्योंमें श्रेष्ठ—पुरुषोत्तम। महाभारतमें नर-नारायणका जहाँ वर्णन आता है उनके लिए वहाँ यह शब्द है—द्विपदां वरिष्ठं वह द्विपादोंमें वरिष्ठ हैं—नरं चैव नरोत्तमम्। श्रीगौड़पादाचार्यजी महाराजने बहुत काल तक बदरिकाश्रममें नर-नारायण पर्वतके बीचमें रहकर तपस्या की और साक्षात् नर-नारायणने प्रकट होकर उनको तत्त्वज्ञानका दान किया—यह जो सम्प्रदायमें प्रसिद्ध कथा है उनके अनुसार गौड़पादाचार्यजी महाराज पुरुषोत्तम-नारायणकी वन्दना कर रहे हैं। असलमें गुरु नारायण हैं—'स नारायणः, स शिवः, स रुद्रः, स ब्रह्मः' वही ब्रह्म हैं, वही रुद्र हैं, वही नारायण हैं। परन्तु गुरु तो सबके अपने-अपने होते हैं और सबके गुरु पुरुषोत्तम हैं, सबके गुरु नारायण हैं। नारायण-माने नर शरीरमें आत्माके रूपमें विराजमान। 'नारे हृदये अयनं यस्य'।

यह मनुष्यके हृदयमें नारायण हैं—आत्मदेव। उसके अनुभवकी एक पहचान होती है। जैसे 'विचार-सागर'में बतलाया कि जो जगत्के सत्य बतलावे वह ज्ञानी नहीं है—

भव वारिधि मृगतृष्णा समाना।

अनुचित यह भासत नहीं आना।

जो भेदवादी होवे सो गुरु नहीं।

एतत्तदुत्तमं सत्यं यत्र किञ्चिन्न जायते।

तीसरे प्रकरणके अन्तमें उपसंहार किया कि जो किसीसे पैदा नहीं हुआ और जिससे कुछ पैदा नहीं हुआ—जो किसीका बेटा नहीं और जो किसीका बाप नहीं, जो अद्वय सत्य है वही परमार्थ सत्य है। जो विकृत होकर बेटा बनता है या किसीसे विकृत होकर स्वयं उत्पन्न होता है वह सत्य नहीं है। सत्य वह है जो आदिमें, मध्यमें, अन्तमें एक-सा, पूरब-पश्चिम, उत्तर-दक्षिण, ऊपर-नीचे एक-सा, मुझमें, तुझमें, उनमें—जितने प्राकृतिक सत्य हैं, जितने व्यावहारिक सत्य हैं उन सबमें एक-सा है। जहाँ विरोधकी सम्भावना है वह उत्तम-दर्शन नहीं होता। क्योंकि विरोध जहाँ होगा वहाँ राग होगा। पंथमें फँसे लोग राग-द्वेष करने



लगते हैं। पर राग-द्वेष कहाँ रहेगा? अपने दिलमें ही तो रहेगा न! जब तुम्हारे दिलमें राग हो जायेगा, जब तुम्हारे दिलमें द्वेष भी हो जायेगा—तो यह क्या अच्छा दर्शन है?

'दर्शन' माने यथार्थ ज्ञान-दृष्टि और वह दृष्टि जिसपर कोई लाल, हरा, पीला-रंगीन चश्मा न लगा हो तभी उसको दृष्टि बोलेंगे और रंगीन चश्मा लगानेपर तो वह दृष्टि फिर यथार्थ दृष्टि नहीं रहती। हनुमानजीने कहा—अशोकवाटिकामें लालकमल थे; समर्थ रामदासने कहा—अशोक वाटिकामें श्वेत-कमल थे। जानकीजीने बतलाया सचमुच श्वेत कमल थे। हनुमानजी अशोकवाटिकामें गये और उनकी बात झूठी और समर्थ रामदास अशोकवाटिकामें नहीं गये और उनकी बात सच्ची—यह कैसे होगा? जानकी माताने बतलाया कि हनुमानजीकी आँखोंमें उस समय क्रोधकी लाली थी—उनका चश्मा रंगीन हो गया था। चश्मा रंगीन हो जानेसे दुनिया यथार्थ नहीं दीखती है। ज्ञान प्राप्त किया जाता है—अर्थका यथार्थ दर्शन करनेके लिए, परमार्थके अनुभवके लिए। रामदासने कहा—राम बड़े, कृष्णदासने कहा—कृष्ण बड़े, गणेश-शरणने कहा—गणेश बड़े। तो अब क्या हो? कौन बड़े? तुम नाम रूपको पकड़कर ऐसा बोल रहे हो—यह राम, यह कृष्ण, यह गणेश—जब कि ये सब एक ही तत्त्वसे बने हैं। मिठाईकी शकलके लिए मत लड़ो, कि हमें हाथी चाहिए कि घोड़ा, इसमें जो खाँड़ है वह खाओ, मौजसे इसका नाम अद्वैत-दर्शन है—जो हृदयसे राग-द्वेषको मिटा दे। सत्सङ्गी भी यदि राग-द्वेष करे तो समझना कि उसने सत्सङ्गमें आकर उसका दुरुपयोग किया। जितने द्वैत-दर्शन हैं, वे अन्योन्य-विरोधात् राग-द्वेषादि क्लेशास्पद-दर्शन हैं।

अपने पत्नी-भाई-भतीजा वहाँ भी पहुँच गये—यह अपना पक्ष; पराया पक्ष वहाँ भी पहुँच गया। तुम साधन करनेके लिए निकले थे, अपने दिलको बनानेके लिए निकले थे कि दिलको बिगाड़नेके लिए निकले थे? क्यों गुरुके पास गये थे? क्यों जप किया था? क्यों साधन किया था? क्यों स्वाध्याय किया था? अपने दिलको बिगाड़नेके लिए कि अपने दिलको बनानेके लिए? तो जिससे राग-द्वेष मिटे—वही सच्चा दर्शन। यहाँ बतलाते हैं कि अद्वैत-दर्शनके प्रतिपक्षी दो हैं—एक तो द्वैतवादी और दूसरे चैरात्म्यवादी-वैनाशिक अर्थात् जो मानते हैं कि निर्वाण-दशामें आत्माका उच्छेद हो जाता है।

देखो, द्वैतवादी तो आपसमें लड़ते हैं और शून्यवादी आत्मोच्छेदवादी आपसमें लड़ते तो नहीं परन्तु उनसे पूछा जाय कि किसकी मुक्ति होती है, निर्वाण

किसको प्राप्त होता है? अगर निर्वाण किसीको प्राप्त ही नहीं होता तो वह पुरुषार्थ कैसे होगा? 'मोक्ष' नामका वह पुरुषार्थ होगा कैसे? यह जो ब्रह्माद्वैत-दर्शन, अद्वैत ब्रह्म-दर्शन है—यही सच्चा दर्शन है। इसलिए गुरु वह है जो इस ब्रह्मात्मैक्यको जाने, इस ब्रह्मात्मैक्यका अनुभव करें। उसीका नाम गुरु है, वही साक्षात् भगवान् है। भगवान् वह है जिसने अपने आत्माके रूपमें भगवान्का अनुभव किया है—मूर्तिमान्।

'आचार्यपूजा ह्यभिप्रेतार्थसिद्ध्यर्थेभ्यते शास्त्रारम्भे'—श्री शंकराचार्य भगवान्ने कहा कि शास्त्रके प्रारम्भमें आचार्यका सत्कार करना चाहिए इसलिए मंगलाचरण करते हैं और यह आवीतन्यायसे अलातशान्ति प्रकरण प्रारम्भ करते हैं। आवीत न्यायका अर्थ होता है—कि जो अपना पक्ष था सो तो सिद्ध कर दिया, लेकिन परपक्षका निषेध नहीं किया। परपक्षका निषेध न करनेसे पाक्षिक रूपसे उसकी ही प्राप्ति होती है। अतः उसका भी निषेध करना चाहिए। उसके निषेधकी शैली पृथक् है। हम अपने मतको बीचमें रखकर उनका निषेध नहीं करते हैं, उनके सामने उन्हींका मत रख करके निषेध करते हैं। विपक्ष प्रतिषेधके द्वारा स्वमतकी सिद्धि और पर पक्षोंमें क्या परस्पर विरोध है वह सब बतलाकर उनका दोष दिखा देना—यह एक प्रक्रिया है। आवीत न्याय (व्यतिरेकी अनुमान)का अर्थ—अवीतन्याय। अवीतको ही आवीत बोलते हैं। वि माने 'विशेष'। विशेष रूपसे, स्पष्ट रूपसे जो बात बीत गयी। उसको 'बीत' कहते हैं। अर्थात् अपने पक्षकी तो सिद्धि हो गयी—परन्तु, एक चीज अवीत रह गयी। माने अभी वह बीती नहीं, विगत नहीं हुई। क्या नहीं बीती, क्या विगत हुई? दूसरोंका पक्ष। तो उनका निषेध करके स्वपक्षकी जो सिद्धि है उसको आवीत न्याय कहते हैं।

इस अलातशान्ति-प्रकरणका क्या अभिप्राय है? एक लकड़ीमें एक ओर या दोनों ओर मसालकी तरह, घास-फूस बाँध करके या कपड़ा बाँधकरके, किरासनका तेल डालकरके आग जला देते हैं और उस लकड़ीको बीचमें—से पकड़कर घुमाते हैं तो कभी वह लम्बी मालूम पड़े—गोल मालूम पड़े, कभी चौड़ी मालूम पड़े उसको घुमानेसे तरह-तरहकी शकल मालूम पड़े। यद्यपि उस 'लूक'में उस 'अलाव'में किसी प्रकारकी आकृति नहीं है—न लम्बी, न चौड़ी, न गोल, न उसमें हाथी है, न उसमें घोड़ा है, न उसमें रथ है, परन्तु उसको ऐसा घुमाते हैं कि उसमें सब आकृतियाँ मालूम पड़ती हैं। इसी प्रकार यह ज्ञानदेव



ऐसी-ऐसी आकृतियाँ बनाते हैं कि उन आकृतियोंकी शान्ति, उन आकृतियोंके बाधके लिए यह 'अलात शान्ति प्रकरण' प्रारम्भ करते हैं।

अब, यहाँ अनुभवमें तीन बातें आनी चाहिए—यह बताते हैं। जो अनुभव गुरुदेवको हुआ, वह कैसा है? उनका ज्ञान आकाशकल्प है, माने आकाश तुल्य है।

जैसे किसी क्षत्रियको बोला जाय कि वह 'ब्राह्मण कल्प' है—माने उस क्षत्रियका जो आचरण है वह ब्राह्मणवत् है—फिर यह ब्राह्मण कैसा है? कि 'वैश्यकल्प' है 'वैश्यकल्प' है माने—उसके आचरण वैश्यके जैसे हैं। यह पुरुष कैसा है? कि स्त्रीकल्प है और यह स्त्री कैसी है कि पुरुषकल्प है, पुरुष तुल्य है, पुरुषवत् है—यह इसका अभिप्राय है। गुरुजीका ज्ञान कैसा? बोले कि आकाशकल्प वह नाम-रूपको पकड़ करके बैठनेवाला नहीं है, सम्पूर्ण नाम-रूपोंका प्रकाश है। यन्त्रके द्वारा जितनी-जितनी खोज होगी, जितना-जितना उसके बारेमें बोध होगा—शोध और बोध उसके अनुसार यन्त्रमें परिष्कार होगा, यन्त्रके द्वारा ज्ञान और विशाल होता जायेगा। इसका अर्थ है—ज्ञान अभी संकीर्ण है। जब जिसको जितना ज्ञान होता है उसको ही वह पूरा मानता है। जैसे देखो, अभी आप कहोगे कि यहाँ प्रकाश है। क्यों प्रकाश है? बोले कि बाहरसे सूर्यकी रोशनी आ रही है या भीतर इतनी रोशनी जल रही है—तो यहाँ प्रकाश है। पर समझो, जितनी रोशनी इस समय यहाँ जल रही है, इससे हजारगुना रोशनी यदि और जला दी जाये तो आपको कैसा लगेगा? यही कि पहले कम रोशनी थी, अब ज्यादा हो गयी। जितना स्थान खुला है सूर्यकी रोशनी आनेके लिए, उससे ज्यादा स्थान खोल दिया जाये तो भी यहाँका प्रकाश बढ़ जायेगा। जो यन्त्र द्वारा ज्ञान होता है, जो लौकिक ज्ञान होता है, जो अनेकताका ज्ञान होता है उसमें वृद्धिकी सम्भावना हमेशा बनी रहती है, इस बातसे इन्कार नहीं किया जा सकता। विज्ञान एकको अनेक करके दिखानेवाला है। हम उस अद्वैत वस्तुके ज्ञानकी चर्चा करते हैं जो अलग-अलग फुटकर पदार्थोंका ज्ञान नहीं है। कुलका ज्ञान नहीं; परिच्छिन्न और परिच्छिन्नताओंका जोड़ और सबका-सबका ज्ञान नहीं है। जितने टुकड़े हैं, उनका अलग-अलग भी उनके जोड़का भी, उनके अलग-अलग अभावका भी और उनके समूचे अभावका भी जो अधिष्ठान है, उस अधिष्ठानके ज्ञानकी हम चर्चा करते हैं। यह किसलिए? कि इसीसे राग-द्वेषका नितान्त अभाव हो जाता है, सम्पूर्ण अनर्थोंकी उपशान्ति होकर परमानन्दकी उपलब्धि स्वरूपका साक्षात्कार होता है।



ज्ञान कैसा? जो किसी नाममें, किसी रूपमें, किसी क्रियामें आबद्ध न हो, अखण्ड हो, अपरिच्छिन्न हो। अच्छा अब जाननेवाले कैसे? बोले—

धर्मान् यो गगनोपमान्।

यहाँ जीवात्मा-ज्ञाता वही धर्म शब्दका अर्थ है। बौद्धोंमें तो धर्म धातु स्वभाव है। 'धर्म' शब्दका अर्थ यह समझो कि जैसे शरीरमें हाथ, पाँव, कान, नाक, जीभ, आँख और हड्डियाँ अलग-अलग हैं—इन सबको जो 'मैं' रूपसे धारण करता है, उसको धर्म बोलते हैं—धारणात् धर्मः। जीवात्माको ही धर्म कहते हैं। जो शरीरमें अलग-अलग मालूम पड़ते हैं। परन्तु इस तत्त्वका जब विचार करोगे तो—यह आत्म-तत्त्व अलग-अलग नहीं है। उसी अपरिच्छिन्न ज्ञानके समान ही यह ज्ञाता भी अपरिच्छिन्न है। अच्छा, तो ज्ञेय क्या है? बोले—

'ज्ञेयाभिन्ने न सम्बुद्धः'—वे भी अपरिच्छिन्न हैं। तो अपरिच्छिन्न जीवात्मा, अपरिच्छिन्न ज्ञान और अपरिच्छिन्न ब्रह्म जहाँ ज्ञानका विषय ज्ञान और ज्ञाता अभिन्न और अच्छिन्न है—इसका नाम अनुभव है। भवम् अनु इति अनुभवः; भवति इति भवः। जो जाति पदार्थ है उसको भव बोलते हैं—भवम् अनु—जो जात, जायमान और जनिष्यमान्—जितनी स्फुरणाएँ हैं उनके पीछे रहकर सबको प्रकाशित करता रहता है उस भू, उस ज्ञान, उस ज्ञाताको अपने स्वरूप रूपसे जिसने जाना है कि मुझसे भिन्न कुछ नहीं है उसका नाम है गुरुदेव। उसका नाम है नारायण, उसका नाम है पुरुषोत्तम। 'तं वन्दे द्विपदाम् वरं'—उन पुरुषोत्तम उन नरोत्तम नरको जो हमारे ज्ञानके आदि स्रोत हैं—उनकी हम वन्दना करते हैं। माने उनके सम्मुख नम्र होते हैं। नम्र होते हैं माने उनके अतिरिक्त अपनेको नहीं मानते हैं। नमस्कार माने नम्र हो जाना। नम्र हो जाना माने अहंकारको छोड़ देना। इसका अर्थ है उनकी क्रियासे हमारी क्रिया भिन्न नहीं है; उनकी बुद्धिसे हमारी बुद्धि भिन्न नहीं है, उनके संकल्पसे हमारा संकल्प भिन्न नहीं है और उनके स्वरूपसे हमारा स्वरूप भिन्न नहीं है और स्वरूपकी एकतामें बुद्धि, मन, क्रिया कुछ भी भिन्न नहीं है। असलमें गुरुसे अभेद होना माने गुरुका जो ज्ञान है वही शिष्यका ज्ञान है। यदि गुरुके ज्ञानसे शिष्यने अपना ज्ञान कुछ अलग बनाया तो नमस्कार ही नहीं हुआ। कुछ लोग कहते हैं गुरुजी हमारे ज्ञानी तो बहुत थे मगर अमुक बात नहीं समझते थे, इसलिए इस सम्बन्धमें हमने अपना मत उनसे अलग बना लिया। हमारे गुरुजी परमार्थ तो बहुत समझते थे लेकिन व्यवहार नहीं समझते थे इसलिए व्यवहारमें हमारा उनका नहीं मिलता। यह संस्कार-पक्ष है, यह ज्ञान-पक्ष नहीं है भला! जैसे गुरुजीने अपनेको



अद्वय जाना वैसे हमने भी अपनेको अद्वय जाना—जो अद्वय गुरुदेव सो अद्वय मैं, जो अद्वय परमात्मा सो ही अद्वय आत्मा; जो अद्वय ब्रह्म सो ही अद्वय अहम्। भेदका सम्पूर्ण निरसन ही नमस्कारका अर्थ है।

**अस्पर्शयोगो वै नाम सर्वसत्त्वसुखो हितः।**

**अविवादोऽविरुद्धश्च देशितस्त्वं नमाम्यहम् ॥ 2 ॥**

जब कहते हैं कि अद्वैत दर्शनयोगको हम नमस्कार करते हैं; इसकी स्तुति करनेके लिए! जो एक अस्पर्शयोग है। अस्पर्शयोग माने जो दुनियामें किसीको 'टच' न करे। अंगुलीसे किसीको छू दिया तो क्या हुआ? स्पर्श हुआ। यह त्वाक हुआ। 'टच' करना हुआ। यह स्पर्शयोग हो गया।

ऐसे ही उपासनाओंमें स्पर्शयोग होता है, मिलना होता है। योगमें—समाधिका स्पर्श होता है। यह योग ऐसा है कि है तो योग परन्तु स्पर्श किसीका नहीं है। कोई दूसरा है ही नहीं, अपना आपा ही है सब। देखते हुए नहीं देख रहे हैं; सुनते हुए नहीं सुन रहे हैं; बोलते हुए नहीं बोल रहे हैं, क्योंकि देखनेमें जहाँ आग्रह है कि हम यही देखें, वही स्पर्श है। सुननेमें जब आग्रह है—कि हमेशा हमको अपनी तारीफ ही सुननेको मिले तो यह स्पर्श हो गया—शब्दका स्पर्श हो गया। हमेशा संगीत ही सुननेको मिले—यह स्पर्श हो गया। हमेशा हमारा प्रीतम ही देखनेको मिले, यह स्पर्श हो गया। 'अस्पर्शयोगो वै नाम'—यह वह योग है जिससे खाते हुए भी नहीं खाते हैं। आपने गोपालतापनी उपनिषद्का नाम सुना होगा जिसमें वर्णन है कि दुर्वासाने भरपेट भोजन किया। भोजन करानेके पश्चात् गोपियोंने पूछा कि—'महाराज! जमुनाजीकी बाढ़को पार करके हम ब्रजमें कैसे जायँ?' तो दुर्वासाजी गोपियोंसे बोले कि कहना जमुनाजीसे कि 'यदि दुर्वासाजी कभी कुछ खाते न हों तो हमारे लिए रास्ता दे दो।' गोपियोंने कहा कि 'महाराज! अभी तो आपने हमारा सारा भोजन उड़ा लिया—और अब कहते हो कि जाकर जमुनाजीसे कहना कि कुछ न खाया हो तो हमको रास्ता दे दो, यह कैसे? दुर्वासाजीने आत्मज्ञानका उपदेश किया। बोले—आत्मा आकाश है—चिदाकाश। घड़ेमें तुम खीर भर दो, पूड़ी भर दो, हलुआ भर दो तो उससे क्या आकाशका स्पर्श होता है? गोपियाँ बोलीं कि 'नहीं महाराज! घड़ेमें चाहे जो भरा जाय या न भरा जाय आकाश तो है अछूता'। ऐसे ही शरीरके घड़ेमें तुम खीर भर दो, पूरी भर दो तो इसमें रहनेवाला जो चिदाकाश है उसको कोई स्पर्श होता है क्या?

अब बताते हैं—'सर्वसत्त्वसुखोहितः'—अस्पर्शयोग तो ब्रह्मका स्वभाव ही



है। माने ब्रह्म वेत्ताओंमें यह बिलकुल स्पष्ट है। किसीके साथ इसमें कोई सम्बन्ध नहीं बनता है! सम्बन्ध बने तो बन्धन बन जाए, सम्बन्ध ही तो बन्धन है।

पति-पत्नी कैसे बँधे हैं? कोई रस्सी नहीं, कोई जंजीर नहीं, कपड़ेकी गाँठ भी नहीं है, तो काहेसे बँधे हैं? सम्बन्धका ही बन्धन है। असलमें सम्यक् बन्धनका नाम ही बन्धन है। ऐसे बँध गये कि बाहरकी रस्सीकी जरूरत ही नहीं रही। सोना, चाँदी, पुत्र, स्त्री संसारमें जो सम्बन्ध हैं—यही बन्धन है और अद्वैत ब्रह्मका जो ज्ञान है वह कहता है कि देखो, सम्बन्ध तो दूसरेके साथ होता है, यहाँ तो सम्बन्ध नहीं है सब आत्मा है। तब ये संसारी लोग कहेंगे कि यह तो सूखा ब्रह्म हुआ। देखो असलमें यह सूखा ब्रह्म नहीं हुआ, यह तो बड़ा गीला ब्रह्म हुआ। कैसे? कि किसीको 'मेरा' समझना यह ज्यादा प्रेम है या किसीको 'मैं' समझना—यह ज्यादा प्रेम है? आप स्वयं निर्णय करो। जब किसीको दूसरा समझते हैं तब उससे सम्बन्ध बनाते हैं कि तुम हमारे बेटे, तुम हमारे बाप, तुम हमारी भाभी, तुम हमारी पत्नी, तुम हमारी माँ—यह 'हमारी-हमारी' जो सम्बन्ध होता है वह दूसरेके साथ होता है और दूसरा नहीं रहा, सब अपना आपा ही हो गया। सम्बन्धके बिना जो प्रेम है यह बन्धनसे रहित प्रेम है। इसमें स्पर्श नहीं है। क्योंकि दूसरा हो तो स्पर्श करे, यह तो अपना आत्मा ही है। इसलिए यह कैसा है? तो कहा गया कि यह सबको सुख देनेवाला है—सीपकी 'अपना' मत समझो—यह 'मेरा' समझना बाँधता है, 'मैं' समझना बन्धन नहीं है। अपने-आपसे कोई बन्धन है? वहाँ सम्बन्ध ही नहीं है तो बन्धन भी नहीं है। यही आत्मज्ञान यही अस्पर्शयोग सम्पूर्ण प्राणियोंके लिए सुखकारी है। और हितकारी भी है। देखो, तपस्यामें तो बादमें सुख बहुत मिलता है, लेकिन करते समय कितना दुःख होता है। यह ज्ञान ऐसा है जो ज्ञान प्राप्त करते समय भी दुःख न हो और फलमें भी दुःख न हो—हमेशा सुख-ही-सुख हो। परन्तु कई चीजें ऐसी होती हैं जो तत्काल बहुत सुख देती हैं। खाते समय कितना सुख होता है, लेकिन ज्यादा खा जायें तो दुःख होता है कि नहीं होता? अति होनेसे भोग दुःखदायी हो जाता है। भोग वर्तमानमें सुख है परन्तु भविष्यमें वह हितकारी नहीं है और तपस्यामें भविष्यमें सुख है और वर्तमानमें दुःख है। यह तत्त्वज्ञान ऐसा है जो कानसे सुनकर तो प्राप्त होता है और जन्म-मरणके बन्धनसे छुड़ा देता है—बोलनेकी तकलीफ उठावें गुरुजी और मुक्त होनेका सुख भोगें चेलाजी।

दूसरी बात यह है कि आत्मप्रकाश अद्वैतमें विवाद किससे? विवाद वहाँ



होता है जहाँ पक्ष और प्रतिपक्षका ग्रहण करके परस्पर विरुद्ध भाषण करते हैं। यहाँ तो परस्पर विरुद्ध भाषण ही नहीं है। क्योंकि अविरुद्ध है! यह अविरुद्ध कैसे है? आत्मप्रकाश होनेसे। अपने स्वरूपका आविर्भाव—किसीके विरुद्ध नहीं होता! अगर शीशेमें कभी अपनेको देखो तो क्या गुस्सा करके शीशेको कभी घूँसा मारोगे? यदि कभी किसी कारणसे कोई शीशेको पटकेगा, तब भी अपनेको नहीं पटकेगा! अपने स्वरूपका जो आविर्भाव है वह किसीके विरुद्ध नहीं होता। ऐसा ज्ञान जिसमें किसीको छूना न पड़े, सम्बन्धका बन्धन न जोड़ना पड़े। ज्ञान प्राप्त करते समय भी सुख होवे और आगे भलाई होवे और किसीसे वाद-विवाद न होवे—न अपने विरुद्ध पड़े न किसी और के विरुद्ध पड़े। तो ऐसा जो ज्ञानोपदेश किया हुआ है, ऐसा जो अस्पर्शयोग है, हम तो उस अस्पर्शयोगको ही नमांसि! नमांसि! नमांसि! नमः नमः नमः करते हैं। हम उसको प्रणाम करते हैं, माने अपना अहं छोड़कर हम स्वयं अस्पर्श रूप हैं। सम्पूर्ण प्राणी सुखरूप हैं। हम स्वयं हित-रूप हैं, हम स्वयं अविवाद रूप हैं। हम स्वयं अविरुद्ध रूप हैं। हम स्वयं ज्ञान रूप हैं—इस प्रकार हम अनुभव करते हैं। यदि कहो कि आपसमें जो लोग विवाद करते हैं वे तो हमारे विरोधी हैं। नहीं, वे तो हमारे साधक हैं, बाधक नहीं हैं। वे तो वचनीयके बारेमें विवाद करते हैं, अनिर्वचनीयके बारेमें विवाद थोड़े ही करते हैं? वे तो 'इदं'के बारेमें विवाद करते हैं, 'अहं'के बारेमें विवाद थोड़े ही करते हैं? वे दृश्यके बारेमें विवाद करते हैं, द्रष्टाके बारेमें, दृढ मात्रके बारेमें विवाद नहीं करते हैं। हम तो साक्षी हैं, हमारा विवाद क्या? हम तो अधिष्ठान हैं, हमारा विवाद क्या? हम तो दोनोंकी आत्मा हैं, हमारा विवाद क्या?

श्रीगौड़पादाचार्यजीने कहा कि हम उस स्पर्शयोगको ही नमस्कार करते हैं—जिसमें किसीको छूना नहीं है—जो किसीको स्पर्श नहीं करता! कैसे? जैसे रस्सी साँपको नहीं छूती, जैसे आकाश नीलिमाको नहीं छूता, इसी प्रकार वह आत्मचैतन्य, वह ब्रह्म जिसमें द्वैत है ही नहीं या कल्पना मात्र है—अथवा अस्पर्श है—वह न किसीको 'टच' करता है, न वह किसीके द्वारा 'टच' किया जाता है। क्योंकि दूसरा है ही नहीं। वृहदारण्यक श्रुतिमें यह ऐसे आया है—

न तदश्नाति किञ्चन न तदश्नाति कश्चन।

वह किसी वस्तुको खाता नहीं और दूसरी कोई वस्तु उसको खाती नहीं। न वह किसीका भोग्य है और न किसीका भोक्ता। न किसीका ज्ञेय है, न किसीका ज्ञाता। न किसीका कार्य है, न किसीका कारण। जगत्के जन्मादि कारणके रूपमें



जो इसका वर्णन होता है, जगत्की सत्ताके सम्बन्धमें जो भ्रान्त हैं—जो मानते हैं कि जगत् है और पैदा हुआ है और इसका प्रलय होता है, उनके सन्तोषके लिए है।

‘यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते’ अथवा ‘जन्माद्यस्य यतः’।

यह श्रुति अद्वितीयत्वका सङ्गमन करनेके लिए, अद्वितीयत्वकी सङ्गतिके लिए एक प्रकारसे निरूपण करती है जिससे अद्वितीयत्व जो है सो अक्षुण्ण रहे। ज्ञानी जीवन्मुक्त पुरुष भोक्ता है और ब्रह्म भोग्य है—यह गलत है अथवा ब्रह्म भोक्ता है और जीवन्मुक्त-ज्ञानी पुरुष भोग्य है, यह भी गलत है। ब्रह्म भोक्ता है, अज्ञानी भोग्य है, या अज्ञान भोग्य है—ऐसे भी नहीं। माने भोक्ता और भोग्यका भेद ही नहीं है। अच्छा हम ज्ञाता हैं, ब्रह्म ज्ञेय है, या ब्रह्म ज्ञाता है, हम ज्ञेय हैं, अथवा ब्रह्म ज्ञाता है, अन्य कुछ ज्ञेय है—ऐसा भी नहीं। कार्य-कारण, कर्ता-कर्म—इनका सदंशमें अध्यारोप होता है। चिदंशमें द्रष्टा, दर्शन, दृश्य और आनन्दांशमें भोक्ता, भोग्य, भोजन और इनका अभाव भी प्रतीत होता है। भोक्ता, भोग्य, भोजन और इनका अभाव; द्रष्टा, दर्शन, दृश्य और इनका अभाव—कार्य-कारण, कर्ता-कर्म और इनका अभाव—ये सब जिसमें केवल अध्यस्त हैं, उस अधिष्ठानमें किसका स्पर्श करें और कौन स्पर्श करे। न स्पृष्टा है और न स्पृश्य है। प्रारम्भमें निरूपण करनेके लिए एक ही द्रष्टा, स्रष्टा, मन्ता—इस तरहसे निरूपण करते हैं। वह जिज्ञासुकी भोली-भाली बुद्धिको परमात्मामें प्रविष्ट करनेके लिए एक युक्ति है।

अस्पर्शयोगके बारेमें एक बड़ी विलक्षण बात यह कही गयी है कि दुनियामें ऐसा कोई धर्म नहीं है, ऐसा कोई मत नहीं है जो दूसरेके मतको बिना दबाये अपने मतकी स्थापना करता हो। रामवाद आवे तो कृष्णवादको दबावे, कृष्णवाद आवे तो रामवादको दबावे। शक्तिवाद आवे तो शिवको मुर्दा बना दे। शिववाद आवे तो शक्तिको पराधीन कर दे। शैवमतमें शक्ति पराधीन है और शाक्तमतमें शिव मुर्दा है। एकको मारकर तब दूसरा राजा बनता है। पृथिवीमें यही लीला है। निराकार साकारका खण्डन करे, साकार निराकारका खण्डन करे; मति-मतिके विरुद्ध और वस्तु-वस्तुके विरुद्ध। एक ऐसी चीज निकली कि जिसमें किसीका विवाद ही नहीं—अविवाद। अब यदि दोनों विवाद कर रहे हैं, लड़ रहे हैं तो मैं दोनोंका साक्षी हूँ, लड़ने दो। मरुस्थलके जलमें दो मछली लड़ रही हैं—दोनों मिथ्या हैं।

मरुस्थलके जलमें एक बड़ी मछली छोटी-छोटी हजार मछलियोंको खा रही है और छोटी-छोटी हजार मछलियाँ बड़ी मछलीपर आक्रमण कर रही हैं, तो उनमें जो मरुस्थलका ज्ञाता है—मरुस्थलमें कल्पित जल अधिष्ठान—उसका जो



ज्ञाता है, उसका भी कोई पक्ष है क्या? यह मत है कि छोटी मछलियोंकी जीत होनी चाहिए कि बड़ी मछलियोंकी जीत होनी चाहिए?

बादलोंमें प्रतीयमान जो सैनिक हैं, राजा हैं, विमान हैं और हथगोले हैं उनमें हमारा कोई मत है? अविवादः। परमाणु सच्चे हैं, प्रकृति सच्ची है—यह द्वैतवादियोंके ही भेद हुए। परमाणु भी द्वैतवादीका और प्रकृतिवाद भी द्वैतवादीका। दोनों आपसमें लड़ने लगे, कि परमाणु सत्य है या प्रकृति सत्य है? बौद्धोंने कहा कि परमाणु और प्रकृति दोनोंका अभाव-शून्य सत्य है। इस प्रकार भाववादीके साथ लड़ता है अभाववादी और अभाववादीके साथ लड़ता है भाववादी। अभाव भी एक पक्ष है। एकने कहा—सुषुप्ति ही सत्य है, जाग्रत्-स्वप्न मिथ्या है। दूसरेने कहा—जाग्रत् ही सत्य है, सुषुप्ति-स्वप्न मिथ्या है। तो तीसरेने कहा—स्वप्न ही सत्य है, जाग्रत्-सुषुप्ति मिथ्या है। आपसमें लड़ रहे हैं। परन्तु आत्मदेव, जो दोनोंके साक्षी, दोनोंसे पृथक् हैं, वे विवाद-रहित हैं। जिसकी दृष्टिमें दोनों मिथ्या हैं और दोनों अध्यस्त हैं वह भी विवादसे मुक्त है। और जो स्वयं-ही-स्वयं है—अपने दायें हाथ और बायें हाथमें क्या विवाद? अपनी दाहिनी आँख और बाँयी आँखमें क्या विवाद? यह जो संसारमें भेद है, विवाद है यह मत-विषयक विवाद है, अमत विषयक विवाद नहीं है। तो मत और अमत इसमें क्या फर्क हुआ? द्वैत-मतिका जो विषय हो, मतिका जो कर्म हो, मति जिसको जाने—उसका नाम होता है—मत। जाने हुएके बारेमें, विषयके बारेमें विवाद होता है और जो सर्वसम्मत अमत है, माने मतिका विषय नहीं है, मतिका साक्षी है, मतिका अधिष्ठान है, मति जिसमें अध्यस्त है—मति ही नहीं, मतिका अभाव भी जिसमें अध्यस्त है—उसके बारेमें विवाद क्या? बच्चे खिलौनेके लिए लड़ रहे हैं, खाँड़के लिए नहीं, खाँड़की जानकारी उनको नहीं है। यह आत्मदेव ही द्वैतको सत्ता दे रहे हैं, द्वैतको अस्तित्व दे रहे हैं। तुम्हारे विरुद्ध कौन है? तुम्हारे विरुद्ध तुम्हारा शत्रु तुमसे लड़ रहा है या तुम्हारा मित्र तुमसे हाथ मिला रहा है? शत्रु है तो क्या वह समान-कल्प है? जबसे तुम हो तबसे तुम हो तबसे है कि बीचमें पैदा हो गया है, जबतक 'तुम' रहेगा तबतक कि मर जायेगा। खिलौना ही तो है, अध्यस्त ही तो है। अच्छा, एक बात यह भी देखो—अभावका भी विरोधी होता है। जैसे पूछा जाय कि घड़ेके अभावका दुश्मन कौन है? घड़ा। घड़ा होगा तो घड़ेका अभाव नहीं होगा और घड़ेका अभाव होगा तो घड़ा नहीं होगा। वेदान्तमें जिस ब्रह्मका वर्णन किया गया है उसको ऐसा नहीं समझना कि वह कोई प्रपञ्चका अभाव है।



जो अभी नहीं है वह ब्रह्म कैसा ? जो इस समय नहीं है वह क्या अविनाशी होगा ? जो यहाँ नहीं है, वह क्या पूर्ण होगा ? जो यही नहीं है वह क्या सर्वात्मा होगा, विश्व होगा ? यदि घड़े आपसमें टकरायेंगे तो आकाश टकरायेगा क्या ? आकाश नहीं टकरायेगा । यदि दो भेड़े लाकर लड़ाओ तो भेड़े लड़ेंगे, बिजलीकी जो रोशनी है यह थोड़े ही लड़ेगी । और दो रस्सी आपसमें लिपट जायँ और मालूम पड़े कि दो साँप लड़ रहे हैं, तो साँप थोड़े ही लड़ रहे हैं । तो 'अविरुद्धश्च'—अभावका विरोधी भाव होता है । अभावमें भी राग-द्वेष है । जबतक भाव है तबतक तो हम संसारमें फँसे हुए हैं और जब अभाव होगा तब हम मुक्त होंगे । यह क्या हुआ ? देखो यह विरोध हुआ । किसका ? दृश्य-प्रपञ्चका । अद्वैत तो दृश्य-प्रपञ्चका विरोधी नहीं है । दृश्य-प्रपञ्चमें अनुसन्तत है—'तुरीयं त्रिषु सन्ततम् ।' जाग्रतमें वही, स्वप्नमें वही, सुषुप्तिमें वही । यह ऐसा ज्ञान है कि वैकुण्ठमें जाय नहीं और परमात्मा मिल जाये, समाधि लगाये नहीं और परमात्मा मिल जाय, यज्ञ करे नहीं और परमात्मा मिल जाये, जबानसे बोले नहीं और परमात्मा मिल जाय । कैसे मिल जाये ? सुननेसे मिलता है । सुननेसे कैसे मिलता है ? जो चीज पहिलेसे मिली हुई है—अपना आपा ही है और केवल न जाननेसे खोयी हुई मालूम पड़ती है उसको तो किसीने बताया कि तुम्हीं हो और मिल गयी—इसमें कहाँ आँख बन्द करना और खोलना ; इसमें कहाँ दिल लगाना और छुड़ाना ; इसमें कहाँ समाधिके लिए प्रयास करना और मिटाना ? यह तो बिना खोये ही खोयी हुई मालूम पड़ रही है । सांख्य दर्शनमें दृष्टान्त आता है—कि गलेमें पड़ा हार यदि भूल गया तो कैसे मिलेगा ? समाधि लगानेसे मिलेगा ? यज्ञ करनेसे मिलेगा ? वैकुण्ठमें जानेसे मिलेगा । बस केवल कोई बता दे कि तुम्हारे गलेमें हार है, खोये हुए की भ्रान्ति है—बस, इतनी तो बात है ।

परब्रह्म परमात्मा कहाँ छिपा हुआ है ? वह है अनन्त, अद्वितीय । हर जगह, हर समय, हर वस्तुमें, हर हालतमें हाजरा-हजूर, न निकट न दूर । क्योंकि आत्म-प्रकाश जो है वह किसीका विरोधी नहीं होता । अपने-आपका जाहिर होना, आत्म-प्रकाश है—आत्मा है, प्रकाश है, ज्ञानात्मक है, आत्मज्ञान है—ज्ञानात्मा है । दुश्मनको दुश्मन बता दे, दोस्तको दोस्त बता दे, कालेको काला बता दे, गोरेको गोरा बता दे ! तो कालेका विरोधी ज्ञान नहीं है, गोरेका विरोधी ज्ञान नहीं है, वह तो भ्रम है ।

**भूतस्य जातिमिच्छन्ति वादिनः केचिदेव हि ।**

**अभूतस्यापरे धीरा विवदन्तः परस्परम् ॥ ३ ॥**



वादी होता रोग ही है—और रोगको पालना नहीं चाहिए। कोई-कोई वादी कहते हैं कि 'भूतस्य जातिमिच्छन्ति'—जो पहले चीज मौजूद थी वही पैदा हुई और दूसरे धीर पुरुष कहते हैं कि जो चीज पहले नहीं थी सो पैदा हुई। पक्ष लेनेपर पक्षी संज्ञा हो जाती है। पक्षी, जैसे काकः। यह अद्वैत-ब्रह्म पक्ष नहीं है। पक्ष तो तब हो जब अनुमानसे साध्य होवे। पक्ष होता है, साध्य होता है, हेतु होता है, दृष्टान्त होता है। जहाँ अनुमान लगाया जाता है, वहाँ पक्ष होता है। एकने अनुमान लगाया—ऐसा होगा, दूसरेने अनुमान लगाया—ऐसा होगा और 'हाथ-कंगनको आरसी क्या'—जहाँ स्वयं स्वके रूपमें तत्त्व है वहाँ अनुमान लगानेकी क्या जरूरत? 'भूतस्य जातिमिच्छन्ति'—एक व्यंग्य देखो इसमें। एक आदमी श्मशानमें गया और देखता है कि बहुत-से भूत खेल रहे हैं। उसने कहा—यह ब्राह्मण जातिका भूत है, यह क्षत्रिय जातिका भूत है, यह वैश्य जातिका भूत है—क्या कोई रोटी-बेटी करना है? कोई ब्याह करना है उनसे कि 'भूतस्य जातिमिच्छन्ति?' पचास वर्षका यह भूत है और पाँच हजार वर्षका यह भूत है; इसका बाप काले रंगका था, इसका बाप गोरे रंगका है—यह सब क्या है? भूत माने जो पहले विद्यमान है, वही पैदा होता है—यह कौन कहता है? सांख्यवादी कहते हैं। प्रकृति बीजात्मा है, सबका बीज उसमें मौजूद रहता है और उससे यह जगत् उत्पन्न होता है। दूसरे कहते हैं—जी नहीं, जो चीज पहले थी ही थी वह उत्पन्न क्या हुई? उत्पत्ति तो तब है जब होवे नहीं और आवे। देखो, आमका एक बीज था। सांख्यवालोंने बीजकी दृष्टि बनायी। यह कि बीजमें-से आम निकला, इमली तो नहीं निकली न! आँवला तो नहीं निकला! उस बीजमें-से आम ही निकला। तो उस बीजमें आम जरूर था, तभी आम निकला। यह हुई-भूतकी जाति। अब नैयायिक और वैशेषिक बोले कि देखो, उस बीजमें दूँढने पर भी न पता था, न बौर, न फल था, न तना, न जड़ थी, न हरियाली। जो-जो चीज उसमें नहीं थी, वही-वही उसमें-से निकली। दोनोंमें विवाद छिड़ा। यही झगड़ेकी जड़ है क्या? 'विरुद्धवाद'का ही नाम 'विवाद' है। संस्कृतमें 'वि' माने पक्षी। कभी-कभी तो ऐसा होता है कि विवाद करनेवाले बड़े-बड़े ग्रन्थ लिखें, बड़ी-बड़ी युक्ति दें, बड़े-बड़े प्रमाण दें और हजारों वर्ष तक उस विवादको—पीढ़ी-दर-पीढ़ी, परम्परासे चालू रखें। इसलिए इनको 'धीराः' बतलाया। ये विवाद रखनेवाले भी कम धैर्यशाली नहीं होते हैं, पर हैं, सब-के-सब पक्षी कोटिके।

**भूतं न जायते किंचिदभूतं नैव जायते।**

**विवदन्तोऽद्वया ह्येवमजातिं ख्यापयन्ति ते ॥ ४ ॥**



एक कहता है जो चीज थी वह उत्पन्न नहीं हो सकती। क्योंकि, फिर उत्पन्न क्या हुई, जब मौजूद ही थी और 'अभूतं नैव जायते'—जो चीज थी ही नहीं वह कहाँसे उत्पन्न होगी—'अभूतं, अविद्यमानं—अविद्यमानत्वात् न जायते'—जो चीज नहीं थी वह भी हो नहीं सकती। क्यों नहीं हो सकती। वह थी ही नहीं। तो कहते हैं कि जैसे आत्मा है, विद्यमान होनेके कारण ही इसकी उत्पत्ति नहीं होती, क्योंकि वह तो पहले था ही था, जो जन्म क्या होगा? और दूसरे कहते हैं कि खरगोशके सींग पहले थे ही नहीं तो पैदा कहाँसे होंगे? दोनों युक्ति देते हैं। भागवतमें भी इसका बड़ा सुन्दर वर्णन है।

'सत्' से पैदा हुआ इसलिए सत् है। तो फिर सत् दो हो गये न? एक अनुत्पन्न सत् और एक उत्पन्न सत्। तो दोनोंमें क्या भेद है? एक मुख्य सत् और एक गौण सत् हो गया। जो गौण सत्य हुआ वह तो मिथ्या हो गया और जो उत्पन्न हुआ वह मरेगा तो जो सत् पैदा हुआ और जो सत् मरेगा वह, उत्पत्तिके पूर्ववाले सत्में और मृत्युके अनन्तर वाले सत्में अध्यस्त हो गया। अतः वह तो कल्पित सत् हो गया। श्रीमद्भगवद्गीतामें आया है—

नासतो विद्यते भावः नाभावो विद्यते सतः ।

ऐसा अर्थ है—असतः भावो न विद्यते—जो असत् है उसका भाव नहीं है। माने उत्पत्ति और उत्पत्तिसे उपलक्षित मृत्यु दोनों एक साथ होते हैं, वन्ध्या-पुत्रका न जन्म होता है और न मृत्यु और नाभावो विद्यते सतः—जो सत् है उसका अभाव नहीं है, अर्थात् अभावसे उपलक्षित भाव भी नहीं है, क्योंकि जिसकी मृत्यु होती है उसका जन्म भी होता है। न तो 'सत्' का जन्म-मरण है और न 'असत्' का जन्म-मरण—जन्म-मरण तो दोनोंमें-से किसीका नहीं है, फिर भी दोनों लड़ते हैं।

'विवदन्तोऽद्वया द्वेवमजार्तिं ख्यापयन्ति ते—'द्वया' = द्वैतवादिनः ।'

'अद्वया' नहीं 'द्वया' इस प्रकार द्वया माने दोनों द्वैतवादी हैं—'परस्परं विवदातः ।' आपसमें वे लड़ते हैं और तुम हो अद्वैतवादी अर्थात् हम नहीं लड़ते हैं। तुम किसीका खण्डन करते हो तो कैसे करते हो? बोले—हमारे पास खण्डन करनेकी न कोई युक्ति है, न कोई जरूरत है। तब खण्डन करते कैसे हो? हम तो बस वही उन्हींकी युक्तियोंसे उन्हींका खण्डन करते हैं। अच्छा, तुम्हारा क्या मत है? देखो, हमारा मत यह है कि तुम दोनोंका मत गलत है। दोनों मत हमारा ही है। जैसे एक राजा हो, और वह दो विद्वानोंको खड़ा कर दे



और कहे कि तुम सत्वादका प्रतिपादन करो और तुम असत्वादका प्रतिपादन करो। अब दोनों पण्डित आपसमें शास्त्रार्थ करने लगे। कभी वह उसको हरा दे, कभी वह उसको हरा दे। इसपर कोई कहे कि राजा हार गया या नहीं? दोनोंको तो उसने ही खड़ा किया है वह हारेगा कहाँ-से? राजा तो नहीं हारेगा न! क्यों नहीं हारेगा? उसीने तो सद्वादीको खड़ा किया है और उसीने असद्वादीको खड़ा किया—उसीकी सत्तासे खड़े होकर दोनों आपसमें अस्ति-नास्ति, सद्ववाद-असद्ववाद कर रहे हैं, लड़ रहे हैं। सद्ववादी सांख्य, असद्ववादी, वैशेषिक आपसमें लड़ रहे हैं। इससे हुआ क्या?—‘अजातिं ख्यापयन्ति ते’—सद्ववादीने असद्ववादीका खण्डन कर दिया, असद्ववादीने सद्ववादीका खण्डन कर दिया, बाकी क्या रहा? केवल अजात ही। असलमें उत्पत्ति हुई ही नहीं है। न सत्से सृष्टिकी उत्पत्ति हुई, न असत्से सृष्टिकी उत्पत्ति हुई; न सत्की उत्पत्ति हुई, न असत्की उत्पत्ति हुई।

चार बात ध्यानमें रखनेकी है—सत्की उत्पत्ति हुई कि असत्की उत्पत्ति हुई? बोले—सत् था तब उत्पत्ति क्या होगी और असत् था ही नहीं तो उत्पत्ति क्या होगी? अच्छा, जो उत्पन्न हुआ सो सत्? तो बोले—उत्पन्न हुआ सो ‘सत्’ कहाँसे? असत् और उत्पन्न हुआ? बोले—यह बात भी नहीं बनेगी। न सत् उत्पन्न, न अनुत्पन्न, न सत्से उत्पत्ति, न असत्से उत्पत्ति। इसलिए चारों मत जो हैं वे परस्पर व्याघात हैं।

खण्डन-खण्ड-खाद्यमें एक बहुत बढ़िया वर्णन है। एक महात्माजी रहते थे—बड़े आनन्दसे। उनके यहाँ कोई सवाल ही नहीं कि सृष्टि हुई कि नहीं हुई अपनी मस्तीमें रहते थे। एकने आकर पूछा—महाराज, सृष्टि कैसे हुई? वे बोले ही नहीं। फिर वह बोला—बाबा, कुछ तो बोलो, हम इतने प्रेमसे जिज्ञासु होकर आये हैं, पूछते हैं। नहीं बोले, मस्तीमें बैठे हैं। फिर बड़ा आग्रह किया—हम बहुत प्रेमसे जानना चाहते हैं, बता दो। तो बोले—‘स्वप्रकाशे ब्रह्मणि (चिदात्मनि) वयं सुखमाशये’—हम तो स्वयंप्रकाश ब्रह्ममें आनन्दसे बैठे हैं, हमको यह विचार करनेकी क्या जरूरत है कि सृष्टि हुई कि नहीं हुई? न कोई भ्रम है, न कोई प्रयोजन है। भ्रम होवे तो उसका निवारण करना होवे और कोई अनर्थकी आत्यन्तिक निवृत्ति करनी हो, परमानन्द प्राप्त करना हो, वे इस उधेड़-धुनमें लगे, हमको तो कोई जरूरत नहीं। बोले कि अच्छा महाराज, कुछ तो उपदेश करो कि कैसे यह सृष्टि हुई? बोले कि तुमको कैसी लगती है? उसने कहा—महाराज, यह सृष्टि



छोटी-छोटी, कण-कण मालूम पड़ती है तो-इसके मूलमें अणु होंगे, अणुके मूलमें परमाणु होंगे—परमाणुसे यह सृष्टि बनी होगी—ऐसा लगता है। तो उन्होंने कहा—काहेको दिमाग लड़ाते हो? परमाणु तुम्हारे निरवयव होते हैं कि सावयव? उनके हिस्से होते हैं कि नहीं? बोला—हिस्से तो नहीं होते! (संस्कृत भाषामें) जिसको परमाणु मानते हैं, उसका हिस्सा नहीं मानते हैं। क्योंकि प्राचीन परमाणुवाद तो ब्रह्मको लखानेवाला है। और वैज्ञानिक लोग जिसको परमाणु मानते हैं उसके हिस्से मानते हैं।

महात्मा बोले—तो तुमने जो यह बतलाया कि परमाणुसे सृष्टि हुई वह तो गलत मालूम पड़ती है; क्योंकि परमाणुमें अवयव नहीं हैं, अवयव नहीं तो संयोग नहीं, संयोग नहीं तो अणुकी उत्पत्ति नहीं है। अच्छा तो, प्रकृतिसे सृष्टि है, प्रकृति क्या है? बोले—नित्य और परिणामी पदार्थ है। प्रकृति सम्पूर्ण जगत्का कारण है। उसीमें—से यह धरती, हवा, पानी, आग, आकाश सब निकलते हैं और उसीमें लीन होते हैं, प्रकृति नित्य होती है यही कारण है। बोले—वह नित्य भी होवे और परिणामी भी होवे? जो चीज बदलनेवाली होती है वह नित्य नहीं होती है और जो नित्य होती है वह बदलनेवाली नहीं होती है इसलिए तुम्हारी बात तो कट गयी। जिज्ञासु बोला—आप कहना क्या चाहते हो सो बतलाओ? क्या आप यह सिद्ध करना चाहते हो कि सृष्टि अनिर्वचनीय है? महात्मा बोले—नहीं नहीं, यह हम नहीं सिद्ध करना चाहते। तुम जैसे कहते हो, वैसे अनिर्वचनीय हो! तुम कहते हो कि परमाणुसे सृष्टि हुई तो यह तुम नहीं कह सकते और तुम कहते हो कि प्रकृतिसे सृष्टि हुई तो यह तुम कह नहीं सकते, क्योंकि निरवयव होना संयोगीपनेके विरुद्ध है और संयोगीपना निरवयवपनेके विरुद्ध है। नित्यपना परिणामीपनेके विरुद्ध है और परिणामीपना नित्यपनेके विरुद्ध है। इसलिए जैसे तुम कहते हो, वैसे सृष्टि नहीं हुई। तुम्हारे मतमें सृष्टि अनिर्वचनीय है माने तुम सृष्टिका निरूपण ठीक-ठीक नहीं कर सके! जिज्ञासु—अपने मतसे आप कुछ बतलाइये। महात्मा बोले—हमारा अनुभव तो यह है कि हम हैं ब्रह्म और हमारे मतसे तो न कभी दूसरी कोई वस्तु हुई, न है और न होगी। जिज्ञासु—फिर यह भासती क्या है? महात्मा—मैं तुम्हें शरीरधारीके रूपमें, गुरुके रूपमें, आचार्यके रूपमें, ब्रह्मज्ञानीके रूपमें तब भासता हूँ और समूची सृष्टि भी तब भासती है जब तुम अपनेको अपरिच्छिन्न न जानकर परिच्छिन्न अन्तःकरणसे तादात्म्य करके देखते हो। तुम जानो अपनेको अपरिच्छिन्न तो देखो, उसमें सृष्टि कहाँ है?



बात यह हुई कि ये सब लोग किसी-न-किसी अंशमें अजातका ख्यापन करते हैं। माने असलमें न उत्पत्ति है, न अधःपत्ति है। उत्पत्ति क्या है? उत् माने ऊपर और पत्ति माने पदक। छिपे हुएका बाहरकी ओर निकलना—यह उत्पत्ति है और बाहर निकले हुएका भीतर घुस जाना यह अधःपत्ति है। तो आत्मामें न उत् है, न अधः है—न ऊर्ध्व है, न अधः है। पत्ति कहाँसे होवे?

ख्याप्यमानामजातिं तैरनुमोदामहे वयम् ।

विवदामो न तैः सार्धमविवादं निबोधत ॥ 5 ॥

भूतसे अभूतको काटनेवाला और अभूतसे भूतको काटनेवाला—ये दोनों हमारी ही वाणी है और इन दोनोंके परिणामस्वरूप जो सिद्धि होती है कि उत्पत्ति नहीं होती, उसका हम अनुमोदन करते हैं। इसका नाम सद्विवर्त हुआ। आजातवाद माने एक सद्वस्तुमें विवर्त रूपसे ही यह सृष्टि भास रही है। विवर्त शब्दका प्रयोग जिज्ञासुके लिए है।

जिसकी बुद्धि मामूली है उसको मालूम होता है कि ब्रह्म परिणामको प्राप्त होकर बदलकर सृष्टि बना रहा है, ब्रह्म सृष्टि हो गया है। जो निर्बुद्धि है, केवल तार्किक है, सदुरुसे, शास्त्रसे, प्रकृतिसे जिसको बुद्धि नहीं मिली है वह तो मानता है कि ब्रह्मने सृष्टि बनायी है और साधारण बुद्धिवाला कहता है ब्रह्म सृष्टि बन गया है। जिसका अन्तःकरण शुद्ध है उसको ऐसा लगता है कि एक ब्रह्म सर्व रूपसे भास रहा है। शुद्धान्तःकरण होना दूसरी चीज है और स्वरूप-ज्ञानसे बुद्धिका बोध होना पृथक् चीज है। स्वरूप-ज्ञानसे जिसकी बुद्धि बाधित हो गयी है, उसके लिए तो सब ब्रह्म ही है। उसके लिए न तो ब्रह्मने बनाया, न तो ब्रह्म बना और न तो ब्रह्ममें कुछ विवर्त है—स्वयं-ही-स्वयं है। अतः हम तो अनुमोदन करते हैं कि सब ठीक है। भूतवादीने कहा—सृष्टि ठीक और हुई! बोले—बहुत बढ़िया। दूसरेने कहा—सृष्टि नहीं थी और हुई। बोले—बहुत-बढ़िया। दोनोंने एक दूसरेको काट दिया और उनके साथ हमारा कोई विवाद नहीं है। जहाँ मति है वहीं भेद है।

एक बारकी बात है दो बड़े विद्वानोंसे शास्त्रार्थ होने लग गया। ईश्वर-कृपासे मैं भी वहाँ मौजूद था। एक तो श्रीहरिहर कृपालुजी थे जिनको लोग काशीकी नाक मानते थे, दूसरे पण्डित अनन्त कृष्ण शास्त्री थे। ये मद्रासके महामहोपाध्याय थे। कलकत्ता विश्वविद्यालयमें सबसे बड़े पदपर थे। भरी सभामें मंचपर दोनोंमें शास्त्रार्थ प्रारम्भ हो गया। हरिहर कृपालुने कहा कि देखो भाई, 'हम शास्त्रार्थमें हार जायँ यह तो हो सकता है, लेकिन हमारे हार जानेसे हमारा सिद्धान्त नहीं हारेगा—



यह बात आप मानें। क्योंकि वह तो हमारी मतिका दोष होगा कि तुम्हारे तर्कका, तुम्हारी युक्तिका, उत्तर शायद न दे सकें, तो वह हमारी मतिका दोष है। मतिके हार जानेसे क्या हमारा जो वेद-शास्त्रानुकूल श्रौत-मत निदिध्यासित साक्षात् जो सिद्धान्त है वह क्या हार जायेगा? इसपर अनन्त कृष्णशास्त्रीजीने कहा—यही बात हमारी भी है। यह तो बिलकुल बराबर हैं। मति हारती है, मति जीतती है। हमारा जो मत है वह मतिका बच्चा नहीं है।'

**अजातस्यैव धर्मस्य जातिमिच्छन्ति वादिनः।**

**अजातो ह्यमृतो धर्मो मर्त्यतां कथमेष्यति ॥ ६ ॥**

यह श्लोक कारिकामें पहले भी आ चुका है। जात-माने उत्पत्ति। धर्म माने आत्मा। आत्मा उत्पन्न नहीं होता। अच्छा मान लो कि आत्मा उत्पन्न हो, तो इसकी उत्पत्तिको कौन देखेगा, जो देखेगा सो ही आत्मा है! किसमें उत्पत्ति होगी? जिस अधिष्ठानमें उत्पत्ति होगी सो आत्मा और जो इसकी उत्पत्तिका साक्षी होगा सो आत्मा। आत्माकी तो उत्पत्ति सिद्ध नहीं होती और आत्माकी अध्यस्तता भी सिद्ध नहीं होती। वादी लोग बलात् अजातको जात बनाना चाहते हैं। जो वस्तु अजात है वह अमृत है। जो जात होता है वही मृत होता है और जो मृत होता है वही जात होता है और जिसमें न जन्म है न मृत्यु, वह वस्तु भला मर्त्यभावको कैसे प्राप्त हो सकती है—अपने स्वभावके विरुद्ध। कोई वस्तु लोकमें भी प्रकृतिका परित्याग नहीं करती है, तो आत्मदेव अपनी प्रकृतिका परित्याग कैसे करेंगे? देखो बचपनसे कितनी बार मालूम हुआ कि इनका राग इससे है अथवा इनसे हमारा बहुत राग हो गया, लेकिन वह तो छूट गया। वह रंग छूट गया कि नहीं? ये कच्चे रंग हैं सब। असलमें कच्चा रंग बड़ा भड़कीला होता है—यह तो आप लोगोंने भी देखा ही होगा! वह एक ही धोवनमें छूट जाता है।

दुनियामें किसका रंग तुम्हारे ऊपर चढ़ा है—बचपनसे अबतक। माँसे प्रेम हुआ, भाईसे प्रेम हुआ, प्रियतम-प्रेयसीसे प्रेम हुआ, जब जिससे प्रेम हुआ मालूम पड़ा कि यही सच्चा है, पर बदल जाता है। कोई वस्तु हमारे साथ बाहरसे आकरके लगे और हमेशा लगी रहे—ऐसा नहीं होता। देखो, जिस दिन कोई आदमी मरा और मालूम पड़ा उस दिन कितना दुःख हुआ, दूसरे दिन कम हो गया, तीसरे दिन और कम हो गया, महीने, दो महीनेमें भूल गया। ऐसे ही चोरी होती है घरमें, तो पहले दिन कैसी भारी मालूम पड़ती है और छह महीनेके बाद कैसी हो जाती है? संसारकी वस्तुएँ सत्तामें चिपकती नहीं हैं और चित्तामें भी



चिपकती नहीं है—द्रष्टा में भी नहीं चिपकती। तो क्या आनन्द में चिपकती होगी? एक वस्तु से खूब आनन्द आता हो और सोचें कि यह चीज नहीं रहेगी तो हमको आनन्द कहाँ से मिलेगा, लेकिन उस चीज से राग नहीं होगा, वह चीज जब नहीं रहेगी तो दूसरे में आनन्द की कल्पना कर लेंगे। एक चीज देख रहे होंगे, दूसरी चीज देखने लगेंगे; एक कपड़ा पहनते होंगे वह फट जायेगा तो दूसरा पहनने लगेंगे। तात्पर्य यह कि संसार की कोई भी वस्तु सन्मात्र के साथ, चिन्मात्र के साथ, आनन्दमात्र के साथ कभी चिपकती नहीं है—असंगता तो सत्का, चित्का, आनन्दका स्वभाव है। यह अद्वैतका स्वभाव है कि वह अपने में अध्यस्त वस्तु के साथ कभी चिपकती नहीं। अध्यस्त वस्तु तो न जाने कब सरक जाती है, पता भी नहीं लगता।

प्रकृति बदलती नहीं—इसीलिए बताया है कि यदि आत्मा वद्ध होवे, आत्मार्थकर्ता होवे तो क्या होगा? फिर तो मुक्तिकी इच्छा छोड़ दो। मुक्तता मत चाहो। जैसे सूर्य में—से गर्मी निकालकर फेंकी नहीं जा सकती। अग्नि में—से गर्मी निकालकर फेंकी नहीं जा सकती—यह उसका स्वभाव है। वैसे ही आत्मा का अमृतत्व कभी छुड़ाया नहीं जा सकता। जो यह मान बैठे हैं कि हम मर जायेंगे, जिनके जीवन में मरने का कोई लक्षण भी नहीं दीखता है। क्योंकि वे हजार बार मरते हैं, हजार बार जीते हैं। इसके बिना मर गये, उसके बिना मर गये। भोजन, कपड़े, इज्जत, बीबी, बच्चे के बिना मर गये, शरीर में रोग आने से मर गये—वे कभी मर सकते नहीं; क्योंकि आत्मा की यदि मृत्यु हो तो मृत्यु का साक्षी कौन होगा? आप गौर करके देखो तो मालूम पड़ेगा कि यदि आत्मा मरता तो 'मृत्यु' शब्द के अर्थ का निरूपण कौन करता? क्योंकि वह तो मर ही जाता, मृत्यु का उसको अनुभव होता ही नहीं। जैसे सुषुप्तिका अनुभव हुआ और जिन्दा है, वैसे ही मृत्यु का अनुभव हुआ और जिन्दा है। सुषुप्ति में जैसे बुद्धि की सुषुप्ति हुई—और अपने ऊपर सोने का अध्यारोप किया। इसी प्रकार शरीर की मृत्यु हुई और अपने ऊपर मृत्यु का आरोप किया। यदि मृत्यु का अनुभव हुआ तो दूसरे की मृत्यु अपने ऊपर ले ली गयी है और यदि मृत्यु का अनुभव नहीं हुआ तो अपने ऊपर मृत्यु का अध्यारोप क्यों करते हो? इसीसे मृत्यु भी एक मानसिक ग्रन्थि है जो मनुष्य को जीवन भर तकलीफ देती है।

हमारा ऐसा कहना है कि मानसिक ग्रन्थि और भौतिक ग्रन्थि में भेद नहीं करना। भौतिक ग्रन्थि तो डाक्टर लोग पकड़ते हैं और मानसिक ग्रन्थि बाबाजी



लोग पकड़ते होंगे, सो बात नहीं है। एक समय ऐसा आवेगा कि जब मानसिक ग्रन्थिको भी डाक्टर लोग पकड़ लेंगे। क्योंकि मन भी तो भौतिक है। जब भौतिक है तब मशीनपर चढ़ेगा। मृत्युकी कल्पना एक भौतिक ग्रन्थि है, एक मानसिक ग्रन्थि है। आगे ऐसा इन्जेक्शन निकल जायेगा, ऐसी दवा आजायेगी कि आदमीको मौतका ख्याल ही न हो। वे देखेंगे कि कौन-सी धातु शरीरमें कम होनेपर आदमीको मौतका ख्याल मनमें ज्यादा आता है? यह भौतिक ग्रन्थि मूल सत्तामें, आकारकी उत्पत्तिके साथ उत्पन्न हुई है। नाक, कान, आँख, जीभ, हाथ-पाँव जब पैदा हुआ तब इनके साथ मृत्यु-ग्रन्थि भी पैदा हुई और आकृतिके बिना जो तत्त्व है, जो मूल-धातु है उसमें मृत्यु-ग्रन्थि नहीं है। जब तुम अपनेको उस सत्ताके रूपमें अनुभव करोगे, जो आकृतिशून्य है, जो रूप-शून्य है, जो नाम-शून्य है—नाम-रूपसे रहित अनारोपिताकार जो तत्त्व है उसके रूपमें जब तुम अपनेको जानोगे तो इस मृत्युकी ग्रन्थिका कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा। अमृतत्व सत्का स्वभाव है, अमृतत्व चित्का स्वभाव है, अमृतत्व आनन्दका स्वभाव है।

**न भवप्यमृतं मर्त्यं न मर्त्यममृतं तथा ।**

**प्रकृतेरन्यथाभावे न कथंचिद्भवविष्यति ॥ ७ ॥**

छठेंकी भाँति सातवें व आठवें श्लोकोंकी व्याख्या पहले कर दी है। प्रसङ्गवश इनका उल्लेख दुबारा किया गया है। इनमें कहा है कि आत्मा धर्म है, परमात्मा अजात है—न वह किसीसे पैदा हुआ है और न उससे कोई पैदा होता है। भला, जो अजात है, अमृत है—जन्म नहीं, मृत्यु नहीं—वह आत्मा, वह परमात्मा, पैदा होनेवाले और मरनेवाले जगत्के रूपमें कैसे हो सकता है? अमृत जो है वह मर्त्य नहीं हो सकता और जो मर्त्य है, वह अमृत नहीं हो सकता। मर्त्य माने मरनेवाला—मृत्युधर्म। कोई भी वस्तु दुनियामें अपना स्वभाव छोड़ती हुई नहीं दिखलायी पड़ती। इसलिए जो लोग ब्रह्मका परिणाम मानते हैं जगत्को, उनका मत संगत नहीं है और जिसके मतमें ब्रह्म स्वभावसे अमृत है—वह अमृत रहता हुआ ही जगत् कैसे बनेगा?

**अमृतं हि ब्रह्म न तद्रूपे स्थिते मर्त्यं भवतुमर्हसि ।**

अमृत रहकर वह मर्त्य कैसे हो सकता है—क्योंकि उससे यथास्थित रूपका विरोध पड़ता है। कार्य कार्य बना रहे और अमृत-ब्रह्म हो जाय—ऐसा भी नहीं हो सकता। और कहो कि कार्यका नाश होने पर वह ब्रह्म हो जाता है तो जब वह नष्ट ही हो गया तब ब्रह्म क्या हुआ? कार्य अगर कोई अलग चीज है तो



प्रलयावस्थामें भी ब्रह्म नहीं हो सकता। और ब्रह्म यदि कार्य बना है तो वह ब्रह्म नहीं रह सकता। इसलिए जिनके मतमें कोई भी वस्तु अपने स्वभावको छोड़कर अन्य रूप ग्रहण कर लेती है उसका तो नाश ही हो चुका है। और जिसके मतमें वह आत्मा अमृत है स्वभावसे, परन्तु मर्त्यजगत्के रूपमें उत्पन्न हो जाता है उसका वह अमृत कूत है, बनावटी है, वह निश्चल भला कैसे रहेगा?

जगत् माने चलता फिरता-बदलता दृश्य—'गच्छति' इति जगत्। यह ब्रह्ममें कब है, ब्रह्ममें कहाँ है और ब्रह्ममें क्या है? ये तीन सवाल उठाओ इस जगत्के बारेमें। अथवा ऐसे कहो कि ब्रह्ममें सृष्टिकालमें तो जगत् है और प्रलयकालमें नहीं है अथवा सृष्टिकालमें दूसरे रूपका है, प्रलयकालमें दूसरे रूपका है—दो ही तो बात आ सकती है न! लेकिन यह सृष्टिकाल और प्रलयकालका जो भेद बनाया वह तो मनसे बनाया। अन्तःकरणकी उपाधिमें ही कालकी कल्पनाका उदय होता है। यह काल-भेद प्रलयकालमें था या नहीं था और प्रतीति-कालमें है या नहीं है—यह भेद अन्तःकरणमें कालकी कल्पना पैदा होनेके बादका है। इसलिए कालमें जो भेद-प्रतीति है वह कल्पना-मूलक है। क्या अन्तःकरणने कालकी आदि और कालका अन्त देखकर तब कालकी कल्पना की है? अन्तःकरण कालकी आदि और कालका अन्त देख नहीं सकता, इसलिए कालका मध्य-भाग जो है वह अन्तःकरणमें कल्पित है। कालके मध्य भागमें कल्पित जो जगत् है, उसका अकल्पित ब्रह्मके साथ क्या सम्बन्ध हो सकता है?

ब्रह्ममें जगत् कब है? जब कल्पना है, तब है और कल्पना नहीं है तो नहीं है। कल्पित जो वस्तु होती है वह कल्पनाके अधिष्ठानमें जुदा नहीं होती है, कल्पनाके प्रकाशकसे जुदा नहीं होती है। इसलिए आत्मासे जुदा न प्रलयकाल है, न सृष्टिकाल है। न कालका आदि है, न अन्त है। यह कहो कि हमने कालका आदि-अन्त देखकर निर्णय किया है कि मध्य भागमें यह जगत् है तो यह बिलकुल गलत है।

अब दूसरी बात देखो—ब्रह्ममें यह जगत् कहाँ है—समूचे ब्रह्ममें है कि ब्रह्म एक हिस्सेमें है या ब्रह्मके बाहर है अथवा ब्रह्मके भीतर? समूचे ब्रह्ममें अगर इसकी कल्पना करते हैं तो क्या आपकी कल्पनामें समूचा ब्रह्म आ गया है? यह गलत हो गया। यदि कहो कि ब्रह्मके एक हिस्सेमें है तो जिसका समूचा रूप ध्यानमें नहीं आया उसमें एक हिस्सा कल्पनाके सिवाय और क्या हो सकता है? और यदि कहो कि ब्रह्मके बाहर है यह जगत् तो तुम्हारा ब्रह्म ही छोटा हो गया।



और यह कहो कि ब्रह्मके भीतर है जगत् तो क्या ब्रह्ममें कोई पोल होगी? ब्रह्ममें जो बाहर और भीतरका भेद है वह ब्रह्मको देखे बिना, ब्रह्मको जाने बिना ही है। अज्ञान-मूलक ब्रह्ममें बाहर और भीतरका, समूचे ब्रह्मका और अधूरे ब्रह्मका भेद, केवल कल्पनासे होता है। ब्रह्ममें जगत् कहाँ है? बोले—जहाँ कल्पना है वहीं है। परन्तु कल्पना तो मुझमें ही है। इसलिए तुममें ही है। लेकिन आप तो अपनी कल्पना छोड़ नहीं सकते। तो बनी रहने दो, पर यह समझो कि मेरे स्वरूपमें यह कल्पना है।

अब तीसरी बात देखो—ब्रह्ममें यह जगत् क्या है? यदि ऐसा सोचेंगे कि जो पोथीमें लिखा हुआ है वही बोला जाये तब तो बात गड़बड़ा जायेगी; फिर तो प्रवचनकी कोई जरूरत ही नहीं है, पढ़ लो घरमें। ब्रह्ममें यह जगत् जड़ है कि चेतन है? कहो कि चेतन है तब तो चेतनमें चेतन अर्थात्—दो चेतन हुए? एक चेतनका ज्ञान दूसरे चेतनको होता है कि नहीं, यह विचार करो! जिसका ज्ञान होता है, उसीको जड़ बोलते हैं और जो स्वयं ज्ञानस्वरूप है उसको चेतन बोलते हैं। माने जो अपने जाननेके लिए पराधीन है उसका नाम जड़ है और जो दूसरेको भी जानता है और स्वयं ज्ञानस्वरूप है उसका नाम चेतन है। यह जगत् चेतन तो है नहीं। यदि जड़ है तो चेतनके पराधीन है कि स्वाधीन है? बोले—बिना चेतनके तो जड़ जगत्का ज्ञान ही नहीं होगा। जगत्की सत्ता सापेक्ष है कि निरपेक्ष है? जगत्की सत्ता सापेक्ष है। माने जगत् ज्ञानसे ही प्रकाशित होता है। तो क्या ज्ञानसे भेद प्रकाशित होता है कि वस्तु प्रकाशित होती है। इसमें विवेक है। यदि कोई निराकार, निर्विकार जड़ प्रकाशित होता हो तो निर्विशेष होनेसे वह ज्ञानका विषय ही नहीं होगा, सन्मात्र होगा और यदि जगत्का भेद प्रतीत होता है, जड़का भेद प्रतीत होता है तो कल्पनासे ही प्रतीत होता है। असलमें जड़ वस्तुकी अनेकता और जड़ वस्तुकी एकता दोनों कल्पनासे ही प्रतीत होती है। माने भेद है वह बिलकुल कल्पना-मूलक है और यह कल्पनासे मालूम पड़नेवाला भेद सच्चा क्यों मालूम पड़ता है? अपने स्वरूपके अज्ञानसे। यदि तुम अपनेको ब्रह्म जानते तो कल्पनासे प्रतीयमान भेद सच्चा नहीं मालूम पड़ता। अतः अपने-आपको जान लो।

यह जगत् ब्रह्ममें 'कब' कल्पित है—माने-काल; पहले, पीछे, बीचमें—भूत-भविष्य-वर्तमान, आदि, मध्य-अन्त। और ब्रह्ममें 'देश' कल्पित है—पूरब-पश्चिम, उत्तर-दक्षिण, ऊपर-नीचे, बाहर-भीतर स्थूल-सूक्ष्म सब। ब्रह्मलोकसे



लेकर चींटीके बिल तक—सब कल्पित है। यदि ब्रह्म भी कल्पित होवे—कि ब्रह्म है, अखण्ड है, अनादि है, अनन्त है, परिपूर्ण है, अविनाशी है—जैसा कि कई लोग कल्पनासे बोलते हैं, तब यह प्रश्न है कि जिस ब्रह्मका तुम निरूपण कर रहे हो वह तुम्हारे आत्मासे अन्य है कि तुम स्वयं हो? इस ब्रह्मको तुम कल्पनाका विषय बना रहे हो, तो यह ब्रह्म तुम्हारी कल्पनाके सामने है कि कल्पनाके पीछे बैठे हुए तुम स्वयं हो? अगर तुम्हारे सिवाय ऐसा कोई अविनाशी, अद्वितीय, परिपूर्ण, अपरिच्छिन्न, निराकार, निर्विकार, निर्विशेष कोई दूसरा है अज्ञात, परोक्ष तो तुम ब्रह्मकी कल्पना कर रहे हो और यह कल्पित ब्रह्म है। इसकी पहचान यह है कि आदमी असलमें बोलता क्या है? जब पचास वर्षका वेदान्तका अभ्यासी आकर यह पूछता है कि महाराज, बात तो सब समझमें आती है परन्तु वृत्ति टिकती नहीं है तो यह कल्पित ब्रह्मके जानकारका प्रश्न है, क्योंकि उसने अपनी कल्पनासे एक ब्रह्म बनाया है। और वह चाहता है कि कल्पित ब्रह्माकार-वृत्ति हमारे अन्तःकरणमें हमेशा बनी रहे। माने ब्रह्म हमारी कल्पनाका, हमारी वृत्तिका विषय बना रहे। हम यह पूछते हैं आपसे कि कल्पनाके द्वारा जो ब्रह्म ज्ञात होता है या कल्पनाके भीतर जो ब्रह्मका आकार आता है, वह जगत्के समान ही दृश्य है कि नहीं? जगत्के समान ही वह आकार कालमें आता है, अन्तर्देशमें रहता है, वह एक आकार होता है और कल्पना टूट जाने पर सुषुप्तिमें ही वह ब्रह्माकार वृत्ति चौपट हो जाती है। जो ब्रह्माकार वृत्ति रोज सुषुप्तिमें चौपट हो सके उसको तुम क्यों चाहते हो? बोले—छह घंटेकी सुषुप्तिमें नहीं रहे तो नहीं रहे, अठारह घंटेके जाग्रतमें तो रहे। यह क्यों नहीं कहते कि जो छह घंटे रोज भाग जाती है या मर जाती है वह यदि दिनमें भी अठारह घंटे मरी रहे तो क्या हर्ज है? इसका कारण यह है कि यह ब्रह्म कल्पनाके पेटमें लाया हुआ ब्रह्म है। तुम स्वयं ब्रह्म हो कि यह कल्पनाके पेटमें लाया हुआ ब्रह्म है? स्वयंमें और ब्रह्ममें क्या फर्क हुआ? जो कल्पनाके पेटमें आया सो कल्पित और जो कल्पनाका प्रकाशक-स्वयंप्रकाश—कल्पनाका अधिष्ठान है वह स्वयं है। तो इसीसे वाचस्पति मिश्र आदि मानते हैं कि वृत्ति औपाधिक ब्रह्मका ही स्पर्श करती है, शुद्धका स्पर्श नहीं करती और सुरेश्वराचार्य आदि मानते हैं कि यह उपाधि भी तो कल्पित ही है? उपाधि किस देशमें, किस कालमें और उसका क्या स्वरूप है?

देश-कल्पना, काल-कल्पना, वस्तु-कल्पना, लोक-कल्पना, धर्म-



कल्पना, स्वर्ग-कल्पना—सम्पूर्ण कल्पनाओंका समूहीकरण करनेके लिए एक उपाधि अपने-आपमें, कल्पित कर ली गयी। स्वयं प्रकाशका उपाधिके साथ क्या सम्बन्ध? तो 'हम स्वयं ब्रह्म हैं' यह ज्ञान होनेपर कल्पना और वह कल्पित उपाधि अपने अधिष्ठानसे भिन्न रही क्या? और वह कल्पित देश, कल्पित काल, कल्पित वस्तु, कल्पित ब्रह्म—सब स्वयंसे भिन्न हुए क्या? तो इस स्वयंताको ब्रह्म बोलते हैं—

**स्वभावेनामृतो यस्य धर्मो गच्छति मर्त्यताम् ।**

**कृतकेनामृतस्तस्य कथं स्थास्यति निश्चलः ॥ ४ ॥**

'स्वभावेनामृतो यस्य'—इसमें मुख्य बात यही है कि जो द्रष्टाका शुद्ध विवेक पहले कर लेगा—अर्थात् हम जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति अवस्थासे न्यारे हैं, इनके द्रष्टा हैं। हम अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय, आनन्दमय कोषसे न्यारे हैं—इनके द्रष्टा हैं। हम देश, काल, वस्तुसे न्यारे हैं इनके द्रष्टा हैं। हम सजातीय विजातीय स्वगत-भेदसे न्यारे हैं—इनके द्रष्टा हैं। हमारी ब्रह्मता स्वयं सिद्ध है और परिच्छिन्नता आगन्तुक है। नेति-नेतिके द्वारा परिच्छिन्नताका निषेध कर दो और स्वयंको ब्रह्म जानो। जो वृत्तिमें आभास है उसको ब्रह्म मत जानो, वृत्तिमें प्रतिबिम्बित है उसको ब्रह्म मत जानो, जो वृत्तिमें आरूढ़ है उसको ब्रह्म मत जानो, जो वृत्तिमें कल्पित है उसको ब्रह्म मत जानो, वृत्तिमें प्रतिबिम्ब है उसको ब्रह्म मत जानो, वृत्तिसे जो अवच्छिन्न है उसको ब्रह्म मत जानो, जो दृष्टि-सृष्टि है उसको ब्रह्म मत जानो, अपने आपको स्वयंको ब्रह्म जानो जिसका जन्म नहीं, जिसका मरण नहीं—कालका सम्बन्ध नहीं, जिसमें लम्बाई-चौड़ाई नहीं। केवल कल्पना मत करो—इस बातको समझो कि स्वयं अपना-आपा ब्रह्म है। अगर तुम बनावटी अमृत बनोगे तो 'कथं स्थास्यति निश्चलः'—रोज पन्द्रह मिनटके लिए ब्रह्म बन गये और तेइस घण्टा पैतालीस मिनट जीव रहे। यदि वृत्ति नहीं टिकती है, ब्रह्माकार-वृत्ति नहीं होती है, स्थिति नहीं होती है—जो नहीं होती है उसको तुम मत चाहो, क्योंकि तुम वह नहीं हो। जो नहीं है उसको चाहना यह स्वर्ग चाहना है! किसीसे कहें कि तुम स्वर्ग चाहते हो तो कहेगा—राम राम, हम ब्रह्मलोक तकका परित्याग करके, ब्रह्मविचार करनेवाले-भला स्वर्ग चाहते हैं? तुम दूसरे कालमें होनेवाली किसी चीजको चाहते हो तो स्वर्ग ही तो चाहते हो न! जो अभी नहीं है, यहाँ नहीं है उसको अगर तुम चाहते हो तो तुम स्वर्गके इच्छुक हो। तुम यथास्थित, सिद्ध वस्तुके जिज्ञासु कहाँ हो! जो



अभी है उसको पहचानो। यह नहीं कि वृत्ति ऐसी हो जाय, ऐसी हो जाय! बोले—देखो कुछ भी हो, हम स्थितिमें नहीं रहना चाहते हैं। माने नरकसे बचना चाहते हैं या हम वह स्थिति चाहते हैं—माने स्वर्ग चाहते हैं। केवल भाषाका ही भेद हुआ। उसका नाम तुमने स्वर्ग नहीं रखा, उसका नाम तुमने वृत्ति रख दिया। वृत्ति कैसी भी प्रतीत होती हो, तुम स्वयं ब्रह्म हो। उसमें कृत्कत्व नहीं। दुनियामें भी यह देखनेमें आता है कि चीज मरे बिना अपनी प्रकृतिका, अपने स्वभावका परित्याग नहीं करती! अगर आत्मा मरे नहीं तो वह जगत् नहीं हो सकता! और आत्मा तो कभी मर नहीं सकता, जगत् हो नहीं सकता—

**सांसिद्धिकी स्वभाविकी सहजा अकृता च या।**

**प्रकृतिः सेति विज्ञेया स्वभावं न जहाति या॥१॥**

लौकिकी प्रकृति भी देखनेमें आती है कि वह नहीं बदलती है। कैसी प्रकृति? सांसिद्धिकी—यह प्रकृतिका भेद बतलाया है। प्रकृति माने स्वभाव। आपने कभी 'पारस भाग' पढ़ा हो तो उसमें लिखा है कि एक महात्माजी थे, वे हमेशा मस्तीमें बैठे रहते थे। कोई सुधार-बिगाड़के पक्षमें न कुछ बोलें न करें, न सभा, न संस्था। कोई जिज्ञासु आये। उसने कहा—महाराज, दुनिया बिगड़ती जा रही है, जरा सुधारका तो कोई काम करो। वहीं, बाबाजीके पास ही कोई कुत्ता बैठा था। बोले—बेटा! यह जो कुत्तेकी पूँछ है न, इसको जरा सीधी तो करो। उसने उसको एकबार सीधी कर दिया। छोड़ दिया तो फिर टेढ़ी हो गयी। यह क्या हुआ? तो उसने फिर एक बाँसकी नली लेकर उसमें कुत्तेकी पूँछ डाली और छह महीनेके बाद आकर पूँछको देखा तो फिर टेढ़ी; बारह महीनेके बाद आकर देखा तो टेढ़ी, बारह वर्षके बाद आकर बाँसकी नली निकालकर देखा तो टेढ़ी। तब वह बोला कि, कुत्तेकी पूँछ तो सीधी नहीं हुई। महात्माजीने कहा कि बारह वर्षमें तो एक कुत्तेकी पूँछ तुझसे सीधी नहीं हुई और तू हमसे कहता है कि हम अनादि और प्रवाह-रूपसे नित्य जो प्रपञ्च है उसको सीधा करें। यह शरीर भी ऐसे ही आता-जाता रहता है।

'सांसिद्धिकी'का क्या अर्थ है? जो योग-सिद्ध लोग होते हैं वे थोड़ा परिवर्तन कर लेते हैं—आसनसे बैठना, प्राणायाम करना। जो लोग अभ्यास करते हैं उनमें परिवर्तन होता है। पृथिवी-तत्त्वकी धारणा यदि ठीक-ठीक होवे तो आप अपनी आकृति बदल सकते हैं। आप मानो, मत-मानो—हमारे गाँवमें एक योगी आते थे। वे योगी कैसे थे, कैसे नहीं थे—हम पचास दोष उनके जानते हैं,



पर यह गुण उनका आपको बतलाते हैं। 50-60 वर्षके करीब उनकी उमर थी, बाल पके हुए थे।

वे ढाई सौ रुपये लेते थे, रुपये लेनेके बाद जब वे ध्यान करनेके लिए बैठते थे तब उनकी उम्र कोई पन्द्रह वर्षकी लगती थी और फिर ध्यानसे उठनेके बाद उम्र ज्यों-की-त्यों। आपको अभ्यासका फल बतला रहे हैं। यद्यपि मैंने उनको कहते कभी देखा नहीं था, परन्तु वे कहते थे कि हम छह महीनेका बच्चा होकर आपको दिखा देंगे, हमको आप 2000) दे दो। हमसे मिलते थे, हमारे घर भी आये थे। परन्तु उनकी और कोई बात भी अच्छी नहीं थी। गन्दी-गन्दी क्रियाएँ उन्होंने दिखलायीं और बहुत जानकार थे! देखो, अभ्याससे चीज बदली जा सकती है। पृथिवीकी धारणा हो तो आदमी अपनेको पहाड़ जितना भारी बना सकता है और रुई जितना हल्का बना सकता है। जलकी धारणा सम्पन्न होनेसे जलमय हो सकता है। अग्निकी धारणा सम्पन्न होनेसे आगमें शरीर जले नहीं। वायुकी धारणा सम्पन्न होनेसे उड़ सकता है। आकाशकी धारणा सम्पन्न होनेसे निराकार हो सकता है—लोग उसको देख न सकें। यह धारणाओंका फल है। अणिमा, महिमा, लघिमा आदि सिद्धियाँ अभ्यासके द्वारा जो प्राप्त होती हैं उनको बोलते हैं—सांसिद्धिकी। संसाधन करके—अभ्यास करके उनको प्राप्त किया जाता है। तो, हमने दूसरेमें बहुत सिद्धियाँ देखी हैं और अपनेमें भी देखी हैं। अपनेमें भी बहुत सिद्धि मालूम पड़ी, किसी दिन कोई सिद्धि मालूम पड़ी, किसी दिन कोई सिद्धि मालूम पड़ी, पर रही एक भी नहीं। हम भूतपूर्व सिद्ध हैं। आजकल लोग बड़े-बड़े महात्माके पास जाते हैं वे बतलाते हैं कि हम जब साधना करते थे तब हमारे अन्दर यह सिद्धि थी और हमारे अन्दर यह सिद्धि थी। वे भूतपूर्व सिद्ध हैं।

किसीमें स्वभावसे सिद्धि होती है। द्रव्यमें स्वभावसे सिद्धि होती है, जैसे—आगका गर्म होना, पानीका बहना। उसका कालान्तर और देशान्तरमें भी परिवर्तन नहीं होता। उसको 'स्वाभाविक सिद्धि' कहते हैं। एक होती है 'सहज सिद्धि'। यह क्या होती है? चिड़िया आकाशमें उड़ती है। क्या उसके शरीरमें वजन नहीं होता। वजन तो होता है। परन्तु वह कैसे अपने पंखका संचालन करती है? पक्षीके शरीरमें जिस मानसिक प्रक्रियासे आँतोंका, नसोंका, संचालन होता है, उसपर यदि संयम किया जाये तो आकाशमें उड़ना आयेगा और मछलीके शरीरमें जिन धातुओंकी, जिन उपादानोंकी प्रधानता है, उनका यदि



संयम किया जाये तो पानीमें रहना आ जाये। महात्माओंने बड़े विलक्षण ढंगसे कई चीजोंका अनुसन्धान किया है। जिसको हम 'सूरन' बोलते हैं या 'जमीकंद'—इसके सेवनसे पेट साफ होता है। बवासीरके जो रोगी होते हैं, वे यदि उसको खाते हैं तो बिना कष्टके ही उनका पेट साफ हो जाता है। अब कैसे इसका अनुसन्धान हुआ, इसको हम समझते हैं। अखरोट खानेसे मस्तिष्कके जो रोग हैं वे क्षीण होते हैं। क्यों होते हैं? कि अखरोटको देखकर ही मालूम होता कि इसका मस्तिष्कके साथ सम्बन्ध है। ऐसे ही जमीकन्दको भी देखकर ही मालूम पड़ता है कि इसका टट्टीके साथ कोई सम्बन्ध है। बादामकी जो आकृति है, उसमें जो श्वेतिमा है; उससे पता चलता है कि मस्तिष्कमें जो श्वेत और भूरे, दो रंगके कीटाणु होते हैं, उसमें श्वेतके साथ उसका सम्बन्ध है, जो मस्तिष्कको शक्ति देनेवाले, बुद्धिको बढ़ानेवाले हैं। यह बात आपको क्यों सुनाते हैं कि प्रकृतिका अनुसन्धान करनेसे हमारे शरीरके अवयवोंके साथ उनका मेल बैठता है। इनका अनुसन्धान करनेसे मालूम पड़ता है कि अन्तःकरणमें जैसे इसका निर्माण हुआ है बाह्य प्रकृतिमें भी उसीसे मिलता-जुलता निर्माण हुआ है और उसके खाने-पीनेका, उसके सेवनका प्रभाव शरीरपर पड़ता है।

'अकृता'—किसीने बनाया थोड़े ही कि पानी नीचेकी ओर जाये। प्रकृति माने क्या? घट रहते घटत्वको छोड़ नहीं सकता। जब 'घट'का नाश हो जायेगा तब घटत्वका नाश होगा। लेकिन घटत्वका नाश तो एक घटके नाश होनेसे नहीं होता है। 'पट' जबतक रहेगा तबतक उसमें पटत्व भी रहेगा। इसलिए प्रकृति उसको कहते हैं जो अपनी उपस्थितिमें, अपनी विद्यमानतामें अपने स्वभावका परित्याग न करे।

भगवान् शंकराचार्य बोलते हैं—

दुःखी यदि भवेदात्मा कः साक्षी दुःखिनो भवेत्।

यदि हम दुःखी होते हैं तो उस दुःखका जानकार कौन होगा? जो दुःखी होगा वह साक्षी नहीं होगा और जो साक्षी होगा, वह दुःखी नहीं होगा। तो दुःखीपना अपनेमें कल्पित है। अपने जीवनमें जितने भी अच्छे संस्मरण बनते हैं वे संकटको, दुःखको पार करनेके बाद ही बनते हैं।

दुःख आता है, दुःखका निमित्त आता है, दुःखाकार-वृत्ति होती है और अज्ञानियोंको 'मैं दुःखी हूँ'—यह अभिमान भी होता है—वे दुःखका भी अभिमान करते हैं—यह दुःखका अभिमान कैसा है, जैसा चोर कोई चोरी करके

कहे कि हमने इतनी बड़ी चोरी की है, अथवा कोई हत्यारा कहे कि हमने कितनी बड़ी हत्या की है। ऐसे ही—मैं इतना बड़ा दुःखी हूँ। तुम दुःखी नहीं हो, दुःखीपनेके साक्षी हो। उस दुःखीपनेको जाननेवाला बादमें ऐसे कहेगा कि देखो, उस दिन कितना बड़ा दुःख आया था और उसको मैंने कैसे सहन किया और कैसे पार किया, मैं कितना बहादुर हूँ। यह आत्मा दुःखी नहीं हुआ, दुःख पीछे छूट गया और दुःखी होनेके पहले जो साक्षी था, दुःखी होनेके समय जो साक्षी था, दुःखी होनेके बाद भी वह साक्षी है—ज्यों-का-त्यों।

दुःखी साक्षी नहीं है और साक्षी दुःखी नहीं है। यह विवेक करना ही पड़ेगा कि यह दुःखी तो एक गड्ढेमें गिरा हुआ है और मैं आकाश हूँ। जिसमें ऐसे-ऐसे हजारों गड्ढे और उसमें हजारों दुःखी, हजारों ऊँची कुर्सी और हजारों उसमें बैठे हुए परन्तु साक्षी मैं हूँ। इसकी यह कल्पना करनेकी जरूरत नहीं है।

जो अपनेमें विकारको स्वीकार नहीं करता है, विकार बदलनेवाली चीजको जो मैं और मेरा नहीं मानता है, विकारको, विक्रियाको इस अन्तःकरणको यदि तुम मैं-मेरा स्वीकार नहीं करते हो तो दुःखीपना तुममें कहाँ है? मैं बुद्धिके सहस्र-सहस्र विकारका साक्षी हूँ, इसीलिए मैं निर्विकार हूँ। सुरेश्वराचार्य भगवान् कहते हैं—

यदि आत्मा पापी है और पुण्यात्मा है—माने कर्ता है, यदि आत्मा सचमुच सुखी और दुःखी होनेवाला है, अर्थात् भोक्ता है तो मुक्त होनेकी इच्छा छोड़ दो। जैसे सूर्यका स्वभाव गर्म होना है, उसको बदला नहीं जा सकता है और जो बदला जा सकता है वह वस्तुका स्वभाव नहीं है। क्या नमकीन होना समुद्रका स्वभाव है? नहीं, नमकीन होना समुद्रका स्वभाव नहीं है, केवल जलत्व-मात्र ही उसका स्वभाव है। उसको गरम कर लो, उसको जमाकर बर्फ कर लो। पर है वह जल-का-जल। और नमकको? बोले अलग कर दो। इसीसे अपने यहाँ जलको दधिवत्, घृतवत्, मण्डवत्, मधुर, मधुवत्, भिन्न-भिन्न प्रकारका मानते हैं। वे सब जलमें आगन्तुक वस्तु जुड़ती हैं और जल तो जल ही है। आत्माकी प्रकृति क्या है? आत्माका स्वभाव क्या है? आत्माका स्वभाव है—स्वयं प्रकाश होना, पर प्रकाश्य नहीं होना। आत्माका स्वभाव है—सम्पूर्ण पदार्थोंके भेदकी कल्पनाका अधिष्ठान होना और भेदकी कल्पनाका प्रकाशक होना। उस स्वयंप्रकाश सर्वाधिष्ठान, कल्पना-प्रकाशक कल्पनाधिष्ठान वस्तुमें कल्पना नामकी दूसरी वस्तु तत्त्वतः नहीं है, केवल भासना है, केवल प्रतीयमान है।



**जरामरणनिर्मुक्ताः सर्वे धर्माः स्वभावतः ।**

**जरणामरणमिच्छन्तश्च्यवन्ते**

**तन्मनीषया ॥ 10 ॥**

‘सर्वे धर्माः=देहभेदेन प्रतीयमानः सर्वे आत्मानः’—इसका अर्थ है स्त्रीके शरीरमें जो ‘मैं’ मालूम पड़ता है, पुरुषके शरीरमें ‘मैं’ मालूम पड़ता है, चिड़ियाके शरीरमें जो चिड़ियाका ‘मैं’ है, चींटीके शरीरमें जो चींटीका ‘मैं’ है, ब्रह्मके शरीरमें जो ब्रह्मका ‘मैं’ है—उसमें लड़कीका ख्याल छोड़ दो, लड़केका ख्याल छोड़ दो, माँका ख्याल छोड़ो, बेटेका ख्याल छोड़ो। देश, काल और वस्तु कृत जो भेद हैं—स्वजातीय, विजातीय, स्वगत भेद हैं, उस भेदकी कल्पनासे निर्मुक्त जो एक सत्य है उसे देखो, भेद अलग-अलग होनेपर भी। भेद है कि नहीं? जो भेदत्व सामान्य है वह अनेकमें एक है। घड़ेसे कपड़ा भिन्न है, कपड़ेसे आदमी भिन्न है और आदमीसे मकान भिन्न है, परन्तु भेद-स्वरूप सामान्य सबमें एक है। भेद भिन्न है कि अभिन्न है? अनिर्वचनीय है। भेदमें भी भेद निर्वचनीय नहीं है। अतः कल्पनाके अतिरिक्त भेद और कोई वस्तु नहीं है। अकल्पित कौन? कल्पना-रहित कौन? कि आत्मा। अपना-अपना आत्मा है जिसकी कल्पना नहीं करनी पड़ती और सबकी कल्पना करनी पड़ती है। भले शरीर अलग-अलग हैं—चींटीका शरीर ब्रह्मका शरीर—एक तृण और एक पहाड़—यह सब नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त आत्मा ही हैं, स्वयंप्रकाश अधिष्ठान ही है स्वभावसे। न किसीमें जन्म है, न किसीमें बुढ़ापा है, न किसीमें मौत है। तो फिर क्या है? कि ये अपनेमें जन्मकी कल्पना करके बुढ़ापेकी कल्पना करके, मौतकी कल्पना करके वही मान बैठे हैं। ‘तन्मनीषया’—अपनेको वही-वही मानकर, अपनेको बोलते हैं कि हम तो जीर्ण हो गये।

**जरामरणानिर्मुक्ताः सर्वे धर्माः स्वभावतः ।**

देह-भेद जो व्यवहारमें दीखता है उसको लेकर यहाँ बहुवचन शब्दका प्रयोग किया गया—आत्मा सबमें एक है और उसमें न जन्म, न बुढ़ापा, न मरण, न उसमें पापीपना, न उसमें पुण्यात्मापना, न सुखी, न दुःखी—वही तुम अपनेको समझते हो कि नहीं? एक सज्जन बोले—कि हम सुखी तो नहीं हुए। क्यों? क्योंकि तुमने सुखकी परिभाषा ऐसी बनायी है जैसे जब जीभपर रसगुल्ला रखनेसे जैसा स्वाद मालूम पड़ता है, वैसा स्वाद मालूम पड़ेगा तब हम अपनेको सुखी मानेंगे—अपने सुखीपनेकी एक कल्पना मनमें बैठा ली—ऐसा हो तो सुखी, ऐसा कपड़ा मिले तो सुखी, ऐसा आवाज मिले तो सुखी, ऐसी चीज देखनेको मिले तो सुखी—



जैसे संसारी लोग कल्पना करते हैं वैसे ही यह कल्पना बैठायी कि ऐसी वृत्ति हो तो सुखी। यह कल्पना ही है। रसना-मूलक वृत्तिको हम सुख मानते हैं अर्थात् रस ज्ञानको और कुछ श्रोत्र-मूलक जो वृत्तिको सुख मानते हैं अर्थात् शब्द ज्ञानको और त्वचा-मूलक। तो इसी प्रकार सुख कल्पना मूलक वृत्ति जो है उसको सुख मानते हैं। परन्तु सुख क्या है? दुःखाकार वृत्ति और सुखाकार वृत्ति दोनोंका अधिष्ठान ज्ञानसे जो बाध है उसीको सुख बोलते हैं। क्योंकि सुखाकार वृत्ति अपने पेटमें दुःखको रखती है और दुःखाकार-वृत्ति अपने पेटमें सुखको रखती है—दुःखमें-से सुख निकल आता है और सुखमें-से दुःख निकल आता है, ये दोनों तो एक ही तराजूके चट्टे-बट्टे हैं, एक ही गिरोहके दो चोर हैं—एकका नाम सुख और एकका नाम दुःख, एक ही पाटीके ये दो ठग हैं—सुख और दुःख। सबसे बड़ा सुख क्या है? अपनेको साध्य-ब्रह्म नहीं जानना कि ऐसी वृत्ति होनेपर ब्रह्म, ऐसी स्थिति होनेपर ब्रह्म, ऐसे कालमें ब्रह्म, ऐसे स्थानमें पहुँचनेपर ब्रह्म, यह परिवर्तन होनेपर ब्रह्म—ऐसा नहीं जानना। ज्यों-के-त्यों तुम ब्रह्म हो, सुख हो।

अबतक यह निरूपण किया कि लौकिक वस्तुओंमें भी यह बात देखनेमें आती है कि वे अपने स्वभावका परित्याग नहीं करते हैं। पक्षी तबतक पक्षी है जबतक उड़ता है, पानी तबतक पानी है नीचेकी ओर बहता है, आग तबतक आग है तबतक ऊपर उठती है, सूर्य गरम होता है, वायु बहती है—तो सभी वस्तुओंका अपना एक स्वभाव होता है और वह वस्तु लौकिक दृष्टिसे भी अपना परित्याग नहीं करती है। जैसे घड़ेका स्वभाव है घटत्व। तो जब वह फूट जायेगा तब घटत्वका परित्याग होगा। घट रहते 'घटत्व'का परित्याग नहीं होगा। आत्माका क्या स्वभाव है?

**जरामरणनिर्मुक्ताः सर्वे धर्माः स्वभावतः ।**

इसमें 'जरा'के पहले 'यौवन' और 'मरण'के पहले 'जन्म'—इन दोनोंको जोड़कर तब इसकी व्याख्या होगी। यह संस्कृत-भाषाकी रीति है। यदि दो वस्तु एक साथ रहती हों और उनमें-से एकका नाम ले लिया जाये तो दोनोंका ग्रहण हो जाता है। जब यह कहते हैं कि जन्म हुआ है तब तुरन्त समझ जाते हैं कि मरण भी होना है। जब कहते हैं कि जवान हुआ तब तुरन्त समझ जाते हैं कि बूढ़ा भी होगा। अगर अवस्था दो होती तो एकका नाम ही नहीं पड़ सकता था। एकका जो नाम रखा जाता है वह दूसरेसे अलग करनेके लिए रखा जाता है। नाम हमेशा व्यावर्तक होता है—एकसे अलग करनेके लिए होता है। जिसका जन्म नहीं, उसकी मौत



नहीं; जिसकी मौत नहीं उसका जन्म नहीं। जिसकी जवानी नहीं, उसका बुढ़ापा नहीं, जिसका बुढ़ापा नहीं, उसकी जवानी नहीं। तो यह आत्मा—जरा-मरण निर्मुक्त है। मुक्त नहीं, निर्मुक्त है—एक कदम और आगे। 'निःशेषण मुक्तः निर्मुक्तः'—निःशेष रूपसे मुक्त है। भले ही अविद्याके कारण तुम अपनेको जन्मवाला, मरणवाला, जवानीवाला, बुढ़ापेवाला मान लो। तुम्हारी मान्यता भी तुमको वैसा नहीं बना सकती। 'निर्मुक्ताः' शब्दका अर्थ है कि मान्यताके प्रभावसे भी तुम विनिर्मुक्त हो। तुम्हारी स्वयंकी स्वीकृति भी तुमको वैसा नहीं कर सकती।

शंकरानन्दी गीतामें एक प्रसङ्ग आता है—कि जो ऐसा देखता है कि मैं मुक्त हूँ दूसरे बद्ध हैं, मैं तत्त्वज्ञ हूँ, दूसरे अज्ञ हैं—वह तत्त्वज्ञ नहीं है। मुक्तता, बद्धता, अज्ञता और तत्त्वज्ञता ये सब जोड़े ब्रह्ममें केवल कल्पित हैं, वस्तुतः यह द्वन्द्व ब्रह्ममें नहीं है। ऐसा है आत्माका स्वभाव। तो 'जरामरणमिच्छन्तः'—इसपर शांकरभाष्य है—'इच्छन्त इव इच्छन्तो रज्ज्वाविव सर्पमात्मनि कल्पयन्तः' यदि आत्मामें इच्छा मानी जाय तो ऐसा नहीं है। इच्छा भी प्रतीयमान है, इच्छा भी स्फुरणा है, इच्छाका विषय पृथक्, इच्छावृत्ति पृथक् और इच्छुक अलग—जैसे संसारमें इच्छा करते हुए अज्ञानी शरीरधारी देखे जाते हैं। ऐसे ही इच्छाका अध्यारोप करके हम आत्माको 'इच्छन्त इव' बोल रहे हैं—लौकिक दृष्टिसे परमार्थ दृष्टिसे नहीं। स्वामी शुकदेवानन्दजी महाराज बहुत बढ़िया बात बोलते थे—कि परमार्थ तो बना-ही-बनाया है, उसमें कुछ हेर-फेर करनेकी जरूरत नहीं है, आत्मा नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त है। हेर-फेर कहाँ होता है? व्यवहारमें साधनके लिए दैवी-सम्पत्ति स्वीकार करो और जब उसका अभ्यास हो जायेगा तब तत्त्वज्ञके जीवनमें स्वाभाविक ही रहेगी। तो ज्ञानोदय के पूर्व साधनके लिए और ज्ञान होनेके बाद स्वाभाविक रूपसे दैवी-सम्पत्ति तो जीवनमें होवे-ही-होवे। इसलिए जो प्रचार करना, प्रसार करना, लोगोंको उपदेश करना है, वह दैवी-सम्पत्तिका ही करना है—ऐसे स्वामीजी महाराज बोलते थे।

वृन्दावनमें कुछ ऐसी स्त्रियाँ हैं जो अपनेमें पुरुष-भाव करती हैं। पुरुषकी तरह रहती हैं—धोती-कुरता-कमीज पहनती भी हैं, उनका भाव ही है कि हम पुरुष हैं। और कुछ पुरुष भी ऐसे हैं वृन्दावनमें जो अपनेको स्त्री समझते हैं। स्त्री-भावापन्न होनेसे उस पुरुषकी मूँछ झड़ नहीं जाती है, रोज बनानी पड़ती है और स्त्री, पुरुष-भावापन्न होनेसे उसके मूँछ नहीं उगती है, वैसे ही बिना मूँछके ही वह किशोरी नहीं किशोर रहती है। कहनेका अभिप्राय क्या हुआ कि उस स्त्रीने



अपनेमें पुरुषकी कल्पना की लेकिन हैं वह स्त्री और उस पुरुषने अपनेमें स्त्रीपनेकी कल्पना की लेकिन है वह पुरुष। ऐसे ही यह आत्मदेव जो हैं—वे सभी कल्पनाओंसे, स्वीकृतियोंसे असंग हैं। जैसे रस्सीमें सर्पकी कल्पना है वैसे अपनेमें जन्म-मरणकी चिन्ता करते-करते ('तन्मनीषया' - जन्म-मरण चिन्तया तद्भावभावितत्वदोषेण) केवल वैसी भावना करते-करते वैसा मानने लगते हैं। सुना होगा आपने—एक आदमी यात्रा करते-करते कल्पवृक्षके नीचे पहुँच गया—मालूम नहीं था उसको कि कल्पवृक्ष है। भूख लगी थी, पसीना हो गया था, थक गया था। कल्पवृक्षके नीचे पहुँचनेपर छाया मिली, अच्छा लगा। आनन्द आया। मनमें आया—यदि मन्द-सुगन्ध-वायु भी मिल जाती! तो, तुरन्त मन्द-सुगन्ध वायु चलने लगी। फिर थोड़ी देरमें ख्याल हुआ—जल भी मिल जाता! देखा, सामने सरोवर है, बड़ा निर्मल-स्वच्छ जल है, कमल भी खिल रहे हैं। स्नान किया, ठण्डा हुआ, जल पिया। बोला, कुछ खानेको भी होता! तुरन्त भोजनकी वस्तु सामने आगयी। अब मनमें आया कि कहीं यहाँ कोई भूत तो नहीं है कि जो-जो मैं मनमें सोचता हूँ वही-वही हो जाता है! सोचते ही सामने आकर भूत खड़ा हो गया। फिर सोचा—बाबा, कहीं यह हमारे ऊपर चढ़ न बैठे! भूत चढ़ बैठा, पीटने लगा। तो नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त आत्म-तत्त्वमें जब देखते हैं—कि ये छोटे लोग हैं तो वैसी प्रतीति हो जाती है। मन ही छोटा होता है और मन ही बड़ा होता है। जिसके मनमें यह हीन भाव हो जाता है कि हम बड़ा काम नहीं कर सकते हैं, तो बड़ा काम करनेकी उसकी शक्ति हासको प्राप्त हो जाती है। साधन-सम्पत्ति थोड़ी हो और मनमें उत्साह हो कि हम यह काम कर लेंगे, तो ऐसा देखनेमें आता है कि अल्प-शक्ति वाले लोग भी बड़ा-बड़ा काम कर लेते हैं। हीनताकी भावना मानसिक दोष है। कई लोग कहते हैं—महाराज! हमारे तो बाप-दादा भी चोरी करते थे, हम भी बचपनसे चोरी करते हैं, तो अब हम भला-इसको कैसे छोड़ सकते हैं? तो देखो इसका नाम हीन-भावना हुआ। वेश्या बोलती है कि हमारी माँ, हमारी दादी, हमारी नानी वेश्यापन करती थीं, तो हम अपना यह सनातन-धर्म परम्परा-धर्म कैसे छोड़ें—देखो, कहाँ सनातन-धर्मकी कल्पना की, कितनी गन्दी जगहपर। अपने अन्दर हीनताका जो भाव है, वह मनुष्यको नीचे गिराता है।

महाभारतमें, विदुलाने अपने पुत्रको उपदेश दिया है—'उत्थातव्यं जागृतव्यं।' उठो, जागो, जुड़ जाओ बढ़िया-से-बढ़िया काममें और निश्चय रक्खो—सफलता मिलेगी। रास्तेमें जो तकलीफ आवे उसको स्वीकृति मत दो—



अपनेको तकलीफ वाला मत समझो, विघ्नित मत समझो। वेद-वेदान्तके द्वारा सुनिश्चित रूपसे आत्माका जो प्रतिपादन है—तदनुसार अपनेको जान लो।

जब मेरी आयु 17-18 वर्षकी थी तब मैंने एक महात्माको चिट्ठी लिखी कि यह साधन तो बड़ा कठिन है, यह मुझसे नहीं होगा, कैसे सफलता मिलेगी? तो उन्होंने लिखा—‘क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ’—नपुंसक मत बनो। यह कायरताकी बात है। क्षुद्रं हृदय-दौर्बल्यं त्यक्तोतिष्ठ परंतप—यह हृदयकी क्षुद्र दुर्बलता है—एक मनुष्य ही तो चन्द्रलोकमें जाता है। एक मनुष्य ही तो अन्तरिक्षकी यात्रा करता है। एक मनुष्य ही तो विज्ञानके इतने बड़े-बड़े अनुसन्धान और आविष्कार करता है। तुम्हारी आँख नहीं है या तुम्हारे कान नहीं हैं कि तुम्हारे बुद्धि नहीं हैं? वही तो तुम भी। तो निश्चय रक्खो। कोई भी बन्धन ऐसा नहीं है सृष्टिमें जो तुमको हथकड़ी-बेड़ी लगाकर किसी घेरेमें रख सके। न पति-पत्नीका, न परिवारका, न कुलका, न जातिका, न सम्प्रदायका, न प्रान्तका, न राष्ट्रका—ये सारे-बन्धन अपनी कल्पनासे अपनेमें माने हुए हैं। पाप-पुण्य, स्वर्ग, नरक, दुःख, सुख कोई तुम्हें रोक नहीं सकते। रास्ते चलते-चलते तुम्हारे पाँवके नीचे एक चींटी पड़ी और मर गयी। ठीक है मर गयी, एक प्राणीकी हत्या हो गयी। लेकिन वह चींटी क्या तुमको आगे बढ़नेसे रोक देगी? कि अब तुम रास्तेमें न चलो, वहीं सिर पकड़कर बैठ जाओ और रोओ कि हाय-हाय मुझसे चींटी मर गयी। तुम्हारे रास्तेको रोकनेमें क्या वह समर्थ है? तो, असलमें चींटी नहीं रोकती है, स्वर्ग नहीं रोकता है, नरक नहीं रोकता है। कभी कोई घटना जीवनमें आयी और चली गयी; मान आया, गया, अपमान आया, गया, रिश्तेदार-नातेदार आये-गये और सौ-सौको प्यार करके छोड़ दिया और सौ-सौके प्यारे बनकर छोड़ दिया।

आप अपनी जिन्दगी देखो तो मालूम पड़ेगा—कहाँ-कहाँ मन फँसा और कहाँ-कहाँसे निकल आये—मुक्ति तो आपका स्वभाव है। बेरोकटोक आपका विमान चल रहा है। बेरोकटोक अपनी अमरता अपना काम कर रही है, काल आपपर असर नहीं डालता, स्थान आप पर असर नहीं डालता, वस्तु आप पर असर नहीं डालती। बचपनमें सोचते थे कि भात नहीं मिलेगा खानेको तो कैसे रहेंगे, सोचो—एक बन्धन था न! दुनियामें ऐसा क्या है जिसके बिना नहीं रह सकते, जो किये बिना नहीं रह सकते, जिसके मिले बिना नहीं रह सकते? ऐसी कौन-सी वस्तु है, कौन-सा ऐसा बन्धन है? ‘मानि-मानि बन्धनमें आयो।’ हैं नहीं बन्धन, सब झूठा है—जैसे गधा बाँध गया था। जब गधेको बाँधनेवाली रस्सी नहीं मिली



तब कुम्हार बिचारा बहुत फिकरमें था, महात्माने बतलाया—झूठ-मूठ ही बाँध दो—ऐसे ही अपने हाथ उसके पाँवमें लगाकर झूठ-मूठ बाँध दो गधेने समझा कि मैं बँध गया। शामको जब सब गधोंको खोला, परन्तु वह गधा हटे ही नहीं वहाँसे। डंडा मारे तो भी उसीके आस-पास घूमे। महात्माने कहा—जैसे झूठ-मूठ बाँधा है वैसे झूठ-मूठ खोल दो, टोना-टोटका नहीं है। यह कोई यन्त्र-मन्त्र नहीं है। तुम नरकको देखकर, स्वर्गको देखकर, पुनर्जन्मको देखकर सम्प्रदायको देखकर, बँध गये हो। क्या तुम्हारे दिलमें कोई गाँठ पड़ गयी है? कहाँ बँधे हो? विचार करनेपर कहीं भी बन्धनकी सिद्धि नहीं होती। जैन-महात्मा इस बातको ऐसे बोलते हैं कि एक-एक आत्मा स्वतन्त्र है, उसकी स्वतन्त्र सत्ता है। वह अपने कर्मोंके बन्धनमें बँध जाता है, जैसे रेशमका कीड़ा बँध जाता है! वे आत्माको परिच्छिन्न और स्वतन्त्र मानते हैं। वेदान्तका कहना है कि परिच्छिन्नका स्वातन्त्र्य नहीं होता है, क्योंकि परिच्छिन्नको देशमें अधीन होना पड़ेगा। परिच्छिन्नको कालके अधीन होना पड़ेगा। परिच्छिन्नको द्रव्यके अधीन होना पड़ेगा—परिच्छिन्न स्वयं भी द्रव्य ही होगा। इसलिए, बन्धन केवल मान्यता है। आप सातवें आसमानमें जा सकते हैं, उड़ सकते हैं; आप सातवें पातालमें घुस सकते हैं; आप चींटीसे ब्रह्मा हो सकते हैं, आप ब्रह्माको चींटी बना सकते हैं; आप अपनेको परमेश्वरके रूपमें अनुभव कर सकते हैं और सम्पूर्ण माया-छायाका बाध करके अपनेको अद्वितीयब्रह्म जान सकते हैं। क्योंकि आप, पहले अद्वितीय ब्रह्म हैं—‘तदपश्यत् तदभवत्, तदासीत्—अर्थात् परमात्माको देखा, परमात्मा ही हो गया क्योंकि परमात्मा ही था।’

तो तुम्हारा स्वरूप न दुःखी है, न सुखी है, न पापी, न पुण्यात्मा।

**कारणं यस्य वै कार्यं कारणं तस्य जायते।**

**जायमानं कथमजं भिन्नं नित्यं कथं च तत् ॥ ११ ॥**

इसके बाद यह प्रसङ्ग प्रारम्भ होता है कि कारण ही कार्य होता है। सांख्योंके इस सिद्धान्तकी परीक्षा करें कि एक सत्ता मूलमें थी—बीजात्मक-सत्त्व-रज-तम—तीन गुणमयी और वही सृष्टिके रूपमें प्रकट हुई। ‘कारण’से अनन्य होनेके कारण यह ‘कार्य’ भी कारण रूप ही है—

‘कारणं यस्य वै कार्यं’—जिनके मतमें कारण ही कार्य है—जैसे मिट्टी ही घड़ा होती है। अब यह विचार करना है कि उनका मत कहाँ तक ठीक है। ‘कारणं तस्य जायते’—उनके मतमें तो यह हुआ कि कारण कार्यके रूपमें प्रकट



हुआ, तो 'जायमानं कथमजं'—जब एक अवस्थासे दूसरी अवस्थाको वह वस्तु प्राप्त होती है तो वह वस्तु अजन्मा कैसे हुई? क्योंकि वह छिन्न-भिन्न हो गयी तब 'नित्यं कथं च तत्'—फिर उस कारणको तुम नित्य कैसे मानते हो? 'सत्त्व'-की प्रधानतासे 'महत्' और 'रज'की प्रधानतासे 'अहं' और 'तम'की प्रधानतासे 'तन्मात्रा'—यह प्रथम रूप है; फिर तन्मात्रामें भी सत्त्वकी प्रधानता, रजकी प्रधानता और तमकी प्रधानतासे ये तीन होती हैं, तन्मात्रामें सत्त्वकी प्रधानतासे अन्तःकरण रजकी प्रधानतासे प्राण आदि और तमकी प्रधानतासे द्रव्य-तामस शरीर बना है। सात्त्विक अहंकारसे सात्त्विक तन्मात्राकी प्रधानतासे अन्तःकरण आदि और राजस तन्मात्राकी प्रधानतासे प्राण, क्रिया आदि और तामस अहंकारकी प्रधानतासे द्रव्य आदि। जब प्रकृति साम्यावस्थासे वैषम्यावस्थाको प्राप्त होती है तो वह जायमान हुई, इसलिए अज नहीं क्योंकि छिन्न-भिन्न हुई है—जो जायमान होता है वह मृत भी होता है और जो भिन्न होता है वह विकारी होता है। जब प्रकृतिमें विकार भी है और जन्म-मरण भी है तो प्रकृतिको तुम नित्य कैसे मानते हो? यह एक प्रश्न है।

**कारणाद्यनन्यत्वमतः कार्यमजं यदि।**

**जायमानाद्धि वै कार्यात्कारणं ते कथं ध्रुवम् ॥ 12 ॥**

**अजाद्वै जायते यस्य दृष्टान्तस्तस्य नास्ति वै।**

**जाताच्च जायमानस्य न व्यवस्था प्रसज्यते ॥ 13 ॥**

'कार्यं च अजं च'—कोई वस्तु 'कार्य' भी है और 'अज' भी है—यह कहना तो बिल्कुल बनता ही नहीं है। अच्छा, तो क्या आप यह कहना चाहते हैं कि कार्यसे अभिन्न कारण है। कारणसे अभिन्न कार्य है, यह कहनेमें तो यह दोष आया कि कारणमें जो अजपनां है वह कार्यमें आना चाहिए और कार्य यदि 'अज' है तो कार्य-कारण भावका संहार हो गया, कारण भी 'अज' और कार्य भी 'अज'—तो 'अज'से 'अज' पैदा हुआ, माने कुछ नहीं।

**जायमानाद्धि कार्यात्कारणं ते कथं ध्रुवम्।**

जब कार्यकी उत्पत्ति हुई तो जो कारण कार्यको प्राप्त हुआ तब वह कारण ध्रुव कैसे होगा, निश्चल कैसे होगा? बिना अपने रूपका परित्याग किये, बिना परिवर्तन हुए वह कार्यरूपको प्राप्त कैसे हुआ? कार्य और कारणका अभेद माननेपर जायमान कार्यसे अभिन्न जो कारण है वह नित्य और ध्रुव कैसे होगा? कोई वस्तु नित्य भी रहे, अजन्मा भी रहे, और फिर वह कार्याकार परिणामको भी



प्राप्त होवे—टूट भी जाये, फूट भी जाये। कार्यसे अभिन्न होने पर तो वह अध्रुव हो गयी। अब यह देखिये कि कार्य-कारणके अभेदमें क्या विरोध है? कारण प्रकृति यदि जगत् रूप कार्य बनती है तो वह अपने स्वरूपको छोड़ आयी और जगत् कार्यसे यदि अभिन्न है प्रकृति कारण तो वह अनित्य हुई वह अध्रुव हुई। जैसे कार्यकी मृत्यु होगी वैसे कारणकी भी मृत्यु होगी। तो प्रधानवादमें प्रकृतिवादमें यह सबसे बड़ा दोष हुआ।

अब यह प्रश्न उठा कि यह दोष तो वेदान्तियों के ऊपर भी प्राप्त होता है। पहले तो समझा कि वेदान्ती कारणसे कार्यको अभिन्न मानते हैं परन्तु कार्यसे कारणको अभिन्न नहीं मानते। वे मृत्तिकासे घटको अभिन्न मानते हैं परन्तु घटसे मृत्तिकाको अभिन्न नहीं मानते। घटमें तो आकार, विकार, प्रकार सब है जो मृत्तिकामें है ही नहीं। वे तो यह कहते हैं कि मृत्तिकामें 'घट' कल्पित है। श्रुति कहती है—'वाचारम्भणं, विकारो नामधेयं मृत्तिका इत्येव सत्यम्'—बड़ा रूप जो विकार है वह तो केवल एक नाम है और केवल जबानी जमा-खर्च है—वाचारम्भण है—मृत्तिका ही सत्य है, घट मिथ्या है। 'मृत्तिका इत्येव सत्यं अर्थात् विकारो न सत्यम्'—घटादि रूप जो विकार है, वह सत्य नहीं है और मृत्तिका सत्य है। वे कारणको सत्य और कार्यको मिथ्या मानते हैं। परन्तु जहाँ कारण भी सत्य है और कार्य भी सत्य है, वहाँ कारण रूप सत्यसे कार्य-रूप सत्यकी जब उत्पत्ति हुई तब यह प्रश्न हुआ कि कार्य कारण दोनों भिन्न-भिन्न हैं कि एक है? यदि एक है तो कारण फूट-फूटकर कार्य बना तब कारण भी अनित्य है और जिस कार्यकी उत्पत्ति हुई उस कार्यसे यदि कारण अभिन्न है तो कार्यमें जो मृत्यु, अध्रुवता, अनित्यता लगी हुई है वह कारणमें भी चली गयी। लेकिन वेदान्ती कारणसे कार्यका अभेद तो मानते हैं परन्तु कार्यसे कारणका अभेद नहीं मानते। एक वैषम्य तो यह है कि वे कार्य-कारण भाव वास्तविक नहीं मानते, मायिक मानते हैं। एक जादूगर यदि अपनेको हाथी बनकर दिखा दे तो जादूगरसे भिन्न हाथी नहीं है, यह बात तो कही जा सकती है, लेकिन हाथीसे भिन्न जादूगर नहीं है, यह तो बात नहीं कही जा सकती। क्योंकि हाथी तो जरा-सी देरके लिए दिखा और जादूगर तो हमेशा के लिए है। देखो, स्वप्न-द्रष्टाकी दृष्टिसे पृथक् स्वप्न नहीं है लेकिन क्या स्वप्नसे पृथक् स्वप्न-द्रष्टाकी दृष्टि नहीं है? जब स्वप्न नहीं रहता है तब क्या द्रष्टामें दृष्टि नहीं रहती? तो, इसका अभिप्राय यह हुआ कि विवर्तवादकी दृष्टिसे जो कार्य-कारण भाव होता है—अध्यस्तसे अधिष्ठान भिन्न होता है; सर्पसे रज्जु भिन्न होती है, परन्तु अधिष्ठानसे अध्यस्त भिन्न नहीं होता।



इसको सद् विवर्तका दृष्टान्त बोलेंगे। दृश्यमान स्वप्नसे द्रष्टा पृथक् होता है, परन्तु द्रष्टासे पृथक् दृश्यमान स्वप्न नहीं होता। यह दृष्टि-सृष्टिवाद हो गया। सद्-विवर्तवाद कहो, दृष्टि-सृष्टिवाद कहो, मायावाद कहो—जादूके खेलमें जो चीज पैदा हुई वह जादूगरसे जुदा नहीं है। कार्य विवर्ती कारणसे अभिन्न होता है। परन्तु विवर्तमान कार्यसे अभिन्न विवर्ती सद्कारण नहीं होता। इसलिए जो दोष प्रधानवादी प्रकृतिवादीके मतमें है वह दोष ब्रह्मवादी, परमात्मवादी, परमार्थवादीके मतमें नहीं आता।

एक प्रसङ्ग यह है कि काल भी नित्य होता है, काल अनित्य नहीं होता—कालका अभाव कोई सिद्ध नहीं कर सकता। कालके अवयवकी प्रतीति नहीं हुई, यह बात कही जा सकती है—कितने घण्टे बीत गये, कितने मिनट बीत गये, लेकिन जितने कालतक कालके अवयवकी-घण्टेकी-मिनटकी प्रतीति नहीं हुई, वह भी काल ही था। प्रलयकाल भी काल था। मूर्च्छाकाल भी काल है। समाधि काल भी काल है। यहाँ तक कि प्रपञ्चका सत्यत्व-काल भी काल है और प्रपञ्चका बाध-काल भी काल है। अतः काल भी नित्य होता है। परन्तु काल नित्य होने पर भी काल सत्य नहीं है। जिस अधिष्ठानमें काल कल्पित होता है उस अधिष्ठानकी दृष्टिसे काल नामकी कोई वस्तु नहीं है और जिस प्रपञ्च दशामें हम कालकी कल्पना करते हैं उस प्रपञ्चकी दशामें काल नित्य है। इसी प्रकार देश भी नित्य है, देशका अभाव भी देश है, जहाँ वस्तु कार्यके रूपमें नहीं रहती। कार्य वस्तुका अभाव-देश भी वस्तु रूप है, कारण-वस्तु रूप है। असलमें देश काल-वस्तु कार्य-कारणकी प्रक्रियासे नित्य होते हुए भी इनका जो कार्यरूप है, अवयव रूप है—घण्टा-मिनट, वे तो अनित्य ही हैं। पूरब-पश्चिम उत्तर-दक्षिण ये अनित्य ही हैं। अब इसमें घड़ा-कपड़ा-मकान—ये सब अनित्य ही हैं और तीनोंकी समष्टि जो बीजरूपसे है जिसको अव्याकृत बोलते हैं, वह अव्याकृत भी अनित्य ही है। परन्तु अधिष्ठान ज्ञानसे उसका बोध हो जाता है। काल स्वयं अनित्य है कि नित्य? बड़ी अद्भुत लीला है कि कल्पित रूपसे काल नित्य है, कल्पित रूपसे देश भी नित्य है, कल्पित रूपसे बीज, बीजात्मा अव्याकृत भी नित्य है—ये कल्पित रूपसे नित्य हैं। इसलिए जिस अधिष्ठानमें कल्पित हैं और जिस द्रष्टाके द्वारा प्रकाशित हैं, चित्की दृष्टिसे भी और सत्की दृष्टिसे भी, उसमें देश-काल-वस्तुका कोई अस्तित्व नहीं है। तब? देखो, अभेदवादका प्रसङ्ग बिलकुल निराला है। अभेदवादमें आनन्द वह है जिसमें भोगका विषय नहीं है और भोगके



आश्रय रूपसे भोक्ता नहीं है लेकिन आनन्द है। भोक्ता और भोग्य के बिना जहाँ आनन्द है; द्रष्टा और दृश्यके बिना जहाँ चेतन है; कर्ता और कर्मके बिना कारण और कार्यके बिना जहाँ सत्ता है अर्थात् कार्य और कारण भावसे रहित सत्ता; ज्ञाता और ज्ञेय भावसे रहित चेतन और भोक्ता और भोग्य भावसे रहित आनन्द, इनमें कोई उपाधि न होनेके कारण, इसीको हम बोलते हैं—ब्रह्म।

एक दूसरी बात देखो—अन्तःकरण—जिसमें यह सब मालूम पड़ता है—यह कार्य है कि कारण तो अन्तःकरण कार्य है, कारण नहीं है; क्योंकि सुषुप्तिमें भी अन्तःकरणकी जो दशा होती है, उसको देखनेसे, उसपर विचार करने से मालूम पड़ता है कि अन्तःकरण कारण नहीं है करण है। करणका प्रयोग तो जाग्रत् दशामें कर्तके द्वारा होता है और स्वप्न दशामें बिना कर्तके ही होता है। यह साफ मालूम पड़ता है कि जाग्रत् दशामें चेतन-मन और स्वप्न दशामें अवचेतन-मन शत्रु-मित्र बना लेता है। प्रिय-अप्रिय बना लेता है। जाग्रत्में विभाग मन करता है। स्वप्नमें भी यह मालूम पड़ता है कि हमने यह बनाया, परन्तु जाग्रत् कालमें विचार करने पर स्वप्न कालमें बनायी हुई चीजका और बनानेपनेका बाध हो जाता है। स्वप्नमें जाग्रत्का स्मरण ही नहीं होता—स्वप्नकालमें स्वप्न ही जाग्रत् मालूम पड़ता है। सुषुप्तिकालमें जाग्रत् और स्वप्न दोनों गायब हो जाते हैं।

यह अन्तःकरण कार्य है कि कारण है? अन्तःकरण कार्य—सृष्टि है, कारण—सृष्टि नहीं। देखो, पहले अव्याकृत; अव्याकृतमें—से समष्टि बुद्धि—उस समष्टि-बुद्धिमें—से समष्टि-अहं, समष्टि-अहंमें फिर विश्व, तैजस, प्राज्ञ—अनेक प्रकारके विभाग हैं। जो हिरण्यगर्भ है, तैजस् है, विश्व है, विराट् है—इन सबकी स्थिति कहाँ है? अन्तःकरण कार्यदशामें रहकर परोक्षरूपसे अपने कारणका चिन्तन करता है। उसमें दृश्यमान देश-काल और वस्तुके बीजकी कल्पना करता है, अनुमान करता है अपने कारण दशाका कि वहाँ भी काल था, वहाँ भी देश था, वहाँ भी वस्तु थी, बीज-रूपसे थी, अव्याकृत रूपसे थी। अव्याकृत माने विशेष आकृति जिसमें नहीं हो—‘अ’ माने नहीं, ‘वि’ माने विशेष और आकृत माने आकृति तो विशेष आकृति जिसमें उत्पन्न नहीं हुई है उसको अव्याकृत बोलते हैं। अन्तःकरण कार्य दशापन्न होकर जब विचार करता है तब अपने कारणके सम्बन्धमें सोचता है। उचित तो यह है कि कार्य दशामें ही यह कारणदशाका चिन्तन न करके, अपने अधिष्ठानका ही चिन्तन करे, अन्तःकरण जागता हुआ रहे। इसके लिए समाधिकी जरूरत नहीं है, मूर्च्छाकी जरूरत नहीं, सुषुप्तिकी जरूरत



नहीं। अन्तःकरण अपनी कार्य दशामें रहकर अपने द्रष्टाका चिन्तन करे कि कौन है द्रष्टा? और उसमें सोचने-विचारनेवाले अन्तःकरणका द्रष्टाके साथ क्या सम्बन्ध है? अधिष्ठानके साथ क्या सम्बन्ध है। तो अधिष्ठान सत्तामें दृष्टमात्र चैतन्यमें अन्तःकरण-रूप कार्य जो है यह बिलकुल भासमान है, वास्तविक नहीं है। स्वप्नपुरुषका जैसा अन्तःकरण होता है वैसा अन्तःकरण है। इसलिए अभेदवादमें कार्य-कारणका जो अभेद है वह पृथक् रूपसे है। पृथक्-रूपसे है माने विवर्त-रूपसे है, माया रूपसे है, स्वप्नवत् है। चेतनकी दृष्टिसे देखो तो स्वप्नवत् है, सत्तासे देखो तो विवर्त है, अधिष्ठान-अध्यस्तके क्रमसे देखो तो अध्यस्त है!

हम ऐसे बोलते हैं कि अधिष्ठानसे अभिन्न अध्यस्त है, रज्जुसे अभिन्न सर्प है, परन्तु अध्यस्तसे अभिन्न अधिष्ठान नहीं है, आत्मासे अभिन्न प्रपञ्च है, परन्तु प्रपञ्चसे अभिन्न आत्मा नहीं है। सद् वस्तुमें यह विवर्त है, परन्तु विवर्तसे अभिन्न आत्मा नहीं है। झूठी चीज जो होती है वह सच्ची चीजसे जुदा नहीं होती परन्तु सच्ची चीज झूठी चीजसे जुदा होती है—यह इसका सिद्धान्त है।

अजाद्वै जायते यस्य दृष्टान्तस्तस्य नास्ति वै।

जाताच्च जायमानस्य न व्यवस्था प्रसज्यते॥

अजसे जगत्की उत्पत्ति हुई—ऐसा जो मानते हैं उनके मतमें कोई दृष्टान्त नहीं है और प्रधानवादी, प्रकृतिवादी तो आनुमानिक हैं। इनका नाम ही वेदान्त-सिद्धान्तमें अनुमान रक्खा हुआ है। जैसे—चश्मा पहननेवाले आदमीका नाम बच्चे लोग चश्मा रख दें कि देखो, वह चश्मा जा रहा है। ऐसे ही वेदान्तियोंने सांख्यवादियोंका नाम, प्रकृतिवादियोंका नाम रक्खा है—‘अनुमान’। और एक नाम रक्खा है—अशब्द ‘अशब्द’। माने जिसके पक्षमें वेद-प्रमाण न हों उसको ‘अशब्द’ बोलते हैं। नानुमान—अनुमान नहीं हो सकता। क्यों नहीं हो सकता? क्योंकि अनुमानमें दृष्टान्तके बल पर हेतुकी कल्पना होती है, ओर हेतुके बल पर साध्यकी सिद्धि की जाती है। परन्तु जहाँ दृष्टान्त नहीं होगा वहाँ हेतु नहीं बनेगा और हेतु नहीं बनेगा तो साध्यकी सिद्धि नहीं होगी। रसोई-घरमें देखा हुआ अग्नि और धूमका दृष्टान्त यदि न होवे तो धूमत्वात्, हेतु नहीं बनेगा जिससे पर्वतमें अग्नि की सिद्धि नहीं होगी। पर्वतमें अग्नि सिद्ध करनेके लिए धूमवत्वात् हेतुका ज्ञान होना चाहिए और हेतुका ज्ञान होनेके लिए रसोई घर सरीखा दृष्टान्त होना चाहिए। तो अजन्मासे जन्म हुआ इसके लिए लोकमें कोई दृष्टान्त नहीं है। दृष्टान्त न होनेसे, अजन्मा प्रकृतिसे जगत्का जन्म हुआ, यह बात सिद्ध नहीं होती।



‘जाताच्च जायमानस्य’—जो पैदा हुआ उसीसे फिर पैदा हुआ—जैसे बाप भी पैदा हुआ, फिर उससे बेटा भी पैदा, फिर उससे भी बेटा पैदा हुआ—तो बोले ‘न व्यवस्था प्रसज्यते’ इससे प्रकृति नामकी कोई चीज सिद्ध नहीं होगी क्योंकि उनका बाप वह, फिर उनका बाप वह, फिर उनका बाप वह—कहीं जाकर टिकोगे थोड़े ही—‘जाताच्च जायमानस्य च’ अनवस्था हो जायेगी। अनवस्था माने किसी भी अन्तिम तत्त्वका निर्णय नहीं हो सकेगा। युक्ति ऐसी चाहिए जिससे अन्तिम तत्त्वका निर्णय हो सकता हो। तर्क कैसा देना, युक्ति कैसी देनी, बात कैसी कहनी कि जिससे किसी निर्णय पर पहुँच सको। जो तर्क निर्णायक नहीं होता वह तो मनुष्यको अनिश्चित दशामें डाल देता है। अतः अनिश्चित दशामें डालनेवाला तर्क नहीं करना चाहिए। एक निश्चयके उद्देश्यसे तर्क करना चाहिए। युक्ति होनी चाहिए निश्चय पर पहुँचानेके लिए, डाँवाडोल करनेके लिए युक्ति नहीं होनी चाहिए। जैसे कोई अपने पाँवमें कुल्हाड़ी मारे, और बोले कि हमारे हाथमें कुल्हाड़ी है, हम अपने पाँवमें मारे तो तुम्हारा क्या बिगड़ता है? ऐसा तार्किक बेवकूफ है। इसी प्रकार अपने पास बुद्धि है—और युक्ति है—तर्क है तो उससे ऐसा सिद्ध नहीं करना है कि सुखकी जगह दुःख मिले, ज्ञानकी जगह, निश्चयकी जगह संशय आवे, जीवनकी जगह मृत्यु मिले। सीढ़ी—कहींसे निकलनेके लिए होती है, कहींसे चढ़नेके लिए होती है, कहींसे उतरनेके लिए होती है। अपनेको ऐसे गढ़में गिरानेके लिए तो नहीं होती कि जहाँसे न निकल सकें। योगवासिष्ठमें आप कहीं—कहीं पढ़ेंगे कि रामचन्द्र भगवान् ने कोई तर्क किया, कोई युक्ति दी तो वसिष्ठ भगवान् चुप हो गये। फिर थोड़ी देरके बाद बोले कि रामजी, तुमने क्या समझा? यही कि मैं तुमसे हार गया, तुम्हारी युक्तिका जवाब नहीं दे सका, इसलिए चुप हो गया? बोले; नहीं, इसलिए चुप नहीं हुआ। यह जो आत्मा है—सत् है, चित् है, आनन्द है—‘स्व’ वस्तु है—वहाँ इस युक्तिकी पहुँच नहीं है, यह बहुत ऊपर—ऊपर घूमनेवाली युक्ति है, इसलिए चुप हो गया।

‘अजाद्वै जायते यस्य दृष्टान्तस्तस्य नास्ति वै’—अजन्मासे जन्म हुआ इसका तो दृष्टान्त नहीं है और जन्मवालेसे जन्म हुआ तो कहीं अवस्था नहीं होगी, कोई निर्णय नहीं होगा। बातको यदि वेदान्तके पक्षमें लो, तो वे भी अज—ब्रह्मसे जगत्की उत्पत्ति मानते हैं। नहीं, वेदान्ती ऐसे नहीं मानते हैं कि अज—ब्रह्म जो है वह रूपान्त को प्राप्त होकर जगत् बना। वह तो ज्यों—का—त्यों रहता है और उसमें अनिर्वचनीय मायासे ही यह सृष्टि भासने लग गयी। यदि कहो कि मायाकी कल्पना कैसे करते



हो? क्योंकि अन्तःकरण मालूम पड़ता है। इसीसे अन्तःकरणके कारणके रूपसे मायाकी कल्पना करते हैं। कबतक? कि जबतक अधिष्ठानका ज्ञान न हो तबतक। यह माया अनादि है और प्रवाह-रूपसे नित्य है और अधिष्ठानका ज्ञान हो गया तो बोले—माया है ही नहीं, सृष्टि है ही नहीं, ब्रह्म-ही-ब्रह्म है। न इसमें दृष्टान्तकी जरूरत है, न इसमें अनवस्था होती है। क्या दिव्य सिद्धान्त है।

अब एक सिद्धान्त और देते हैं—वह भी बड़ा विचित्र सिद्धान्त है कि सृष्टिको अनादि-अनादि कहनेका क्या मतलब है? इसके अनादित्वका ही खण्डन करते हैं कि न यह आदि है, न यह अनादि है। जो है ही नहीं—बन्ध्या-पुत्रकी उम्र कितनी? पचास वर्षकी है या अनादि है? तो बन्ध्या-पुत्रका पचास वर्षका होना भी गलत है और उसका अनादि होना भी गलत है। अतः अपनी बुद्धि बन्धनसे छूटनेके लिए लगानी है, बन्धननके लिए बुद्धि नहीं लगानी। एक बात आपको बस मूल-ही-मूल बता देता हूँ कि बिना भाष्यके बिना वृत्तिके, वह यह है कि इस देहको स्थूल, सूक्ष्म, कारण परिच्छिन्न देहको—‘मैं’ मानना—यह भ्रान्ति ही सम्पूर्ण अनर्थोंकी, सम्पूर्ण बन्धनोंकी कारण है। बेटा; इसी देहमें-से निकलता है और बहू इसी देहके लिए आती है और माता-पिता इसी देहके होते हैं और धन-दौलत-मकान सब इसी देहके होते हैं। जबतक इस देहमें ‘मैं’ भाव है तबतक संसारका एक तृण भी नहीं छूट सकता—चाहे हिमालयमें जाकर रहो, चाहे सात ताले लगाकर कोठरीमें बन्द हो जाओ, चाहे ब्रह्मलोकमें पहुँच जाओ—बन्धन क्या है? धन है, मेरा बेटा है माने—मेरा और धनका, मेरा बेटेका सम्बन्ध है, मैं का और बेटेका जो सम्बन्ध-सूत्र है—उस सम्बन्धकी रस्सीको ही बन्धन कहते हैं। एक सिरे पर ‘मैं’ बँधा हुआ है, दूसरे सिरे पर ‘बेटा’ बँधा हुआ है, एक सिरेपर ‘मैं’ बँधा हुआ, दूसरे सिरेपर ‘बहू’ बँधी हुई; एक सिर पर ‘मैं’ बँधा हुआ और दूसरेपर ‘खेत’ बँधा हुआ, मकान बँधा हुआ, सम्बन्ध ही बन्धन है। जो परिच्छिन्न होता है उसका दूसरेके साथ सम्बन्ध होता है। परिच्छिन्नमें जो ‘मैं’ पना है, इसको बोलते हैं—भ्रान्ति, अध्यास—इसको अज्ञान नहीं बोलते हैं, यह तो कार्य है—अन्तःकरणमें रहनेवाली भ्रान्ति है अज्ञान इसके कारणको बोलते हैं—माने अपनेको ब्रह्म न जानना अज्ञान है और अपनेको परिच्छिन्न जानना भ्रान्ति है। अपनेको एक विषयात्मक-पदार्थ जानना—यह भ्रान्ति है और अपनेको न जानना अज्ञान है। अज्ञान तो है केवल अपने स्वरूपको न जानना मात्र—जैसे कोई आदमी है तो आदमी परन्तु, किसी सम्मोहनमें पड़कर, अपनेको गधा मानता है। तो,



अपनेको गधा माननेका दो अंश हुआ—इसपर आप विचार करो एक तो उसको अपने आदमी होनेकी स्फुरणा नहीं हो रही है और दूसरे वह अपने आपको गधा मान रहा है। तो अपनेको आदमी न जानना—यह अज्ञान है और अपनेको गधा जानना यह भ्रान्ति है। यह अज्ञानके दो अंश हुए। भ्रान्ति कार्यात्मक वृत्ति है और अज्ञान कारणात्मक है। वेदान्त-दर्शनमें 'अध्यास'का वर्णन आता है, भ्रान्तिको 'अध्यास' बोलते हैं। अध्यास माने रस्सीको साँप समझना। यह भूल अध्यास है और रस्सीको न समझना—इसका नाम अज्ञान है। रस्सीको रस्सी न जाननेके कारण हम उसको साँप समझते हैं। रस्सीको रस्सी न जानना, यह अज्ञान है और उसको साँप समझना—यह भ्रान्ति है। अध्यास है। 'अतस्मिन् तद् बुद्धिः अध्यासः'—अध्यास बुद्धिरूप है। वेदान्त-श्रवणसे अध्यास ही सिद्ध नहीं होता। जब अध्यास सिद्ध नहीं होता तब इसके कारण रूपमें जो अज्ञानकी कल्पना की गयी है, वह कैसे सिद्ध होगी?

**हेतोरादिः फलं येषामादिर्हेतुः फलस्य च।**

**हेतोः फलस्य चानादिः कथं तैरुपवर्ण्यते ॥ 14 ॥**

श्रीगौडपादाचार्यका यह खास तर्क है और इस तर्कको वे बौद्धोंसे लेकर श्रुत्यर्थकी सिद्धि करते हैं। शब्दसाम्य होनेपर भी अर्थसाम्य नहीं है। क्योंकि अर्थतः तो वे आत्माको ब्रह्म सिद्ध करना चाहते हैं और प्रपञ्चके बाधके लिए, प्रपञ्चके निषेधके लिए युक्ति लेते हैं। दूसरेकी युक्ति भी यदि अपने अर्थकी सिद्धिमें सहायक होती होवे तो क्या उसको नहीं लेते हैं? हमको छतपर चढ़ना हो और अपने घरमें लकड़ीकी सीढ़ी न होवे, दूसरेकी सीढ़ी माँगकर ले आवें, उसको लगाकर चढ़ जावें, तो छतपर चढ़नेका काम सिद्ध हो ही जायेगा। यह बात क्या है कि कर्मको बोलते हैं—हेतु, कारण और शरीरको बोलते हैं—फल। इस प्रकार हम दो विभाग कर देते हैं—एक शरीर और एक कर्म। कर्म किससे हुआ? बोले, शरीरसे हुआ। तब हम यह पूछते हैं कि जब सृष्टि प्रारम्भ हुई तब पहले कर्म था, उससे शरीर हुआ कि पहले शरीर था उससे कर्म हुआ? यदि कहो कि पहले शरीर था, उसने कर्म किया तब शरीर कहाँसे आया? अब यह कहो कि बिना कर्मके ही शरीर हो गया। पहला शरीर यदि बिना कर्मके हो गया तो दूसरा शरीर बिना कर्मके क्यों नहीं हो जायेगा? और यदि यह कहो कि नहीं-नहीं, कर्मके पहले शरीर था। तब शरीरके पहले कौन था? कि कर्म था। तब तो फिर दोनों सादि हुए। कर्मसे शरीर पैदा होता है इसलिए अनादि कहाँ हुआ और शरीरसे



कर्म पैदा होता है इसलिए अनादि कहाँ हुआ? अपनेमें जो जन्म-मरणकी कल्पना है—यह क्या है? कि पूर्वकर्मका फल-यह शरीर है और इस शरीरसे जो कर्म करेंगे उससे अगला शरीर पैदा होगा—यही न! हेतु माने कर्मका आदि 'फल' है और 'फल' आदि 'कर्म' है। अब तुम बताओ कि दोनों अनादि हैं कि दोनोंमें-से एक अनादि है। यह प्रश्न है?

हेतोः फलस्य चानादिः कथं तैरुपवर्ण्यते।

जो कर्मको भी अनादि कहते हैं, फलको भी, वे दो अनादिका एक साथ कैसे वर्णन करते हैं? इसका मतलब यह हुआ कि प्रत्येक व्यक्ति आदिवाला हुआ और प्रत्येक व्यक्ति अन्तवाला हुआ। प्रत्येक व्यक्ति पैदा हुआ और प्रत्येक व्यक्ति मर गया, कर्म-व्यक्ति पैदा हुआ और मर गया, तब शरीर-व्यक्ति पैदा हुआ और मर गया तब कर्म-व्यक्ति पैदा हुआ। हर बार कर्म मरता है और देह होता है और देह मरता है और कर्म होता है, तो इनमें-से देह अनादि है कि कर्म अनादि है—यह प्रश्न इन्होंने उठाया है।

यह बात कई श्लोकोंमें है। माण्डूक्यकारिकाका तो यह विचित्र ही प्रतिपादन है। ऐसे इसके विभाग कर लो—कर्मसे शरीर पैदा हुआ—यह एक विभाग और शरीरसे कर्म पैदा हुआ—यह दूसरा विभाग और कर्म और शरीर दोनों साथ-साथ पैदा हुए—यह तीसरा विभाग और कर्म और शरीर दोनों अनादि हैं—यह चौथा विभाग। दर्शन-शास्त्र थोड़ा-बहुत तो गणितको स्वीकार करता है। देखो, जैसे एक संख्या है, तो एक+एक दो होता है, दो और एक तीन होता है। ऐसे यह संख्या जो है वह वृद्धिको प्राप्त होती है। इसलिए दो-तीन-चार बनता है इससे। अब? शून्य वृद्धिको प्राप्त होता है कि नहीं? एक शून्य, दो शून्य, तीन शून्य, अर्थात् शून्यमें वृद्धि नहीं होती। अच्छा, अद्वितीयमें वृद्धि होती है कि नहीं? एक अद्वितीय, दो अद्वितीय, तीन अद्वितीय तो नहीं बढ़ेगा न! इससे क्या सिद्ध हुआ कि 'एक' के और 'अद्वितीय' के अर्थमें फर्क है—यह बात बिलकुल साफ मालूम पड़ गयी। क्योंकि एक-एक दो हो जाता है और एक बटे दो भी होता है, परन्तु अद्वितीय-अद्वितीय दो नहीं होता और अद्वितीय बटे दो भी नहीं होता। जो लोग 'एक' शब्दको और 'अद्वितीय' शब्दको एक अर्थमें जानते हैं वे गलत जानते हैं। गणितके नियमानुसार 'एक' संख्यामें वृद्धि भी होती है और विभाग भी होता है क्योंकि 'एक' संख्या है—यह 'अन्वय' है—एक संख्याका दूसरी संख्याओंमें अन्वय है और दूसरी संख्याओंसे एक संख्याका व्यतिरेक है—इसीको अन्वय-



व्यतिरेक बोलते हैं। देखो जैसे जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति तीनोंमें रहनेके कारण आत्मा तीनोंसे न्यारा है—चौथा है लेकिन आत्मा जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति तीनोंमें है। यह क्या हुआ? अन्वय हुआ। और तीनोंसे जुदा है—यह व्यतिरेक हुआ। लेकिन यह आत्मा एक हुआ। जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति तीन हैं, उनमें रहनेवाला आत्मा, व्याप्त होनेवाला आत्मा एक है और निवृत्त होनेवाला, व्यावृत्त होनेवाला आत्मा एक है। यह ब्रह्म नहीं हुआ। जो अनुगत होता है और व्यावृत्त होता है, वह ब्रह्म नहीं होता। जिसमें जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति तीनों कल्पित हैं और तीनों हैं ही नहीं और जिसमें अनुवृत्ति और और व्यावृत्ति कल्पित है वह ब्रह्म होगा। पंचदशीके शुरूमें जिसका अन्वय और व्यतिरेक बताया गया वह ब्रह्म नहीं, वह तो एक है, वह अद्वितीय नहीं है, अद्वितीय किसीमें अनुवृत्त नहीं होता और किसीसे व्यावृत्त नहीं होता। अन्वय और व्यतिरेक करके जिस आत्माका वर्णन करते हैं विधि-मुखसे और निषेध-मुखसे और अन्वयसे, व्यतिरेकसे और अनुवृत्तिसे और व्यावृत्तिसे वह ब्रह्म नहीं है। वेदान्तियोंका शब्द है 'अनुवृत्ति और व्यावृत्ति', नैयायिकोंका शब्द है 'अन्वय-व्यतिरेक'।

विधि-मुख और निषेध-भावसे जिस एकत्वकी सिद्धि होती है वह एकत्व अभी ब्रह्म नहीं है, वह तो कल्पित एकत्व है। न विधि, न निषेध, न अन्वय, न व्यतिरेक, न अनुवृत्ति, न व्यावृत्ति—ऐसी वस्तुको ही हम अद्वितीय बोलेंगे। उसमें जो यह कार्य-कारणभाव है कि पहले कर्म था और शरीर पैदा हुआ तो बिना शरीरके कर्म आया कहाँसे, बोले—पहले शरीर था और कर्म हुआ तो बिना कर्मके शरीर आया कहाँसे? बिना कर्मके शरीरकी सिद्धि नहीं होगी और बिना शरीरके कर्मकी सिद्धि नहीं होगी—इसलिए शरीरसे सृष्टि प्रारम्भ हुई—यह भी गलत और कर्मसे सृष्टि प्रारम्भ हुई—यह भी गलत, तो क्या दोनों एक ही साथ बन गये? क्या दोनों अनादि हैं? जब दोनों अनादि हैं तब कार्य-कारण भाव कहाँसे आयेगा?—देशसे काल पैदा हुआ कि कालसे देश पैदा हुआ? दोनों यदि अनादि हों तो आपसमें बाप-बेटा नहीं होंगे—और दोनों कर्म-कारण नहीं होंगे। यदि सादि हैं तो एक साथ पैदा होनेवाले भी बाप-बेटे नहीं होते, यदि यह कहो कि दोनोंमें—से एक पहले और एक बादमें है तो एकके बिना दूसरेकी सिद्धि नहीं होती, दोनों परस्पर सापेक्ष हैं इसलिए क्रमसे यह सृष्टि बनी—शरीरसे यह सृष्टि बनी—यह बात बिलकुल अनिर्वचनीय सत्तामें चली जाती है—एक अद्वितीय परब्रह्म परमात्मामें। यह कल्पनाके सिवाय और कुछ नहीं है—केवल कल्पित है, ढूँढ़ते रहो



परामनोविज्ञानसे। जबतक दिमागके एक-एक कणका शोध नहीं कर लिया जाता—कि कौन-सा कण क्या क्रिया करता है, कौन-सा कण क्या दृष्टि उत्पन्न करता है, कि कौन-सा कण कौन-सा संस्कार धारण करता है। देखी हुई चीज तुम तराजूपर रखकर तौल सकते हो, जिसका ऑपरेशन कर सकते हो, जिसको आगमें भून सकते हो—पहले वर्तमानका रहस्य जब बिलकुल ठीक-ठीक मालूम पड़ेगा तभी अतीतका ज्ञान होगा कि यह अतीतसे आया है। यह चीज मस्तिष्क की उत्पत्तिके पहलेसे आयी है—यह बात तुम्हें सोचनेका अधिकार कब प्राप्त होगा कि जब पहले वर्तमानका रहस्य समझ लो।

वेदान्तका स्पष्ट कहना है कि मनुष्यकी बुद्धि अनादि भूतको कभी ग्रहण नहीं कर सकती। भूत अनादि होता है। कोई ज्ञान, कोई विज्ञान भूतके प्रथम चरणको पकड़ नहीं सकता; क्योंकि भूतके पहले भूत, उस भूतके पहले भूत, भूतोंकी परम्परा कहीं समाप्त होगी? और किसी भी ज्ञान-विज्ञान-बुद्धिका कोई भी अन्तिम चरण भविष्यके अन्तको नहीं पकड़ सकता। देखो, यह गणितका सत्य है—भविष्यका अन्त बुद्धिको नहीं मिलेगा और भूतकी आदि बुद्धिको नहीं मिलेगी। तब? ज्ञान-विज्ञान प्राप्त करनेका तरीका क्या है—वर्तमानका अनुसन्धान। जबतक वर्तमानका अनुसन्धान पूरा नहीं होता तबतक भूत और भविष्य केवल कल्पना है। भूत-भविष्यमें भी यदि सीमा बनाओगे कि एक दिन, दो दिनका भूत हम मालूम कर सकते हैं और दो दिन, चार दिनका भविष्य मालूम कर सकते हैं—यह भी कल्पना है। कच्चे ज्योतिषियोंकी आजीविका इन्हीं बातोंसे चल रही है।

मस्तिष्ककी ग्रन्थियाँ जीविका-प्रधान होती हैं। इन्हीं ग्रन्थियोंसे हमारे जीवनका निर्वाह होता रहे—यह बात सबसे ज्यादा प्रधान है। उस निर्वाहके लिए जैसे सटोरिया लोग सट्टा करते हैं वैसे ही दुनियामें बहुत-सी सट्टेकी बात चलती है। मनुष्यको कुछ भय दिखाना पड़ता है, कुछ लोभ दिखाना पड़ता है, मनुष्यकी वासनाकी कुछ पूर्ति करनी पड़ती है। यह कर्म और शरीरका जो कार्य-कारण भाव है—इस प्रकार चलता है। कुछ धर्मका अनुष्ठान करनेके लिए चलता है, कुछ अर्थका उपार्जन करनेके लिए चलता है; कुछ भोगकी आशाके लिए चलता है; कुछ बुद्धिकी वृद्धिके लिए चलता है—इसके अनेक-अनेक रूप होते हैं। आप पाँचवीं कोई प्रक्रिया निकालो जहाँ आपकी बुद्धि भूतकी आदि और भविष्यका अन्त पकड़ सकती हो! तो इसका अर्थ हुआ कि सारे विचारका आधार



वर्तमानकी उपलब्धि है। और वर्तमानमें देहको हम 'मैं' मान रहे हैं यह कहीं भी वस्तु-स्पर्शी नहीं है। ज्ञात-पाँतको लेकर इन्द्रियोंको लेकर, पाप-पुण्यको लेकर मैं बना—सुख-दुःखको लेकर मैं बना या रिश्तेदार-नातेदारको लेकर? 'मैं पना' अविचार-सिद्ध है। यही दुनियामें सारा दुःख देता है। यह अविचार-सिद्ध जो 'मैं पना' है इसको उड़ा दो और जो विचार-सिद्ध 'मैं पना' है—धातु-निष्ठ, वस्तु-निष्ठ, तप-निष्ठ, सुखनिष्ठ, आनन्दनिष्ठ जो 'मैं पना' है उसको जानो—यह वेदान्तकी शिक्षा है! कार्य-कारणके विचारमें चार विभाग कर लीजिये। सत्की सृष्टि हुई—एक; सत्से असत्की सृष्टि हुई—दो, असत्-से-असत्की सृष्टि हुई—तीन; और असत्से सत्की सृष्टि हुई—चार। सत्-से-सत्की सृष्टि हुई तो प्रथम सत् और द्वितीय सत्—स्रष्टा सत् और सृष्ट सत्—ये दोनों भेद सत्में केवल कल्पना मात्र कालकी उपाधिसे, क्रियाकी उपाधिसे कल्पित होते हैं और सत्से असत्की सृष्टि हुई तो कुछ हुआ ही नहीं। असत् क्या है? कि कुछ हुआ? कहो कि असत्-से-असत्की सृष्टि हुई तो न कुछ कार्य, न कुछ कारण। क्योंकि असत्-ही-असत्—अर्थात् कुछ नहीं। बन्ध्या-पुत्रका बेटा बन्ध्या-पुत्र। बोले—असत्से सत्। तब भी कुछ नहीं। असत्से न सत्, न असत् और सत्से न सत् न असत्—चारों प्रकारसे सृष्टि कट गयी और पाँचवाँ, कोई प्रकार इसमें निकलता नहीं है।

यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्। (बृ०उ० 2.4.14)

जहाँ सब नित्य-शुद्ध-बद्ध-मुक्त आत्मा ही है वहाँ कौन, किससे, किसको देखें! अनूपशहरमें एक माता श्रीभोले बाबाजीके पास रहती थीं। लिखते तो थे भोले बाबा ही पर, वह जयदेवीके नामसे छपता था। जयदेवी भोले बाबाजीका शरीर शान्त हो जानेके बाद हमारे पास कितनी बार आती थी। उसने पूछा—स्वामीजी, एक बात बताओ—जैसे द्वैतका निषेध मिलता है वेदान्तोंमें—'द्वैतं न विद्यते, अद्वैतं परमार्थः', अद्वैत शब्द ही द्वैतका निषेध करनेके लिए है। ऐसे ही कहीं अद्वैतका भी निषेध मिलता है क्या? नेति-नेतिके द्वारा अद्वैतका निषेध होगा कि नहीं? तो नहीं होगा। बौद्धोंने एक पक्षमें बड़ा भारी परिश्रम किया है। वे प्रपञ्चकी सत्ताका निषेध करते हैं। वे कहते हैं कि द्वैत नहीं है।

दो काम हमको करना पड़ता है एक अद्वैत आत्माकी सिद्धि और एक द्वैतका निषेध। हमारा आधा काम तो इन्होंने ही कर दिया—द्वैतका निषेध—हम इनको बहुत-बहुत धन्यवाद देते हैं। उन्होंने आत्माके अतिरिक्तको शून्य सिद्ध



कर दिया और उस शून्यका जो साक्षी है, उसका जो अधिष्ठान है, उसको सिद्ध कर दिया। वेदके द्वैतके निवारणमें उनका बड़ा भारी उपयोग है। क्योंकि वेदान्तमें और विद्वानों तथा महापुरुषोंके अनुभवमें भी अद्वैत है। जहाँ तक खण्डनका सम्बन्ध है, तो आत्मा अखण्डनीय है, अखण्ड है और आत्माके सिवाय दूसरी कोई वस्तु सिद्ध होती नहीं। इसका मनन करना पड़ता है। जो परिणाम है उसको फल बोलते हैं।

जो लोग सृष्टिका कार्य-कारण-भाव मानते हैं उनसे पूछना चाहिए कि कार्य क्या और कारण क्या; हेतु क्या और फल क्या? हेतु माने कारण और कार्य माने फल। पहले फल कि शरीर था और उसके बाद धर्माधर्म रूप कर्मकी उत्पत्ति हुई या पहले धर्माधर्म रूप हेतु था और उससे शरीरकी उत्पत्ति हुई! यह स्पष्ट हो गया 'हेतोः फलस्य अनादिः कथं तैरुपवर्ण्यते'—शरीरसे पैदा हुआ कर्म और कर्मसे पैदा हुआ शरीर—यह दोनों अनादि हैं—इस प्रकारका वर्णन कोई कैसे करता है! दो चीज एक साथ पैदा हों तो एक चीजसे दूसरी चीज पैदा हुई यह थोड़े ही होगा। 'असम्बन्धे विषाणवत्'—समानान्तर दो रेखाएँ जैसे आपसमें कार्य-कारण नहीं बनतीं, वैसे कर्म और शरीर भी समानान्तर रेखाके समान हो जायेंगे और कार्य-कारण नहीं बनेंगे। तो यदि दोनों अनादि हैं तो कार्य-कारण नहीं और दोनों सादि हैं तो कार्य-कारण नहीं और दोनोंमें-से यदि कोई एक कारण और एक कार्य है, तो एकके बिना दूसरेकी सिद्धि ही नहीं होती। यह वर्णन कि सृष्टिमें कार्य-कारण-भाव है—यह कैसे बनेगा?

बौद्ध लोग प्रपञ्चको बिलकुल शून्यात्मक मानते हैं और कार्य-कारण-भावका निषेध करते हैं—वे भी पुनर्जन्म मानते हैं। अच्छा; जैन जो कर्मफल-दाताके रूपमें ईश्वरको नहीं मानते वे भी पुनर्जन्म मानते हैं। और हमारे सनातन-धर्म तो कर्म, कर्मफलको और पुनर्जन्मको मानते ही हैं। स्वामी दयानन्द स्वर्ग-नरकको नहीं मानते लेकिन पुनर्जन्मको मानते हैं—इसमें रहस्य क्या है! व्यावहारिक दृष्टिसे विचार दूसरी वस्तु है और तात्त्विक दृष्टिसे विचार अलग बात है। कार्य-कारणका विचार जो यहाँ प्रस्तुत है, यह बतलानेके लिए है कि अनन्त, अद्वितीय, निर्विकार, निराकार ब्रह्ममें—अनिर्वचनीय अद्वितीय और जन्म-प्रलयके सम्बन्धसे निर्मुक्त परब्रह्म-परमात्मामें न तो कार्यता है और न कारणता है। फिर ये अद्वैतवादी कार्य-कारण भावकी सङ्गति कैसे लगाते हैं! ब्रह्म-सूत्र और उपनिषद्में आया है कि 'जन्माद्यस्य यतः' 'यतो वा इमानि०' इसके अलावा

उपनिषदोंमें तो कर्मसे जन्म होनेका बहुत वर्णन भी है। एक मन्त्र यदि निषेध करता हो तो दस मन्त्र जन्म और मरणका वर्णन करते हैं। इसका क्या अभिप्राय है ! असलमें मायिक जन्म-मरणका वर्णन है उपनिषदोंमें। वेदान्तकी दृष्टिसे यह मायिक है स्वाप्निक है। स्वप्नमें कार्य-कारण भाव है कि नहीं ? बाप भी है, बेटा भी है। प्राकृतिक बाप और बेटा, मायिक बाप-बेटा, अज्ञान दशामें सत्य प्रतीत होनेवाला बाप-बेटा जो है श्रुति उसका अनुवाद करती है। माया रहित तत्त्वका जहाँ निरूपण करना होता है वहाँ कार्य-कारण भावका निषेध करती है अद्वैत श्रुति। तुम्हें माया समझना है कि तुम्हें माया-रहित तत्त्व समझना है ! तुम सपनेकी चीजोंसे खेलना चाहते हो कि जागकर अपने सच्चे स्वरूपका अनुभव करना चाहते हो ! यदि जागकर अपने सच्चे स्वरूपका अनुभव करना चाहते हो तो नेति-नेतिके द्वारा द्रष्टा और दृश्य भावका, कार्य और कारण भावका, भोक्ता और भोग्य भावका निषेध करना पड़ेगा। इसका तत्त्व क्या है कि भोक्ता और भोग्य भावका निषेध करनेसे वैराग्य हो जायेगा। वैराग्योपहित परमात्माका दर्शन कब होगा ? वैराग्योपाधि परमात्माका दर्शन कब होगा ? वैराग्योपाधि केवल एक उपधि रह जायेगी। वैराग्य कब ? जब भोक्ता और भोग्य भावका निषेध कर देंगे। जब द्रष्टा और दृश्य भावका निषेध कर दोगे तब केवल विवेकोपाधि पर-परमात्मा रह जायेगा। जब सद्-असद्का विवेक करके, कार्य-कारणका निषेध कर दोगे तो अजातत्वोपाधि परमात्मा रह जायेगा। अजातोपाधि—जिसमें न कार्य, न कारण अजात भी उपाधि है—परमार्थमें अजत्व नहीं हैं। कल्पित संवृतिसे ही परको अज बोलते हैं। वह कार्य-कारण भावके निषेधसे सम्प्रतिपन्न है। अजन्मा भी जायमानका निषेध करनेके लिए है। असलमें जहाँ द्वैत ही नहीं है, वहाँ वैराग्य भी कहाँ, वहाँ विवेक भी कहाँ है ? तब अज्ञातता भी कहाँ ? जब यह आत्मा जिज्ञासुके रूपमें आगे बढ़ता है तो पहले उसको किसका साक्षात्कार होना चाहिए ? क्रम मानकर चलना पड़ता है—पहले वैराग्योपाधि परमात्माका दर्शन होना चाहिए। संसारके प्रति भोक्ता-भोग्य-भाव बिल्कुल मिथ्या है—वैराग्य ही सत्य है। वैराग्यमें ही परमात्मा है। फिर द्रष्टा-दृश्यका विवेक किया। विवेक कर लेनेके बाद एक ज्ञानस्वरूप परमात्मामें न द्रष्टा न दृश्य। यह विवेकोपाधि परमात्मा ही सच्चा है। इसके बाद कार्य-कारणका विवेक किया। कार्य-कारणका विवेक करनेसे दोनोंका अभाव सिद्ध हो गया। दोनों असत् हैं। तो कार्यकारणके अत्यन्ताभावोपाधिक परमात्मा शेष रहा। अपने स्वरूपकी अनुभूतिमें न कार्य-



कारण-भाव है, न द्रष्टा-दृश्य-भाव है, न भोक्ता-भोग्य-भाव है—न वैराग्य है, न विवेक है और न तो सृष्टिका अत्यन्ताभाव है—न भाव, न अभाव। स्वरूपतानुभूतिसे अत्यन्ताभावका बाध हो गया, निवृत्ति हो गयी—माने एक अखण्ड परमात्मा है। इसमें कार्य-कारण और दोनोंका अभाव; ज्ञाता-ज्ञेय और दोनोंका अभाव, भोक्ता-भोग्य और दोनोंका अभाव स्वप्नवत् प्रतिभासमान हो रहा है, यह अद्वैत-सिद्धान्तकी प्रक्रिया है। प्रक्रिया माने—जाननेका प्रकार एक तरकीब है। मशीनसे जड़ मिलेगा, चेतन नहीं मिलेगा। एक प्रक्रिया है बुद्धि। उससे खोजोगे तो शून्य या मौत मिलेगी। एक प्रक्रिया है—श्रद्धा या भाव। उससे सोचोगे तो क्या मिलेगा ईश्वर। यन्त्रका निषेध करके, बुद्धिका निषेध करके, श्रद्धाका निषेध करके अहमर्थके अनुसन्धानकी तरकीबसे अजातब्रह्मका साक्षात्कार होता है। वेदान्तका कहना है कि 'अहं ब्रह्मास्मि' इस प्रक्रियासे परमात्माका साक्षात्कार होता है। 'तत्त्वमसि' इस प्रक्रियासे साक्षात्कार होता है। वेदान्तकी यह खास प्रक्रिया है कि यदि अहमर्थमें परमात्माका अनुसन्धान करोगे तब तो तुम अखण्ड, अगाध, अबाध, अद्वितीय, अविनाशी, परिपूर्ण—ब्रह्म निकलोगे और यदि इस प्रक्रियाको छोड़कर बुद्धिके चक्करमें पड़े तो बौद्ध हो जाओगे—शून्यवादी और यन्त्रके चक्करमें पड़े तो जड़वादी हो जाओगे। जो कहते हैं कि हर तरहसे ब्रह्म ही निकल आता है—बुद्धिसे भी, श्रद्धासे भी, मशीनसे भी, वे वेदान्तको, वेदान्तकी जो खास विशेषता है उसको नहीं जानते। वे या तो तत्त्ववित् हैं या भावुक हैं। वेदान्तकी सिद्धि ही 'अहमर्थ'के द्वारा ब्रह्मानुसन्धानसे है। अद्वैत अनुभव स्वरूपमें प्रक्रियाके सिवाय और कुछ न बोला जा सकता है, न और कुछ सोचा जा सकता है। यह भी सब प्रक्रिया है, युक्ति है, तरकीब है। यही विवेक अगले श्लोकोंमें निरूपित हुआ है।

**हेतोरादिः फलं येषामादिर्हेतुः फलस्य च।**

**तथा जन्म भवेत्तेषां पुत्राञ्जन्म पितुर्यथा ॥ 15 ॥**

जो स्वयं एक अवस्थामें कार्य हो और एक अवस्थामें कारण हो वह कार्य-कारण दोनोंके द्वारा अनिर्वचनीय होनेसे कार्याभास, कारणाभास, अनिर्वचनीय मिथ्या होता है। व्यवहार चलानेके लिए एकत्व और द्वित्व—ये दोनों कल्पित हैं। गणितमें जो स्वयं सिद्धियाँ मानी जाती हैं वे बिलकुल कल्पित हैं। यह अन्वय-व्यतिरेक, विधि और निषेध, व्यावृत्ति और अनवृत्ति ये सब कल्पित रीतिसे ही होती हैं।

**संभवे हेतुफलयोरेषितव्यः क्रमस्तत्त्वया ।**

**युगपत्संभवे यस्मादसम्बन्धो विषाणवत् ॥ 16 ॥**

संसारमें एक भावको पकड़ करके व्यवहार चलाना पड़ता है। भाव ही भावसे मिलता है, भाव-भावके साथ जुड़ जाता है; नहीं तो अपनी मातामें माताका भाव नहीं हो तो बेटी और माताका कोई सम्बन्ध बनेगा? पति-पत्नीमें भाव न बने तो क्या कोई सम्बन्ध बनेगा? सम्बन्ध सारे-के-सारे भावनात्मक होते हैं। कार्य-कारणके क्रममें क्या-क्या गलती है, यह बात जिज्ञासुको स्वयं सोचनी चाहिए। जिसको हम पहले कहते हैं वह काल है और जिसको हम बादमें कहते हैं वह भी काल है। तो हमने सृष्टिकी कल्पना जो की वह कालके भीतर की, अतः सृष्टिसे कालका ज्ञान होता है कि कालसे सृष्टिका ज्ञान होता है? बिल्कुल वही कार्य-कारणवाला सिद्धान्त एकदम लागू हो जायेगा। परिणामी द्रव्यके बिना, बदलनेवाले पदार्थके बिना कालकी सिद्धि नहीं होती और कालके बिना वस्तुमें आगे-पीछे बदलना सिद्ध नहीं होता। काल कारण है और द्रव्यमें परिणाम कार्य है कि द्रव्यमें परिणाम कार्य है और काल कारण है? भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय अपनी-अपनी मान्यताको लेकर लड़ते हैं और सब हैं कल्पनाकी एक ही भूमिकामें। सब-के-सब सपना ही देख रहे हैं और लड़ते हैं कि हमारा सपना सच, हमारा सपना सच। राग-द्वेषको मिटानेके लिए इतना बड़ा मन्त्र आपको और कहाँ मिलेगा? जो जीनेवाले लड़ाई करते हैं और मरनेवालेके लिए रोते हैं। चित्तमें जो राग है वही तो कष्ट देता है। इस कालमें न कोई क्रम है, न कोई वस्तु है, न कोई वस्तु होकर रहती है, न होती है, न मिटती है—यह तो ऐसे ही जैसे सपना फुरफुराता जाता है वैसे ही सपना फुरफुरा रहा है। अवच्छेदमें भी पुनर्जन्मको ऐसे ही मानते हैं। दृष्टि-सृष्टिवादमें भी ऐसे ही मानते हैं। आभासवादमें भी ऐसे ही मानते हैं। आभासवादमें भी ऐसे ही मानते हैं। कार्य-कारण आभास ही का तो होता है। कूटस्थके साथ कार्य-कारणका कोई सम्बन्ध नहीं है। अजात आत्माके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। जहाँ केवल भान-मात्र ही कार्य-कारण है वहाँ काल भी प्रतीति मात्र है और द्रव्य भी प्रतीति मात्र है।

**फलादुत्पद्यमानः सन्न ते हेतुः प्रसिध्यति ।**

**अप्रसिद्धः कथं हेतुः फलमुत्पादयिष्यति ॥ 17 ॥**

**यदि हेतोः फलात्सिद्धिः फलसिद्धिश्च हेतुतः ।**

**कतरत्पूर्वनिष्पन्नं यस्य सिद्धिरपेक्षया ॥ 18 ॥**



पूर्व सिद्धकी अपेक्षासे उत्तर-सिद्ध होती है। इस प्रसंगसे अपना ही काम निकलता है। तीन बात जिज्ञासुकी बुद्धिमें होनी चाहिए—एक तो जिज्ञासुको अपने सुखके लिए भोग्य-वस्तुकी पराधीनता नहीं होनी चाहिए, नहीं तो वह अपने आनन्द स्वरूपका अनुसन्धान नहीं करेगा। दूसरी बात यह है कि उसका जड़के साथ कभी तादात्म्य नहीं होना चाहिए, नहीं तो जिज्ञासा ही मिट जायेगी उसकी, बुद्धि खो जायेगी और मृत्यु हमको छूती है कभी—मैं मरता हूँ—यह भय उसके अन्दर नहीं आना चाहिए, क्योंकि मृत्यु तो जड़ता ही है। ये तीन बातें जिज्ञासुमें नहीं होनी चाहिए।

देखो, यह जो बुद्धि मिली है हमको ईश्वरकी ओरसे यह दुःखको भगानेके लिए मिली है, दुःखको बुलानेके लिए नहीं मिली है। जो आदमी अपनी अक्लका उपयोग दुःखको बुलानेमें करता है उसकी अक्ल ठीक काम नहीं कर रही है। ईश्वरने तुम्हें अक्ल दी है, गढ़ढेमें गिरनेसे बचनेके लिए। तुम्हारे ऊपर कीचड़ न उछल आवे, तुम कहीं गन्दी चीजपर पाँव न रख दो, अपनेको दुःखमें न डाल दो—इसके लिए बुद्धि तुम्हें मिली है। अतः पहली बात यह है कि—दुःखसे बचो। जो बुद्धि हर जगह दुःख-ही-दुःख बताती है वह चींटी नहीं रही, गुबरैला हो गयी। एक कीड़ा गुबरैला होता है—वह गोबर खाता है, उसीका घर बनाता है, उसीका लड्डू बनाता है और एक चींटी होती है वह जहाँ शक्कर मिले वहाँ जाती है। असलमें वही बुद्धि है जो बीते हुएकी यादमें अपने वर्तमानको न बिगाड़े। यह स्मृति बीते हुएको याद करके वर्तमानका का नाश करती है और कल्पना क्या होती है कि आगे यह दुःख आनेवाला है, यह दुःख आनेवाला है—यह कल्पना करके वर्तमानका नाश करती है। कल्पना और स्मृति—ये दोनों वर्तमानका नाश करती हैं और बुद्धि जो है वह न स्मृति है, न कल्पना है। वर्तमानमें जो प्राप्त है उसका सदुपयोग करो। अपना आत्मा आनन्द-स्वरूप है। दूसरी बात यह है कि बुद्धि जड़ न हो जाये। नशा माने संस्कृतमें होता है—जिससे आदमीका नाश हो जाये। 'नश्यति अनया'।

नशा क्या है? जड़तासे तादात्म्य है। अपनेको हड्डी, मांस, चाम, विष्टा, मूत्रसे एक कर लेना—यह बुद्धिका नाश है। और तीसरी बात यह है कि जो मृत्युका साक्षी है उसमें मृत्युकी कल्पना कैसे? बुद्धि मूर्खतासे बचनेके लिए मिली है; मौतसे बचनेके लिए मिली है। अगर कोई आदमी अपनी बुद्धिसे दिन-



रात मौतकी ही बात सोचे या दिन-रात बेवकूफीकी ही बात सोचे या दिन-रात दुःखकी ही बात सोचे तो वह बुद्धिका अपव्यय करता है। बुद्धि तो अविनाशी वस्तु, चैतन्य-वस्तु, आनन्द-वस्तुके चिन्तनके लिए मिली है। अब बताओ तुम्हें बुद्धि मिली है तो कार्य क्या? कारण क्या? तुम नहीं बता सकते। अर्थात् तुम्हारी बुद्धि इस बातको समझ नहीं सकी है—‘अपरिज्ञान’—बुद्धिके अज्ञानका ही नाम यहाँ असामर्थ्य है। इसी अज्ञानके कारण तुमने दुनियामें भोक्ता-भोग्य, ज्ञाता-ज्ञेय और कारण-कार्यका भेद बनाया है। जिसको तुमने समझा नहीं है और इसको न समझनेके कारण ही कारण-कार्यमें तुम फँस गये हो, ज्ञाता ज्ञेयमें फँस गये हो—बुद्धिका अभिमान हो गया है और भोक्ता-भोग्यमें फँस गये हो—दुःखी हो गये हो—इसका एक ही कारण है कि नहीं समझते हो तुम। यह स्वीकार करो कि अज्ञान है तब अपने स्वरूपका ज्ञान प्राप्त करो, तुम्हारा यह दुःख, तुम्हारी यह मूर्खता, तुम्हारी यह मौत दूर हो जायेगी।

पण्डितोंने, विद्वानोंने यह सिद्ध किया है कि क्रम भंग हो गया तब भी दोष हो गया और वस्तुकी सिद्धि नहीं हुई, अज्ञान सिद्ध हो गया तब भी वस्तु सिद्ध नहीं हुई—माने कार्य-कारणकी सिद्धि अज्ञानसे है अथवा बिलकुल असंगत है। बुद्धिसे दो ही बात सिद्ध हुई कि कार्य-कारण-भाव सर्वथा असंगत है, अबौद्ध है, मूर्खता-पूर्ण है—यह सिद्ध हुआ अथवा यह सिद्ध हुआ कि तुमने अज्ञानको, कार्य-कारण-भावको मान रखा है।

**अशक्तिरपरिज्ञानं क्रमकोपोऽथवा पुनः ।**

**एवं हि सर्वथा बुद्धैरजातिः परिदीपिता ॥ 19 ॥**

इस प्रकार जितने भी विद्वान् पुरुष हैं उन्होंने यह सिद्ध किया है कि आत्माका जन्म नहीं है—न तो आत्मा किसीसे जनमता है, न तो आत्मासे कुछ जनमता है। यह अद्वय, अखण्ड, अविनाशी, परिपूर्ण, चैतन्य अपना स्वरूप है। एक पक्षने दूसरेमें दोष बतलाया, दूसरे पक्षने पहलेमें दोष बतलाया और दोनों आपसमें टकराकर अपने आप ही अदृश्य हो गये और साक्षी ज्यों-का-त्यों रह गया।

**बीजांकुराख्यो दृष्टान्तः सदा साध्यसमो हि सः ।**

**न हि साध्यसमो हेतुः सिद्धौ साध्यस्य युज्यते ॥ 20 ॥**

**पूर्वापरापरिज्ञानमजातेः परिदीपकम् ।**

**जायमानाद्धि वै धर्मात्कथं पूर्वं न गृह्यते ॥ 21 ॥**



स्वतो वा परतो वापि न किञ्चिद्वस्तु जायते ।

सदसत्सदसद्वापि न किञ्चिद्वस्तु जायते ॥ 22 ॥

हेतुनं जायतेऽनादेः फलं चापि स्वभावतः ।

आदिर्न विद्यते यस्य तस्य ह्यादिर्न विद्यते ॥ 23 ॥

पृज्ञातेः सनिमित्तत्वमन्यथा द्वयनाशतः ।

संक्लेशस्योपलब्धेश्च परतन्त्रास्तित्ता मता ॥ 24 ॥

पृज्ञातेः सनिमित्तत्वमिष्यते युक्तिदर्शनत् ।

निमित्तस्यानिमित्तत्वमिष्यते भूतदर्शनात् ॥ 25 ॥

चित्तं न संस्पृशत्यर्थं नार्थाभासं तथैव च ।

अभूतो हि यतश्चार्यो नार्थाभासस्ततः पृथक् ॥ 26 ॥

कार्य-कारणके विचारमें बीज-अंकुरका दृष्टान्त सिद्ध दृष्टान्त है—  
उभयवादी सम्मत दृष्टान्त है। वह तो जैसे कार्य-कारणमें पूर्वापर भाव साध्य है वैसे ही बीजांकुरमें भी पूर्वापर भाव साध्य है और जो वस्तु अभी सिद्ध नहीं है, साध्य ही है उसका दृष्टान्तके रूपमें प्रयोग नहीं किया जा सकता। इसके बाद यह बात सुनायी कि कार्य-कारण-संघात पहले कि धर्माधर्म पहले? यह बात किसी भी तरह सिद्ध नहीं होती कि कार्य-कारण-संघात बिना किसी कर्मके, बिना धर्माधर्मके पहले था और वह धर्माधर्मसे उत्पन्न हुआ। दोनों अनादि हैं कि दोनों सादि हैं यह बात भी सिद्ध नहीं होती। वेदान्तियोंके मतमें तो परमात्माका स्वरूप सत्य है, वह कोई भावनात्मक ईश्वरका स्वरूप नहीं है। जो लोग ईश्वरके स्वरूपको केवल भावनात्मक मानते हैं उनके द्वारा माना हुआ ईश्वरका स्वरूप युक्तिकी कसौटीपर, तर्ककी कसौटीपर विज्ञानकी कसौटी पर, अनुभवकी कसौटीपर, खरा नहीं उतरता है। व्यवहारकी दृष्टिसे वैसा मानना ठीक है। वह तो ईश्वरकी ओर चलनेका एक मार्ग है। मार्गकी दृष्टिसे उसका निषेध नहीं है लेकिन परमार्थकी, दृष्टिसे, तत्त्वकी दृष्टिसे उसका निषेध होता है। ईश्वर तो वह है जो प्रतीयमान सर्वदेश-सर्वकाल, सर्ववस्तुमें, इदं में, अहं में परिपूर्ण है जिसके सिवाय दूसरी कोई वस्तु है ही नहीं—हम ऐसे तत्त्वको ईश्वर कहते हैं। भिन्न-भिन्न सम्प्रदायोंमें स्वीकृत जो श्रद्धा-मूलक, भावनात्मक, विश्वासका फल देनेवाला जैसा ईश्वरको माना जाता है उसको वेदान्त ईश्वर नहीं कहता। वेदान्त तो निर्गुण, निराकार, निर्विकार, एकरस, निर्विशेष, प्रत्यक्-चैतन्याभिन्न ब्रह्म-तत्त्वको ही असलमें ईश्वर कहता है। उसमें न कार्य-कारण-भाव है और न उसमें धर्माधर्म

रूप फल—हेतु है, उसमें तो दूसरी कोई वस्तु है ही नहीं। दूसरी किसी वस्तुका न होना माने वही-वही होना। यह जगत्की प्रतीतिका निषेध नहीं है, परमात्मासे अलग जगत् नामकी कोई और चीज है, उसके अन्यत्वका निषेध है।

‘तदन्यत्वं आरम्भणशब्दादिभ्यः’—जो कुछ है, और जो कुछ भासता है, वह परमात्मासे अनन्य ही है। चाहे साँप भासे, चाहे माला भासे, चाहे डंडा भासे—वह रज्जुके सिवाय कोई चीज नहीं है। निषेधका अर्थ अधिष्ठानसे अभिन्न होना है। केवल भिन्नताका निषेध किया जाता है, प्रतीतिका निषेध नहीं किया जाता। इसलिए अधिष्ठानके अद्वय होनेसे जो व्यावहारिक भेद है उसमें कोई आपत्ति नहीं आती है। तत्त्वमें अभेद होनेपर भी व्यावहारिक भेद-वर्तनमें किसी प्रकारका भी बाध उपस्थित नहीं होता। व्यवहार तो ज्यों-का-त्यों और तत्त्व एक। एक मिट्टी शरीरमें लगानेकी होती है, एक मिट्टी दवा बनानेकी होती है, एक मिट्टी खानेकी होती है, एक मिट्टी फेंकनेकी होती है, एक मिट्टी दुर्गन्धसे भरी होती है, एक मिट्टी सुगन्धित होती है—लेकिन, उसके मिट्टी होनेमें कोई बाधा नहीं है, मिट्टी होनेमें कोई सन्देह नहीं है। उसके जितने व्यावहारिक रूप हैं वे सब मूलभूत मृत्तिकासे अभिन्न ही हैं।

जो लोग यह सिद्ध नहीं कर सकते कि पहले धर्माधर्म कि पहले कार्य-कारण-संघात?—‘पूर्वापरापरिज्ञानमजातेः परिदीपकम्’—उन-लोगोंका यह सिद्धान्त भी कि पहले क्या और पीछे क्या—इस बातको न समझना—अजात वस्तुका ही चिन्तन है।

जायमानाद्धि वै धर्मात्कथं पूर्वं न गृह्यते ।

यदि सचमुच उत्पन्न कोई वस्तु होती तो उस कार्यको पकड़ करके हम कारणको पकड़ सकते थे, कारण भी ग्राह्य हो सकता था। परन्तु जब वस्तु उत्पन्न ही नहीं है तो पूर्वापर—भाव जो है—कौन पहले, कौन पीछे—यह कैसे समझा जाय? असलमें पहले और पीछे भी उपलब्ध वस्तुके आधारपर ही कल्पित होता है। तो पहले-पीछे माने काल ही जहाँ नहीं है वहाँ कार्य-कारण-भावकी कल्पना कहाँ? जहाँ अन्तर्-बहिर् भाव ही नहीं है वहाँ अन्तर्देश और वहिर्देशमें यह कल्पना कहाँसे आवेगी? सिद्धान्त यह निश्चित हुआ कि—‘स्वतो वा परतो वापि न किञ्चिद्वस्तु जायते’। ‘वापि’ शब्द दोनोंको एकमें मिलाकर समुच्चय कर लेनेके लिए है। ‘स्व’से कोई वस्तु नहीं होती, ‘पर’से कोई वस्तु नहीं होती, ‘स्व’ और ‘पर’के मिश्रणसे भी कोई वस्तु पैदा नहीं होती—न सद् वस्तु, न असद् वस्तु, न



सदसद् वस्तु पैदा होती—माने किसी वस्तुकी उत्पत्ति नहीं होती। इसका आशय यह निकला कि जो अज, अद्वय, अखण्ड है वह ज्यों-का-त्यों है।

सदसे सद्की उत्पत्ति हुई—पहले सद्में और दूसरे सद्में क्या फर्क है? यदि फर्क नहीं है तो आत्माश्रय दोष हो गया और यदि फर्क है तो पहले सद्से दूसरा सद् और दूसरे सद्से पहला सद्—अन्योनाश्रय दोष हो गया और यदि कोई तीसरी चीज है तो सत्तिकापत्ति-दोष। इसको और आगे बढ़ाओ तो अनवस्था हो गयी। अजन्मासे जन्म हुआ है ऐसा मानो तो वदतोव्याघात हो गया। इसलिए 'न किंचिद्वस्तु जायते'—मूल सिद्धान्त यही है कि 'अज' जो वस्तु है, परमात्मा वही परिपूर्ण है। यह भी ध्यान रखने लायक है कि जब सर्पका निषेध किया तो उसका निषेध कोई पदार्थ होकर रज्जुमें लिपट नहीं गया। सर्पका अभाव रज्जुमें कोई वस्तु बन करके नहीं रहता है। वेदान्तियोंके मतमें अभाव नामका कोई पदार्थ नहीं है। अभाव वह अधिष्ठानसे अभिन्न ही होता है। जब हम नाम-रूप आकारका निषेध करते हैं तो उसका अर्थ यह निकलता है कि जो नाम, रूप, क्रियाका अधिष्ठान है उस अधिष्ठानमें माने नाम, रूप जो मालूम पड़ता है और वह जिसमें मालूम पड़ता है उसमें नाम, रूप नहीं है। इसका मतलब यह हुआ कि अधिष्ठान-ही-अधिष्ठान है। नाम-रूपका निषेध करने मात्रसे ही प्रतीयमान जो नाम-रूप है वह अधिष्ठान मात्र है, यह परिणाम निकल आता है। जैसे, स्वप्नमें आपने एक हाथी देखा—सफेद था, काला था, कितने फुट ऊँचा था और जाग्रत्में निषेध किया। क्या निषेध किया जाग्रत्में? कि हाथी नहीं था। स्वप्नमें हाथीका विज्ञान तो था, परन्तु हाथी नहीं था। स्वप्नमें जो ज्ञान होता है वह ज्ञान बाधित नहीं होता वस्तु बाधित होती है। लोग विवेक ठीक नहीं करते हैं। घड़ा कपड़ा नहीं है और कपड़ा घड़ा नहीं है लेकिन ज्ञान तो दोनों है? देखो, यह स्त्री है और यह पुरुष है, दोनों कहाँ दीख रहे हैं? दोनों प्रकाशमें दीख रहे हैं। जब यह कहा कि कमरेमें न स्त्री है, न पुरुष है तो प्रकाशका निषेध कहाँ हुआ, प्रकाश तो है ही। तो जैसे स्वप्नमें जब यह बात कहते हैं कि वहाँ हाथी नहीं था—सफेद भी नहीं था और काला भी नहीं था तो उसका मतलब यह होता है कि जो हाथी दिखा वह ज्ञानमात्र था। ज्ञानसे जुदा दूसरी वहाँ कोई वस्तु नहीं है। स्वप्नावस्थामें मीलों लम्बा स्थान, हजारों आदमी और वर्षोंका समय—ये तीनों जैसे स्वप्न-द्रष्टाकी दृष्टि ही हैं। वहाँ केवल ज्ञान ही देश-काल-वस्तुके रूपमें स्फुरित हो रहा है—ज्ञानातिरिक्त देश-काल-वस्तु नहीं है।

इसका यह अभिप्राय नहीं है कि उस समय देश-काल-वस्तु मालूम ही न पड़े; मालूम तो जरूर पड़ेगा, परन्तु वहाँ ज्ञानसे जुदा कोई वस्तु नहीं थी, ज्ञान-ही-ज्ञान था। इसी प्रकार सुषुप्ति कालमें जो वस्तुओंका अभाव दीखता है, वह केवल ज्ञान मात्र है और इसी प्रकार जाग्रत् कालमें जो देश-काल-वस्तु दिखायी पड़ता है वह भी केवल ज्ञान मात्र है, ज्ञानसे जुदा नहीं है। कोई नई वस्तु पैदा नहीं हुई है—स्वतः सिद्ध जो ज्ञान है वही तत्त्व है।

यदि यह कहो कि हमको तो साफ ही मालूम होता है कि बापसे बेटा पैदा होता है और मिट्टीसे घड़ा पैदा होता है। मालूम पड़नेका निषेध हम कहाँ करते हैं ? सारा ही व्यवहार इसी बातपर चलता है कि बापसे बेटा पैदा हुआ और मिट्टीसे घड़ा पैदा हुआ। मालूम भी पड़ता है कि पैदा हुआ और बोला भी जाता है कि पैदा हुआ, लेकिन हम परीक्षा कर रहे हैं कि आखिर यह है क्या ? यह शब्द और प्रत्यक्ष है क्या ? ज्ञानसे पृथक् यह घट है या नहीं ? परन्तु प्रतीत होनेपर भी और जबानी व्यवहार होनेपर भी यह वस्तु सत्य है कि नहीं ? यही तो हम परीक्षा करते हैं। तो पता चलता है कि—शब्दमात्रमेव तत्—केवल शब्द ही है, वहाँ वस्तु तो कुछ है ही नहीं। यही बात श्रुतिने परीक्षा करके बतलायी—

**वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्**

सचमें घड़ा नामका कोई अलग पदार्थ पैदा नहीं हुआ, एक व्यवहार हुआ, एक नाम हुआ, एक आकार दिखा—लेकिन मिट्टीके सिवाय कोई नयी धातु पैदा नहीं हुई।

इसका नतीजा यह निकला कि ब्रह्म ही है, आत्मा ही है—अपने सिवाय दूसरी कोई वस्तु नहीं है। माने अपना आपा ही है।

गाँधीजी बोलते थे—विदेशी मत पहनो और मालवीयजी बोलते थे—स्वदेशी ही पहनो। अब देखो, 'स्वदेशी ही पहनो'—इसका तात्पर्य क्या हुआ कि विदेशी मत पहनो। 'स्वदेशी ही पहनो' ऐसा कहना कानूनके विरुद्ध नहीं है। स्वदेशी वस्तुसे प्रेम करनेका तो सबको जन्मसिद्ध अधिकार है और उसका प्रचार करनेका अधिकार है परन्तु उस समय विदेशीका निषेध करना—कानूनके खिलाफ था।

यह कहना कि प्रपञ्च नहीं है और यह कहना कि ब्रह्म ही है इसमें तत्त्वतः कोई अन्तर नहीं है। प्रपञ्च नहीं है—अर्थ ही यह है कि जिस अधिष्ठानमें प्रपञ्च दीख रहा है उसमें प्रपञ्च तो नहीं है, अधिष्ठान-ही-अधिष्ठान



है, केवल अध्यस्तका ही तो निषेध करते हैं, अधिष्ठानकी सर्वात्मकता तो अपने आप ही सिद्ध हो जाती है। जिस धरतीमें घटाभाव नहीं है वह धरती ही धरती है, अभाव तो कोई पदार्थ है नहीं। वह तो प्रतियोगी ज्ञान सापेक्ष है—घटका ज्ञान होवे तो घटाभावका ज्ञान होवे और यहाँ घटकी सत्ता निषिद्ध हो गयी, घट निषिद्ध हो गया, घटाभाव क्या हुआ? इसीसे वेदान्ती लोग कहते हैं कि अध्यस्त जो वस्तु होती है वह अधिष्ठानसे किञ्चित् भी पृथक् नहीं होती है। इसलिए ब्रह्ममें यह प्रपञ्च अध्यस्त है। मैं-तू कार्य-कारण उपाधि—उपधिय, ज्ञाता-ज्ञेय, भोक्ता-भोग्य कर्ता-कर्म जिस अधिष्ठानमें अध्यस्त हैं उससे जुदा नहीं है, अर्थात् अधिष्ठान-ही-अधिष्ठान—केवल ब्रह्म-ही-ब्रह्म सिद्ध है—यही सम्पूर्ण वेदान्तोंका परम तात्पर्य है।

कोई कहते हैं कि 'जायते' क्रिया है, जनन है—कारक भी वही है और फल भी वही है। —इसका अर्थ क्या हुआ? जैसे घड़ा बनाया, तो घड़ेकी जो उत्पत्ति है वह मिट्टी ही है, क्रियासे ही घड़ा मालूम पड़ता है। अब उसके लिए चाक, दंड आदि जो कारक हैं सो भी और उसका जो फल है कि मैंने घड़ेको बनाया या घड़ेसे पानी ले आया—यह सब—जनि क्रिया ही है। वस्तुको क्षणिक मानना और क्रिया, कारक, फलका एकत्व मानना सर्वथा न्याय-विरुद्ध है; क्योंकि जबतक कहोगे कि यह वस्तु है, आँखसे देखी और भीतर बोला गया कि ऐसी है, तबतक तो वह वस्तु भाग जाती है। एक क्षणके लिए भी उसमें अवस्थान नहीं है। फिर स्मृति भी नहीं हो सकती। इन सब कारणोंसे यह सिद्धान्त गलत है। अवधारणावच्छिन्न क्षणमें जो वस्तु है वह अवच्छेदक क्षणातिरिक्त क्षणमें उस वस्तुका अवस्थान ही नहीं है। इसलिए न तो उस वस्तुका अनुभव हो सकता है, न स्मृति हो सकती है और न तो संस्कार उत्पन्न हो सकता है। इसलिए जो लोग केवल जन्म मानते हैं और अवस्थान नहीं मानते हैं, वे क्षणिक विज्ञानवादी हैं, उनका मत सर्वथा न्यायसे भ्रष्ट है—

हेतुर्न जायतेऽनादेः फलं चापि स्वभावतः ।

अब कहते हैं कि अनादिके हेतुकी उत्पत्ति नहीं होती और अनादिके फलकी भी उत्पत्ति नहीं होती। इसको ऐसे कहें, 'हेतुर्न जायते'—धर्माधर्मकी उत्पत्ति नहीं होती। क्यों? 'अनादित्वात्'—तुम खुद ही कहते हो कि धर्माधर्मकी परम्परा अनादि है। अनादि भी मानना और उत्पत्ति भी मानना—यह असंगत है कि नहीं? 'फलं चापि न जायते'—फलकी भी उत्पत्ति नहीं होती; क्योंकि आनादेय

फलको भी तुम अनादि मानते हो और उत्पत्ति भी मानते हो—यह भी गलत है। 'स्वभावतः'—अनादिका स्वभाव ही यह है कि उसका जन्म नहीं होता। देखो, एक कल्पित अनादि होता है और एक वस्तुतः अनादि होता है। अपना आत्मा है—ब्रह्म, साक्षी, अधिष्ठान। जिसको हम मैं-मैं बोलते हैं, उसको देह और अन्तःकरणके सम्बन्धसे जुदा करके इसपर विचार करें। अवस्थात्रयसे, पंचकोशसे विवेक करके इस कूटस्थ साक्षीके स्वरूपका विवेक करें। जिसको व्यष्टिमें कूटस्थ बोलते हैं, उसको समष्टिमें अधिष्ठान बोलते हैं और जिसको व्यष्टिमें द्रष्टा बोलते हैं, उसीको समष्टिमें स्वयंप्रकाश ब्रह्म बोलते हैं। व्यष्टि और समष्टिका भेद काट देनेपर कूटस्थ अधिष्ठान और साक्षी स्वयंप्रकाश एक ही है और इस कूटस्थ अधिष्ठान स्वयं-प्रकाश साक्षीमें न उपाधि है और न उपाधिका विषय है।

अतः अकल्पित अनादि है अपना आत्मा, ब्रह्म, साक्षी, कूटस्थ, अधिष्ठान, निर्विकार, निर्विशेष, निर्धर्मक आत्मा और बाकी सब जितने हैं वे कल्पित अनादि हैं। अकल्पित अनादिसे किसीकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। कल्पित अनादिसे उत्पत्ति तो कल्पितकी ही होगी। कल्पितसे कल्पितकी उत्पत्ति हुई तो कोई वस्तु नहीं उत्पन्न हुई और—

आदिर्न विद्यते यस्य तस्य ह्यादिर्न विद्यते।

जिसका आदि नहीं है अर्थात् जो अनादि है उसका आदि अर्थात् जन्म भी नहीं है।

अब एक नया प्रश्न उठाते हैं। हमें सिद्ध करना है—अजात आत्मा, अजात ब्रह्म! 'अजात' शब्दका भी तीन अर्थ समझना चाहिए। एक तो स्वयं पैदा नहीं हुआ, इसलिए उसको अजात बोलते हैं; दूसरा, उससे अन्य कोई चीज पैदा नहीं हुई, इसलिए अजात बोलते हैं और तीसरे उसमें जाति नहीं है—सामान्य-मूलक एकत्व नहीं है। जैसे गो जाति एक है और गाय अनेक हैं, ऐसे व्यक्तियोंमें जो सामान्य रहता है, सादृश्य रहता है—इसके कारण जो जाति बनती है वह जाति-मूलक-एकत्व परब्रह्म परमात्मामें नहीं है। सबमें 'मैं-मैं' ऐसा जाति-रूप 'मैं' नहीं है। गाय हजार होती हैं और गो जाति एक होती है। उसमें आकृति सबकी एक सरीखी होती है, 'आकृतिग्रहणा जाति'। सब गो व्यक्तियोंमें जाति व्यापक है, जैसे सम्पूर्ण घट जातिमें घटत्व व्यापक है। घटत्वको ही जाति बोलते हैं। मनुष्यमें जो मनुष्यत्व है, उसीको जाति बोलते हैं। इसी प्रकार जगत्में जो जगत्त्व है उसको



ब्रह्म बोलते हैं—ऐसा नहीं है। ब्रह्मज्ञानसे जगत्का अत्यन्ताभाव या बाध हो जाता है। बाध माने प्रतीत होते हुए भी उसके मिथ्यात्वका निश्चय।

हमें अपने अर्थकी सिद्धिके लिए माने आत्माकी अद्वितीयताकी सिद्धिके लिए विचार करना है। परस्पर विरोधी मत आपसमें टकराते हैं और उससे वे मत परस्पर कट जाते हैं; परन्तु जो अधिष्ठान है, कूटस्थ है, साक्षी है उसकी सिद्धि हो जाती है। बौद्धोंमें बाह्यार्थवादी और विज्ञानवादी उन दोनोंमें परस्पर विरोध है। विज्ञानवादियोंका कहना है कि संसारमें जो भी वस्तु सिद्ध होती है वह विज्ञानसे ही सिद्ध होती है। हमारे वेदान्ती लोग भी कहते हैं कि बिना ज्ञानके तो कुछ सिद्ध नहीं होता। बिना ज्ञानके रात-दिन, पूरब-पश्चिम, घड़ा, कपड़ा, औरत, मर्द भी सिद्ध नहीं होगा। ज्ञानसे ही सब सिद्ध होता है। इसलिए ज्ञान एक अखण्ड मूल-तत्त्व है। जो ज्ञानसे सिद्ध होता है, वह बिना ज्ञानके मालूम ही नहीं पड़ेगा। इसलिए कोई पदार्थ तत्त्व नहीं है, वह मिथ्या है। है ही नहीं—ऐसे बोलते हैं। यही बात तो हमारे विज्ञानवादी बौद्ध बड़े जोर-शोरसे सिद्ध करते हैं कि विज्ञानके अतिरिक्त अर्थका कोई अस्तित्व ही नहीं है। असलमें मालूम पड़नेसे ही वस्तुकी सिद्धि होती है। अब इसपर जो आक्षेप है, उसपर विचार करो—

**प्रज्ञप्तेः सनिमित्तत्वमन्यथा द्वयनाशतः ।**

देखो, तुम्हारा जो ज्ञान है उससे सब सिद्ध होता है, यह तो हमने माना, लेकिन सबके बिना ज्ञानमें जो वैचित्र्य है उसकी सिद्धि नहीं होती। कैसे? ज्ञानसे ही मालूम पड़ता है कि इसने हमारी तारीफ की और इसने हमारी निन्दा की। यदि बात न होती तो ज्ञानमें दो प्रकार कहाँसे होता? राग-रागिनियोंकी स्वर-लहरीमें भेद न होता, तो कैसे मालूम पड़ता कि गान्धारसे विचित्र है निषाद और निषादसे विचित्र है भैरव? यह सुनकर कैसे मालूम पड़ता, यदि उनमें भेद न होता? इसने डंडा मारा और उसने दवा लगायी, यह कैसे मालूम पड़ता है? क्या दवा और डंडाके बगैर ही ज्ञानमें वैचित्र्य आ जाता है? ज्ञानमें यह मालूम पड़ता है कि यह नीला है, यह पीला है। तो यह क्या ज्ञान ही मालूम पड़ता है? यदि कहो कि ज्ञान ही मालूम पड़ता है तो इसमें अव्यवस्था होनी चाहिए। सब समय सब मालूम पड़ना चाहिए, लेकिन जब नीला मालूम पड़ता है तब पीला नहीं, जब पीला मालूम पड़ता है तब लाल नहीं। ये इसलिए मालूम पड़ते हैं कि बाहरी वस्तुका अस्तित्व है जिसके कारण ज्ञानमें आकार बनता है। खट्टा-मीठा कैसे मालूम पड़ता है? मिर्चको देखकर ज्ञान तीता हो जाता है और शक्करको देखकर ज्ञान मीठा हो

जाता है, नीबूको देखकर ज्ञान खट्टा हो जाता है। अगर ज्ञान स्वयं ही अनेक रूप धारण करता हो तब तो ज्ञानमें यह जो नियमन है कि अमुक चीजको देखकर अमुक प्रकारका ज्ञान और अमुक चीजको छूकर अमुक प्रकारका ज्ञान—यह ज्ञानमें भेद नहीं होना चाहिए, यदि बाहरकी वस्तु नहीं है तो। नियत वस्तुसे नियत प्रकारक ज्ञान होता है। इसलिए यदि यह तुम कहते हो कि संसारमें सम्पूर्ण वस्तुओंकी उपलब्धि केवल ज्ञानसे होती है तो ज्ञानमें जो विचित्रताका दर्शन है वह वस्तु-वैचित्र्यसे होता है, वाह्यार्थसे होता है। बिना बाहरी निमित्त हुए ज्ञानमें विचित्रता कैसे आवेगी?

‘प्रज्ञप्ते सनिमित्तत्वं’—यह जो भिन्न-भिन्न प्रकारका ज्ञान होता है उसमें भिन्न-भिन्न प्रकारका निमित्त विद्यमान है, इसलिए बाहरी दुनिया सच्ची है, अन्यथा ‘द्वयनाशतः’—नहीं तो ज्ञान दो प्रकारका होता ही नहीं। पदार्थको सत्य माननेवाला ऐसा बतलाता है। जैसे ज्ञानके अधीन वाह्यार्थकी उपलब्धि है, वैसे ही वाह्यार्थके अधीन ज्ञानमें प्रकार-भेद है।

‘संक्लेशस्योपलब्धेश्च’—यदि ज्ञान बिलकुल स्वतन्त्र है और यदि यही मान लें कि वही सर्वरूप हो जाता है, माने ज्ञान ही मन है, ज्ञान ही नाक है और ज्ञान ही दुर्गन्ध, सुगन्ध है—तब प्रश्न यह हुआ कि आखिर क्लेश क्यों होता है? ज्ञान अपनेको ही पीड़ित करनेके लिए दुःख क्यों बनाता है? एक ओर चाह रहे हैं कि हमको दुःख न हो और एक ओर दुःख बनता जा रहा है। दुःखसे किसीको प्रेम नहीं है; परन्तु दुःख आता है। यदि ज्ञानको दुःखाकार बनानेवाला कोई पदार्थ बाहर न होता तो ज्ञान दुःखाकार क्यों बनता? इससे यह सिद्ध होता है कि जैसे ज्ञान वस्तु है, वैसे ही ज्ञानके सामने ज्ञानको अनेक प्रकारका बनानेवाली वाह्य वस्तु भी है। यदि ज्ञानसे वस्तुकी सिद्धि होती है तो वस्तुके भेदसे ज्ञानमें भेदकी सिद्धि भी होती है। इसलिए द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद ही मानना बढ़िया है। मार्क्सवाद ही श्रेयस्कर है, चार्वाकवाद ही श्रेयस्कर है। हम कभी जलनेका दुःख अनुभव करें, यह ज्ञानकी इच्छा है। यदि ज्ञान स्वतन्त्र है, तो वह ज्ञान दाहाकार बना है कि दाहके सम्बन्धसे ज्ञानमें दुःखाकारता आयी है। तो झटपट यह बात मान लेना कि सब ज्ञानसे ही सिद्ध होता है, सब ज्ञान ही है और बाहर कोई वस्तु नहीं है—यह बात बिलकुल गलत दीखती है। यह पूर्वपक्ष हुआ विज्ञानवादीकी दृष्टिसे।

अब इसका उत्तर देनेके लिए अगला श्लोक प्रारम्भ करते हैं।

‘प्रज्ञप्तेः सनिमित्तत्वं’—यह वेदान्तियोंका पक्ष नहीं है, वाह्यार्थ का अस्तित्व



है—यह भी वेदान्त-पक्ष नहीं है। आभासवादी प्रक्रियामें तीन प्रकारकी सत्ता मानते हैं—व्यावहारिक सत्ता, प्रातिभासिक सत्ता और पारमार्थिक सत्ता। व्यावहारिक सत्ताका अभ्युपगम करके भी वेदान्ती लोग अपने तत्त्वका निरूपण करते हैं और दृष्टि-सृष्टिवादमें बाह्यार्थ-सत्ताका अपलाप करके भी, उसका निषेध करके भी अपने सिद्धान्तको सिद्ध करते हैं। वेदान्तियोंकी दोनों प्रक्रियाएँ हैं—बाह्यार्थको मान करके भी अज-अद्वय आत्मवाद सिद्ध होता है और बाह्यार्थको निषेध करके केवल दृष्टि ही मानकर भी वेदान्तकी सिद्धि होती है। परन्तु सबके ज्ञानमें जो वैचित्र्य देखनेमें आता है। इस वैचित्र्यकी युक्ति देकर जो तुमने यह सिद्ध किया कि ज्ञानके सिवाय बाह्यार्थ—बाहरी वस्तुएँ हैं, सो ठीक है। लेकिन, यह तो हुई तुम्हारी युक्ति, अब अनुभवकी बात सुनो—

निमित्तस्यानिमित्तत्वमिष्यते भूतदर्शनात्।

जिनको तुम ज्ञानमें अनेकाकार होनेका निमित्त बतलाते हो, वह वस्तुतः सब-के-सब निमित्त नहीं हैं। वे क्यों निमित्त नहीं हैं? कि 'भूतदर्शनात्'। उनमें यथार्थता क्या है? घड़ेकी यथार्थताकी छानबीन करते हैं तो माटीके सिवाय कुछ नहीं और माटीकी यथार्थताका अनुसन्धान करते हैं, तो जल, अग्नि, वायु और आकाशके सिवाय कुछ नहीं और आकाशकी यथार्थताका अनुसन्धान करते हैं तो मनके सिवाय कुछ नहीं। मनकी यथार्थताका अनुसन्धान करते हैं तो ज्ञानके सिवाय कुछ नहीं—'भूतदर्शनात्' पुनः कपड़ेका जब अनुसन्धान करते हैं तो सूतके सिवाय कुछ नहीं। सूतका जब अनुसन्धान करते हैं तो रेशेके सिवाय कुछ नहीं और रेशेका अनुसन्धान करते हैं तो माटीके सिवाय कुछ नहीं। यह हमारा दर्शन तत्त्वानुसन्धित दर्शन है। यह केवल आपातदर्शी वस्तुको देखकर और उसको ज्यों-का-त्यों मान बैठना—ऐसा दर्शन नहीं है। यद्यपि विज्ञाताके सामने विज्ञेय होता है। 'जानाति'—धातु सकर्मक है। 'किं जानाति? घटं जानाति, ब्राह्मणं जानाति।' लेकिन 'स्फुरति' जो है वह अकर्मक ही है। अब यह विचार करना है कि 'भूत' क्या है? यथार्थ वस्तु क्या है? अनुसन्धान करेंगे कि ज्ञानके सिवाय अर्थ नहीं है। वृत्ति-रूप ज्ञान या चित्त-रूप ज्ञान—यह बिना अर्थके नहीं है। अर्थाकार ग्रहण करें तभी तो मालूम पड़ेगा। बिना अर्थके वृत्ति नहीं है और बिना वृत्तिके अर्थ नहीं है, लेकिन जो अधिष्ठान-स्वरूप चेतन है उसमें वृत्ति और अर्थ दोनों रज्जुमें सर्पकी तरह है। वृत्तिका नाम ज्ञान नहीं है और अर्थका नाम सत् नहीं है। शब्दमें अनेकता है, रूपमें अनेकता है, स्पर्शमें अनेकता है, रसमें अनेकता है, गन्धमें

अनेकता है—उस अनेकताका नाम तो अर्थ नहीं है, वस्तु नहीं है। इनके कारण जो विचित्र-विचित्र वृत्तियाँ होती हैं उन वृत्तियोंका नाम ज्ञान नहीं है। अर्थ तो वह है जो सन्मात्र है और ज्ञान तो वह है जो चिन्मात्र है और चिन्मात्र और सन्मात्र दोनों दो वस्तु नहीं, बिल्कुल एक है। सन्मात्र ज्ञानका विषय नहीं है और ज्ञान सन्मात्रसे उत्पन्न नहीं है। इसलिए न तो विज्ञानमें क्षणिकता है और न तो वाह्यार्थमें निमित्तता है। जिस ज्ञानका हम वर्णन करते हैं यह क्षणिक ज्ञान नहीं है कि जो वस्तु-भेदसे अलग-अलग होता जाये। जिसको तुम वस्तु कहते हो वह अपने अत्यन्ताभावके अधिष्ठानमें कल्पित है। दरअसल जो वस्तु है वह तो प्रत्यक्-चैतन्याभिन्न-ब्रह्म है और इसमें वृत्ति और अर्थके जो भेद हैं, वे सारे-के-सारे अध्यस्त हैं। विज्ञानवादीने वाह्यार्थवादीका वैभाषिकका खण्डन कर दिया। और वैभाषिकने विज्ञानवादीका खण्डन कर दिया। अब शेष क्या बचा यही—ब्रह्माभिन्न प्रत्यक् चैतन्य, प्रत्यक्-चैतन्याभिन्न-ब्रह्म ही है।

**आत्माका वास्तविक स्वभाव क्या है ?**

जरामरणनिर्मुक्ताः सर्वे धर्माः स्वभावतः ।

जरामरणमिच्छन्तश्च्यवन्ते तन्मनीषया ॥

‘सभी आत्मा स्वभावसे जरामरणनिर्मुक्त अर्थात् निर्विकार है। अपनेमें जरामरणकी इच्छा=कल्पना-सी करके विकारोंके साथ तादात्म्यापन्न होकर स्वभावसे च्युत जान पड़ते हैं, वस्तुतः वैसे होते नहीं हैं।’

अजन्मामें जन्ममरणकी कल्पना ही अन्यथाभावकी कल्पना है। जिसका जन्म नहीं है उसकी मृत्यु भी नहीं है। असत्का भाव अर्थात् जन्म नहीं है। सत्का अभाव अर्थात् मृत्यु नहीं है। जिसका जन्म नहीं है उसीकी मृत्यु नहीं है और जिसकी मृत्यु नहीं है उसीका जन्म नहीं है। तात्पर्य यह कि सत्का जन्ममरण नहीं है और असत्का भी जन्ममरण नहीं है। आत्मा और शून्य दोनों ही जन्ममरणसे विनिर्मुक्त हैं। वेदान्ती आत्माका निरूपण करते हैं और बौद्ध शून्यका। जन्मवादी परस्परके खण्डनसे ही खण्डित हैं। तत्त्वज्ञ दोनों का ही अर्थात् जन्ममरणका अन्त=सिद्धान्त स्वप्रकाश अधिष्ठान प्रत्यक् चैतन्याभिन्न ब्रह्मका साक्षात्कार करते हैं (गीता)। जरामरण सभी विकारोंके उपलक्षण हैं। आत्मामें कोई विकार नहीं है। मंगलश्लोकमें उन्हें आकाशवत् कहा गया है। वे अमृत अभय ब्रह्म हैं—यही उनका स्वभाव है।

जरामरणकी इच्छा क्या है ? इच्छाके समान इच्छा है। रज्जुमें सर्पके समान



आत्मामें विकारोंकी कल्पना है। उन्हीं जरामरणादि विकारोंका चिन्तन करते-करते मिथ्या कल्पनाओंके साथ सत्य आत्मा तन्मय हो जाता है, उनसे मिल जाता है। तब अपनी सत्यता उनमें संचारित हो जाती है और वे सत्य भासने लगते हैं। अपने स्वरूपका ध्यान टूट गया। ज्ञान लुप्त-सा हो गया। अपनेको विकारी मान बैठा। वह अपने स्वरूपसे च्युत हुआ नहीं, ज्यों-का-त्यों है, परन्तु तद्भाव-भावित होकर च्युत-सा हो गया। अजन्मा रहता हुआ ही मायावश अविद्यानिमित्तक संसारका अनुभव करने लगा। अविद्यानिवृत्ति-पर्यन्त जरामरणकी प्राप्ति होती रहती है। (मुण्डक 1.2.3)। अविद्याके अन्दर व्यवहार कर रहे हैं (मुण्डक 1.2.8)। 'तद्भावभावितः' (गीता 8. 6)।

आइये, इसके अन्तर्देशमें प्रवेश करें। सुषुप्ति-प्रलय आदि स्थितियोंमें देश, काल प्राज्ञके साथ एकीभूत हो जाते हैं। स्पष्ट है कि कालकृत जन्ममरण और देशकृत गमनागमन आत्माको प्रभावित नहीं कर सकते। स्वरूपतः प्राज्ञ निरवयव है, सम है, अज है। वह देश, कालमें अवतीर्ण होकर किसी भी प्रकार पारमार्थिक कारण नहीं बन सकता। जाग्रत् अवस्थामें भी जबकि सारे व्यवहार हो रहे हैं वह अपने स्वरूपसे अच्युत ही है। देशकालादिका साक्षी एवं एकरस चैतन्य होनेके कारण अवस्थान्तरित होकर वह किसीका कारण नहीं बन सकता। कार्यकारण-भावशून्य आत्माका अज, अजर, अमर स्वभाव सर्वथा अव्याहत है। यदि आत्माका ऐसा ब्रह्मस्वभाव न माना जाय तो सद्वादी एवं असद्वादी दोनोंकी युक्तियोंका परस्पर खण्डन हो ही नहीं सकता। इससे सिद्ध है कि आत्मस्वभाव विपर्ययरहित है। यहाँ तर्क-युक्तिके द्वारा श्रुतिसिद्ध सिद्धान्तका समर्थन मात्र ही विवक्षित है, केवल तर्क-युक्तिकी ही प्रामाणिकता नहीं है।

**कारण-कार्यका परस्पर सम्बन्ध क्या है?**

कारणं यस्य वै कार्यं कारणं तस्य जायते।

जायमानं कथमजं भिन्नं नित्यं कथं च तत्॥

जिनके मतमें कारण ही कार्य है, उनके मतमें कारण ही कार्याकार परिणामको प्राप्त होकर उत्पन्न होता है। जो उत्पन्न होता है वह अज कैसे? यदि वह घटादिके समान फूटता है या अनेक गुणोंका समूह है तो भला वह नित्य कैसे हो सकता है?

जन्मवादमें चाहे वह सत्से हो या असत्से, स्वभावका अन्यथाभाव मानना

अनिवार्य है। यही अजातको सिद्ध करनेकी मुख्य युक्ति है। यहाँ युक्तिका निर्देशमात्र है, जातवादियोंके साथ विवाद नहीं। अच्छा, अब एकबार कार्य-कारणके सम्बन्धका भी विचार करें।

सांख्य सत्कार्यवादी हैं। वे उत्पत्तिके पूर्व भी कार्यका सत्त्व सिद्ध करते हैं। उनका कहना है कि असत् किसीका निर्माण नहीं कर सकता। भिन्न-भिन्न कार्य नियमपूर्वक भिन्न-भिन्न उपादानसे ही स्वरूप-लाभ करते हैं। सबसे सबकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। शक्त कारण ही अपनी शक्तिके अनुरूप कार्य करता है अथवा समर्थ कुलालादि निर्माण योग्य घटादिकी रचना करते हैं। कार्यमें कारणका स्वभाव ही अनुगत रहता है। इन सब हेतुओंसे यह सिद्ध होता है कि कार्य अपनी उत्पत्तिके पूर्व भी सद् रूपमें विद्यमान रहता है।

इसपर वैशेषिकोंका यह आक्षेप है—जब सत्कार्यवादियोंके मतमें मृत्तिकाके समान उपादानप्रधान ही कार्यके रूपमें परिणत होता है तो प्रश्न यह है कि जो जायमान है अर्थात् महत्, अहंकार, पंचतन्मात्रा आदिके रूपमें अवस्थान्तरित होता है वह अज कैसे? एक ही वस्तु अज और जायमान नहीं हो सकती।

सांख्यवादी इसका उत्तर देते हैं कि प्रधान अर्थात् प्रकृति किसी दूसरे कारणसे उत्पन्न नहीं होता, इसलिए हम उसे अज कहते हैं। अज कहनेका यह कारण नहीं है कि प्रकृतिसे कोई कार्य उत्पन्न नहीं होता। अतः वैशेषिकका आक्षेप निराधार है। साथ ही, 'अजामेकां' (श्वे० 4.5) यह श्रुति भी त्रिगुणमयी प्रकृतिको अजा कहती है।

पहले हम श्रुतिकी चर्चा करते हैं। वह सांख्यसम्मत स्वतन्त्र प्रकृतिकी बोधक नहीं है, क्योंकि 'ज्योतिरुपक्रम तु०' (ब्र० सू० 1.4.9) एवं 'कल्पनोपदेशाच्च०' (ब्र० सू० 1.4.10) इन दोनों सूत्रोंके द्वारा यह व्यवस्था की गयी है कि तेज, अप् और अन्नरूपा जो प्रकृति है वही लोहित (लाल), शुक्ल (श्वेत), कृष्ण (काली), त्रिवर्णा अजा है। अजा शब्द छागी (बकरी) का वाचक है। उसके बच्चे भी बहुत होते हैं उसी जैसे। ऐसी प्रकृति परमेश्वरसे उत्पन्न होती है—

1. असदकरणादुपादानग्रहणात्

सर्वसंभवाभावात्।

शक्तस्य शक्यकरणात् कारणाभावाच्च सत् कार्यम्॥

(सां० का० 9)



‘तस्मादव्यक्तमुत्पन्नम्० (मो० ध० 334.31) और अव्यक्तं पुरुषे ब्रह्मन् निर्गुणे संप्रलीयत’ (मो० ध० 338.31) श्रौत प्रकृतिका यही स्वरूप है। वह परमेश्वरके अधीन है। निरीश्वरवादी सांख्योंके द्वारा कल्पित श्रुति-विरुद्ध प्रकृतिका उसके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है।

फिर तो, वैशेषिकोंका यह आक्षेप ठीक ही रहा न! कि एक ही वस्तु अज और जायमान नहीं हो सकती। एक दूसरी बात है कि वे प्रकृतिको नित्य कहते हैं। अब प्रश्न यह है कि प्रकृति एक देशमें विदीर्ण भी होती है अर्थात् फटकर महदादि रूप भी बनती है और दूसरे रूपमें नित्य भी रहती है, यह कैसे? जो सावयव वस्तु किसी भी अंशमें टूटती-फूटती है जैसे घड़ा; वह लोकव्यवहारमें नित्य नहीं देखा जाता।

यदि ऐसा कहा जाय कि सत्त्वादि गुणरूप अवयवोंसे प्रकृतिको सावयव ही माना जाय तो क्या हानि है? सत्त्वादि नित्य हैं। उनकी साम्यावस्था ही प्रकृति है। अवयव-विन्यासकी विचित्रतासे ही महदादिका जन्म होता है; परन्तु यह कथन भी युक्तियुक्त नहीं है; क्योंकि सत्त्वादि नित्य भी हों और महदादिके रूपमें उनका जन्म भी हो—यह युक्ति विरुद्ध है। वे अलग-अलग भी हों, जुड़ते-बिछुड़ते भी हों, बदलते भी हों और साथ ही अज तथा नित्य हों, यह कैसे सम्भव है? यदि सत्त्वादिको निरवयव मान लेते हैं तो उनमें परिणामी और अपरिणामी दो अंश स्वीकार नहीं किये जा सकते। जिस अंशमें नित्य हैं, उसमें अज हैं और जिस अंशमें परिणामी हैं, उसमें जायमान हैं, यह उक्ति-युक्ति सर्वथा उपहासास्पद है। निःसार एवं निरर्थक कल्पनासे कोई लाभ नहीं है। अतः सांख्यवादियोंपर वैशेषिकोंका यह आक्षेप ज्यों-का-त्यों स्थिर है कि जायमान अज नहीं और फूटनेवाला नित्य नहीं।

**कार्य-कारणका अभेद असंगत है**

कारणाद्यनन्यत्वमतः कार्यमजं यदि।

जायमानाद्धि वै कार्यात् कारणं ते कथं ध्रुवम्॥

‘यदि अज कारणसे कार्य अनन्य हो तो कार्यको भी अज कहना पड़ेगा। धन्य है! कार्य भी हो और अज भी हो, यह कैसे सम्भव है। यदि जायमान कार्यसे कारण अभिन्न है तो कारणकी नित्यता कैसे सिद्ध होगी!’

इस श्लोकमें पूर्वोक्त अर्थका विवरण ही है। यदि प्रकृतिरूप कारण ही महत्तत्त्वादिके रूपमें परिणत होता है तो प्रकृतिको अज और नित्य मानना असंगत

हैं। अच्छा, यदि कार्य कारण ही है तो उसे भी अज होना चाहिए। यह भी असंगत है। भाष्यमें विप्रतिषिद्ध शब्दका प्रयोग होता है। इसका अभिप्राय है कि ऐसा अपसिद्धान्त किसी भी बुद्धिमानको स्वीकार नहीं है। कार्य पैदा भी होता जा रहा हो और अजन्मा हो, क्या ठीक है? कार्यसे कारण अनन्य है तो कारणकी अनन्यता सुनिश्चित है। एक अंशका शेष रहना भी युक्तिविरुद्ध है। आचार्य शंकरका कहना है कि कुक्कुटी (मुर्गी)का एक भाग पकाया जा रहा हो और दूसरा भाग अण्डे दे रहा हो, यह सम्भव नहीं है। अतः प्रकृतिका एक देश नित्य है और दूसरे देशमें कार्य होता है, यह विचार सहा नहीं है।

यह ध्यान देने योग्य है। वेदान्ती भी सत्कार्यवादी हैं। 'सदेव सोम्य इदमग्रे आसीत्' (छां० 6.2.1) 'तदैक्षत बहुस्याम्' (छां० 6.2.3) कारण ब्रह्म ही, सत् ही कार्याकार होता है। 'तदात्मानं स्वयमकुरुत' (तै० 2.7) कारण ब्रह्म ही विशेष आकारको प्राप्त होता है। वे कार्यको कारणसे अनन्य भी स्वीकार करते हैं। 'एतदात्म्यमिदं सर्वम्' (छां० 6.8.7) 'तदनन्यत्वम्' (ब्रह्मसूत्र 2.1.14) अभिप्राय यह है कि यह सब ब्रह्मात्मक ही है। कार्य कारणसे अभिन्न है, इत्यादि। परन्तु इस मतमें वैशेषिकोक्त दोषकी प्राप्ति नहीं है। ऐसा क्यों है? इसका कारण यह है कि जितने व्याकृत (व्यक्त) एवं अव्याकृत (अव्यक्त) भेद हैं वे सब मायाकृत हैं। सभी नामरूप अविद्या कल्पित हैं। अज्ञान-दशामें उन्हें असत् नहीं कहा जा सकता और ज्ञानदशामें उन्हें सत् नहीं कहा जा सकता। अतः अनिर्वचनीय हैं। इन अविद्या दशामें कल्पित मायिक भेदोंसे ही परिणाम आदि सारे व्यवहारोंका निर्वाह होता है। अविद्या दशामें ही उसके लिए सत् शब्दका भी प्रयोग होता है। अविद्या दशामें ही उसके लिए सत् शब्दका भी प्रयोग होता है। परमार्थ-रूपसे तो यह व्यवहारातीत, अज, अद्वय ही है। माण्डूक्योपनिषद्में ही उसके लिए 'अव्यवहार्यम्' शब्दका प्रयोग है। कारिकाकार यह बात पहले ही कह चुके हैं। 'सतो हि मायया जन्म युज्यते न तु तत्त्वतः' (3.27)। सत्का तात्त्विक जन्म नहीं हो सकता, केवल मायाकी दृष्टिसे ही वह संगत होता है।

कुछ ऐसे भी तथाकथित वेदान्ती हैं जो परमार्थतः ब्रह्ममें परिणाम मानते हैं। वैशेषिकोंके द्वारा किये गये आक्षेप उनके मतपर वज्रलेप होकर लगते हैं। वे किसी भी प्रकार उनके आक्षेपोंका समाधान नहीं कर सकते। अतः सद्वस्तुमें मायासे परिणाम मानना ही युक्तियुक्त है, क्योंकि जो मायासे होता है वह वस्तुतः नहीं होता। इधर भी ध्यान दीजिये कि वेदान्तके किसी भी सम्प्रदायमें कारणको कार्यसे



अनन्य नहीं माना जाता। कारणसे वास्तविक कार्य माननेपर उसमें अनित्यता आती है, अतएव अद्वैतवादकी माया सबका समाधान कर देती है।

कारणको जात या अजात मानना ठीक नहीं है :

अजाद्वै जायते यस्य दृष्टान्तस्तस्य नास्ति वै।

जाताच्च जायमानस्य न व्यवस्था प्रसज्यते॥

‘जिनके मतमें अज अर्थात् अनुत्पन्न वस्तुसे कार्यका जन्म होता है उनके पक्षमें कोई दृष्टान्त नहीं है। अर्थात् अजसे जन्म मानना अयुक्त है। जो लोग जात पदार्थसे ही जन्म मानते हैं उनके मतमें कारण भी अपने पूर्व जातसे जात है और वह किसी और से जात है, इस प्रकार अनवस्था दोषकी प्राप्ति होती है।’

पहले पक्षमें दृष्टान्त न होनेसे कारणकी अजताका अनुमान नहीं हो सकेगा। अतः अजसे-किसीकी उत्पत्ति सिद्ध नहीं होगी। दूसरे पक्षमें अर्थात् जातको कारण माननेपर प्रत्येक जातका कारण अपेक्षित होगा और वह जात ही होगा। तो कारणताकी विश्राम-भूमि न मिलनेके कारण कोई व्यवस्था ही न हो सकेगी। यदि इस व्यवस्थाकी सिद्धिके लिए अर्थात् अनवस्था दोषको दूर करनेके लिए अजको कारण मानें तो ऐसा क्या बन्धन है कि कार्य-कारण-भाव माना ही जाय! अनुपपत्तिके कारण उसका परित्याग ही क्यों न कर दिया जाय!

असत्कार्यवादी वैशेषिकादि असत्से कार्यकी उत्पत्ति मानते हैं। उनका पक्ष तो और भी गया बीता है। इसपर भी एक गम्भीर दृष्टि डालिये कि वैशेषिकोंके मतमें कार्य सावयव होता है। वह अपनेमें अनुगत संयोगसहकृत द्रव्योंसे बनता है। इसको आरम्भवाद कहते हैं। जो आरम्भक द्रव्य पहले होते हैं वही कार्यके रूपमें बनते हैं। तो प्रकारान्तरसे उनका सिद्धान्त भी यही हुआ कि द्रव्योंके सद्व्यवस्था परमाणुओंके संघटनसे ही कार्यकी उत्पत्ति होती है। फिर भी उत्पत्तिके पूर्व कार्य नहीं था, उत्पन्न हुआ, उसका कारण समवाय सम्बन्धसे सम्बद्ध रहता है और अपने समवायी कारणमें ही कार्य रहता है, इत्यादि उनकी बहुत-सी ऐसी कल्पनाएँ हैं कि उनमें कोई सामञ्जस्य नहीं है। शशशृङ्गके समान असद्वस्तुकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। वह किसीका कारण नहीं हो सकता। उसका किसीसे सम्बन्ध भी शक्य नहीं है, उसके आश्रित कोई कैसे हो सकता है? अतः यह सब बुद्धिमान् पुरुषको स्वीकार नहीं हो सकता। उन्हें भी अनिच्छासे यह स्वीकार करना पड़ेगा कि भिन्न-भिन्न परमाणु ही द्व्यणु, त्रसरेणु आदिका रूप धारण करते हैं।

इस प्रकार सत्पक्षी एवं असत्पक्षी दर्शन अपनेसे भिन्न पक्षका प्रतिपेक्ष

करके अजातको ही सिद्ध करते हैं। आचार्यने प्रारम्भमें ही जैसी प्रतिज्ञा की थी, उसका उपपादन किया।

**कर्म एवं शरीर परस्पर कार्य-कारण नहीं हो सकते :**

हेतोरादिः फलं येषामादिहेतुः फलस्य च।

हेतोः फलस्य चानादिः कथं तैरुपवर्ण्यते॥

जो धर्माधर्मादि कर्मका कारण, फलरूप देहादि संघातको मानते हैं और फलरूप देहादिका कारण धर्मधर्मादिरूप कर्मको मानते हैं, वे कार्य और कारण दोनोंको ही एक दूसरेका कार्य बतलाकर दोनोंकी ही अनादिता भङ्ग कर देते हैं। उनके मतमें कार्य-कारण दोनों ही सादि हैं; नित्य कूटस्थ आत्माके साथ उनका कोई सम्बन्ध नहीं जुड़ता।

पहले यह सिद्ध किया गया कि सत् या असत्को कारण माननेपर उनके स्वभावका विपर्यय मानना पड़ेगा। साथ ही, कार्य-कारणका सम्बन्ध भी निरूपित नहीं हो सकेगा। अतः जन्मवादियोंने वस्तुतः अजन्माको ही सिद्ध किया है। अब यह प्रसङ्ग प्रारम्भ करते हैं कि क्या कारण है और क्या कार्य? इसका निश्चय भी न किया जा सकनेके कारण अजात ही सिद्ध होता है। ब्रह्मका संसारीरूपसे परिणाम स्वीकार करनेपर उसके स्वभावका विपर्यासरूप दोष प्राप्त होता है। यह तो केवल दोष दिखाना हुआ। इससे सिद्ध क्या हुआ? अच्छा तो, यह लीजिये, परमार्थतः ब्रह्म संसारी ही नहीं है; क्योंकि वह कार्य-कारणरूप है ही नहीं। अतः परिणामवादका कोई प्रसङ्ग नहीं है।

श्रुतिने कहा है—‘सब आत्मा है। कौन, किसके द्वारा किसको देखे? ‘नेति-नेति’ इस निषेधकी परमावधि आत्मा है’ (बृ० 4.5.15)। भाव यह है कि परमार्थतः आत्मामें क्रिया, कारक, फलरूप द्वैतका अभाव है। ऐसी स्थितिमें कर्म और शरीरका कार्यकारण भाव उसके साथ कैसे सङ्गत हो सकता है ‘हेतु’ शब्दका अर्थ है—धर्माधर्म। उससे देहादिरूप फलकी उत्पत्ति होती है; अर्थात् शरीरका आदि है धर्माधर्म। धर्माधर्मका आदि क्या है? शरीर। दोनों सादि हुए। एक ही वस्तुको एकबार कारण, दूसरी बार कार्य और एक बार कार्य तो दूसरी बार कारण—ऐसा कहा जा रहा है। इस प्रकारके वचन परस्पर व्याहत अथवा पराहत कहे जाते हैं।

ध्यान दीजिए, आत्मा असङ्ग है। वह कार्य-कारण समूहरूप फल-शरीरसे युक्त नहीं हो सकता। आत्माके द्वारा अनुष्ठित धर्माधर्मसे उसे शरीर मिला है, यह



कहना भी असङ्गत है; क्योंकि पहले धर्माधर्म किया हो तब शरीर मिलेगा। परन्तु यदि शरीर ही न हो तो धर्माधर्म कहाँ-से होंगे? अशरीर आत्माने धर्माधर्म कैसे किया? पहले शरीर ही सिद्ध नहीं हुआ तो धर्माधर्म कहाँसे? और धर्माधर्म ही सिद्ध नहीं हुआ तो शरीर कहाँसे? आत्मामें दोनों ही असिद्ध हैं। असिद्धसे असिद्धकी सिद्धि नहीं की जा सकती। कर्म करनेके लिए शरीर और शरीरके लिए कर्मका होना—यह अन्योन्याश्रय दोषसे ग्रस्त है।

यह कर्मफलात्मक संसार अनादि है। अनादिमें परम्परासे कार्य-कारण भाव चलता रहता है। इस कल्पनाके उत्तरमें निवेदन है कि क्या कर्म और शरीर प्रत्येक पृथक्-पृथक् अनादि हैं या उनकी परस्पर कार्य-कारणता अनादि है या उनकी सन्तान-परम्परा अनादि है? गम्भीरतासे देखिये, वे स्वयं ही आदि-आदि बोल रहे हैं—हेतुका आदि फल, फलका आदि हेतु। प्रत्येककी अनादितापर वे ही कुठाराघात कर रहे हैं। यह आत्मा ही हेतुफलात्मक है—ऐसा कहना आत्माकी कूटस्थतापर प्रहार करना है। वह न धर्माधर्मादि द्वारा शरीरका कर्ता है और न फल द्वारा सम्बद्ध होकर भोक्ता। अतएव अजात ही सिद्ध है, जन्मके साथ उसका कोई सम्बन्ध नहीं।

हेतोरादिः फलं येषामादिर्हेतुः फलस्य च।

तथा जन्म भवेत्तेषां पुत्राज्जन्म पितुर्यथा॥

जिनके मतमें कारणका (कर्मका) आदि है फल (शरीर) और फलका (शरीरका) आदि है, कारण (कर्म) उनका कथन वैसे ही अमान्य है जैसे अपने पुत्रसे ही पिताका जन्म अमान्य है।

पूर्व श्लोकमें अनादिताका खण्डन हो गया। इस कारिकामें कार्य-कारण-भावका खण्डन है। शरीरसे कर्म, कर्मसे शरीर यह परस्पर कारणवाद सर्वथा विरुद्ध है। अतएव जो पहले तीन आक्षेप किये गये थे, उनमेंसे दूसरेका खण्डन इसके द्वारा किया गया।

संभवे हेतुफलयोरेषितव्यः क्रमस्त्वया।

युगपत्-संभवे यस्मादसम्बन्धी विषाणवत्॥

कार्य-कारणकी उत्पत्तिमें आपको क्रम स्वीकार करना पड़ेगा। कारण पहले होगा, फल तदनन्तर। यदि एक साथ दोनोंकी उत्पत्ति मानी जायगी तो कार्य-कारणरूपसे उसका सम्बन्ध सिद्ध नहीं हो सकता। जैसे एक साथ पैदा होनेवाले दो सींग या समानान्तर रेखा एक-दूसरेसे असम्बद्ध होती हैं।

कारण निश्चित रूपसे पूर्ववर्ती होता है और कार्य निश्चित रूपसे उत्तरवर्ती होता है। यदि दोनोंको परस्पर कार्य-कारण माना जायगा तो पूर्वोत्तर क्रमका लोप हो जायगा। क्रम स्वीकार करनेपर परस्पर कार्यता या परस्पर कारणता सिद्ध नहीं हो सकती। इस दृष्टान्तसे भी आत्माका अजात होना ही सिद्ध होता है।

फलादुत्पद्यमानः सन्न ते हेतुः प्रसिध्यति।

अप्रसिद्धः कथं हेतुः फलमुत्पादयिष्यति॥

यदि तुम्हारे मतमें कारणकी उत्पत्ति फलसे होगी तो उसकी कारणता ही सिद्ध नहीं हो सकेगी। असिद्ध कारणसे फलकी उत्पत्ति कैसे होगी?

कारण और फल अर्थात् कर्म और शरीर। इन दोनोंमें सम्बन्ध नहीं जुड़ेगा इसका उपपादन करते हैं। यदि फलसे अर्थात् शरीरसे कर्मरूप कारणकी उत्पत्ति मानेंगे तो जब अभी तक फलकी उत्पत्ति ही नहीं हुई है, शरीर है ही नहीं, शशविषाणके समान असत् हैं तब उससे कर्मरूप कारणकी उत्पत्ति कैसे हो सकेगी? और जब कारण ही उत्पन्न नहीं हुआ है, वही शश-विषाणके समान असत् है तब उससे फलकी उत्पत्ति होनेकी कौन-सी प्रक्रिया है? कहनेका अभिप्राय यह है कि कर्म और शरीर दोनों परस्पर सापेक्ष हैं। कर्मसे शरीर होता है और शरीरसे कर्म। इन दोनोंका दोनोंसे जन्म होना सर्वथा असंगत है। इनमें कौन पूर्वभावी है और कौन उत्तरभावी—यह विवेचन ही अनुपपन्न है। खरगोशकी सींगमें कौन पीछे कौन पहले? सिद्धसे सिद्धका सम्बन्ध होता है असिद्धसे असिद्धका सम्बन्ध नहीं होता। कर्म और शरीर दोनोंमें—से किसीका पूर्वोत्तर भाव सिद्ध नहीं है, इसलिए कार्यकारण भाव भी सिद्ध नहीं है।

यदि हेतोः फलात्सिद्धिः फलसिद्धिश्च हेतुतः।

कतरत् पूर्वनिष्पन्नं यस्य सिद्धिरपेक्षया॥

यदि फलसे हेतुकी सिद्धि होती है और हेतुसे फलकी सिद्धि होती है तो यह निश्चय करना पड़ेगा कि पूर्व सिद्ध कौन है जिसकी अपेक्षासे उत्तरकी सिद्धि होती है।

तात्पर्य यह है कि शरीर और कर्मका सम्बन्ध नहीं जुड़ता—यह तो कह दिया गया, क्योंकि दोनोंमें कार्य-कारण भावकी सिद्धि नहीं होती। परन्तु यदि परस्पर सिद्धिका आग्रह ही हो तो भी कर्म एवं शरीर दोनोंमें—से कौन-सा पूर्वसिद्ध है जिस पूर्वभावीकी अपेक्षा पश्चाद्भावीकी सिद्धि होती है? पूर्वभाव और पश्चाद्भावका भेद किये बिना कार्य-कारण भाव असिद्ध ही रहता है। जब तुम



पहले कर्म या शरीर—यह निर्णय नहीं कर सकते तो इनके कार्य-कारण भावकी कल्पना ही असङ्गत हो जाती है।

अशक्तिरपरिज्ञानं क्रमकोपोऽथवा पुनः।

एवं हि सर्वथा बुद्धैरजातिः परिदीपिता॥

यदि तुम पूर्वसिद्धिको बतलानेमें असमर्थ हो तो अज्ञानरूप दोषकी प्राप्ति होती है। यदि तुम्हारा यह कहना है कि इनमें-से कोई-न-कोई पूर्वसिद्ध है तो अवश्य; परन्तु उसका प्रतिपादन कोई नहीं कर सकता, तो तुमने ही जो कार्यकारणरूप क्रम बतलाया है, वह विरुद्ध हो जाता है। इस प्रकार पाण्डित्याभिमानियोंने एक-दूसरेपर दोषारोपण करके अजात-सिद्धान्तको ही प्रकाशित किया है।

पूर्वसिद्धका निरूपण करनेमें असमर्थता अज्ञान है। प्रश्न समझमें आगया; पर उत्तर समझमें नहीं आया। यह अविवेक, मूढ़ता अथवा अप्रतिभा नामक निग्रहस्थान है। यदि तुम्हारा यह कहना है कि यह कार्यकारण भाव यथार्थ होनेपर भी किसीके द्वारा निरूपणीय नहीं है तो तुमने फलसे हेतुकी और हेतुसे फलकी सिद्धिका परस्पर आनन्तर्य क्यों बतलाया? तुम्हारा बतलाया हुआ क्रम ही तुम्हारे पक्षके विरुद्ध पड़ गया। क्रमकी प्रतिज्ञा करो और पूर्वापर न बतला सको तो तुमने अपनी ही प्रतिज्ञाका विरोध कर दिया। वस्तुतः आपकी यह असमर्थता अथवा अज्ञान हमारे अजातसिद्धान्तका ही परिपोषक है।

बात यह है कि कोई देहमात्रको ही आत्मा मानते हैं तो दूसरे देहाकार परिणत भूतोंमें मद-शक्तिके समान विज्ञान और चेष्टाओंकी उत्पत्ति मानते हैं। किसी-किसीको यह बात सहन नहीं होती और वे कहते हैं कि जैसे जबतक शरीर तबतक रूप—इसी प्रकार जबतक शरीर तबतक विज्ञान—ऐसा देखनेमें नहीं आता। अतः शरीर और विज्ञानका कार्यकारण भाव भी सिद्ध नहीं है।

विज्ञानवादी बौद्धोंका कहना है कि विज्ञानसे अतिरिक्त बाह्य अर्थ नहीं है। विज्ञानके साथ उसका कोई सम्बन्ध भी नहीं है। विज्ञानसे अतिरिक्त आत्मा नामकी कोई वस्तु नहीं है, क्योंकि प्रमाण, प्रमेय, फलरूप सारे ही व्यवहार बुद्ध्यारूढ़ होकर अन्तःस्थ ही भासते हैं, बाहर कुछ है ही नहीं।

माध्यमिकोंका कहना है कि आत्मा नामका कोई सत् या असत् पदार्थ नहीं है, शून्यता ही परम तत्त्व है।

कर्ममीमांसकोंका कहना है कि आत्मा नामका एक सत् पदार्थ है। वह

क्षणिक है और न शून्य। यदि वह न हो तो इच्छा, स्मृति एवं प्रत्यभिज्ञानोंकी अनेकता ही सिद्ध नहीं हो सकती। वही कर्मानुसार देह छोड़कर लोकान्तरगमन भी करता है। उसीके लिए धर्मोपदेश भी है।

इस प्रकार परस्पर खण्डन-मण्डनके द्वारा केवल यही सिद्ध होता है कि आत्माका स्वरूप इन विभिन्न वादों एवं प्रतिवादोंसे विलक्षण अजात ब्रह्म स्वभाव ही है अतएव वे वादी-प्रतिवादी हमारे सिद्धान्तके ही पोषक हैं। अतः हम उनका ही अनुमोदन करते हैं।

**कार्य-कारण परम्पराको अनादि मानना अनुचित है :**

बीजाङ्कुराख्यो दृष्टान्तः सदा साध्यसमो हि सः।

न हि साध्यसमो हेतुः सिद्धौ साध्यस्य युज्यते॥

जो बीजाङ्कुरकी परम्पराका दृष्टान्त लोकप्रसिद्ध है वह सदा साध्यसम नामक दोषसे ग्रस्त है। साध्य वस्तुको सिद्ध करनेके लिए साध्यके समान ही हेतु दृष्टान्तका प्रयोग नहीं किया जाता।

पूर्वपक्षीका कहना है कि मैंने शरीर और कर्मका जो कार्य-कारण भाव कहा था उसके अभिप्रायका परित्याग करके केवल शब्दमात्रके आश्रयसे खण्डन करके मेरे साथ वाक्छल किया गया है। वक्ताके अभिप्रायसे भिन्न अर्थकी कल्पना करना वाक्छल है। हमारा अभिप्राय तो यह था कि जैसे बीजसे अङ्कुर और अङ्कुरसे बीज-इनमें परस्पर अनादि कालसे कार्य-कारण भावकी परम्परा चल रही है; इसी प्रकार कर्म और शरीरकी भी है। आपने उस अभिप्रायकी ओर ध्यान न देकर 'पुत्रसे पिताका जन्म' और 'दो सींगोंका परस्पर असम्बन्ध' आदि खण्डन किया है। हमारे अभिप्रायको समझकर उसका उत्तर दीजिये।

इस पूर्वपक्षका उत्तर यह है कि बीजाङ्कुर दृष्टान्त भी साध्यके समान ही है। अभी वह सिद्ध नहीं है, साधनीय है। पहले यह तो निश्चय कर लीजिये कि क्या बीज और अङ्कुरमें वास्तविक कार्य-कारण भाव है? जिस बीजका कार्य अङ्कुर होता है, वही बीज उसी अङ्कुरका कार्य नहीं होता। अलग-अलग बीज होते हैं और अलग-अलग अङ्कुर। प्रत्येक बीज सादि होता है और प्रत्येक अङ्कुर भी सादि होता है। उनमें-से न कोई अनादि है और न तो उनकी कोई अनादि परम्परा। क्या कोई परम्परा नामकी एक वस्तु है? बीजाङ्कुरसे अतिरिक्त परम्परा नामकी कौन-सी वस्तु है? उसकी वायु, विस्तार, भार अथवा तत्त्व क्या है? परम्परा अर्थात् वस्तुत्व शून्य शब्दमात्र एक विकल्प। अतः वह कल्पनामात्र है। अतएव



आपका खण्डन करनेके लिए वाक्छलका आश्रय नहीं लिया गया। कार्यकारणकी युगपत् उत्पत्ति या परस्पर उत्पत्ति युक्तियुक्त नहीं है। इस श्लोकमें 'हेतु' शब्दका अर्थ 'दृष्टान्त' है। यह दृष्टान्त भी असङ्गत है। बीजाङ्कुर-परम्परा हेतु नहीं हुआ करती। यह केवल दृष्टान्त है समझानेके लिए। जब बीज और अङ्कुर पृथक्-पृथक् ही अनादि सिद्ध नहीं किये जा सकते तो उनकी निरर्थक शब्दमात्र परम्परा अनादि कैसे हो सकती है? अतएव यह दृष्टान्त ठीक नहीं है।

अजातमें ही तात्पर्य है :

पूर्वापरापरिज्ञानमजाते:

परिदीपकम्।

जायमानाद्धि वै धर्मात् का पूर्वं न गृह्यते॥

पहले कौन, पीछे कौन? हेतु या फल? कर्म या शरीर? यह निश्चय न कर पाना अजातका ही बोधक है। यदि किसी धर्मकी उत्पत्ति होती है तो उसके पूर्ववर्ती कारणका ग्रहण क्यों नहीं होता? कार्यका ग्रहण होता है तो कारणका ग्रहण होना चाहिए। जन्य जनकका सम्बन्ध अविच्छिन्न है। नित्य सम्बन्धमें-से एकका ज्ञान होना और दूसरेका न होना—यह असङ्गत है।

इस सम्बन्धमें यह रहस्य समझने योग्य है। श्रुतिशास्त्रोंमें भी कर्म और शरीरके कार्य-कारण भावका वर्णन है। पुण्य कर्मसे पुण्य योनि और पाप कर्मसे पापयोनि। कर्म और विद्याके अनुसार स्थावर-जङ्गम योनियोंकी प्राप्ति भी श्रुत है। संसारकी अनादिता यथापूर्व कल्पनाके निरूपणसे सिद्ध होती है। व्यावहारिक दृष्टिसे इसका खण्डन करना उचित नहीं है तथापि यह अविद्याकालीन मायिक कार्य-कारण भावकी ही स्वीकृति है, इससे उसकी वास्तविकता सिद्ध नहीं होती।

परमार्थतः कार्य-कारण भाव श्रुति शास्त्रको स्वीकार नहीं है। 'यह आत्मा महान्, अज, अजर-अमर, अमृत ब्रह्म है' (बृ० 4. 4. 25) यहाँ आत्माको अज, अद्वय ब्रह्म ही कहा है। उसी मन्त्रमें कहा है कि जो अपने आपको ब्रह्म जान लेता है, वह अभय ब्रह्म हो जाता है। इसमें ज्ञानमात्रसे ब्रह्मत्व कहा गया है। यह बात आचार्यने अद्वैत प्रकरणमें अनेक बार कही है। कार्य-कारण भावको स्वप्नवत्, उपाय, माया आदिके नामसे कहा गया है। साथ ही नेति-नेतिके द्वारा निषेध भी प्राप्त होता है। इन प्रसंगोंमें कार्यकारण भावकी वास्तविकता निषेध है। परमार्थ आत्माका स्वरूप निरूपण करते हुए श्रुति कहती है कि किससे कौन देखे, किससे कौन सुनें, इत्यादि? वहाँ अन्य कारण, अन्य विषय और द्वैत वस्तुका सर्वथा निषेध मिलता है।

प्रश्न यह है कि यह परमार्थ और व्यवहारके दो विभाग क्यों? यदि दो विभाग हैं तो कार्य-कारण भावको ही परमार्थ क्यों न माना जाय? इसका उत्तर यह है कि जितने भी लौकिक या वैदिक व्यवहार होते हैं, वे सब जाग्रत अवस्थामें ही होते हैं। अतः इस अवस्थाको व्यावहारिक कहते हैं। इसकी प्रधानतासे जो भी निश्चय होते हैं, उन्हें भी व्यावहारिक ही कहा जाता है। परन्तु केवल एक अवस्थाकी दृष्टिसे परमार्थ-तत्त्वका पूर्ण निश्चय कर पाना शक्य नहीं है; क्योंकि उसका सम्बन्ध तो केवल ज्ञेयके एक अंशसे ही है। जो दृष्टि पक्षपातरहित एवं सभी अवस्थाओंपर एकरस पड़ती है, वही पारमार्थिक हो सकती है; क्योंकि उसमें अशेष ज्ञेयका समावेश हो जाता है। अवस्थात्रयके अतिरिक्त और कुछ ज्ञानका विषय नहीं है। उसका पूर्ण परीक्षण कर लेनेपर जो नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्त स्वभाव साक्षी शेष रह जाता है, वही अज, अद्वय परमार्थतत्त्व आत्मा है; यह आगम-प्रकरणमें ही बतलाया जा चुका है। दूसरे वैतथ्य प्रकरणमें स्वप्न और जाग्रतका साम्य सिद्ध करके मायिकत्वका उपपादन है। तीसरे अद्वैत प्रकरणमें मायिक उत्पत्ति और अजातिमें कोई विरोध नहीं है; यह श्रुति, युक्ति, अनुभवके द्वारा सिद्ध किया गया है। इस चतुर्थ प्रकरणका कहना यह है कि जो वादी-प्रतिवादी केवल जाग्रत अवस्थामें ही अपनी दृष्टिको प्रतिबद्ध करके कार्य-कारण भावको परमार्थ सत्य बतलाना चाहते हैं, उनके तर्क-वितर्क भी तात्पर्यतः अजातिको ही सिद्ध करते हैं; क्योंकि वे परस्पर एक-दूसरेका खण्डन कर देते हैं और किसी भी पदार्थको पूर्ववर्ती कारण या उत्तरवर्ती कार्य सिद्ध नहीं होने देते। अतः उनके वाद-विवादका पर्यवसान भी अजात, अद्वय, प्रत्यक्वैतन्याभिन्न ब्रह्ममें ही है।

**वास्तविक जन्मकी स्वीकृति तर्कविरुद्ध है :**

स्वतो वा परतो वापि न किञ्चिद्वस्तु जायते।

सदसत्सदसद्वापि न किञ्चिद्वस्तु जायते॥

किसी भी वस्तुकी उत्पत्ति स्वतः, परतः अथवा उभयतः नहीं हो सकती। कोई भी वस्तु सत्, असत् या सदसत्के रूपमें उत्पन्न नहीं हो सकती।

अभिप्राय यह है कि कार्यकी उत्पत्तिका कोई कारण नहीं है और कार्यका कोई स्वरूप भी नहीं है। पूर्वोक्त विकल्पोंके अतिरिक्त और कोई नवीन विकल्प शक्य नहीं है। विचार कीजिये :—

1. कोई भी वस्तु स्वतः उत्पन्न नहीं होती। उसका जो दृश्यमान स्वरूप है



वह अपने पूर्वसिद्ध स्वरूपसे ही प्रकट नहीं हुआ है। जैसे कोई घड़ा स्वयं उसी घड़ेसे पैदा नहीं होता।

2. दूसरेसे भी नहीं होता। अन्य पदार्थसे अन्य पदार्थकी उत्पत्ति नहीं होती। घड़ेसे कपड़ा उत्पन्न नहीं होता। एक कपड़ेसे दूसरा कपड़ा भी पैदा नहीं होता।

3. उभयतः उत्पत्ति भी नहीं होती। अर्थात् कोई भी वस्तु 'स्व' और 'पर' दोनोंसे निर्मित नहीं होती। क्योंकि 'स्व' और 'पर' में परस्पर विरोध है। घड़ा अपनेसे और कपड़ेसे दोनोंसे मिलकर बनता है—ऐसा कौन कहेगा? जैसे घट-पटके मिलनसे घट नहीं होता वैसे ही पट भी नहीं होता।

मिट्टीसे घड़ा और पितासे पुत्रकी उत्पत्ति प्रत्यक्ष देखनेमें आती है। ऐसी स्थितिमें उसका खण्डन कैसे किया जा सकता है? इस प्रश्नका उत्तर यह है कि अज्ञानियोंके व्यवहारमें उत्पन्न हुआ ऐसा शब्द और प्रत्यक्ष दोनों ही चलते हैं। विवेकीको इनकी परीक्षा करनी होती है कि उत्पन्न शब्द और प्रत्यय सत्य हैं या मिथ्या? यह निश्चित है कि परीक्षा करनेपर उत्पन्नरूपसे प्रतीयमान घट-पुत्रादि पदार्थ शब्दमात्र ही हैं, सत्य नहीं। छान्दोग्य (6. 4. 4) में कहा है—वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्। विकार केवल वाणीका आरम्भ है, नाममात्र है। अतः कारिकाकारका यह कहना कि स्वतः, परतः या उभयतः किसी वस्तुकी उत्पत्ति नहीं होती, यह सर्वथा युक्तियुक्त है।

उत्पन्नके रूपमें प्रतीत वस्तु 1. सत् 2. असत् या 3. सदसत् है—यह बताना पड़ेगा। यदि वह सत् है तो पहलेसे ही है, उत्पन्न कैसे? सिद्ध वस्तुको ही सत् कहते हैं, उत्पन्न वस्तुको नहीं। यदि वह असत् है तब तो उसकी उत्पत्ति स्वीकार करना ही अयुक्त है। शशविषाणकी उत्पत्ति कौन स्वीकारेगा? यदि सदसत् है तो परस्पर विरुद्धधर्मसे आक्रान्त एक ही वस्तुका होना शक्य नहीं है अतएव उत्पन्न होनेका प्रश्न नहीं उठता। इन तीन रीतियोंसे उत्पन्न वस्तुओंका स्वरूपतः निषेध किया और पहलेकी तीन रीतियोंसे उनके कारणका। इसमें दूसरा कोई कल्प-विकल्प नहीं है, अतः कैसे भी किसी वस्तुकी उत्पत्ति सिद्ध नहीं होती।

**बौद्धोंसे विलक्षणता :**

स्थूलदृष्टिसे देखनेपर ऐसा लगता है कि गौडपादाचार्यने इस कारिकामें बौद्धोंका अनुकरणमात्र ही किया है; क्योंकि उनकी निरूपणशैली भी इसी प्रकारकी है। माध्यमिक कारिका (1-1) और (1-7) में यही कहा गया है : 'किसी भावका किसी भी आधारमें स्वतः, परतः और उभयतः जन्म नहीं हो

सकता और वे सत्, असत् अथवा सदसत् नहीं हो सकते।' इनकी शब्दावली भी प्रायः समान ही है। फिर भी सूक्ष्मदृष्टिसे देखनेपर गौडपादका विशेष ज्ञात होता है। बौद्धोंका कहना है कि प्रतीत्यसमुत्पादका आलम्बन लेकर सदसदादिरूपसे विकल्प्यमान भावोंका निरपेक्ष सत्त्व सर्वथा ही नहीं है अर्थात् किसी भी भावकी सत्ता नहीं है। वे किसी आधारमें भी नहीं हैं। परन्तु गौडपादाचार्यका यहाँ इतना ही कहना है कि प्रतीयमान पदार्थोंका कार्यकारणभाव युक्तिसंगत नहीं है। जो कुछ कार्यकारणभाव देखनेमें आता है वह मायिक है। कार्यपदार्थ केवल वाचारम्भणमात्र होनेके कारण कारणब्रह्मसे अनन्य ही है। परस्पर कार्यकारण-भावके निषेधके लिए ही आचार्यने बौद्ध शैलीको स्वीकार किया है; क्योंकि किसी पदार्थका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है, मूलकारण ब्रह्म ही सबका आधार और परम सत्य है। छान्दोग्यश्रुति (6-8-7)ने कहा है—तत्सत्यं स आत्मा वही परम सत्य प्रत्यगात्मा है। इसका कभी निषेध नहीं हो सकता।

**क्षणिकविज्ञानवाद सदोष है :**

अब तक क्रिया, कारक और फलके नानात्वपक्षमें हेतु-फलका सम्बन्ध सिद्ध नहीं हो सकता—यह दोष स्पष्ट किया गया। अब एक दूसरा पक्ष है जिसमें जनिका ही जन्म होता है अर्थात् क्रिया, कारक और फल एक ही हैं। प्रत्येक वस्तु क्षणिक ही होती है—इस प्रकार क्षणिक विज्ञानवादका आग्रह रखनेवाले बौद्ध भी न्यायसंगत पक्षसे दूर हट गये हैं। बात यह है कि जिस क्षणमें यह निर्णय किया जायगा कि यह वस्तु क्षणिक है तो वस्तुके दर्शन और क्षणिकताके अवधारणक्षणमें अन्तर हो जायगा। इस मतमें कोई भी वस्तु दूसरे क्षणमें रहती नहीं। इस प्रकार इनके मतमें वस्तुका अवधारण ही युक्तिसंगत नहीं होगा। मैंने यह कर्म तब किया था और अब उसका फल भोग रहा हूँ—इस व्यवहारमें अनुभूतकी स्मृति है। क्षणिकविज्ञानवादीके पक्षमें उसकी सिद्धि नहीं होगी। वही यह है या वही मैं हूँ—यह प्रत्यभिज्ञा आपामरपण्डितको मान्य है; परन्तु इस पक्षमें उसकी संगति भी नहीं है। ये लोग वस्तुमात्रको ही क्षणप्रध्वंसी स्वीकार करते हैं, अतः किसी भी वस्तुका अनुभव सिद्ध नहीं हो सकता और अनुभवके बिना स्मृति सिद्ध नहीं हो सकती। केवल सादृश्यमात्रसे ही यह व्यवहार होता है—ऐसा मानना या कहना युक्तियुक्त नहीं है; क्योंकि निश्चितरूपसे वही यह है, वही मैं हूँ—यह निश्चय प्रत्यक्ष है।

कारिकाकारका अभिप्राय यह है कि प्रतीयमान कार्यका किसी कारणसे



जन्म सिद्ध नहीं होता। साथ ही कार्य स्वरूपतः भी कुछ सिद्ध नहीं होता। अतएव कार्य-कारण भाव अनिर्वचनीय मायामूलक मृषा है और इसका अधिष्ठान ब्रह्म ही सत्य है। मायासे ही वह इनका कारण है और उससे भिन्न कार्यकी कोई सत्ता नहीं है।

**नवीन वैज्ञानिकोंका मत असंगत है :**

किसी-किसीका कहना है कि जो कुछ आध्यात्मिक अथवा बाह्यरूपसे प्रतीत हो रहा है वह परिणाम-परिस्पन्दनका प्रवाह ही है अर्थात् निरन्तर एक परिवर्तन हो रहा है और उसके स्पन्दन-कम्पनकी धारा ही सर्वरूपसे प्रतीत हो रही है। ये लोग कोई परमार्थवस्तु स्वीकार नहीं करते। इनके मतमें तत्त्वजिज्ञासाका भी कोई प्रयोजन नहीं है। जिस समय हम निश्चय करते हैं कि यह ऐसा है—उस समयके पहले और पीछे भी वह वस्तु वैसी नहीं रहती, बदलती जाती है। उन्हें यह मानना पड़ेगा कि स्थिति, गतिका द्वन्द्व भी भ्रान्तिमात्र है, क्योंकि जब कोई वस्तु तत्त्वरूपसे स्थिर ही नहीं है तो सत्यके आधारके बिना किसीको भ्रान्त भी कैसे समझा जा सकता है? हम उस स्पन्दनके सम्बन्धमें कल्पना भी नहीं कर सकते जो आकाशके बिना ही होता हुआ ज्ञात होता है। आकाशको भी स्पन्दमात्र नहीं माना जा सकता। स्पन्द कभी कालनिरपेक्ष नहीं होता। उसके अनुभवका स्वरूप ही यह है कि तबसे अबतक स्पन्दित हो रहा है। अच्छा यह बतलाइये कि स्पन्दमें द्वित्व है कि नहीं? यदि वह है तो भ्रान्तिमात्र ही मानना पड़ेगा व एक स्पन्दकी अपेक्षा दूसरा तीव्रगामी है या मन्दवेग है—आधारके बिना यह कल्पना भी सिद्ध नहीं हो सकती। यदि स्पन्दमें काल नहीं है, स्थान नहीं है, विच्छेद नहीं है तो स्पन्द ही सार्वजनिक अनुभवका विरोधी हो जायगा। अनुभव भी स्पन्द ही है—यह कल्पना निस्सार है। क्रिया या विक्रिया जो कि परिस्पन्द रूप है, अनुभवके बिना सिद्ध नहीं हो सकती। उनकी स्वतन्त्र सत्ता अयुक्त है। अतएव अज्ञात आत्मसत्ताको अनुभवस्वरूपका मानना ही सर्वथा युक्तियुक्त है।

**प्रतिपक्षीके मतसे भी अज्ञातवाद ही सिद्ध होता है :**

हेतुर्न जायतेऽनादेः फलं चापि स्वभावतः।

आदिर्न विद्यते यस्य तस्य ह्यादिर्न विद्यते॥

हेतुकी उत्पत्ति नहीं हो सकती; क्योंकि उसे तुमने अनादि स्वीकार किया है। ठीक इसी प्रकार फलकी भी उत्पत्ति नहीं हो सकती; क्योंकि वह भी

स्वभावतः वैसा ही है। अर्थात् कर्म और शरीर दोनों ही अनादि हैं। जिसकी आदि माने कारण नहीं होता उसकी आदि अर्थात् उत्पत्ति भी नहीं होती।

इधर भी ध्यान दीजिये। अपने हेतुरूप कर्म और फलस्वरूप शरीर दोनोंको ही अनादि स्वीकार किया है। ऐसी अवस्थामें आपको विवश होकर दोनोंको ही जन्मरहित अर्थात् अजात स्वीकार करना पड़ेगा। कहनेका अभिप्राय यह है कि कर्म एवं फल दोनोंकी अनादिताकी स्वीकृति भी उनकी अजन्मताकी स्वीकृति है। आदिरहित फलसे हेतुकी उत्पत्ति सिद्ध नहीं होती। अनुत्पन्न अनादि फलसे भी हेतुका जन्म सिद्ध नहीं होता। किसीका भी जन्म निर्निमित्त स्वीकार नहीं किया जाता। वैसा स्वीकार करनेपर तो सर्वदा जन्मका ही प्रसंग प्राप्त होता रहेगा। यदि फलका स्वभाव ही जन्म लेते रहना माना जाये तो अनादित्वका खण्डन हो जायेगा। जब आप ही दोनोंको अनादि स्वीकार करते हैं तो उनको अजात कहनेमें क्या आपत्ति है? कारणवान्का ही जन्म है, कारणरहितका नहीं।

हेतु एवं फलकी परस्पर कारणता एक साथ दोनोंकी उत्पत्ति या जायमानताका स्वभाव, अनादिता—ये सभी मान्यताएँ अनेक दोषोंसे दूषित हैं। अनादि स्वीकार करना तो इस बातके लिए बाध्य कर देगा कि हम उन्हें अजात स्वीकार करें। अतएव जातिवाद युक्तिरहित है और उससे भी अजात ही सिद्ध होता है।

**सम्पूर्ण प्रपंच मायाका ही विलास है :**

वस्तुतः स्वप्न और जाग्रत् एक ही हैं। अतएव उनमें प्रतीयमान बाह्य और आध्यात्मिक पदार्थ जैसे दीखते हैं वैसे नहीं हैं=वितथ हैं। अपनी-अपनी अवस्थामें वे सत्य-अनृतके रूपमें अलग-अलग भासते हैं। दोनों ही अपने-अपने योग्य चित्तकालमें ही निवास करते हैं और आकाशसहकृत बाह्यकालमें प्रतीत होते हैं। चित्तकाल और चित्ताकाशमें ही विविध वस्तुएँ अपनेमें द्रव्य, गुण, क्रिया आदि प्रकाशित हुई देखी जाती हैं। परिणाम अथवा परिस्पन्दनके रूपमें क्रिया भी देखी जाती है पदार्थोंमें। उनमें परस्पर सापेक्षता भी ज्ञात होती है। यह सारा प्रपंच क्रिया हो, कारक हो या फल हो— भूत, भविष्य एवं वर्तमानसे युक्त होता है और सुषुप्तावस्थामें निःशेष रूपसे प्रलीन हो जाता है। प्रज्ञात्मासे एक हो जानेपर भी प्रपंच धर्म प्राज्ञका स्पर्श नहीं करता। उसमें कोई विकार न होना और पुनः-पुनः स्वप्न-जाग्रत्का उदय होना—इस बातका प्रमाण है कि स्वप्न-जाग्रत्का उदय-विलय केवल मायाका ही विलास है। आत्माको न जाननेके कारण ही वादी-



प्रतिवादी प्रपंचको माया-विलास नहीं मानते। वे एकमात्र जाग्रत अवस्थाको ही सब कुछ मानते हैं और उसमें इतना अभिनिवेश कर बैठते हैं कि विविध प्रकारके विकल्पोमें फँसकर एक दूसरेका खण्डन-मण्डन करने लगते हैं और इस प्रकार अजातवादको ही युक्तियुक्त सिद्ध करनेमें सहायक सिद्ध होते हैं।

विज्ञानवादी और बाह्यार्थवादी मतोंके परस्पर विरोधके द्वारा अजातसिद्धान्त प्रकाशित करते हैं—

प्रज्ञप्तेः सनिमित्तत्वमन्यथा द्वयनाशतः ।

संक्लेशस्योपलब्धेश्च परतन्त्रास्तिता मता ॥

प्रज्ञप्तिको सनिमित्त स्वीकार करना चाहिए अन्यथा प्रज्ञप्तियोंका परस्पर वैचित्र्य अर्थात् अनेकता सिद्ध नहीं होगी। क्लेशकी भी उपलब्धि होती है। वह बिना निमित्तके नहीं हो सकता। अतएव बाह्यार्थवादी एवं विशेषार्थवादी मत सिद्ध होते हैं।

विज्ञानवादीकी मान्यता है कि विज्ञानके अतिरिक्त कोई बाह्य अर्थ नहीं है। विज्ञानके साथ बाह्यार्थका अन्वय-व्यतिरेक है। विज्ञान है तो अर्थ है। विज्ञान नहीं है तो अर्थ नहीं है। विज्ञान ही विज्ञानाकार और विषयाकार भास रहा है। इसपर बाह्यार्थवादी अपना पक्ष उपस्थित करता है—प्रज्ञप्ति अर्थात् शब्दादि प्रतीतिका निमित्त होना आवश्यक है। निमित्त=कारण अथवा विषय। अभिप्राय यह है कि प्रज्ञप्ति अपनेसे भिन्न विषयकी होती है। बिना विषयके प्रतीतिमें भेद कैसे होगा? यदि प्रतीतिमें ही भिन्न-भिन्न विषयोंके रूपमें भान होती है तो सर्वदा, सर्वविषयोंका भान होना चाहिए। इस बातपर भी ध्यान दीजिये कि यदि बाह्य निमित्तको भी स्वीकार न करें तो प्रत्ययोंकी विचित्रताका ही नाश अर्थात् अभाव प्राप्त होगा। विज्ञानवादीके मतमें मधुर कर्कश शब्द, शीत-उष्ण आदि स्पर्श, नील-पीतादि रूप, मधुर-तिक्त आदि रस, सुगन्ध-दुर्गन्ध आदिके प्रत्यय भेद किस प्रकार हो सकेंगे? इन प्रत्ययोंको सर्वथा अस्वीकार कर देना प्रत्यक्षसे मुकरना है। प्रज्ञप्तिका स्वरूप प्रकाशमात्र है। बाह्यालम्बनके बिना वह स्वभावसे ही चित्र-विचित्र नहीं हो सकती। स्वच्छ स्फटिक रक्त, पीत आदि उपाधिके बिना रंगीन कैसे हो जायगा? अतः इन सब युक्तियोंसे हम इसी निश्चयपर पहुँचते हैं कि बाह्यार्थ है।

बाह्यार्थवादी दूसरी दृष्टिसे भी अपना पक्ष प्रस्तुत करता है। उसका कहना है कि 'प्रज्ञप्ति' शब्दका शब्दोच्चारण करके किसी वस्तुको सूचित करना भी होता है।

‘प्रज्ञप्ति’ अर्थात् शब्दोच्चारणके द्वारा अर्थका प्रज्ञापन। इस दृष्टिसे भी भिन्न-भिन्न शब्दोंका उच्चारण करनेके लिए भिन्न-भिन्न निमित्त भी होना चाहिए। यदि वचनके विषय भिन्न-भिन्न न हों तो शब्दोच्चारणका अर्थ क्या रह जाता है? ‘यह घट है’, ‘यह पट है’—यह वर्णन बाह्य विषयके सम्बन्धमें होता है। अतः विज्ञानसे व्यतिरिक्त बाह्य-पदार्थ घट-पटादिको भी स्वीकार करना चाहिए। बाह्यवैचित्र्यके बिना शब्द-वैचित्र्य भी नहीं हो सकता। बाह्य विषयोंका अभाव होनेपर शब्दोंकी विविधताका भी नाश हो जायगा। इसीको मूल श्लोकमें ‘द्वयनाश’ कहा गया है। ‘यह मधुर’ शब्द है, ‘यह कठोर’। ‘यह नील रूप है’, ‘वह पीत’ इत्यादि।

बाह्यार्थवादीका यह भी कहना है कि बाह्य अर्थ न माननेपर द्वैत भावका नाश हो जायगा। यहाँ यदि मूलोक्त ‘द्वय’ शब्दका अर्थ ग्राह्यग्राहक मानें तो वाक्यका अर्थ होगा कि द्वयनाश अर्थात् ग्राह्य-ग्राहक भावकी प्रतीतिका अभाव। परन्तु यह इष्ट नहीं है; क्योंकि इष्ट व्यवहारमें ग्राह्य-ग्राहक भावकी प्रतीति होती है। वह प्रज्ञानसे प्रज्ञातकी होती है। अभिलापसे अभिलपनीयकी होती है। विज्ञानवादीका मत सर्वथा दृष्ट विरुद्ध होनेसे इष्ट नहीं हो सकता।

इधर भी ध्यान दीजिये—अन्य मतके शास्त्रोंमें विज्ञानके अतिरिक्त बाह्य वस्तुका अस्तित्व स्वीकृत है, अर्थात् दूसरे मतवादी विज्ञानवादीके मतको स्वीकार नहीं करते। हमारे कहनेका यह अभिप्राय नहीं है कि हम दूसरे मतवालोंके मतको सिद्ध करना चाहते हैं, क्योंकि उससे हमारा कोई प्रयोजन नहीं है। हमारा अभिप्राय तो इतना ही है कि बाह्यार्थके सद्भावके सम्बन्धमें हम उनकी प्रामाणिकता स्वीकार करते हैं ऐसा क्यों? इसलिए कि संसारमें सुख-दुःखकी उपलब्धि होती है। मूलमें ‘संकलेश’ शब्द दुःखका वाचक है, सुखका उपलक्षण है। अग्रिदाहसे दुःख होता है, स्रक्चन्दनादिके स्पर्शसे सुख होता है। यदि ये दाहादि-रूप बाह्य निमित्त विज्ञानसे भिन्न न होते तो दाहादि-दुःखकी उपलब्धि ही न होती, किन्तु उपलब्धि होती है। इसलिए हम इस निष्कर्षपर पहुँचते हैं कि बाह्य वस्तु है। विज्ञानमात्रमें दुःखका होना युक्तियुक्त नहीं है। ऐसा होता तो सर्वत्र दुःख ही होता। परन्तु भिन्न-भिन्न निमित्तसे भिन्न-भिन्न सुख-दुःख होते हैं। विज्ञानवादी भी क्लेश, कर्म और जन्मका दुःख स्वीकार करता है। वे यह भी मानते हैं कि संसार-दशामें क्लेश है और मुक्त-दशामें क्लेशका उच्छेद है। निष्कर्ष यह कि जिसके होनेसे प्रत्ययोंमें विचित्रता होती है, शब्दोच्चारणमें भेद होता है, ग्राह्य-ग्राहककी प्रतीति होती है और दुःख होते हैं तथा जिसके न होनेपर ये सब नहीं होते, उसका नाम ‘बाह्यार्थ’ है।



विज्ञानवादी बाह्यार्थवादीका खण्डन करता है—

प्रज्ञेते: सनिमित्तत्वमिष्यते युक्तिदर्शनात्।

निमित्तस्यानिमित्तत्वमिष्यते भूतदर्शनात्॥

बाह्यार्थवादीके आक्षेपका समाधान करता है विज्ञानवादी—ठीक है, आप घट-पट आदि द्वैतके कारण और दुःखानुभवकी युक्तिसे प्रज्ञप्तिको सनिमित्तक अर्थात् बाह्यार्थमूलक मानते हैं, परन्तु यदि यथार्थ वस्तुका दर्शन हो तो जिसको निमित्त कहते हैं, वह निमित्त नहीं है। जैसे मृत्तिकाके दर्शनसे घट, उससे पृथक् सिद्ध नहीं होता। तन्तु-अंशु (सूत-रेशे)के दर्शनसे उनसे अतिरिक्त पट सिद्ध नहीं होता; इसी प्रकार परमार्थ वस्तुके दर्शनसे जिसे तुम निमित्त कहते हो, उसे अनिमित्तके रूपमें स्वीकार करना पड़ता है।

बाह्यार्थवादियोंका कहना है कि विज्ञान-भेदका कोई निमित्त नहीं है—यह कहना सर्वथा असंगत है। क्या विज्ञानके अतिरिक्त और कुछ भी उपलब्ध नहीं होता? विवेक करनेपर यह प्रत्यक्ष अनुभव होता है कि 'यह विज्ञान है' और 'यह विषय है।' विषयोंकी उपलब्धि केवल विज्ञानसे ही होती है, इसलिए यह सिद्ध करना कि विषय ही नहीं है—असंगत है। जिस युक्तिसे आप विषयका अस्तित्व नहीं मानते हैं, उसी युक्तिसे विज्ञानके अस्तित्वका खण्डन किया जा सकता है। घटको देखकर ही घट-विज्ञान होता है, पटको देखकर ही पट-विज्ञान होता है। ऐसी स्थितिमें यह भी तो कहा जा सकता है कि घट-पटादि विषयोंके अतिरिक्त विज्ञानका ही कोई अस्तित्व नहीं है। यह वास्तविकताका अनुरोध है कि बाह्यार्थको ही स्वीकार किया जाय। जैसे विज्ञानका जीवन है—एक मात्र विषयोपलब्धि, ऐसे ही बाह्यार्थका भी एकमात्र जीवन है—विज्ञान। विज्ञान और वस्तुकी उपलब्धि होती है—विषय-विषयीभावसे। विषय अनेक हैं, उनके उपलब्धा भी अनेक हैं—यह व्यावहारिक अनुभव है। यदि उपलब्धा दूसरा नहीं होगा तो विज्ञानवादके उपदेशको कौन ग्रहण करेगा?

यह भी देखिये—अर्थका अस्तित्व विज्ञानसे पृथक् स्वीकार करना ही योग्य है। अर्थ पहलेसे विद्यमान रहता है, पश्चात् विज्ञानके सम्बन्धसे वह विज्ञेय होता है। अस्तित्व वस्तुका निरपेक्ष तत्त्व है। उसकी विज्ञेयता विज्ञाताके विज्ञान-सम्बन्धकी अपेक्षा रखती है। इसलिए यह कहना सर्वथा असंगत है कि वस्तुके भूतरूपके दर्शनसे निमित्त अनिमित्त हो जाता है। वस्तुतः भूतदर्शनसे ही न चाहने पर भी वस्तुके अस्तित्वको स्वीकार करना पड़ता है।

इस आक्षेपका समाधान क्या है? सुनिये, आपका कहना है कि घटपटादि और उनके कारण मृत्तिकातन्तु आदि विज्ञेयके रूपमें अस्तित्ववाले हैं; परन्तु विचार तो कीजिये कि विज्ञानगत विशेषताके बिना घटविज्ञान, पट-विज्ञान इसकी उपपत्ति कैसे होगी? अतः आपको भी यह स्वीकार करना पड़ेगा कि विज्ञान ही विषयाकार भासता है। इस अनिवार्य स्वीकृतिके बाद निश्चय हो जायगा कि विषयका आकार विज्ञानसे ही अवरुद्ध है। विज्ञानके बिना उसका होना क्या? अतः बाह्यार्थकी कल्पना अनावश्यक है। आप जो कहते हैं कि अर्थका पृथक् अस्तित्व स्वीकार करना चाहिए वह भी तो किसी विज्ञानसे अनुमान करके ही स्वीकार किया जायगा। अतः विज्ञानसे अतिरिक्त कोई अर्थ नहीं है—यह मत सर्वथा निर्दोष है। निष्कर्ष यह कि विज्ञान और अर्थ—दोनोंकी परस्पर सापेक्ष उपलब्धि होती है; इसलिए दोनोंका अस्तित्व है। अर्थ अनेक हैं, उपलब्धा अनेक हैं, इन सब आक्षेपोंका परिहार हो गया; क्योंकि बिना विज्ञानके किसीकी उपलब्धि नहीं हो सकती भले उपलब्धा, उपदेश्य, अनेकता कुछ भी कहा जाय। परन्तु विज्ञानसम्बन्धके बिना कोई भी व्यवहार विषय नहीं हो सकता। जो कुछ विशेषता माननी हो, विज्ञानमें ही मान लीजिये, सब व्यवहारोंका निर्वाह हो जायगा।

**कारिकाके उत्तरार्द्धकी दूसरी व्याख्या :**

‘भूतदर्शन’के पहले अकारका प्रश्लेष मान लीजिये। ‘भूत-दर्शन’के स्थानपर ‘अभूतदर्शन’। ‘इष्यते’के ‘एकार’में ‘अकार’ समा गया। जिस बाह्यार्थका तुम विज्ञान-भेदका निमित्त मानते हो, उसको हम अनिमित्त मानते हैं। भला, ऐसा क्यों? इसलिए कि तुम वह देख रहे हो जो अभूत है, अपरमार्थ है, जैसे रस्सीमें साँप। भ्रान्ति-दर्शन विज्ञान-भेदका कारण नहीं हो सकता; जैसे रज्जु-सर्प, गन्धर्व-नगर, स्वप्न और माया आदिके दर्शन बाह्यार्थके बिना ही ग्राह्य-ग्राहकका आकार धारण करते हैं, वैसे ही घट-पटादिकी परमार्थता ही भ्रान्ति-दर्शन ही है। दर्शन तो दर्शन ही है। भ्रान्ति-दर्शन हो तो निमित्तता हो, न हो तो निमित्तता कैसी? जैसे भ्रान्ति-दर्शन न होनेपर उसके विषय उपलब्धि नहीं होते, वैसे ही सुषुप्त, समाहित और मुक्त पुरुषोंमें भ्रान्ति दर्शन न होनेके कारण नित्य-निर्मल विज्ञान स्वरूपके अतिरिक्त बाह्यार्थ नहीं होता। उन्मत्तके समान भ्रान्तिदर्शीको भी वस्तुका अवगम नहीं होता। सुषुप्ति आदिके दृष्टान्तसे अर्थकी उपलब्धि भ्रान्ति ही है—यह सिद्ध हो जाता है।

यदि ‘प्रज्ञप्ति’ शब्दका अर्थ शब्दोच्चारण, वाक्य, वचन माना जाय तब भी



उसकी प्रवृत्तिके निमित्तको अनिमित्त समझना ही ठीक है; क्योंकि वह भूतदर्शन एक सत्य है। जहाँ-जहाँ वचनकी प्रवृत्ति होती है, 'वहाँ-वहाँ' वाच्यका सद्भाव ही हो, यह नियम नहीं है। बौद्धोंने भी ऐसा माना है कि असद्भावोंका भी अभिलाप अर्थात् वर्णन होता है, जैसे शशविषाण, कूर्मरोम, बन्ध्यापुत्र आदि। उनका न भाव है, न अभाव और बोले जाते हैं। लोकमें वाच्य-वाचकभाव होनेसे ही परमार्थमें किसी वस्तुका होना सिद्ध नहीं होता। अतः सिद्ध हो गया कि द्वैत अथवा क्लेश विज्ञानके अतिरिक्त कोई पदार्थ है—सर्वथा अयुक्त है।

चित्तं न संस्पृशत्यर्थं नार्थाभासं तथैव च।

अभूतो हि यतश्चार्थो नार्थाभासस्ततः पृथक्॥

चित्त किसी अर्थका स्पर्श नहीं करता। ठीक वैसे ही अर्थाभावका भी स्पर्श नहीं करता; क्योंकि अर्थ उत्पन्न ही नहीं हुआ है। उससे पृथक् अर्थाभास है ही नहीं।

'अर्थावभास चित्तका निसर्ग है' :

इस मतका विचार—

प्रश्न यह है कि बाह्यार्थ न होनेपर भी उसका अवभास कैसे होता है? यदि बाह्यार्थ भेद न होता तो भावोंमें 'यह निकट है', 'यह दूर है'—ये विशेष-विशेष भावनाएँ इनकी घटनाएँ, देश-काल-निमित्तकी अपेक्षाएँ कैसे सिद्ध होतीं? यदि सब कुछ चित्तस्थ ही होता तो अन्तरमें ही उसकी उपलब्धि होती। वे तो निकट, दूर आदि धर्मसे युक्त होकर बाहर ही प्रतीत होते हैं। आपका प्रश्न ठीक है। परन्तु विचार तो कीजिये कि बाह्यार्थका सद्भाव स्वीकार करके भी विशेष-विशेष अर्थोंकी उपलब्धि कैसे सिद्ध होगी; क्योंकि चित्त अन्तःस्थ है, अर्थ बाह्य है—ऐसी स्थितिमें यदि अर्थके स्पर्शसे चित्तवृत्तियोंका उदय होता है तो हुआ करे। चित्त उन वृत्तियोंके ही विशेष-विशेष रूपका अनुभव कर सकता है, बाह्य वस्तुको कैसे छू सकता है! बात यह है कि चित्त स्वगत विशेषोंको नहीं जानता है। अतएव भ्रान्ति-दर्शनसे ही बाह्य होनेकी कल्पना कर बैठता है अर्थात् अपनी वृत्तियोंके आकारको ही देखता है और उनको बाह्य मान बैठता है।

इनपर पूर्वपक्षीका कहना है कि लोक-व्यवहारमें सभीको यह प्रत्यय होता है कि भिन्न-भिन्न रूपोंमें बाह्यार्थ ही उपलब्ध होता है। इस सार्वजनिक अनुभवको अयुक्त कैसे ठहराया जा सकता है। चित्त वस्तुओंके निर्माणमें समर्थ नहीं है। कोई यह नहीं मानता कि यह वृक्ष या पर्वत मेरे चित्तने बनाया है। सबको यही जान

पड़ता है कि पहलेसे विद्यमान पदार्थको ही मैं देख रहा हूँ। इसको भ्रान्ति कहना भी उचित नहीं है। इसका कारण यह है कि इस उपलब्धिके अनुसार समर्थ प्रवृत्ति उदय होती है। न्याय भाष्यकारने ठीक ही कहा है—‘न्यायके द्वारा अर्थका निश्चय हो जानेपर दृढ़ प्रवृत्ति होती है अतएव प्रमाण सार्थक है।’ न्यायविद् प्रत्यक्ष ज्ञानका कारण-परम्पराका वर्णन करते हैं—‘आत्मा मनसे संयुक्त होता है, मन इन्द्रियसे, इन्द्रिय अर्थसे, पश्चात् प्रत्यक्ष होता है।’ ऐसी स्थितिमें वाह्यार्थके प्रत्यक्षसे तुम्हें इतना द्वेष क्यों है ?

विज्ञानवादी वाह्यार्थवादीसे कुछ प्रश्न करता है—आप वाह्यार्थको सत्य क्यों मानते हैं ? केवल सार्वलौकिक उपलब्धि होनेके कारण अथवा चित्तमें अर्थावभासकी क्षमता न होनेके कारण या आसोपदेशकी प्रामाणिकता स्वीकार करके ? हमारी दृष्टिसे ये तीनों ही कारण युक्तियुक्त नहीं हैं। यदि उपलब्धि कारण है तो इसका उत्तर दिया जा चुका है कि निमित्त अनिमित्त है, मिथ्या दर्शनके कारण। द्वैत और क्लेश—दोनोंकी उपलब्धि भ्रान्ति है। चाहे उपलब्धि एक हो, अनेक हो, सबकी हो, वह एक-सी है। यदि आप यह कहते हैं कि चित्तमें अर्थावभासकी क्षमता नहीं है तो यह कहना अशुद्ध है। स्वप्नादि अवस्थाओंमें चित्तका सामर्थ्य देखा जाता है। वहाँ वाह्यार्थ न होनेपर भी भासता ही है। इससे यह सिद्ध होता है कि चित्त वाह्यालम्बन अर्थका स्पर्श ही नहीं करता। अर्थाभासका भी स्पर्श नहीं करता; क्योंकि वह भी स्वप्न-चित्तके समान एक चित्त ही है। यदि यह कहा जाय कि स्वप्नमें चित्तके निद्रादोषके दूषित होनेके कारण भ्रान्तिसे अर्थाभास दर्शन होता है; परन्तु जाग्रत् उससे विलक्षण है, इसलिए इसमें अर्थ है—यह कथन भी अयुक्त है; क्योंकि अर्थ अभूत है। यही तो परीक्षाका विषय है कि जाग्रत्-अवस्थामें अर्थ है अथवा नहीं ? उसका न होना युक्तिसिद्ध है। स्वप्नानुभवकी बात दृष्टान्तरूपसे कही गयी है। वह तो पहलेसे ही अर्थाभास है, वहाँ अर्थकी चर्चा क्या है ? अतः जाग्रत्-अवस्थामें भी चित्तका अर्थ—संस्पर्श नहीं है। अर्थाभास भी चित्तसे पृथक् नहीं होता। जब अर्थ ही नहीं तो अर्थाभासकी क्या चर्चा ? यह तो बन्ध्यापुत्रके आलम्बनके समान है। अतएव सिद्ध हो गया कि चित्त प्रत्यक्ष ज्ञानकी प्राप्तिके लिए न तो अर्थका और न तो अर्थाभासका स्पर्श करता है।

अब आस वचनकी बात लीजिये। पूर्वोक्त स्थितिमें आसवचन भी अनुपपन्न है। यदि चित्त और अर्थका पृथक्त्व स्वीकार भी कर लिया, तब भी तथाकथित आस पुरुषोंके द्वारा उपदिष्ट प्रक्रिया, युक्तियुक्त नहीं है। पहली बात तो यह है कि



आत्मा स्पर्शहीन है। मनकी जातिसे उसकी जाति अलग है। वह मनके साथ संयुक्त हो ही नहीं सकता। जब आत्मा और मनका संयोग ही असत्य है तो इन्द्रिय द्वारा अर्थ-संस्पर्श कैसे होगा? अच्छा, मान लें कि आत्मा संयोग-धर्मी है, तब भी यह मनसे संयोगके लिए क्यों प्रवृत्त होता है, यह बताना पड़ेगा? निष्कारण प्रवृत्ति माननेपर सदा प्रवृत्ति या अप्रवृत्ति माननी पड़ेगी। अर्थ स्वयं इन्द्रिय द्वारा अपनेको प्रत्यक्ष करानेके लिए प्रवृत्त होता है, यह कल्पना भी शक्य नहीं है। सभी बाह्यार्थ अपना प्रत्यक्ष करानेके लिए होड़ लगाकर आगे बढ़ेंगे। भला, सबसे पहले प्रत्यक्ष किसका होगा? इसलिए इस प्रकारकी बातको आस वचन मानना युक्तियुक्त नहीं है। न चाहनेपर भी आपको उसकी अप्रमाणता स्वीकार करनी पड़ेगी।

आधुनिक वैज्ञानिक जो यह कहते हैं कि अर्थका स्पर्श करके जब प्रकाश-किरणें लौटती हैं तब उनके सम्पर्कसे उत्पन्न होनेवाली नेत्र-विक्रिया शिराओंके द्वारा मस्तिष्कमें पहुँचती है और भिन्न-भिन्न पदार्थोंका ज्ञान उत्पन्न करती है। यह मत भी निरस्त हो जाता है; क्योंकि स्वप्नदशामें इस ढंगकी कुछ सामग्री न होनेपर भी अर्थ-अवभासन शक्ति देखनेमें आती है। अतः चित्तकी ही अवभास-लीला है—अर्थ। निरालम्बन विज्ञानका सिद्धान्त बौद्धोंका एक मत है।

**पञ्चासेः सनिमित्तत्वमिष्यते युक्तिदर्शनात् ।**

**निमित्तस्यानिमित्तत्वमिष्यते भूतदर्शनात् ॥ 25 ॥**

**चित्तं न संस्पृशत्यर्थं नार्थाभासं तथैव च ।**

**अभूतो हि यतश्चार्यो नार्थाभासस्ततः पृथक् ॥ 26 ॥**

**निमित्तं न सदा चित्तं संस्पृशत्यध्वसु त्रिषु ।**

**अनिमित्तो विपर्यासः कथं तस्य भविष्यति ॥ 27 ॥**

**तस्मान्न जायते चित्तं चित्तदृश्यं न जायते ।**

**तस्य पश्यन्ति ये जातिं स्वे वै पश्यन्ति ते पदम् ॥ 28 ॥**

**अजातं जायते यस्मादजातिः प्रकृतिस्ततः ।**

**प्रकृतेरन्यथाभावो न कथंचिद्भविष्यति ॥ 29 ॥**

**अनादेरन्तवत्त्वं च संसारस्य न सेत्स्यति ।**

**अनन्तता चादिमतो मोक्षस्य न भविष्यति ॥ 30 ॥**

यह युक्ति दी—‘युक्तिदर्शनात्’—कि बाहरी पदार्थ जरूर सच्चे हैं। क्योंकि वे न होते तो उनके अनुसार विज्ञानकी उत्पत्ति कैसे होती? विज्ञानकी उत्पत्तिमें यह बात देखनेमें आती है कि तरह-तरहके नाम रखे जाते हैं। अगर चीजें अलग-

अलग न होतीं तो उनके नाम भी अलग-अलग क्यों होते ? तो नामका अलगाव देखनेमें आता है, ध्वनिका भी अलगाव देखनेमें आता है। यह मृदु शब्द है, यह कठोर शब्द है, यह भी मालूम पड़ता है। यह सुकुमार स्पर्श है, यह कठोर स्पर्श है, यह लाल है, यह पीला है, यह काला है, यह कड़ुआ है, यह मीठा है; यह सुगन्ध है, यह दुर्गन्ध है तो विचित्र-विचित्र ज्ञानमें ये आकार मालूम पड़ते हैं। यदि बाहरके पदार्थोंमें भेद न होता तो यह ज्ञानके आकारमें भेद कैसे होता ? इसलिए बाहरकी वस्तुएँ सच्ची हैं और ये विज्ञानमें भेद उत्पन्न करती हैं अथवा यों कहो कि उन्हींके कारण विज्ञानमें भेद होता है। इस युक्तिसे यह बात मालूम पड़ती है कि विज्ञान-भेदमें कोई निमित्त है और वही निमित्त बाह्यार्थ है। तो बाहरकी वस्तुओंको सच बतानेवालेने यह युक्ति दी कि विज्ञानके अतिरिक्त बाहरकी वस्तुएँ सच्ची हैं। अब यह देखो कि जो बाहरके भेदको सच्चा बतलानेवाला है न, वह इन्द्रियोंके भेदपर कहाँ ध्यान देता है, इन्द्रियोंके भेदसे बाहरके विषयोंमें यदि भेदकी उपलब्धि होती है तो इससे बाहरकी वस्तुओंका भेद कहाँ सिद्ध होता है, इन्द्रियोंका ही तो भेद सिद्ध होता है न ! तो बोले—इन्द्रियाँ भी बाहरकी वस्तु हैं। तो इन्द्रियाँ भी जब बाहरकी वस्तु हैं तो जैसे शब्द-स्पर्श-रूप-रस आदि विज्ञान-भेदमें निमित्त हैं वैसे ही इन्द्रियोंका भेद भी विज्ञान-भेदमें निमित्त है। अब बोले कि यह युक्ति तो तुमने बहुत बढ़िया दी, इसको हम मंजूर करते हैं। 'मंजूरी क्रियते, मंजुतया पूरी क्रियते मंजूरी-करणम्'—मंजूर किया। परन्तु हम केवल भ्रान्त-अभ्रान्त—सबको इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंकी पृथक्ताकी जो उपलब्धि हो रही है उसके बारेमें बात नहीं कर रहे हैं, हम तो तत्त्वका निर्णय करना चाहते हैं कि जिसमें ये इन्द्रियाँ और ये विषय अध्यारोपित हैं, उसका क्या स्वरूप है ? बोले—'भूतदर्शनात् निमित्तस्यानिमित्तत्वमिष्यते'—हम-भूत माने घड़ेमें क्या चीज है—माना कि घड़ा अलग है, कसोरा अलग है, मिट्टीसे बने हुए अलग-अलग—काली मिट्टी, लाल मिट्टी, छोटा गला, बड़ा गला, छोटा घड़ा, बड़ा घड़ा—घड़ेके बहुत सारे भेद हैं लेकिन जब एक रूप अनुस्यूत भूत मृत्तिका-रूपका दर्शन हो जाता है कि मिट्टी क्या है तो मिट्टीके विकार और कुछ नहीं रहते, जैसे घोड़ेसे भैंस अलग होती है, ऐसे मिट्टी-से-मिट्टीके विकार अलग नहीं होते हैं और कपड़ा जो है वह सूतसे अलग नहीं होता है और सूत रेशेसे अलग नहीं होता है। तो इस तरहसे—'आ शब्दप्रत्यनिरोधात्' कहाँतक, इस प्रकारका विचार करना चाहिए कि जहाँतक किसी भी चीजका नाम अलग न रहे और उसके बारेमें अलग



होनेका प्रत्यय न हो। यहाँतक एकत्वका विचार करो—‘भूतदर्शनात्’ इस वस्तुकी पूर्वावस्था क्या है, इस वस्तुका भूत क्या है? जैसे कोई मकान खरीदने जाते हैं तो उसके विगतका पता लगाते हैं—यह जमीन कैसी है, इसमें सामान कैसा लगाया गया है, कानूनी है कि गैर कानूनी है—किसी भी वस्तुके विगतका पता लगाकर तब न उसको मानते हैं! तो ये जो संसारमें इन्द्रियोंसे वस्तुएँ दीख रही हैं और इन्द्रियाँ दीख रही हैं—इन्द्रियाँ भी तो मालूम पड़ रही हैं—आँख क्या है, नाक क्या है, कान क्या है, जीभ क्या है—तो जब इनके भूतका, इनके विगतका—ये कहाँसे आयी हैं, ये क्या हैं और इनके असली मूल-मसालेका, इनके उपादानका पता लगाते हैं—कहाँतक पता लगाते हैं कि जबतक अलग-अलग नाम और अलग-अलग प्रत्यय होते हैं—विज्ञानमें अलग-अलग प्रत्यय जो मालूम पड़ते हैं न, वहाँतक इनका ख्याल करो। यह ‘प्रत्यय’ शब्द है संस्कृतका—यह बहुत बढ़िया है। यह तो ज्ञानका ही वाचक है, लेकिन ‘प्रति-प्रतीपम्-अयनम् प्रत्ययः’—प्रत्यय माने जैसे ज्ञान जो है वह भीतरसे बाहर निकलता है और ये प्रत्यय जो हैं, वे बाहरी वस्तुको लेकरके भीतर होते हैं—यह पूरब है, यह पश्चिम है, यह उत्तर है, यह दक्षिण है। अरे भाई, सबको एक सरीखा ही मालूम पड़ता है—प्रत्यय तो होते ही हैं। परन्तु, देखना यह है कि जब, जहाँतक शब्द है और जहाँतक प्रत्यय है—सबका निरोध कर देते हैं तो बाहरके निमित्त कुछ रह जाते हैं क्या? बाहरके कुछ भी निमित्त शेष नहीं रहते। इसलिए, विज्ञानवादीका यह दावा है कि हमने समाधि लगाकर देख लिया कि विज्ञानके अतिरिक्त न इन्द्रियाँ हैं, न विषय हैं और न विचित्रताका कोई हेतु है—शब्द और प्रत्यय दोनोंका निरोध करके हमने यह देख लिया। विज्ञानवादीका यह दावा है कि वाह्यार्थ नामकी कोई वस्तु नहीं है—भूतदर्शनात्। शंकराचार्य भगवान्ने भाष्यमें इसका दूसरा अर्थ किया है—अभूतदर्शनात्—हमने देखा—भूदर्शनात् और अभूतदर्शनात्। अभूतदर्शनात्का क्या अर्थ है कि जैसे रस्सीमें साँप दीखता है, तो देखकर मालूम पड़ता है कि साँप है, लेकिन खोज करनेपर तो वह साँप निकलता नहीं। इसलिए, वह सर्पाकार-वृत्तिका निमित्त होनेपर भी वस्तुतः सर्प नहीं है। इसी प्रकार तद् तदाकार वृत्तिके निमित्तरूपसे भासमान जो पदार्थ रज्जु-सर्पवत् हैं—अधिष्ठानमें बिना हुए ही प्रतीत हो रहे हैं। जब, जहाँ, जिसमें प्रतीत हो रहे हैं तब, तहाँ, उसीमें नहीं हैं। तो अभूतदर्शनात्—यह देख लेनेके कारण कि ये तो रज्जुमें सर्पवत् मृषा ही भासमान हैं और विज्ञानके निमित्त बनते हैं जैसे बिना हुए ही साँप सर्पाकारवृत्तिका—सर्प



विज्ञानका हेतु बनता है। इसी प्रकार मूल वस्तुमें यह आकार-विकार-प्रकार हुए बिना ही भिन्न-भिन्न विज्ञानके हेतु बनते हैं। ये सब-के-सब भ्रान्ति-दर्शनके विषय हैं, क्योंकि जब भ्रान्ति मिट जाती है—अद्वितीय-अधिष्ठानका ज्ञान हो जाता है तब यह रज्जु-सर्पवत् हो जाते हैं, नहीं तो ये मिथ्या और इनके द्वारा उत्पन्न जो विज्ञानमें नानात्व हैं—वह भी मिथ्या। तो, सो जानेपर मिथ्यात्वका विज्ञान होता है, समाधिस्थको क्यों नहीं होता है, मुक्त पुरुषोंको क्यों नहीं होता है? मनकी चंचलतामें बाहरी वस्तुएँ मालूम पड़ती हैं और मनकी चंचलता मिट जानेपर बाहरी वस्तुएँ मालूम नहीं पड़तीं। इसलिए, सारा संसार जो है यह मनकी चंचलताका खेल है।

जब पुरुष युक्त नहीं होता, सावधान नहीं होता, मनुष्यका मन पगलाया हुआ होता है—यहाँ-वहाँ, वहाँ-वहाँ भटकता रहता है। यह पाँच उँगली जो दीख रही है ये भी मनकी चंचलताके बगैर पाँच नहीं दिख सकती। एकाग्र दशामें मनको दो उँगली नहीं दीख सकती, बल्कि एकाग्र दशामें मनको एक उँगली भी नहीं दीख सकती। आपको यह बात सुनानी थी कि यदि मन बिलकुल एकाग्र दशामें दो क्षण रहता है तो प्रथम क्षणवाला जो आकार है वह लुप्त हो जायेगा। यह तो जो लोग मनको स्थिर करते हैं उनको यह बात मालूम होनी चाहिए कि दो उँगली एक साथ दीखनेमें भी मनकी चंचलता है। और एक वस्तुका दो क्षण दीखनेमें भी मनकी चंचलता है। मनमें शान्त और उद्दीप्त—दोनों प्रत्यय यदि एकाकार होते हैं तो शान्त और उद्दीप्त प्रत्ययके बीचमें सन्धि होती है। यदि सन्धि न हो तो शान्त और उद्दीप्त प्रत्यय नहीं होंगे। इसलिए मनसे दो क्षणका भासना भी मनकी चंचलता है, मनमें दो पदार्थका भासना भी चंचलता है और मनमें लम्बाई-चौड़ाईका भासना भी—यह उँगली इतनी लम्बी और इतनी मोटी है—यह भासना भी चंचलता है और उँगलीमें तीन पौरवे और दो गाँठें हैं—ऐसा भासना भी मनकी चंचलता है। तो, मनकी चंचलतामें भासमान जो पदार्थ हैं उनको—‘अयुक्तस्य नानार्थः’ जब मन चंचल होता है तब नानात्वकी प्रतीति होती है। भ्रमः—जब आँख हिलानेसे कोई चीज मालूम पड़े, उँगली हिलानेसे कोई चीज मालूम पड़े—पंखा जोरसे चले और पत्ती न मालूम पड़े तो भ्रम हो गया न! जैसे आँख शीशेपर देखती है। क्या देखती है कि शीशेमें अपनी तस्वीर देखती है। यदि शीशा पारदर्शी हो तो अपना-आपा उसमें दीखेगा? नहीं दीखेगा। शीशेके मण्डलसे टकराकरके यह जो प्रतिघात है, नेत्र-ज्योतिका जो



प्रतिघात है उसके कारण परछाईं मनमें आती है। यह द्वैतकी जितनी उपलब्धि हैं, सब भ्रम हैं। उसको ऐसे बोलते हैं कि जैसे शब्द आकार कानके परदेसे टकराया तब मालूम पड़ा—अगर मन न हो काममें, आदमी बेहोश हो, समाधिस्थ हो, तो वह मालूम नहीं पड़ेगा। आँखमें आकर आँखके द्वारा दृश्य-रूप जाता है और वहाँ उसकी फोटो खिंच जाती है। आँखके रास्ते मनमें आया और उसका फोटो खिंच गया। असलमें वहिष्ठ वस्तुकी उपलब्धि नहीं होती।

मन भी कहीं आता-जाता नहीं। आगे-पीछे स्थान-विशेष, वस्तु-विशेषका ख्याल ही तो आता है। न अगले घण्टेमें हमारा मन जाता है, न पिछले घण्टेमें। मन वर्तमान क्षणको छोड़कर न पिछले क्षणमें आता है, न अगले क्षणमें दोनोंकी कल्पना ही करता है।

और इसका जो वजन मालूम पड़ता है—यह भी मनका ख्याल है। देखो, मरना ख्याल है और शरीर होना ख्याल है और दुःखी होना ख्याल है। यह बिलकुल मनकी कमजोरी है—यह सत्-चित्-आनन्द तीनों एक हैं। यह मरनेका डर और बेवकूफी-अचित्-जड़भाव—ये तीनों एक हैं—जो मरनेको डरे और अपनेको बेवकूफ समझे वह बेवकूफ है। जो अपनेको दुःखी माने वह बेवकूफ है। बेवकूफीको हलामत बोलते हैं उर्दूमें। दो चिह्न हैं बेवकूफीके दुःखी होना, मौतसे डरना। एकने पूछा—हमारी बेवकूफी मिटी कि नहीं? कि अभी है, तभी तो तुमको शंका है—तुम्हारी बेवकूफीके बारेमें स्वयं तुम्हारा कुछ ख्याल है, तभी तो पूछते हो। तो, मनकी चंचलतामें ही दुःख है, मनकी चंचलतामें ही नानात्व है, मनकी चंचलतामें ही दुःख है, मनकी चंचलतामें ही नानात्व है, मनकी चंचलतामें ही जन्म-मृत्यु है, मनकी चंचलतामें ही बन्ध-मोक्ष है, मनकी चंचलता ही सुख-दुःख है। भेद मनकी चंचलता है।

यदि हजार पागल मिलकर कहें कि यह चीज ऐसी है। वोटका जमाना है तो सरकार भले ही बना लें; लेकिन तत्त्वज्ञ लोगोंकी दृष्टिमें उनकी कोई कीमत नहीं है। हजार आदमियोंके बीचमें भी एक अन्धा जैसे नहीं देख सकता वैसे हजार अन्धे भी मिलकर नहीं देख सकते। जिनकी दृष्टि तत्त्वपर नहीं है, जिनकी दृष्टि सत्यपर नहीं है, जिनकी दृष्टि आत्मापर नहीं है, जिनकी दृष्टि अपरिच्छिन्नपर नहीं है, वे परिच्छिन्न परिच्छिन्न पदार्थोंको ही सब कुछ मानकर यदि उसको—विज्ञानको खण्ड-खण्ड अनित्य मानते हैं—तो उनके माननेकी क्या कीमत है! तो अभूतदर्शनात्—हम देखते हैं कि कोई वस्तु पैदा नहीं हुई है।

यह सृष्टि मखसे पैदा हुई, ऐसा नहीं, यह सब वस्तु है जो भाव और अभाव दोनोंका अधिष्ठान है। भाव अभावसे विलक्षण उसका अधिष्ठान है। यह बात बतलायी कि न धर्माधर्मसे शरीर होता है, न शरीरसे धर्माधर्म होता है, अर्थात् निमित्त कारण और उपादान कारण दोनोंसे विलक्षण वह सत्ता है। उपादान कारणको भी सत्ता नहीं बोलते हैं, उपादान कारणसे जो विलक्षण है। उपादान दोनोंका विवर्त होता है। जो दोनोंका अधिष्ठान है उसको हम सत्य बोलते हैं। ये भाव और अभाव दोनों होते हैं। गड़ड़ा जिसमें बना और टूटा उसको सत्ता नहीं मानते हैं।

ज्ञाता और ज्ञेयका भेद असली ज्ञानमें नहीं है, कार्य और कारणका भेद असली सत्तामें नहीं है और धर्माधर्म और शरीरका भेद असली सत्तामें नहीं है और भावाभावका भेद असली सत्तामें नहीं है—यह बात बतलानेके लिए यह प्रसङ्ग चल रहा है। शब्द साम्य तो है, तात्पर्य साम्य नहीं है, अर्थ साम्य नहीं है—उन्हींके शब्दोंसे एक दूसरा अर्थ बतला रहे हैं।

‘चित्तं न संस्पृशत्यर्थ’—इसलिए देखो बाहर तो कोई निमित्त-विमित्त है नहीं। अब देखो असलमें बाहर निमित्त, बाहर निमित्त जो करते हैं उनसे यह पूछना चाहिए कि बाहर और भीतर विज्ञानके आकार हैं कि बाहर? भीतरसे बाहर और भीतर—ये आकार देखनेमें आते हैं। बाहर और भीतरकी उपाधिसे मालूम पड़ते हैं। चमड़ेके भीतर और चमड़ेके बाहर—अरे भाई, चमड़ेके भीतरका आकार तो चमड़ेको पकड़कर बतलाया जाता है न! तो विज्ञानके भीतर क्या है—बाहर होनेसे विज्ञानमें भीतर-बाहर नहीं आता। विज्ञानका स्वभाव ही है कि वह बाहर-भीतर प्रकट होता है।

बोले कि यह स्वभाव है तो एक चीज तुमने और पैदा कर दी कि यह विज्ञानका स्वभाव है। नहीं; भाव माने अविद्या। यह अविज्ञान अपरिच्छिन्नताको नहीं जानता है। यह प्रज्ञान, यह विज्ञान अपनी अपरिच्छिन्नताको देश-काल-वस्तुसे नहीं जानता है। इस अज्ञानके कारण ही बाहर और भीतर ऐसी कल्पना करता है। अपरिच्छिन्नतामें बाहर और भीतर नहीं होता है। इसलिए अपने आलम्बनके लिए विज्ञानको किसी वस्तुकी जरूरत नहीं होती।

‘चित्तं न संस्पृशत्यर्थ’—चित्त जो है वह बाहरी वस्तुका स्पर्श नहीं करता—‘यथा स्वप्ने’ जैसे स्वप्नावस्थामें ज्ञान बाह्य वस्तुका स्पर्श किये बिना ही बाह्याकार भासता है वैसे ही ‘नार्थाभासं तथैव च’—बोले अर्थाभासका भी स्पर्श नहीं करता, क्योंकि जब अर्थ हो तब अर्थाभाव हो।



‘अभूतो हि यतश्चार्थो’ क्योंकि अर्थ ही जब अभूत है तो अर्थाभास कहाँसे होगा? इसलिए अर्थाभासका चित्त ज्ञान नहीं करता। अब श्लोकका अर्थ यह हो गया—चित्त वस्तुका स्पर्श नहीं है, वस्तुके आभासका भी स्पर्श नहीं है, स्वप्नमें किसी वस्तुका आभास थोड़े ही पड़ रहा है; क्योंकि वस्तु तो दूसरी है नहीं, इसलिए अर्थाभास भी उससे भिन्न नहीं—अर्थ भी विज्ञान ही है और अर्थाभास भी विज्ञान ही है। स्वप्नमें अलग जो घड़ा मालूम पड़ता है या घड़ेका ज्ञान मालूम पड़ता है, यह भ्रम ही है। अब एक दूसरा प्रश्न यह उठाया कि एक होता है विपर्यास माने भ्रान्ति-दर्शन और एक होता है अभ्रान्ति-दर्शन—ये दोनों दो हैं। जैसे एक आदमीको स्थाणु ढूँँठमें चोर मालूम पड़ा—आदमी मालूम पड़ा, सिपाही मालूम पड़ा या रस्सीमें साँप ही मालूम पड़ा। इसीको विपर्यास बोलते हैं, लेकिन जब अविपर्यासका ज्ञान होता है तब विपर्यास होता है।

एक दूसरी युक्ति—लोग सामान्य रूपसे जब वेदान्तपर कटाक्ष करते हैं तब यह बात कहते हैं—माने यह तर्क जो है कोई अनजाना नहीं है, रोज-रोजका जाना पहचाना है। बोले—क्या, कि एक सज्जन हैं जो असली आदमीको पहचानते हैं कि कैसा होता है। अब जब वे रातको अन्धकारमें जा रहे हैं और उनको ढूँँठ दिख गया तब उनको भ्रान्ति-दर्शन होगा ढूँँठमें कि यह आदमी है, जो चोरको जानता है उसको सिपाहीकी कल्पना होगी। अब देखो, हमको कई महीनों तक शायद सालों तक, यह ख्याल रहा होगा, कि बचपनमें क्या होता कि हम जहाँ बैठते न, अपनी बैठकमें वहाँसे एक मील तकका बगीचा—बगीचा दिखता, बीचमें सड़क, बड़ा भारी मैदान और फिर बगीचा। तो कभी-कभी ऐसा मालूम पड़ता कि एक रोशनी जो है वह क्षण भर दीखती है और क्षण भर नहीं दीखती है। दरवाजेपर हम बैठे थे और बच्चे ही थे। हमने पूछा—यह क्या है? तो हमको किसीने बता दिया कि उधर एक भूत रहता है और वह हाथमें मशाल लेकर, लुआठी लेकर रोशनी दिखाता है। अब यह बात हमारे मनमें बैठ गयी—बचपनकी बात! वह कभी-कभी तो दिखे, कभी न दिखे, ऐसा भी था और दिखे तो एक क्षण दिखे, एक क्षण न दिखे—ऐसा भी होता कभी और कई दिनोंतक लगातार न दिखे, हम तो बैठते ही थे अपनी बैठकके दरवाजे पर? तो मेरे मनमें यह बात पक्की बैठ गयी कि भूत जब रोशनी दिखाता है जब ऐसे ही दिखाता है।

एक बारकी बात है, रातका समय था और हम 8-9 वर्षके होंगे, पालकीमें हम कहीं जा रहे थे। वैसे ही रोशनी हमको रातमें दिखी कि कभी

दिखे, कभी न दिखे, तो हम डर गये बाबा, कि इधर भूत हैं और हमने कहा-रसे जो पालकी उठाये हुए थे, कह दिया कि इधर तो भूत हैं। तो वे हँसने लगे। वे बोले कि भूत नहीं हैं, इधर एक लालटेन जल रही है और बीचमें जब पेड़की डाली हिलती हुई आ जाती है तब नहीं दिखती है और जब नहीं आती है तब दिखती है—तो एक समस्या तो हल हो गयी, पर कई दिन तक दिखती है और कई दिन तक नहीं दिखती है, वह समस्या तो हल नहीं हुई! वे जो लालटेन जलानेवाले सज्जन हैं, वे जब बगीचेंमें आते हैं तब लालटेन लाकर वहाँ रहते हैं और नहीं आते हैं तो नहीं रखते हैं। लोग ख्याल जमा देते हैं कि यह भूत है। मनमें तो महाराज, भूतका भ्रम हो गया! अब मनमें भूत लेकर आते हैं तब भूत दिखलायी पड़ता है। अगर मनमें भूत न हो तो भूत दिखायी नहीं पड़ सकता। अच्छा पहलेसे मनमें स्त्री न हो तो किसीके स्त्री होनेका भ्रम नहीं हो सकता! पहले मनमें पुरुष न हो—यह पुरुष है, यह वृत्ति कैसे उदय होगी; यह स्त्री है, यह वृत्ति कैसे उदय होगी! शब्द ही नहीं बनेगा। शब्द नहीं होनेसे प्रत्यय भी नहीं बनेगा, वह किमभूत किमाकार प्रत्यय बनेगा।

भर्तृहरिजी 'वाक्य-पदी'में बोलते हैं। अब यह प्रश्न तो सबके मनमें है, तो बोले कि नहीं, यह जो मत है कि जिसको पहलेसे सच्चा दर्शन रहे उसीको भ्रान्ति-दर्शन होता है। यह बात गलत है कि कैसे गलत है? कि असलमें इस चित्तने पहले भी, अब भी, और आगे भी, 'अध्वसु त्रिषु' तीनों रास्तोंमें अध्व माने मार्ग होता है, कहीं भी इसने निमित्तका स्पर्श नहीं किया है। सो कैसे? अच्छा, यह तीनवाली बात जरा विस्तारसे बता देते हैं—तीनपना हर जगह बन जाता है, इसीसे त्रिपुटी बोलते हैं। त्रिपुटीको इधर तो तीनकी संख्याको हमने देखा अच्छी मानते हैं। हमलोगोंके गाँवकी तरफ बनारसमें—तीन आदमी एक साथ यात्रा नहीं करते हैं, किसीको परसना हो तो तीन पूरी एक साथ नहीं परसते हैं, तीन मिठाई नहीं देते हैं—तीन टिकट महा विकट! तो यह जो तीनपना है, यह कैसे होता है कि भूत, वर्तमान और भविष्य। अब देखो, यह बात बिलकुल ही कल्पित है कि कालमें भूत, भविष्य, वर्तमानका भेद होता है। यह यदि आप काल पदार्थपर विचार करोगे तो देखोगे कि जो भविष्य होता है वही वर्तमान होता है। अब समझो इस समय सवा आठ बज रहे हैं तो अभी जो साढ़े आठ है, वह भविष्य है! थोड़ी देरके बाद वह वर्तमान हो जायेगा। फिर वह सवा आठकी संख्या भूत हो जायेगी। असलमें साढ़े आठ बजना—यह भूत है, कि



भविष्य है, कि वर्तमान है? काल तो एक ही है, एक ही कालमें तीनों नाम, तीनों संज्ञा—भूत-भविष्य-वर्तमान प्रयुक्त होंगे, वही मिनट, वही सेकेण्ड। अच्छा, अब एक सेकेण्डमें आधा बीत गया और आधा बाकी है और दोनों आधाके बीचमें हम बोल रहे हैं, लेकिन सेकेण्ड कबसे शुरू होता है और सेकेण्डका कब अन्त होता है, यह घड़ीमें देखकर पता लगेगा। कहाँसे सेकेण्ड शुरू होता है और कहाँ सेकेण्डका अन्त होता है—यह बात बतानेकी जिम्मेवार घड़ी तो नहीं न! इसलिए अखण्ड कालमें भूतपना, भविष्यपना और वर्तमानपना—यही विज्ञान है—यह देखा हुआ विज्ञान नहीं है माने नैमित्तिक विज्ञान नहीं है। निमित्त-जन्य विज्ञान नहीं है। स्वतन्त्र ही है यह विज्ञान। यह नहीं कि अब भ्रान्त-दर्शन कहीं हुआ हो और फिर भ्रान्ति-दर्शन हो रहा हो, सो बात नहीं है। अच्छा, पूरब, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण कहाँसे प्रारम्भ होता है बता दो। पूरब कहाँसे प्रारम्भ होता है, यही बता दो। अरे भाई, जहाँ आप बैठे हो वहींसे पूरब की कल्पना करते हो। एक आदमीका पूरब, दूसरेका पश्चिम। देशमें क्या—अन्तर्देश, वहिर्देश और अन्तराल देश, यह त्रित्व जो है देशमें विज्ञानका खेल है और यह ज्ञेय-ज्ञान-ज्ञाता—मैं जानता हूँ और ज्ञानसे जानता हूँ और इसको जानता हूँ। यह जो त्रिपुटी है यह बिलकुल स्वप्नवत् है—एकदम स्वप्नवत् है। यह जो अध्वमें त्रित्व है, यही विज्ञानके अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इस कल्पित रास्तेमें जो मित्र मिले, यात्रा तो किसीने की नहीं, एक जगहसे दूसरी जगह गया नहीं—दिन-रात हुए नहीं और दोस्तसे मिलकर आये तो यह क्या हुआ? निमित्त मूलक विज्ञान हुआ कि यह निमित्त मूलक विज्ञान नहीं हुआ, बिलकुल झूठा विज्ञान हुआ। निमित्त ही झूठा है वहाँ। इसलिए अभ्रान्ति, दर्शन और भ्रान्ति-दर्शन ये परस्पर विरोधी हैं सो बात नहीं। देखो, यह क्या बढ़िया बात कही है, एक बार इसपर जरा ध्यान दो। जैसे यह बतलाया पहले कि भावसे सृष्टि नहीं होती और अभावसे सृष्टि नहीं होती। माने जिसको हम सत् कहते हैं वह भाव और अभाव दोनोंसे विलक्षण है भला! फिर बतलाया कि धर्माधर्म-रूप निमित्तसे सृष्टि नहीं होता और धर्माधर्मकी उत्पत्तिके लिए जो कार्य-कारण-संघात है उससे भी सृष्टिकी उत्पत्ति नहीं होती। माने जो जगत्का मूल कारण है वह शरीर और कर्म दोनोंसे अलग है, उस मूल वस्तुमें कार्य-कारण नहीं है, यह बात बतलायी। जैसे यह बात बतलायी कि निमित्त और विज्ञान—ये दोनों दो नहीं हैं। इनसे परे है असली ज्ञान—अपना आत्मा। ऐसे ही

बतला रहे हैं कि संसारमें जो भ्रान्ति-दर्शन होता है और संसारमें जो अभ्रान्ति-दर्शन होता है, संसारमें जो स्थाणु मालूम पड़ता है और स्थाणुमें जो पुरुष मालूम पड़ता है—जो दिनमें ठूँठ मालूम पड़ता है और रातमें चोर मालूम पड़ता है और दिनमें आदमी मालूम पड़ता है और रातमें ठूँठ मालूम पड़ता है—ऐसा भी समझो—स्थाणुमें भी पुरुषमें भी, स्थाणुका भ्रम होता है, पुरुषमें भी स्थाणुका भ्रम होता है। लेकिन दुनियामें जो सच्चा ज्ञान माना जाता है उससे भी असली ज्ञान न्यारा है और जो झूठा ज्ञान माना जाता है उससे भी असली ज्ञान न्यारा है। भ्रान्ति-दर्शन और अभ्रान्ति दर्शन जो लौकिक वस्तुओंमें होता है, झूठा है। सपनेमें एक आदमीको सचमुच ठूँठमें चोरका भ्रम हो गया और वह चोर-चोर-चोर चिल्लाने लगा। नींद टूट गयी, अब न वहाँ ठूँठ, न चोर है। है न! दोनों ही नहीं। उसी बीचमें, सपनेमें ही। वह ठूँठको चोर समझकर डर रहा था। सपनेमें ही एक सिपाही आया। बोला—कहाँ चोर है चलो दिखाओ! अब ठूँठके पास गया—ठूँठ निकला, चोर नहीं निकला! तो वहाँका जो यथार्थ ज्ञान और अयथार्थ ज्ञान है वह दोनों—स्वप्नमें जो यथार्थ ज्ञानके नामसे कहा गया सो भी और जो अयथार्थ ज्ञानके नामसे कहा गया सो भी—द्रष्टाकी दृष्टिमात्र हैं। दोनोंमें असलियत नहीं है, वहाँका चोर भी झूठा, वहाँका ठूँठ भी झूठा, वहाँकी रज्जु भी झूठी, वहाँका सर्प भी झूठा, वहाँका भ्रान्ति-दर्शन भी झूठा और वहाँका अभ्रान्ति-दर्शन भी झूठा। इसी प्रकार जो अपना आत्मस्वरूप है उसमें यह यथार्थज्ञान और अयथार्थ-दर्शन, यथार्थ-ज्ञान और अयथार्थ-ज्ञानका कोई भेद नहीं है। इसलिए, असलमें—

‘निमित्तं न सदा चित्तं संस्पृश्यध्वसु त्रिषु’ किसी भी त्रिपुटीमें चाहे वह देशकी त्रिपुटी हो, अन्तर्देश, बहिर्देश और अन्तराल देश और चाहे कालकी त्रिपुटी हो—भूत, भविष्य और वर्तमान और चाहे पदार्थकी त्रिपुटी हो—ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय—कहीं भी विज्ञान जो है वह दूसरी वस्तुका स्पर्श नहीं करता है—न भ्रान्ति-दर्शनमें, न अभ्रान्त दर्शनमें। इसलिए बिना निमित्तके विपर्यास कहाँसे होगा? कहनेका अभिप्राय क्या हुआ कि असलमें भ्रान्ति भी भ्रान्ति नहीं है, विज्ञान है—माने असलमें जिसको तुम भ्रान्ति बोलते हो वह भ्रान्ति नहीं है, वह तो विज्ञान ही है! माने चित्तके सिवाय—अब देखो, ऐसे-चित्तके सिवाय स्त्री-पुरुषका भेद नहीं है। और जड़-चेतनका भेद नहीं है। अब विज्ञानवादीका मत देखो, वे कहते हैं कि विज्ञानके सिवाय भूत, भविष्य, वर्तमान नहीं है; विज्ञानके



सिवाय पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण नहीं है; विज्ञानके सिवाय घट-पट-मठ नहीं है; विज्ञानके सिवाय इन्द्रियाँ नहीं हैं; विज्ञानके सिवाय अन्तःकरण-बहिःकरण नहीं हैं; विज्ञानके सिवाय जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति नहीं है—माने विज्ञानके सिवाय और कुछ नहीं है। अब अद्वैत वेदान्ती बोलते हैं अथवा शून्यवादी बोलते हैं—इसमें कोई शंका नहीं है। अब विज्ञानवादीसे भिड़ते हैं। विज्ञानवादीसे क्या भिड़ते हैं कि जिस युक्तिसे तुम कहते हो कि बाहरका कुछ पदार्थ नहीं है उसी युक्तिसे हम यह कहते हैं कि चित्त नहीं है, विज्ञान ही नहीं है। है न! अब देखो, यह खण्ड-खण्ड जो विज्ञान है न, क्षणिक-विज्ञान तो क्षणिक विज्ञानमें सबसे बड़ा दोष तो यह है कि जब विज्ञानमें क्षणिकता स्वीकार करते हैं तो विज्ञानका बाप काल हुआ, माने कालमें विज्ञान उत्पन्न हुआ और विज्ञानमें जब धारा मानते हैं, प्रवाह मानते हैं तो प्रवाह जो होता है वह खण्ड-खण्डका प्रवाह होता है—कहीं घना प्रवाह होगा, कहीं पतला प्रवाह होगा—तो वह कालमें होगा, कालकी धारा होगी। तो हम कहते हैं कि जिस युक्तिसे तुम कहते हो कि सब चित्त है उसी युक्तिसे हम कहते हैं—‘तस्मान्न जायते चित्तम्’—जैसे तुमने कहा कि विज्ञानके सिवाय बाह्यार्थका जन्म नहीं होता वैसे ही हम कहते हैं कि शून्यमें चित्तका जन्म नहीं होता। शून्यवादीका मत है यह। नहीं तो अपना लो, साक्षीमें चित्तका जन्म नहीं होता। साक्षीमें—‘तस्मान् न जायते चित्तं चित्तदृश्यं न जायते। यथा तव चित्तदृश्यं न जायते तथा मम चित्तं न जायते।’ जैसे तुम्हारे मतमें चित्तके दृश्यकी उत्पत्ति नहीं होती, चित्त ही है वैसे ही हमारे मतमें चित्तकी उत्पत्ति नहीं होती।’ आत्मा ही है। चित्तकी उत्पत्ति और नाश नहीं है, केवल आत्मा ही है। ‘चित्त दृश्यं न जायते’ यह दृष्टान्त है—‘यथा तव त्वन्मते चित्तदृश्यं न जायते’—जैसे तुम्हारे मतमें चित्तका दृश्य, विज्ञानसे अतिरिक्त कोई वस्तु उत्पन्न नहीं होती, ‘तथा मम मते चित्तं न जायते’—वैसे ही हमारे मतमें चित्तकी उत्पत्ति नहीं होती।

‘तस्य पश्यन्ति ये जातिं’—जो चित्तकी उत्पत्ति देखते हैं कि चित्त नामकी एक चीज है, वे क्या देखते हैं? बोले कि वे आकाशमें चिड़ियोंका चरण-चिह्न देखते हैं। शंकराचार्य भगवान्ने इसपर और भी लिखा है—वे कहते हैं कि देखो, जो लोग ऐसा कहते हैं—सब कुछ देखते हुए, यह देखते हुए भी कि चित्तका दृश्य भी नहीं है और चित्त भी नहीं है और फिर कहते हैं कि मैं भी नहीं हूँ। वे क्या बोलते हैं, बोले—‘खं मुष्टिनापि जिघृक्षन्ति’—वे तो मुट्ठीमें आसमानको लेना चाहते

हैं! वे न केवल आसमानमें चिड़ियाका चरण-चिह्न देखते हैं बल्कि वे तो आसमानको मुट्ठीसे पकड़ना चाहते हैं। है न! देखनेवाला नहीं है—यह कह रहे हो? बोले—यहाँ तक हम तुम्हारी बात मानते हैं कि न बाह्यार्थ है और न तो बाह्यार्थाकार होनेवाली वृत्ति है, न चित्त है, यहाँतक यह हम तुम्हारी बात मानते हैं। यह प्रपञ्च जो है—वृत्ति और विषयरूप, प्रमाता-प्रमाण-प्रमेयरूप, यह जो प्रपञ्च है, त्रिपुटी है, यह नहीं है, यह तो हम तुम्हारी बात मान लेते हैं; लेकिन जिसको यह प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय तीनों मालूम पड़ते हैं और तीनोंका अभाव भी मालूम पड़ता है वह नहीं है, यह जो तुम कहते हो यह बिलकुल गलत कहते हो; क्योंकि इसके सम्बन्धमें कोई प्रमाण नहीं है। तो सर्वशून्यताकी प्रतिज्ञा की कि कुछ नहीं है! शंकराचार्य भगवान्ने पूछा कि अच्छा, यह शून्यता ही है? क्योंकि दोनोंका कहना यही है। विज्ञानवादीका भी कहना है कि हमने समाधि लगाकर देख लिया, विज्ञानके सिवाय कोई वस्तु नहीं है। तो इन्होंने यह कहा कि सूक्ष्म अन्तःकरण है। हमारी भाषामें समझो, वृत्ति है परन्तु विषय नहीं है। शून्यतावादीने कहा कि हमने यह भी करके देख लिया कि वृत्ति नहीं है, शून्य ही है। तो शंकराचार्य भगवान्ने कहा—ठीक है, विषय नहीं है, यह स्थूलका निषेध हुआ और वृत्ति नहीं है, यह सूक्ष्मका निषेध हुआ, अब रह गया शून्य। जिस शून्यमें वृत्ति और विषय दोनों मालूम पड़ते हैं, उस शून्यका साक्षी मैं हूँ—यह देखो चौथी-चीज है। शून्य जो है वह तो कारण है और वृत्ति सूक्ष्म कार्य है और स्थूल कार्य है। पहले स्थूलका निषेध-वैभाषिककी अपेक्षा विज्ञानवादी अन्तरंग है, विज्ञान-वादीकी अपेक्षा बौद्धोंमें शून्यवादी अन्तरंग है और वेदान्तका जो सिद्धान्त है वह शून्यवादीकी अपेक्षा अन्तरंग है। अब देखो, इसमें बहुत विलक्षण बात कही गयी है। हम उन लोगोंकी बात बतलाते हैं जो शून्यवादी हैं। वे कहते हैं कि एक ऐसी प्रज्ञा होती है; प्रज्ञापारमिता उसको बोलते हैं—बौद्धोंकी भाषामें वही माता है, देवी है, साक्षात् जगज्जननी है, उपासना करते हैं। जैसे हमलोगोंके यहाँ जगज्जननी जगदम्बाकी, माँ कालीकी उपासना होती है न, वैसे ही ये बौद्ध लोग अपनी देवीका नाम रखते हैं—‘प्रज्ञा-पारमिता’। प्रज्ञापारमिता क्या है कि जिसने सबके शून्यत्वको जान लिया। प्रज्ञा माने शून्य प्रज्ञा, शून्यप्रज्ञा—शून्य पर्यन्तकी जो प्रज्ञा है उसके भी पार बैठी हुई जो ज्ञानशक्ति है वह प्रज्ञा-पारमिता है। बोले कि तीन वस्तु एक है—यह जिसको हम अज, अद्वय, शून्य तत्त्व कहते हैं सो, प्रज्ञा-पारमिता कहते हैं और धर्म-धातुसे बने हुए बुद्धका शरीर जो है—सत्काय जो है सो, माने गुरु तत्त्व। जैसे हमको



बोलना हो तो कैसे बोलेंगे, कि बुद्ध-रूप गुरु और तत्त्व-रूप ब्रह्म और ब्रह्म विद्या—जिसके द्वारा हम आत्माको ब्रह्मरूप जानते हैं। यह ब्रह्म-ज्ञान, ब्रह्म-तत्त्व और ब्रह्मोपदेशक गुरु—ये तीनों एक हैं। हमारी भाषामें इसको ऐसे बोला जायेगा और बुद्ध लोगोंकी भाषामें ऐसे बोला जाता है कि अज, अद्वय, तत्त्व, प्रज्ञा-पारमिता और बुद्ध—ये तीनों एक हैं। इन तीनोंमें 'प्रज्ञा-पारमिता बुद्धः'। प्रज्ञा-पारमिता क्या है कि बुद्ध है और बुद्ध क्या है कि बोले अजमद्वय—अज तत्त्व और अद्वय-तत्त्व बुद्ध हैं। देखो, पहले मैंने एक पुस्तक पढ़ी थी। थीसिस लिखी थी किसीने प्रयाग यूनिवर्सिटीसे। वहाँ रानाडेजी थे एक—वेदान्तके बहुत बड़े प्रोफेसर थे। वेदान्तका अच्छा अनुभव था उनको। उन्होंने 'वेदान्त और बौद्ध-दर्शनपर एक थीसिस लिखवायी थी। उसमें पहले तो यह सिद्ध किया था कि जो लोग कहते हैं कि वेदान्ती प्रच्छन्न बौद्ध हैं वे मूर्ख हैं; क्योंकि ऐतिहासिक दृष्टिसे वेदान्त पुराना है। ऋग्वेदका 'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति'—यह पुराना है, यजुर्वेद पुराना है, वृहदारण्यक उपनिषद् आदि ग्रन्थ पुराने हैं और बौद्ध-सिद्धान्त जो है वह इनकी अपेक्षा अर्वाचीन है, नवीन है। तो यों कहना पड़ेगा कि बौद्ध ही प्रच्छन्न वेदान्ती हैं। वेदान्ती प्रच्छन्न बौद्ध हैं यह बात नहीं कहनी पड़ेगी। जानना यह वेदान्तका सिद्धान्त है—अपनेको शून्यरूपसे जानना, यह वेदान्तका सिद्धान्त नहीं है। इसलिए यद्यपि आत्मा निष्प्रपञ्च है और निष्प्रपञ्च होनेके कारण उसके लिए शून्य शब्दका भी प्रयोग हो सकता है; परन्तु वह शून्यताका साक्षी, शून्यताका अधिष्ठान और शून्यता भी जिसमें आरोपित है वह है। यह कहते हैं कि शून्यता जो है वह महा-बहिष्पैषज है। बौद्धोंकी भाषामें बहिश्चैष्य माने औपधि दवा, यह शून्यता जो है यह प्रपञ्चासक्तिको मिटानेके लिए महान् औषध है और विषयमें सत्यत्वकी भ्रान्तिको मिटा देनेके बाद अपने आपका जो साक्षात्कार है वह वेदान्तका काम है।

**आदावन्ते च यद्वास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा ।**

**वित्तयैः सदृशा सन्तोऽविताथा इव लक्षिताः ॥ 31 ॥**

**सप्रयोजनता तेषां स्वप्ने विप्रतिपद्यते ।**

**तस्मादाद्यन्तवत्त्वेन मिथ्यैव खलु ते स्मृताः ॥ 32 ॥**

'तस्मात् जायते चित्तं यथा चित्तदृश्यं न जायते'—तथा 'चित्तमपि न जायते'—विज्ञानवादीने यह सिद्ध किया कि ये जितने बाह्य पदार्थ हैं ये उत्पन्न नहीं होते और इसके लिए कई युक्तियाँ दीं। वस्तुकी उत्पत्ति विद्यमानसे होगी

कि अविद्यमानसे? दोनोंको काट दिया—विद्यमान तो है ही, उसकी उत्पत्ति क्या और जो अविद्यमान है उसकी उत्पत्ति होगी कैसे? यह सब आपके ध्यानमें आगया। अभावसे भी उत्पत्ति नहीं हो सकती, भावसे भी उत्पत्ति नहीं। यह भी ध्यानमें आगया होगा कि इन्होंने धर्माधर्मरूप निमित्तसे वस्तुकी उत्पत्ति, शरीरकी उत्पत्ति और शरीरसे धर्माधर्मकी उत्पत्ति इन दोनोंको भी काट दिया। तो दृश्यकी उत्पत्तिमें जितने कारण बताये जा सकते थे उसको विज्ञानवादीने काट दिया, अब उन्हींकी युक्ति लेकरके ये महापुरुष कहते हैं कि जिस युक्तिसे तुमने यह सिद्ध किया कि बाह्य पदार्थ नहीं होता, उसी युक्तिसे हम यह सिद्ध करते हैं कि चित्त भी उत्पन्न नहीं होता—युक्ति कुल-की-कुल वही। कैसे? तो देखो, पहले यही प्रश्न कर लो कि धर्माधर्मरूप निमित्तसे चित्तकी उत्पत्ति होती है कि चित्तसे धर्माधर्मरूप निमित्तकी उत्पत्ति होती है। जैसे उन्होंने यह प्रश्न किया कि पहले शरीर कि पहले कर्म, वैसे ही अब यह प्रश्न करो कि पहले चित्त कि पहले कर्म? जैसे शरीरवाली बात नहीं बनी थी वैसे ही चित्तवाली बात भी नहीं बनेगी। इसको और साफ कर लो, जैसे स्थूल शरीरमें और कर्ममें यदि यह निश्चय किया जाय कि पहले कर्म कि पहले शरीर, तो बात नहीं बनती है। बिना शरीरके पहले कर्म कैसे, बिना कर्मके पहले शरीर कैसे? तो दोनोंमें-से किसीका पहले होना सिद्ध नहीं हुआ। दोनोंका अनादि होना भी नहीं और दोनोंका सादि होना भी नहीं। अब इसी प्रकार देखो, कर्मसे चित्त हुआ कि चित्तसे कर्म हुआ? पहले चित्त तो बिना कर्मके उसमें भेद आया कहाँसे? आखिर उत्पत्ति भी तो एक क्रिया है, उसका भी तो कोई कारण चाहिए। अच्छा, अब बोलो कि बिना चित्तके क्रिया हो गयी, तो बिना चित्तके क्रिया कैसे होगी? कि दोनों अनादि हैं तो कार्य-कारण-भाव नहीं और दोनों सादि हैं तो भी कार्य-कारण-भाव नहीं। इसका मतलब हुआ कि जैसे स्थूल शरीर और कर्मका कार्य-कारण-भाव नहीं है वैसे ही सूक्ष्म शरीर और कर्मका कार्य-कारण-भाव नहीं है—इसका नाम हुआ बमगोला। कर्मसे चित्त बना कि चित्तसे कर्म बना? माने सूक्ष्म शरीरसे कर्मकी उत्पत्ति हुई कि कर्मसे सूक्ष्म शरीरकी उत्पत्ति हुई? तो बिना कर्मके सूक्ष्म शरीर नहीं होगा और बिना सूक्ष्म-शरीरके कर्म नहीं होगा। यह तो अन्योन्याश्रय होनेसे ये परास्त हैं। यदि दोनों साथ पैदा हुए तो कार्य-कारण-भाव नहीं और यदि दोनों नहीं पैदा हुए तो कार्य-कारण भाव नहीं। अनादि होनेसे, सादि होनेसे और परस्पर बीज-अंकुरवत् होनेसे सम्बन्ध नहीं



होगा। विद्यमानसे भी उत्पत्ति नहीं होगी, अविद्यमानसे भी उत्पत्ति नहीं होगी। 'यथा चित्तदृश्यं न जायते'—जैसे हे विज्ञानवादीजी महाराज, आपने यह सिद्ध किया कि यह चित्तका दृश्य जो है स्थूल सृष्टि—यह पैदा ही नहीं होती, केवल चित्त ही संसारके रूपमें दिखलायी पड़ता है। हम कहते हैं चित्त ही नहीं पैदा हुआ। स्थूलकी उत्पत्ति नहीं हो सकती जितनी युक्ति दीं उतनी ही युक्ति सूक्ष्मकी उत्पत्तिमें भी दी जा सकती है—कि सूक्ष्मकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। बोले, नहींजी, हमलोग तो देखते हैं कि चित्तकी उत्पत्ति होती है। कि अच्छाजी, आपने कैसे देखा? बहुत मजेदार है यह! बोले, चित्तके अलावा तुम्हारे पास है क्या जिससे तुम देखते हो? बोले—चित्त ही चित्तको देखता है। तो चित्तके दो टुकड़े हो गये न! चित्त तो छिन्न-भिन्न हो गया। एक द्रष्टा चित्त—देखनेवाला चित्त और एक देखे जानेवाले चित्त। तो यह मानना पड़ेगा कि एक चित्त मिथ्या एक चित्त सच्चा, कट जायेगी सारी बात। वह तो चेतनकी सिद्धि होगी, फिर चित्तकी सिद्धि नहीं होगी, ज्ञान-स्वरूप-आत्माकी सिद्धि होगी। बोले—कि नहीं भाई, शून्य रह जाता है, वह देखता है—विज्ञानवाद भी मिथ्या है, शून्यवाद सच्चा है। बोले, शून्य चित्तको देखता है, चित्तकी उत्पत्तिको देखता है क्या? अगर शून्य चित्तको उत्पत्तिको और चित्तको देखे तो शून्य कैसा? इसलिए—

'तस्य पश्यन्ति ये जातिं'—जिनके मतमें चित्त नामकी वस्तु उत्पन्न होती है, सूक्ष्म शरीर उत्पन्न होता है और सूक्ष्म शरीर फिर क्षणिक होता है। अब बताओ भला! पहले क्षण, कि पहले चित्त? यह क्षण तो बिलकुल चित्तसे ही मालूम पड़ता है, चित्तके सिवाय क्षण मालूम पड़ता ही नहीं। चित्त क्षण-व्याप्त चित्त है, कि चित्त-व्याप्त-क्षण है माने क्षण चित्तमें व्यापक है या चित्त क्षणमें व्यापक है? तो बिना चित्तके तो क्षणका पता ही नहीं लग सकता, तो चित्त क्षणिक कहाँसे होगा? दुःखित्व—चित्तमें क्या है कि दुःखीपना है। पहले दुःखीपना है कि पहले चित्त है? शून्यत्व—चित्तका अनात्मत्व तो बाबा चित्त पैदा ही नहीं हुआ असलमें। जैसे स्थूल शरीर पैदा नहीं हुआ ऐसे ही सूक्ष्म शरीर भी पैदा नहीं हुआ। स्थूल-द्रव्यकी उत्पत्तिके समान ही सूक्ष्म-द्रव्यकी उत्पत्ति नहीं हुई। यह पदार्थ पहले कि भाव पहले, तो इसी बातको काट दिया। बोले, न पदार्थ उत्पन्न होता है, न भाव उत्पन्न होता है, न भावसे पदार्थ उत्पन्न होता है, न पदार्थसे भाव उत्पन्न होता है। पदार्थ और भावमें कार्य-कारण-भाव नहीं है। हमको कोई एक सज्जन सुना रहे थे—एक तो 'मैटर' शब्द होता है अंग्रेजीमें और एक कोई 'मोशन' शब्द होता है। गति



‘इमोशन’ है। हम तो अंग्रेजी जानते नहीं। ‘इमोशन’ है—तो उसमें—से पहले कौन, पीछे कौन? जिसको ‘इमोशन’ कहते हैं न, वह मैटर हो जाता है—पदार्थ और भाव ये दोनों आपसमें बिलकुल रले-मिले हैं—इसीको बोलते हैं—द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद। इसमें दोनों एक साथ पैदा हुए कि दोनों अनादि हैं; दोनोंमें परस्पर कार्य-कारण भाव है कि नहीं हैं।

संसारिके लिए चित्त दुःखी है और विचारवानके लिए चित्त अनात्मक है और योगीके लिए चित्त शून्य है और विवेकीके लिए चित्त अनात्मा है। तो यह तो दृष्टि भेदसे चित्तकी ये स्थितियाँ हुई—मूल-दृष्टिमें चित्त क्या है? कोई चित्तको देख नहीं सकता और जो चित्तको देखनेवाला है उससे चित्तका कोई सम्बन्ध नहीं है। न उससे चित्त उत्पन्न हुआ है, न उसमें चित्त रह रहा है, न उसमें चित्तका लय होता है, न उसमें चित्तमें अवस्थान्तर है, इसलिए यह बड़े साहसकी बात है कि अखण्ड वस्तुमें चित्तका प्रतिपादन किया जाय। जब अखण्ड—शून्यमें ही, अद्वय—शून्यमें ही या अद्वयवादकी रीतिसे ही विज्ञानकी सिद्धि नहीं होती तो ब्रह्मात्मवादमें तो चित्तकी सिद्धि होगी ही कहाँसे? इसलिए चित्तकी उत्पत्ति और स्थिति और फिर अपने आत्माका भी ‘स्वदर्शनादपि शून्यताम्।’—जो कुछ हमको मालूम पड़ता है—वह गलत—इस तरहका जो ख्याल करते हैं वे बिलकुल जैसे आसमानको मुट्ठीमें लेना चाहते हैं। तो यह सिद्ध हुआ कि चित्तकी उत्पत्ति नहीं होती है। यह तत्त्वका स्वभाव है।

इससे यह सिद्ध हुआ कि जैसे विज्ञानका कोई बाहरी आलम्बन नहीं है और विज्ञानका क्षणिक होना भी सम्भव नहीं है; क्योंकि कालकी जो संवित्—कब सेकेण्ड शुरू होता है और कब सेकेण्डका अन्त होता है, कब मिनट शुरू होता है और कब मिनटका अन्त होता है? यह घड़ीकी लकीर देखकर निश्चय कैसे होगा? चार घड़ियाँ दस-दस सेकेण्ड आगे-पीछे हों तो सेकेण्डका प्रारम्भ कहाँ मालूम पड़ेगा? तो सेकेण्ड और मिनट तो चित्तसे कल्पित हैं न! रात-दिनका प्रारम्भ कब होता है? बोले—आज तो बता देगा कोई कि इतने बजकर इतने मिनटपर हुआ। बोले भाई—यह भी ठीक नहीं है। यह तो बम्बईमें हो अतः तुमको मालूम पड़ता है, बनारसमें होते तो दूसरा मालूम पड़ता और कलकत्तेमें होते तो दूसरा होता और जापानमें होते तो दूसरा होता और पश्चिम चले जाओ तो—इधर दिनका प्रारम्भ होता है और उधर रातका प्रारम्भ होता है। प्रारम्भ किसी समयपर, स्थानपर, वस्तुपर बँधा हुआ है! यह कहाँसे प्रारम्भ होता है कि सूर्यके हिसाबसे हमलोग बैठते हैं।



इधरसे सूर्य उगता है तो इधर पूरब है, उधर अस्त होता है तो उधर पश्चिम है। धरतीके आकाशमें पूर्व और पश्चिम कहाँ होगा; आकाशका भी जो अधिष्ठान है, ब्रह्म है।

अजातता जो है यही तत्त्व है—रूपान्तरको प्राप्त न होना, ज्यों-का-त्यों रहना—यही तत्त्वका स्वरूप है और 'प्रवृत्तेरन्यथाभावो न कथंचिद्भविष्यति'—पहले बता चुके हैं। उसीका अन्यथा भाव यहींसे प्रारम्भ किया था। जिस वस्तुका जो स्वरूप है, वह किसी भी प्रकार बदल नहीं सकता।

कोई कहते हैं विद्यमानसे जन्म होता है, कोई कहते हैं अविद्यमानसे जन्म होता है। जो अविद्यमान हैं वे शशविषाणवत् हैं।

जो विद्यमान है वह आत्मा है। उसका जन्म कैसे सिद्ध होगा? इसका अभिप्राय यह है कि जन्म किसीका होता नहीं। जिस वस्तुका जो स्वभाव है, जो स्वरूप है, जो प्रकृति है वह बदल नहीं सकता। आत्मामें बदलाव कैसा? चाहे प्रतीतिका भी रूप हो, चाहे सृष्टि हो, चाहे समाधि हो, चाहे नरकमें हों, चाहे ब्रह्मलोकमें हों, चाहे सफेद कपड़ेमें हों, चाहे लाल कपड़ेमें हों, चाहे सफेद कपड़ेमें हों, चाहे लाल कपड़ेमें हों, चाहे बम्बईमें हों, चाहे हिमालयपर हों—अपने स्वरूपमें कोई परिवर्तन नहीं होता। बोलें तो, मौन रहें तो, चित्त-विक्षेप होवे तो, समाधि होवे तो—है न! आँखमें-से पानी गिरता हो तो और चेहरेपर मुस्कराहट हो तो—हाय-हाय करते हों तो, वाह-वाह करते हों तो, अपना जो स्वरूप है वह ज्यों-का-त्यों रहता है। व्यक्तिके परिवर्तनसे अपने स्वरूपपर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। अपना स्वरूप जो है वह अजात है। जातत्वेन जो प्रतीयमान है, जातरूपसे पैदा जो हुआ—अब हुआ—गया; हुआ—गया; यह जो मालूम पड़ता है—बेटा हुआ—गया; ब्याह हुआ—टूटा; जन्मे और मरे; रोगी हुए और योगी हुए, मोटे हुए और दुबले हुए—यह जो होना-जाना भासता है, इसका अपने स्वरूपके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। अपने स्वरूपमें यह कोई वस्तु नहीं है; क्योंकि किसी वस्तुका स्वभाव, स्वरूप बदल नहीं सकता।

जो लोग बन्धन और मोक्षको भी परमार्थ मानते हैं, तो इस मतमें भी दोष है—न बन्धन पारमार्थिक है और न मोक्ष। आदमीको जब रोग होता है, बुखार जब आता है तब गिलोजीकी ओर जायेगा। एक दवा होती है गिलोय, अमृता भी है उसका नाम। हमारे गाँवमें जब पहले लोगोंको बुखार आता था तब गिलोय-गुरुच पिलाते थे। पारिजात, हरसिंगारका काढ़ा बनाकर पिलाते थे। मलेरियाकी कोई

दवा ही नहीं थी। कुनैन कहाँ था तब ? जब यह रोग होता तब दवा पिलाते हैं। भूख लगती है तब अन्न खाते हैं। ऐसे ही जब बन्धनका अनुभव होता है तब मुक्तिका उपाय करना पड़ता है।

आजकल हमारे वेदान्ती लोग जरा सस्ते हो गये हैं। शहरमें आयेंगे, पर्ची छपवायेंगे, प्रार्थना-पत्र देंगे कि अपने हॉलमें हमको बोलने दो, हम किराया चुकायेंगे। हमलोगोंको तो मुफ्तमें ही मिल जाता है। फिर लोगोंसे कहेंगे कि देखो तुम बद्ध हो, बड़ा भारी दुःख तुम्हारे ऊपर है, तुमको मालूम नहीं ! हाँ महाराज, आप सच कहते हैं—हम तो बँधे हुए हैं। अच्छा, आओ ! हम तुमको मुक्ति देते हैं। बन्धन-मुक्तिका बिलकुल ऐसा ही स्वरूप है। जिसको रोग होगा, उसको भोग होगा, भोग होगा तो रोग होगा और रोग होगा तो औषधका प्रयोग होगा। इसी प्रकार जब चित्तमें विक्षेप होगा—बन्धनका अनुभव होगा तब उसके लिए मुक्तिकी जरूरत पड़ेगी। तो यह रोग सापेक्ष है, औषध जितने होते हैं वे रोग सापेक्ष होते हैं। जड़ी-बूटीका प्रयोग रोगकी निवृत्तिके लिए कर सकता है न ! ऐसे ही जो सनातन-धर्मका रहस्य जानते हैं, वे किस अधिकारीको किस किस्मका रोग है और कौन-सी दवाका प्रयोग करनेसे वह रोग मिट जायेगा—मानस रोग हो, मान्यताका रोग, दुराचारका रोग, दुर्भावका रोग, दुर्गुणका रोग, ये सब रोग हैं। तो इन रोगोंपर सनातन-धर्मकी कौन-सी क्रिया या कौन-सी उपासना या कौन-सा योग या कौन-सी वस्तु उस रोगको दूर कर सकेगी, यह जानना। तो रोगके अनुसार औषध होता है।

यह संसार सच्चा है और इसमें हम बँधे हुए हैं। यह सच्चा है और इसमें जो मोक्ष होता है सो ? तो वह भी सच्चा है। यह सच्चा-सच्चा करके तुम अपना बचपन ही प्रकट करते हो। अगर यह संसार अनादि है तो कभी इसका अन्त नहीं हो सकता। माने बन्धन अगर सच्चा है तो उससे कभी मुक्ति नहीं मिल सकती। सिद्धि ही नहीं हो सकती। संसारमें कोई भी पदार्थ अनादि हो और फिर अन्तवान हो ऐसा देखनेमें नहीं आता। हमने देखा है कि बीज और अंकुरका सम्बन्ध अनादि है लेकिन उसका विच्छेद देखनेमें आता है। बोले—भाई, बीज अलग चीज है और अंकुर अलग चीज है। इन दोनोंका सम्बन्ध जो है सो कल्पित ही है; इसलिए वह काट दिया जाता है। अच्छा, यह बतलाओ कि इससे क्या होगा कि बन्धन यदि निवृत्त नहीं होगा तो दुःख कभी निवृत्त नहीं हो सकता। दुःख जितना है वह बन्धनका ही है। बन्धन शरीरका नहीं। यह नहीं कि किसीका हाथ किसीसे बाँध



दिया। दो कैदियोंको परस्पर बाँध देते हैं। बड़ा उपद्रव करनेवाले कैदी होते हैं। दोनोंके पाँवमें बेड़ी लगाते हैं। एकके पाँवमें लगाकर दूसरेके पाँवमें लगा देते हैं। एकके हाथकी हथकड़ी दूसरेके हाथकी हथकड़ीसे जोड़ देते हैं कि भाग न सकें। गाँवमें जब बैल बहुत उपद्रव करते हैं तब दो बैलोंको एक साथ जोड़ देते हैं। नारायण! तो यह जो उपद्रव है—संसारमें जितना दुःख है वह हम अपनेको किसीके साथ सम्बद्ध कर लेते हैं तब होता है! एक आदमी रो रहा है कि आज हमको खीर खानेको नहीं मिली, तो उन्होंने अपनेको खीरके साथ जोड़ दिया। एक सज्जन रो रहे हैं कि आज हमारा दोस्त नहीं आया तो उन्होंने अपनेको दोस्तके साथ जोड़ दिया। किसीने कहा—आज आमदनी नहीं हुई और रो रहे हैं, तो उन्होंने अपनेको पैसेके साथ जोड़ दिया। जबतक आप किसी दूसरेके साथ अपना सम्बन्ध जोड़ोगे नहीं तब-तब दुःखी नहीं हो सकते; क्योंकि अधिकांश अपने लिए नहीं रोता, दूसरेके लिए रोता है—हमारा वह छूट गया!

एक आदमीके घर गये भोजन करने। उन्होंने एक पुराना कालीन बिछाया था। वह जगह-जगहसे फटा हुआ था, मैला था। सौ वर्षसे पहलेका रहा होगा। मैंने उनसे पूछा कि भलेमानुष, तुमलोग घरमें आखिर दरी बिछाकर तो सोते होगे न! टाट बिछाकर तो सोते होगे न! वही क्यों नहीं बिछाया? यह पुराना कालीन क्यों बिछाया? बोले—अरे, यह हमारे दादा ले आये थे और देखो महाराज, पहले हमारे घरमें कैसा वैभव था! रोने लगे, टपाटप आँखसे आँसू गिरने लगे। आज हमको ओढ़नेको कम्बल नहीं है। तो वे अपने पुराने वैभवके साथ सम्बन्ध जोड़कर रोने लगे।

एक सज्जन हैं। चालीस वर्ष पहले उनकी पत्नी मर गयी, तब भी रोये और अब भी भोजनके समय रोते हैं कि हाय, अब खिलानेवाला नहीं रहा। हमारे साथ बैठते हैं खानेको और आँसू गिरते हैं आँखसे कि अब खिलानेवाला ही नहीं रहा। हमको भोजन नहीं चाहिए, हमको तो खिलानेवाला चाहिए। ये संसारमें जो दुःख हैं—कहाँसे आते हैं? सम्बन्ध जोड़नेसे आते हैं।

शरीरमें भी जो सम्बन्ध है नाक, हमारी तो ऊँची रहनी चाहिए; चोटी हमारी, तो कटनी नहीं चाहिए; हाथ हमारा, तो बोले कि इसमें फोड़ा नहीं होना चाहिए; मन हमारा तो इसमें विक्षेप नहीं होना चाहिए। तो यह मेरा-मेरा करके, हमारा-हमारा करके जो सम्बन्ध जोड़ा जाता है उसी सम्बन्धसे बन्धन होता है और उसीसे दुःख होता है। हम पहले काशीमें मणिकर्णिका घाटके पास जाकर बैठते थे। मुर्दे

वहीं आते हैं। अब रोज वहाँ बीसों-पचीसों मुर्दे आवें और जलाये जावें। एक दिन मैंने देखा कि एक मुर्दा आया तो सब हमारी जान-पहचानके लोग उसके साथ। मैंने पूछा—कि ये कौन हैं भाई! तो बोले कि ये फला आदमी हैं। वे तो बहुत भले मानुष थे, मर गये। अब उनके लिए चित्तमें दुःख हो गया। जाकर रोज बैठते थे, देखते थे—बीसों मुर्दे आते थे। मुर्देका धुआँ शरीरमें लगेगा तो वैराग्य आवेगा। मुर्देका शरीर जलता हुआ दिखेगा, तो यह ख्याल आवेगा कि हमारा भी शरीर जलेगा। यह गंगाजीका किनारा और मुर्दा देखकर डर नहीं लगता था। यही ख्याल होता था कि वैराग्य आवे; लेकिन जब कोई अपना सम्बन्धी आवे तो दुःख हो जाये और कोई बिना सम्बन्धके जले तो दुःख न हो। इसका मतलब यह है कि यह जो शरीरके साथ 'मेरापन' है, यही बन्धन है। सम्बन्ध ही बन्धन है और यह सम्बन्ध ही असलमें दुःख है। यह चित्त भी मेरा नहीं है, यह मन भी मेरा नहीं है, भला, जैसे मच्छर मेरा नहीं है वैसे ही मन भी मेरा नहीं, जैसे कछुआ मेरा नहीं है वैसे ही समाधि भी मेरी नहीं है। कछुआ और समाधि दोनों एक और मच्छर और मन—दोनों एक। जैसे मच्छर मेरा नहीं वैसे ही मन मेरा नहीं और जैसे कच्छप मेरा नहीं वैसे ही समाधि मेरी नहीं। तो सम्बन्ध ही बन्धन है और यह बिलकुल कल्पित ही है। अब कहो कि हम तो मोक्ष प्राप्त करेंगे। तो बोले—

**अनन्तता चादिमतो मोक्षस्य न भविष्यति।**

यदि तुम साधन करके मोक्ष उत्पन्न करोगे—अपने घरमें चावल नहीं था, दाल नहीं थी। तो दूसरे घरसे माँगकर ले आये। तो यह एक दिन लौटाना पड़ेगा। अच्छा, पकाया उपयोग हो-न-हो, वह तो सड़ जायेगा। जो चीज उत्पन्न की जाती है उसका नाश भी होता है; जो पैदा होता है वह मरता है; जो जुड़ता है सो बिछुड़ता है। जो-जो जुड़ेगा दुनियामें वह-वह बिछुड़ेगा। तो अगर मोक्ष साधना-संस्थ होना तो साधन करनेसे कैसे मोक्ष पैदा हुआ? बोले—कि खूब यज्ञ-यागादि किया तो मोक्षकी प्राप्ति हुई। यह मोक्ष भी अलग-अलग तरीकेसे होता है।

स्वामी दयानन्दजी कहते हैं कि पुनरावृत्ति होती है। पहले इससे चिढ़ होती थी कि वेदान्त शास्त्रमें लिखा है कि मोक्षसे पुनरावृत्ति नहीं होती। मोक्षसे फिर जन्म नहीं होता। तो ये ऐसा क्यों बोलते हैं! जब अक्ल नहीं थी तबकी बात है यह। जब अक्ल आयी तब मालूम पड़ा कि जो आदमी कर्मसे मोक्ष मानेगा उसको मोक्षसे लौटना भी मानना पड़ेगा। क्यों? इसलिए कि जिस कर्मका फल होगा वह कर्म सीमित है। उसमें वेग सीमित है। अतः उसका फल सीमित है और वहाँसे लौटना



पड़ेगा! तो स्वामी दयानन्दजी तो कर्मसे मोक्ष मानते हैं। इसलिए उनका लौटना मानना पूर्व-मीमांसकोंकी तरह बिलकुल युक्तियुक्त है। वेदान्तका संस्कार जब शुरू-शुरूमें आया तो बहुत कट्टर था। समझमें आया कि सब उपासक गलत हैं। क्योंकि ये बोलते हैं कि जब भगवान्की भक्ति करेंगे तब भगवान्की कृपासे मुक्त होकर वैकुण्ठमें जायेंगे, मुक्त हो जायेंगे! सालोक्य, सारूप्य, सायुज्य, सामीप्य प्राप्त कर लेंगे। भगवान् जब अवतार लेने लगेंगे तो चाहेंगे तो अपने साथ ले आवेंगे और भगवान्की इच्छा होगी तो कारक पुरुष बनाकर भेज देंगे। क्योंकि मुक्त होनेपर भी आत्मा मुक्त रूपसे पृथक् रहता है। यह बात जब पहले सुनते थे तब चिढ़ते थे कि क्या उपासकोंको इतना भी विचार नहीं है कि वे वेदान्तकी इस बातको समझें कि मुक्तिमें-से आना नहीं है, लेकिन यह तबकी बात है। अब हम ऐसा नहीं समझते। अब हम समझते हैं कि जो मुक्ति प्राप्त करेगा तो उसकी मुक्ति तो देनेवालेकी मुट्ठीमें रहेगी। वह चाहे तो वापस ले ले, वह चाले तो भेज दे। जब दूसरेकी कृपाप्रसादसे मुक्ति मिली तब उसमें तो दूसरेकी इच्छा प्रधान रही, अपनी प्रधानता तो रही नहीं। तो, उपासनामें जो पुनर्जन्म माना गया, जय-विजय भी मर्त्यलोकमें आ सकते हैं; अरे, जय-विजयकी क्या बात है, नारायण स्वयं आते हैं!

उपासनासे साध्य अथवा कृपासे साध्य जो मुक्ति पहले नहीं थी उन्होंने दे दी। ये वेदान्ती लोग जो मुक्ति मानते हैं वे साधन-साध्य मुक्ति नहीं मानते हैं, सिद्ध मानते हैं। अद्वैत-वेदान्तियोंकी मुक्ति दूसरे ढंगकी है। बौद्ध लोग मुक्ति मानते हैं—जब वासनाका उच्छेद होगा निर्वाण हो जायेगा। अन्य मुक्ति मानते हैं। जब अन्य होगी मुक्ति तो उनकी मुक्तिका भी नाश हो जायेगा। बोले—नहीं-नहीं, वे ठीक कहते हैं। कैसे ठीक कहते हैं? जैसे घड़ा पहले था और फोड़ दिया तो घड़ेका जो विनाश है क्या उसमें-से फिर घड़ा पैदा किया जा सकता है? प्रध्वंसाभावकी उत्पत्ति फिर नहीं हो सकती। लेकिन आत्मा तो गया न! वहाँ तो जिसको मोक्ष मिला वह रहा ही नहीं। उनकी मुक्ति क्षणिक थी, इसलिए कि किसी क्षणविशेषमें उत्पन्न हुई कालकी प्रधानतासे। लेकिन, मुक्ति हुई किसको? वह तो है ही नहीं कोई, तो मुक्ति होवे किसकी? प्रयोजन गया। जैन-भाई लोग जो मुक्ति मानते हैं वे देश-विशेषके साथ सम्बद्ध मानते हैं। जैसे, हमारे वैष्णवोंमें वैकुण्ठ, गोलोक आदिको मुक्ति-स्थान मानते हैं। वैसे अलोकाकाशके सिरेपर सिद्धशिलापर बैठकर, जैसे विमानपर चढ़कर उपासक लोग जाते हैं, वैसे सिद्ध शिलापर बैठकर अलोकाकाशके सिरेपर बैठते हैं तो वहाँ मुक्ति जाकर होती है।



तो देश-विशेषसे सम्बद्ध है जैन-आगम और उपासक-आगमकी मुक्ति। काल-विशेषसे सम्बद्ध है बौद्ध-आगमकी मुक्ति। वैसे जैनोंमें कोई मुक्त होनेवाला है ही नहीं। जैनमें तो सिद्ध महापुरुष होते हैं न! योगी लोग अवस्था-विशेषमें, समाधिमें मुक्ति मानते हैं, परन्तु स्थूल वस्तुका सम्बन्ध न हो। वेदान्ती मुक्तिको स्वरूप ही मानते हैं। पाँच बातें मुक्तिमें नहीं होतीं—1. घड़ेकी तरह मुक्ति बनायी नहीं जाती। 2. मन्त्रकी तरह गुरुसे प्राप्त नहीं की जाती। और एक जैसे साबुन लगाकर और पानीसे धोकर कोई चीज साफ की जाती है वैसे आत्माको साफ करनेपर वह मुक्त नहीं होता और जैसे भात पकानेपर खाने लायक होता है वैसे अन्तःकरणको पकानेपर आत्मा मुक्त नहीं होता और किसी चीजके टूटने-फूटनेसे मुक्ति नहीं होती। पाँच बात मुक्तिमें—उत्पाद्य, आद्य, संस्कार्य, विकार्य, विनाश्य। ये पाँच बात मुक्तिमें वेदान्त-सिद्धान्त नहीं मानता। वेदान्त-सिद्धान्त यह है कि मुक्ति अपना स्वरूप है, स्वतः सिद्ध है। बोले यदि साधनसे मानें तो? बोले—यदि साधनसे मानोगे तो यह मानना पड़ेगा कि अभी तो हम मुक्त नहीं हैं, जब साधन करके सिद्ध होंगे तब हमारी मुक्ति होगी।

बोले—अच्छा, तुम भी तो ज्ञानसे मुक्त होना मानते हो। बोले, हम ज्ञानसे मुक्तिकी उत्पत्ति थोड़े ही मानते हैं, ज्ञानसे हम किसी वस्तुकी उत्पत्ति नहीं मानते, ज्ञानसे विद्यमान वस्तुपर जो आवरण है उसका भङ्ग मानते हैं, केवल अविद्याकी निवृत्ति ही मोक्ष है, मोक्षकी उत्पत्ति मोक्ष नहीं है। है न! फिर तो साधन सब-के-सब व्यर्थ गये! नहीं, साधन व्यर्थ नहीं गये। साधन जो हैं वे अन्तःकरणमें ज्ञानकी उत्पत्तिकी योग्यता ले आते हैं। मोक्षको पैदा होनेवाली चीज मानोगे तो मोक्ष अनन्त नहीं-होगा, क्योंकि कोई भी पदार्थ आदिवाला होकर अनन्त नहीं हो सकता। बोले, घड़ेका विनाश तो आदि वाला है, घड़ेका विनाश किया गया फिर भी वह अनन्त होता है, प्रध्वंसाभाव अनन्त है तो बोले वहाँ तो कुछ है ही नहीं, बचा ही नहीं कुछ। तो बचा ही नहीं कुछ तो फिर मोक्ष क्या और किसका हुआ, इसलिए मोक्षकी परमार्थ सत्ता नहीं है, न मोक्षकी, न बन्धनकी। जहाँ बन्धनकी कल्पना है वहीं मोक्षकी कल्पनाका उदय होता है, भ्रान्तिसे हमने अपनेको बद्ध माना है—‘मानि-मानि बन्धनमें आयो।’

भागवतमें यह प्रसङ्ग बतलाया—

**अज्ञानसङ्गो भवबन्धमोक्षौ**

आपको देखो, इसका रहस्य बतलाते हैं—धर्मात्मा लोग मानते हैं कि पापसे



बन्धन है, तब वे मानते हैं कि पुण्यसे मोक्ष है और ये जो हमारे निष्कामकर्म-योगाचार्य हैं—जैसे सेठ जयदयालजी गोयनका थे या और भी हैं, उनका नाम मैं नहीं लेता। सेठजी तो अपने ही थे। बहुत अपना मैत्रीभाव था। जो लोग कामनासे बन्धन बाँधते हैं वे लोग निष्कामतासे मुक्ति मानते हैं। माने बन्धन कैसा माना? जो लोग चित्त-विक्षेपसे बन्धन मानते हैं वे समाधिसे मुक्ति मानते हैं। जो लोग प्रवाहसे बन्धन मानते हैं वे लोग प्रवाह-विक्षेपसे मुक्ति मानते हैं। जो निम्न देशमें रहनेसे बन्धन मानते हैं वे उन्नत-देशमें जानेसे मुक्ति मानते हैं। वेदान्तियोंके मतमें बन्धन केवल अज्ञान-सिद्ध है, अपने आपको ब्रह्म न जाननेके कारण अपनेमें बद्धपनेको भ्रान्ति हो गयी है। तो वेदान्तके मतमें अपनेको ब्रह्म जाननेसे बद्धपनेकी भ्रान्ति छूट जाती है। मुक्ति उत्पन्न नहीं होती। मुक्तिकी उत्पत्ति और बन्धनकी उत्पत्ति ये दोनों भ्रम हैं। मान्यताके सिवाय, चित्तमें जो फँसाव है उसके सिवाय और कोई बन्धन नहीं है और फँसाव अज्ञानसे है और अज्ञान कट गया।

आदाबन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा ॥ 32 ॥

ये श्लोक इकतीस और बत्तीस वैतथ्य-प्रकरणमें संसारके मिथ्यात्वका प्रतिपादन करनेकी दृष्टिसे पहले आ चुके हैं। अब यहाँ बताते हैं कि वस्तुतः संसार नहीं है और संसारसे मोक्ष नहीं है। जब वस्तुतः बन्धन नहीं है तो वस्तुतः मोक्ष भी नहीं है। इस प्रसङ्गमें इन दोनों श्लोकोंको फिर उद्धृत करते हैं, कहते हैं कि जब जो वस्तु, जैसे ऊसरमें दूरसे पानी मालूम पड़ता है। पहले नहीं था, बादमें नहीं रहता है, जाँच करनेपर नहीं निकलता है और बीचमें मालूम पड़ता है। असलमें जब मालूम पड़ता है तब भी वह नहीं है। वह तो वैसे ही है जैसे मृगतृष्णाका जल। अज्ञानमें केवल वह सच्चा मालूम पड़ता है। इनमें सादृश्य क्या है!

‘वितथैः सदृशाः सन्तः’—जैसे स्वप्न आदिका अन्त देखनेमें आता है वैसे इनका अन्त भी देखनेमें आता है। परन्तु, जितनी देरतक दिखते हैं उतनी देरतक सच्चे दिखते हैं। बोले—अब यह मोक्ष और बन्धनकी क्या बात है? देखो, स्वप्नमें भी तो भ्रम होता है न! हमने स्वप्नमें देखा कि एक आदमी बड़ा दुःखी है, जिज्ञासु है, संसारसे दुःखी है, परमात्माको चाहता है। तो इसमें भी दो प्रकारके जिज्ञासु होते हैं—एक तो केवल संसारसे छूटना चाहते हैं—दुःख हुआ संसारमें तो बोले, कैसे भी इससे छूटें। एक वे होते हैं जो सत्यको जाननेकी प्रधानता रखते हैं। हम सत्यको जानना चाहते हैं—जिज्ञासा-प्रधान। दूसरे होते हैं वैराग्य-प्रधान। अब सपनेमें मैंने देखे दोनों प्रकारके। दोनों गुरुजीके साथ पहुँचे।



गुरुजी दिव्य पुरुष थे। वे जीवन्मुक्त पुरुष बैठे थे। उन्होंने एकसे कहा कि जिस संसारसे तू दुःखी हो रहा है वह तो है ही नहीं। क्या जिज्ञासा लेकर आया है? जिज्ञासा माने छोड़नेकी इच्छा। किसको छोड़ना चाहता है, जो तू अपनेको बँधा मानता है सो बन्धन तो है ही नहीं और जो आया कि हमको तो ब्रह्म ज्ञान चाहिए—जिज्ञासा—प्रधान। तो बोले—बेटा तू ही ब्रह्म है, तू किसको जानना चाहता है? दोनोंको यह नहीं बतलाया कि तुम यह योग करो, यह कर्म करो, यह उपासना करो तब संसारसे छूटोगे और तुम यह कर्म, योग, यह उपासना करो तब ब्रह्मको प्राप्त करोगे। न तो उसको संसारसे छूटनेका उपाय बतलाया और न तो उसको ब्रह्म-प्राप्तिका उपाय बतलाया। बोले, क्योंकि संसार तो छूटा-छुटाया है और ब्रह्म तो मिला-मिलाया है। बोले—तू ही तो है ब्रह्म, क्या जानना चाहता है और संसारके साथ तेरा रिश्ता तो कभी हुआ ही नहीं। अब देखो, सपना टूट गया और सपना टूटनेपर न तो वे दोनों चेले रहे और न तो उनका प्रश्न रहा और न तो उनका श्रवण, मनन, निदिध्यासन रहा और न गुरुजी रहे और न गुरुजीकी जीवन्मुक्ति रही। वह तो सपना ही टूट गया भला!

सुप्रयोजनता तेषां स्वप्ने विप्रतिपद्यते।

देखो, सपनेमें भी रज्जुमें सर्पका भ्रम हो जाता है। वहाँ भी ऊसरमें पानी दिखलायी पड़ता है और वहाँ स्नान भी हो सकता है! सपनेमें नदीमें स्नान होता है, सपनेमें साँप काट जाता है, सपनेमें जहर चढ़ जाता है। सपनेमें कोई मर जाता है, तो वह रोते हैं महाराज, कि बाहरके आदमी जो देखते हैं, सोचते हैं कि इतने आँसू क्यों गिर रहे हैं, मुख इतना पीला क्यों पड़ गया, चिल्लाते क्यों हैं? बरबराते हैं सपनेमें और सपना टूटनेपर तो कुछ नहीं है। इसी प्रकार सपनेका बद्ध जीवनमें मुक्त है और जीवनमें जो बद्ध है वह सपनेमें मुक्त है। तो यह सब बद्ध और मुक्तका जो भाव है कहीं टिकाऊ नहीं है। 'तस्माद्यान्तवत्त्वेन'—जैसे सपनेका जिज्ञासु और सपनेका जिज्ञासु, सपनेका दुःखी और सपनेका सुखी, सपनेका बद्ध और सपनेका मुक्त और सपनेका हत्यारा और सपनेका यज्ञ करनेवाला—दोनों जैसे जाग्रत्की दृष्टिसे अपना आपा ही है और कुछ नहीं है। इसी प्रकार, 'आद्यन्तवत्त्वेन मिथ्यैव खलु ते स्मृताः' इसलिए आदि और अन्तवाला होनेके कारण ये बन्धन और मोक्ष—दोनों बिना हुए ही भासते हैं। असलमें न बन्धन है और न तो मोक्ष है। बन्धनकी कल्पना करो तो करते रहो कि हम तो बद्ध हैं, अभी यह नहीं हुआ और हमारे पाँवसे आज चोटी मर गयी



तो हम भला मुक्त कैसे हो सकते हैं? कि कौन हो तुम? अरे, हमसे तो चींटी मर गयी, हम तो बद्ध हैं। हाँ, तुम बद्ध ही हो, ठीक है! बोले—अभी तो हमारे समाधि नहीं लगी तो हम मुक्त कैसे होंगे? यह सब कल्पना—जैसी-जैसी कल्पना करोगे उस-उस कल्पनाके अनुसार चलना पड़ेगा। ये सारी-की-सारी कल्पनाएँ आदि और अन्तसे युक्त होनेके कारण मिथ्या हैं!

‘सर्वे धर्मा मृषा स्वप्ने’—जिस कारणसे स्वप्नकी चीजोंको तुम झूठी समझते हो उसी कारणसे तुम जाग्रत्की चीजोंको भी मिथ्या क्यों नहीं समझते, यह प्रश्न है? क्या कि भाई सपना तो देहके भीतर दिखलायी पड़ता है तो वस्तु नहीं है। हम कहते हैं कि यह तुम्हारा शरीर जाग्रत् अवस्थामें और तुम्हारा परिवार और तुम्हारा मकान और तुम्हारा धन और तुम्हारी कल्पाएँ—ये सब विराट्के अन्दर दिख रही हैं। जैसे तुम्हारे अन्दर स्वप्न दीखता है वैसे विराट्के अन्दर तुम और तुम्हारे सारे सम्बन्धी दीख रहे हैं। तो ‘कायस्यान्तर्दर्शनात्’—जैसे स्वप्नमें हजार आदमी दिखें—सुखी-दुःखी, पापी-पुण्यात्मा, बद्ध-मुक्त तो वह शरीरके भीतर होनेके कारण इतने नन्हें-मुन्ने स्थानमें—हित है न,—‘हिता नाम सत्त हित या नाम नाड्यः’—ये हित नाड़ीमें एक इंचके हजारवें हिस्सेमें इतनी बड़ी दुनिया दिखी तो गलत। बोले—विराट्के हजारवेंमें नहीं, लाखोंमें नहीं, करोड़ोंमें नहीं, अत्यन्त सूक्ष्म अंशमें जिसको हम गणितसे नहीं निकाल सकते उसमें तुम्हारा यह सारा विस्तार दीख रहा है, तो यह मिथ्या क्यों नहीं? अब इसमें देखो कि यह वैराग्य देशमें जाग्रत् जो है वह मिथ्या है, क्योंकि योग्य देश न होनेके कारण अगर स्वप्नकी वस्तु मिथ्या है तो विराट्में योग्य देश न होनेके कारण यह तुम्हारा जाग्रत् मिथ्या क्यों नहीं? प्रत्यक् भूत-अखण्ड एकरस परब्रह्म परमात्मामें, जो अपना आत्मा है—जिसमें न माया है, न छाया, न विद्या है, न अविद्या—ब्रह्मविद्या भी उतनी ही झूठी है जितनी अविद्या। यह नहीं समझना कि ब्रह्मविद्या कोई सातवें आसमानसे उतरती है और बिलकुल सच्ची होती है। जबतक तुम्हारे साथ अविद्या लगी हुई है कि मैं अपनेको नहीं जानता, तबतक ब्रह्मविद्या माता तुम्हारा पीछा कर रही हैं कि बेटा, यह जो तुम चुड़ैल-चुड़ैल चिल्ला रहे हो—यह अविद्या है। यह चुड़ैल है और ब्रह्मविद्या जो है सो माँ हैं। वह कहती है कि अरे चुड़ैल बिलकुल नहीं है और तुमको लगी नहीं है, तुम तो वही हमारे बेटे हो। जैसे माँ बोले—वैसे ब्रह्मविद्या बोलती है कि तुम यह अविद्या चुड़ैल अपने अन्दर लगाकर कल्पना करके हजार-हजार जीव बन्धनसे जकड़ रहे हो। बन्धन और मोक्ष स्वर्ग और

नरक फैलाना और टिकाना यह तुम कल्पना कर रहे हो। अखण्ड-एकरस परब्रह्म परमात्मामें कहाँ अविद्या और कहाँ विद्या, कहाँ माया और कहाँ मायाका कार्य छाया! कहाँ माया, कहाँ छाया, कहाँ अविद्या, कहाँ ब्रह्मविद्या, इसमें कहाँ बन्धन और इसमें कहाँ मुक्ति? तो जिस कारणसे स्वप्नकी सारी बातें गलत सिद्ध होती हैं उसी कारणसे जाग्रत्की सारी बातें सिद्ध होती हैं! अब इस बातको और भी कई हेतु देकर बड़ा ही युक्ति-युक्त समझाया है। इन सब श्लोकोंका भाव वैतथ्य-प्रकरणमें एक बार आ गया है, परन्तु वहाँ तो था केवल जाग्रत्का स्वप्नवत् मिथ्या सिद्ध करनेके लिए। यहाँ यह आया है ब्रह्ममें प्रपञ्चको मिथ्या सिद्ध करनेके लिए। इसलिए दोनोंमें—वहाँ स्वप्नकी तुलनासे जाग्रत् मिथ्या है, यह सिद्ध करना इष्ट है और यहाँ परब्रह्म-परमात्मामें यह सम्पूर्ण नाम-रूपात्मक प्रपञ्च मिथ्या है यह सिद्ध करना है।

सर्वे धर्मा मृषा स्वप्ने कायस्यान्तर्निदर्शनात् ।

संवृतेऽस्मिन्प्रदेशे वै भूतानां दर्शनं कुतः ॥ 33 ॥

न युक्तं दर्शनं गत्वा कालस्यानियमाद्गतौ ।

प्रतिबुद्धश्च वै सर्वस्तस्मिन्देसे न विद्यते ॥ 34 ॥

मित्राद्यैः सह संमन्य संबुद्धो न प्रपद्यते ।

गृहीतं चापि यत्किञ्चित्प्रतिबुद्धो न पश्यति ॥ 35 ॥

स्वप्ने चावस्तुक कायः पृथगन्यस्य दर्शनात् ।

यथाकायस्तथा सर्वं चित्तदृश्यमवस्तुकम् ॥ 36 ॥

ग्रहणाज्जागरितवत्तद्धेतुः स्वप्न इष्यते ।

तद्धेतुत्वाच्च तस्यैव सज्जागरितमिष्यते ॥ 37 ॥

वैतथ्य प्रकरणमें प्रायः ये सारी बातें एक बार कह दी गयी हैं और आपको मालूम है कि अद्वैत प्रकरण और वैतथ्य प्रकरण दोनोंमें यदि कारिकाके श्लोक हैं तो उनमें-से साठ-सत्तर श्लोकोंमें मूलमें ही वेदान्त-वचनोंका उद्धरण है। इति वेदान्तनिश्चयः, संभूतेतिवादांश्च, भवप्रतिसिद्धतो, इन्द्रोमायाभिः। इत्यादि। आगम प्रकरण तो सम्पूर्ण ही उपनिषद्के मूल पर है। बारह मन्त्र माण्डूक्यके और उनतीस कारिकाके वे तो सोलहों आने उपनिषद् पर हैं। जाग्रत्में जैसे श्रवण करते हैं—वेदान्त-वचनका, तो वेदान्त-वचन हैं माण्डूक्य उपनिषद् और उनकी कारिकाएँ इनसे मनन प्रारम्भ करते हैं। द्वैतके मिथ्यात्वका निश्चय करनेके लिए वैतथ्य-प्रकरण है। और जब प्राज्ञ रूपसे समष्टिको अपनेमें लीन करके (सुषुप्ति)



शायन करते हैं तो प्राज्ञ है। इन तीनोंमें श्रुतियोंका संचार है, परन्तु तुरीय जो वस्तु है—जिसका अलातशान्ति प्रकरणमें वर्णन हैं वह कार्य 'साष्टांगाः एकोनविंशति पुंसः' ऐसा नहीं है। यह क्या है? यह तो 'नान्तःप्रज्ञं न बहिःप्रज्ञं नोभयतःप्रज्ञं, न प्रज्ञानघनं, न प्रज्ञं, नाप्रज्ञम्' माण्डूक्य उपनिषद्में जो यह तुरीय वस्तुका वर्णन है उसमें सबका ही निषेध हो जाता है। आत्म-तत्त्वका निरूपण है। वहाँ आगम-प्रकरण श्रवण-प्रधान, वैतथ्य-प्रकरण मनन-प्रधान, अद्वैतप्रकरण निदिध्यासन-प्रधान है और यह अलातशान्ति-प्रकरण तुरीय तत्त्व-प्रधान है। उपनिषद्का ही चार विभाग है। विश्व, तैजस, प्राज्ञ और तुरीय! वैसे ही कारिकाके भी चार विभाग मूलरूप उपनिषद्के अनुरूप ही हैं।

यह बात दुबारा फिर क्यों समझायी गयी? पहले स्वप्नके दृष्टान्तसे जाग्रत्को मिथ्या बतलाया गया। अब यहाँ स्वप्नके दृष्टान्तसे सम्पूर्ण प्रपञ्चको मिथ्या बतलाया जा रहा है। यहाँ तो यह कह रहे हैं कि स्वप्नमें जैसे बन्धन और मोक्ष कल्पित हैं वैसे ही प्रपञ्चमें बन्धन और मोक्ष कल्पित हैं। आपने देखा इन्होंने युक्ति दी कि बन्धन यदि अनन्त-अनादि है तो उसका अन्त नहीं हो सकता और यदि मोक्ष सादि है तो वह अनन्त नहीं हो सकता। क्योंकि अनादि वस्तु कहीं भी अन्तवान देखनेमें नहीं आती। यह बात अज्ञानको छोड़कर और सर्वत्र लागू होती है। अज्ञान ही एक ऐसी वस्तु है जो अनादि होने पर भी सान्त होती है, पता नहीं कबसे किसी वस्तुका अज्ञान चला आ रहा है परन्तु विद्या प्राप्त करने पर वह अज्ञान निवृत्त हो जाता है।

आप जर्मनी भाषा, जापान देशकी भाषा कबसे नहीं जानते हैं? बोले—इस जन्ममें तो नहीं जानते हैं। बोले—पिछले जन्ममें जानते होंगे! पर पढ़ा होगा न! उसके पहले कबसे नहीं जानते थे? तो उसका अज्ञान अनादि होनेपर भी उस भाषाका अभ्यास करनेपर वह निवृत्त हो जाता है। तो अज्ञानको छोड़कर जितनी भी अनादि वस्तु होती हैं वे अनन्त ही होती हैं, जैसे कल्पित अनादि वैसे ही कल्पित अनन्त और जैसे अकल्पित अनादि ब्रह्म, आत्मा वैसे ही अकल्पित अनन्त। और मोक्ष जो है—यह यदि साधनसे पैदा हो, मोक्ष निज स्वरूप न हो, तो! ब्रोलें—पाप-कर्मसे बन्धन हुआ तो पुण्य-कर्मसे मोक्ष हो जायेगा; सकाम कर्मसे बन्धन हुआ तो निष्काम कर्मसे मोक्ष हो जायेगा; संसार-वासनासे बन्धन हुआ तो भगवद्-वासनासे मोक्ष हो जायेगा; विक्षेपसे बन्धन हुआ तो समाधिसे मोक्ष हो जायेगा। कि न-न, वेदान्तका इस सम्बन्धमें निर्विवाद सिद्धान्त है कि अज्ञानसे

बन्धन है और ज्ञानसे मोक्ष है, अर्थात् बन्धन हुए बिना ही भास रहा है और मोक्ष नित्य-सिद्ध होनेपर भी अज्ञानके कारण नहीं मालूम पड़ रहा है, ज्ञानसे अज्ञानकी निवृत्ति होनेपर मोक्ष तो अपना स्वरूप ही है।

ज्ञान-अज्ञान कहनेका यह अभिप्राय निकलता है। 'अज्ञानसे बन्धन है'—इसका यह अर्थ है कि बन्धन है ही नहीं, न समझनेसे मालूम पड़ता है। ज्ञानसे मोक्ष है इसका अर्थ है—मोक्ष नित्यसिद्ध है, न समझनेके कारण मालूम नहीं पड़ता और समझनेसे मिट जाता है! तो बन्धन और मोक्ष भी वस्तुतः नहीं हैं।

न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः।

न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता॥

वै०प्र०-32

और गौड़पादाचार्यके जो सम्प्रदायमें गुरुके रूपसे प्रसिद्ध हैं। सम्प्रदायमें गौड़पादाचार्यका गुरु कौन? कि शुकदेवाचार्य। वे कहते हैं कि—

बद्धो मुक्त इति व्याख्या गुणतो मे न वस्तुतः।

गुणस्य मायामूलत्वान्न मे मोक्षो न बन्धनम्॥

श्रीमद्भा०-11-11-1

बन्धन और मोक्ष तो मुझमें हैं ही नहीं। तो श्रीकृष्णने लीला दिखलायी—क्या? कि यशोदा मैयाने उनकी कमरमें रस्सी बाँध दी और बन्दबाबाने आकर उसे खोल दिया—माने श्रीकृष्णमें न बन्धन है, न मुक्ति है, न अन्यके द्वारा आरोपित ही बन्धन है और अन्यके द्वारा आरोपित ही मुक्ति है, स्वरूपतः उनमें बन्धन और मोक्ष नहीं हैं। यह सिद्धान्त है, श्रीमद्भागवतमें—

अज्ञानसंज्ञौ भवबन्धमोक्षौ द्वौ नाम नान्यौ स्त ऋतज्ञभावात्।

अजस्रचित्यात्मनि केवले परे विचार्यमाणे तरणाविवाहनी॥

10.14.26

ब्रह्माजी कहते हैं कि बन्धन और मोक्ष ये अज्ञानके दो नाम हैं। तो यह बतलाया कि जैसे स्वप्नमें तुम देखते हो कि बहुत-से धर्म हैं। बहुत-से धर्म माने बहुत-से जीव—यह सेठजी हैं इन्होंने बहुत ब्लैक किया है; यह अफसर हैं इसने बहुत घूस ली है; यह पण्डितजी हैं—इन्होंने बहुत वेद-पाठ किया है; यह क्षत्रियजी हैं, राजा हैं इन्होंने बहुत बहादुरी की है—यह सब अलग-अलग मालूम पड़ता है कि नहीं?

अलग-अलग आदमी और उनके अन्तःकरणकी अलग-अलग स्थिति—



‘न लगतः इति अलगः ।’ परस्पर भिन्न-अलग नाम, अलग अलगम् इति अलगः अलतः, यही अलत् हो जाता है—वेदमें इसके लिए अलत शब्द आता है और उसके लिए अलीक शब्द हो जाता है। अलीक माने मिथ्या। अलग-अलग होना-अलत्-अलत् फिर अलक अलक, फिर अलीक-अलीक मिथ्या है। तो स्वप्नमें जीव हैं—धर्मात्मा, पापी, मुक्त, बद्ध, ये सब क्या हैं? बोले, वहाँ तो कोई जीव नहीं है। क्यों? कि देहके भीतर भला इतने सेठ, इतने राजा, इतने सैनिक, इतना बड़ा मेला, इतना बड़ा सत्सङ्ग कैसे होगा? बोले कि अगर देहके भीतर हो जानेसे स्वप्नके जीव मिथ्या हैं तो विराट्के भीतर हो जानेसे जाग्रत्के जीव भी मिथ्या हैं। मिथ्या शब्दसे घबड़ाना नहीं। मिथ्या माने मौत नहीं; मिथ्याका माने यह नहीं कि मर जायेगा जो मिथ्या होगा, भासमान है—आप जैसे मालूम पड़ते हैं ऐसे ही। जैसे अब अज्ञान दशामें मालूम पड़ते हैं वैसे ही ज्ञानदशामें भी यह शरीरोंका अस्तित्व अलग-अलग मालूम पड़े, परन्तु अधिष्ठान-दृष्टिसे, ब्रह्म-दृष्टिसे, परमात्मा-दृष्टिसे वह परमात्मासे जुदा नहीं है! वेदान्त प्रपञ्चको मिथ्या कहता है। उसका यह मतलब नहीं कि जो बाधित होगा, जो मिथ्या होगा वह मर जायेगा। वेदान्तके कहनेका मतलब यह है कि जो ब्रह्मज्ञानके द्वारा, अधिष्ठान-ज्ञानके द्वारा बाधित या मिथ्या होगा वह ब्रह्म हो जायेगा। अपनी परिच्छिन्नताका बाध होगा, पृथक्ताका बाध होगा। अपने परिच्छिन्नताका बाध होगा, पृथक्ताका बाध होगा। अपने अस्ति-भाति-प्रियका बाध नहीं होगा। शरीरके मिथ्यापनका बोध होनेसे वस्तुतः ब्रह्मभावको प्राप्त होओगे और अनन्त हो जाओगे! हो तो अनन्त और अपनेको अनन्त नहीं जानते।

अब दूसरी बात बतलायी—असलमें, जैसे शरीरके भीतर हड्डियाँ हैं, जैसे बाहर पेड़ और पत्थर होते हैं, जैसे नदियाँ बहती हैं वैसे नाड़ियोंमें रक्तका प्रवाह होता है—‘देहेस्मिन् पर्वताः सर्वे’। सब पहाड़ हैं शरीरके भीतर; नदाः—सोनभद्र आदि नद हैं, जिनमें लाल पानी बहता है। ‘नदाः नद्यस्य’—नर्मदा आदि, इडा, पिंगला, सुषुम्ना ये नदियाँ इसमें बहती हैं। इसमें जो कीटाणु हैं कोई श्वेत हैं, कोई भूरे हैं। इनमें भी सीमा-बन्धन होता है। यहाँतक हमारा स्थान, यहाँतक तुम्हारा! एक-दूसरेमें चले जायँ तो मार-काट होती है, वे लड़ते हैं। आपसमें युद्ध होता है—जैसे बाहर दुनियामें युद्ध होता है। स्वप्नमें तो होता ही है। ऐसे ही विराट्के शरीरमें यह अलग-अलग जाति, सम्प्रदाय, प्रान्त, राष्ट्र और अलग-अलग मिट्टी, पानी, आग, हवा, आसमान मालूम पड़ते हैं। इसमें जो अलग-अलग जीव मालूम

पड़ते हैं और इसमें जो बद्ध-मुक्त मालूम पड़ते हैं—ये सब विराट् शरीरके अन्तरालमें होनेके कारण, अन्तर्वर्ती होनेके कारण स्वप्नवत् हैं। अपने अधिष्ठानसे अभिन्न हैं। ब्रह्मरूप हैं—इसका अभिप्राय है। बौद्ध मतमें जैसा इसका अर्थ होता है कि यह शून्य है—ऐसा नहीं। बस, इतना ही तो फर्क है। द्वैतके निषेधके लिए जितनी बौद्धयुक्ति है वह सब हमको स्वीकार है और अधिष्ठानके खण्डनके लिए उनकी जितनी युक्ति हैं उन सबका हम खण्डन करते हैं; क्योंकि निरधिष्ठान-ब्रह्म सत्य ही नहीं है, वही प्रकाशक है, सत्य है।

अब एक बात यह बतलायी कि योग्य स्थान न होने कारण स्वप्न जो है सो मिथ्या है, वहाँ हिंसा नामकी सूक्ष्म नाड़ीमें इतना प्रपञ्च कैसे? बोले कि स्वरूप-भूत, प्रत्यक्-भूत जो अखण्ड एकरस ब्रह्म है उसमें दूसरेका दर्शन कहाँसे? इसलिए यह प्रपञ्च मिथ्या है। एक दूसरी युक्ति बतलायी—

‘न युक्तं दर्शनं गत्वा’ जागरितमें, जाग्रत् अवस्थामें ‘गत्यागमनका’ तो ‘देशो प्रमाणतये नियतः’—देखो, जाग्रत् अवस्थामें एक चींटी चलती है—आप कभी देखें, खम्भेपर चींटी चढ़ रही है, दीवारपर चींटी चढ़ रही है, तो एक मिनटमें खम्भेपर, दीवारपर कितनी दूर तक चींटी चलती है, इसका कुछ हिसाब, गणित होगा न! एक चींटों अपने चार पाँवसे चढ़ी जा रही है। एक मिनटमें वह कितने फुटतक चली? तो स्थानका भी नियम हो गया, देशका भी नियम हो गया कि इतने फुटतक चली और इतने कालमें चली—यह कालका नियम हो गया। तो जाग्रत् कालमें जब कोई क्रिया होती है—गमनागमन होता है तो वहाँ देशकी मात्रा और नियत-कालकी मात्रा देखनेमें आती है। परन्तु स्वप्नमें देशकी मात्रा और कालकी मात्रा नियत नहीं देखनेमें आती, वहाँ तो एक सेकेण्डमें हजार मील चले जायँ, हजार आदमीसे मिलकर आ जायँ। एक सेकेण्डमें हजार मील? क्या हवाई जहाजसे उड़कर जाते हैं? क्या ऐसा हवाई जहाज बन गया स्वप्नमें जो जाग्रत्में नहीं? अब यह बतलाते हैं कि स्वप्नमें एक स्थानसे दूसरे स्थानतक पहुँचनेमें जो काल चाहिए वह नहीं है और जो स्थान चाहिए वह नहीं है, परन्तु गमनागमन तो देखनेमें आता है। बोले—यह क्यों समझते हो? कि यह इसलिए समझाते हैं कि मनकी गतिमें, सूक्ष्मशरीरकी गतिमें और स्थूलशरीरकी गतिमें जो फर्क बतलाते हैं, उसको जरा समझो! एक मिनटमें हम दिल्ली होकर आगये अपने मनसे। दिल्लीमें एक आदमीको याद किया, उसका मकान देखा, मिले और लौट आये। यह जाग्रत्के मनमें होता ही है। ऐसे स्वप्न आते हैं जब युद्धके संस्कार प्रबल हो



जाते हैं तब युद्धभूमिके स्वप्न आते हैं और यह जब कर्म-मीमांसक लोग स्वर्गका संस्कार प्रबल कर देते हैं तब स्वर्गका स्वप्न आने लगता है। इससे तो मनुष्यकी मनोवृत्ति ही बतलायी जाती है किसके मनने कैसा सपना देखा?

एक सपनेकी बात बहुत मशहूर है—एक देशके बादशाहने यह स्वप्न देखा कि सात गायें चर रही हैं और सातों-की-सातों काली। ऐतिहासिक बात है और यह पारसस्थान—माने सिन्धु नदीके पारके जो स्थान हैं उनको पारसस्थान बोलते हैं, तो सात काली गायें देखीं और स्वप्नमें दुर्भिक्ष पड़ा और सातों मर गयीं, तो उन्होंने स्वप्न-शास्त्रके जानकारोंसे पूछा कि तुम्हारे देशमें अबसे इतने दिन बाद ऐसा दुर्भिक्ष पड़नेवाला है कि प्रजा भूखों मरने लगेगी। तो इससे यह सूचना तुम्हें दी गयी है कि अब तुम दुर्भिक्षके निवारणका उपाय करो—तालाब बनवाओ, नहर खुदवाओ, बाँध बँधवाओ और अभीसे पानी इकट्ठा करो। सचमुच उस देशमें दो वर्षके बाद बड़ा भारी दुर्भिक्ष पड़ा और उस सूक्ष्म-स्वप्नकी सूचनाके आधारपर उसपर विजय प्राप्त की गयी। स्वप्न जाग्रत्के संस्कारसे आता है, यह भी ठीक मानते हैं भला! किसी भविष्यकी सूचना भी देता है, यह भी ठीक। हमलोग जो मिथ्या मानते हैं, वह मिथ्या माननेका अभिप्राय दूसरा होता है—‘स्वभावाधिकरणे भासमानत्वं’—अपने अभावके अधिकरणमें वस्तुका भासना—यह मिथ्या है। जिस समय सपना दीखता है, उस समय सपनेका हाथी, सपनेका घोड़ा, सपनेका रथ, सपनेका पथ, सपनेका अथ, सपनेकी इति—यह ऐसी जगह दिखलायी पड़ती है जहाँ बिलकुल नहीं है, हम यह थोड़े ही कहते हैं कि पहलेका संस्कार नहीं है या पीछे उसकी कोई सूचना नहीं है। मिथ्यात्व तो उसका इतना ही है—‘एतावन्मात्र मिथ्यात्वं’ है कि वह जिस समय, जहाँ सपनेकी चीजें दीख रही हैं वहाँ नहीं हैं। ‘ज्ञाननिवर्तत्यत्वं’—प्रबोध होनेपर सब बाधित हो जाता है, कोई चीज नहीं है—‘न तत्र रथाः न रथयोगाः।’ न वहाँ रथ था, न घोड़े थे—कुछ नहीं था।

देखो, मनकी गतिको समझो—बिना स्थानके स्थान बना ले, बिना कालके काल बना ले, बिना वस्तुके वस्तु बना ले, बिना व्यक्तिके व्यक्ति बनाले, बिना सम्बन्धके सम्बन्ध बनाले, बिना हुई चीज दिखा दे—यही न, सपनेका स्वरूप है। सूक्ष्म-शरीरके गमनागमनको आप समझो—यह विलायत जाता नहीं, स्वयं विलायत बनकर विलायतका जाना दिखा देता है, यही इसका रूप है। एक बात जो कहनी है उसके लिए यह भूमिका बनाता हूँ। कहते हैं कि मृत्युके बाद मनुष्य पाप-कर्मके अनुसार नरकमें जाता है, पुण्यकर्मके अनुसार स्वर्गमें जाता है—कोई



पितृयान-मार्गसे, चन्द्र-लोकके मार्गसे जाकर लौट आते हैं और कोई देवयानके मार्गसे, आदित्य मार्गसे सूर्यलोकके द्वारा जाकर नहीं लौटते हैं ! तो प्रश्न यह है कि यह जाना-आना क्या है ? तो जैसे, जाग्रत् शरीरसे हम नियत स्थानमें, नियत समयसे इतने बजकर इतने मिनटपर चलते हैं और बीस मिनटमें यहाँ पहुँचते हैं । भाई, हम जिस मकानमें रहते हैं वहाँसे भारतीय विद्या-भवन पहुँचनेके लिए, पैदल-मार्गसे करीब २० मिनट लगते हैं, तो स्थान भी निश्चित हो गया और मिनट भी निश्चित हो गया । लेकिन अब प्रश्न यह है कि स्वर्ग जानेमें कितनी देर लगती है, नरक जानेमें कितनी देर लगती है—अर्चि आदि मार्गसे—देवयान पन्थानमें जानेमें कितनी देर लगती है ! वहाँ भी नियत देशमें, नियत कालसे जाना होता है क्या ? इसमें बड़ी-बड़ी प्रक्रिया है । पौराणिक वर्णन दूसरा है । इतना बढ़ाते भी इसलिए हैं कि लोगोंको पौराणिक वर्णनका संस्कार इतना अधिक होता है कि वह जो उसका दार्शनिक सिद्धान्त है अपने आग्रहके कारण उसको समझ नहीं पाते हैं । यह जो बाइबिलमें, (उसमें भी है वर्णन) जिस दिव्य लोकमें जानेका वर्णन है और कुरानमें जिस विहिस्तमें जानेका वर्णन है (विहिस्त और दोजख तो कुरानमें भी हैं) और उनका वर्णन हमारे पुराणोंमें भी है । तो नरकका वर्णन नरकसे बचनेके लिए नहीं है, पापसे बचनेके लिए है । अरे, नरकसे डरकर पाप मत करो ! स्वर्गका वर्णन स्वर्गमें जानेके लिए नहीं है, यहाँ धर्मानुष्ठान करनेके लिए है, जिससे अन्तःकरणकी शुद्धि हो । धर्मानुष्ठानकी प्रेरणा देनेके लिए स्वर्गका वर्णन है और पाप-प्रवृत्तिसे बचनेके लिए नरकका वर्णन है कि इसी जीवनमें वे हितकारी हैं । अब बतलाते हैं कि जाना-आना कैसे होता है ! देखो, वेदान्तवाद जो है—अवादवाद, उसके हिसाबसे स्थूल शरीर तो आप जानते ही हो । इसे चाहे आप फूँक दो, चाहे गाड़ दो, चाहे नदीमें डलवा दो—यह शरीर तो न नरकमें जाता है, न स्वर्गमें, न अर्चि आदिमें, न चान्द्रमस ज्योतिमें, न सौर ज्योतिमें, कहीं नहीं जाता, शरीर तो यहीं रहता है । तो बोले, फिर आत्मा जाता है ? 'कृत्स्नस्तु प्रज्ञानधन इव'—आत्मा जो है वह ठसाठस ठोस ब्रह्म ही है—आत्मामें जाना-आना नहीं हो सकता । तब बोले कि यह जो आभास है अन्तःकरणमें, अन्तःकरणकी स्वच्छताके कारण जो चित्त और अन्तःकरण प्रदेशमें, जड़में चेतनका और चेतनमें जड़का जो भ्रम हो गया है, उस भ्रमसे जो चिदाभास मालूम पड़ता है—वह चिदाभास माने अहं, अभिमान । मैं पापी होनेके कारण नारकीय हूँ, मैं पुण्यात्मा होनेके कारण स्वर्गीय हूँ । भला, निकलेगी यह बात ! नहीं, कहीं जाना-आना नहीं है । जैसे कोई



यहाँ बैठे-बैठे इस निश्चयपर पहुँच जाय कि मैं दिल्लीमें हूँ—इसको आभास बोलते हैं, जैसे शराबी जो है उसका शरीर होता है पनालेमें और वह ख्याल करता है कि मैं विहिस्तकी सैर कर रहा हूँ। तो ऐसा क्यों होता है कि जो पापकर्मानुष्ठानजन्य ग्लानि है उससे हम अपनेको नारकीय समझते हैं और पुण्याचरणजन्य जो अभिमान है, उस अभिमानसे हम अपनेको स्वर्गीय समझते हैं। यह जो आभासमें अपने सुखित्व और अपने दुःखित्वकी उपस्थिति है, उसीके कारण स्वर्गरूपी-सुख और नरकरूपी-दुःख अनुभव होता है और वही स्वर्ग बनता है, वही नरक बनता है अन्तःकरणमें। श्रीशुकदेवाचार्यजी महाराजने, गौड़पादाचार्यजी महाराजके गुरुने समझाया है कि—

स्वप्ने यथा पश्यति देहमीदृशं मनोरथेनाभिनविष्टचेतनः ।

दृष्टश्रुताभ्यां मनसानुचिन्तयन् प्रपद्यते तत् किमपि ह्यपस्मृतिः ॥

श्रीमद्भा०-10.1.41

उसमें हजारों वर्ष लग जाते हैं। कैसे कि हजारों वर्षकी संवित् ही तो वर्ष है। वर्ष माने जानकारीका एक रूप और वहाँ हजारों नरकमें गिरना पड़ता है। हजारों नरक माने जानकारीका एक रूप। कर्म-संस्कारजन्य जो वासनाएँ—नरक-वासना, स्वर्ग-वासना इससे उनका अनुभव होता है। अच्छा, अवच्छेदवादमें ऐसा मानते हैं कि इसमें अवच्छेद जो है, अवच्छिन्न जो आत्मा है, अन्तःकरणावच्छिन्न जो चैतन्य है उसका न अन्तःकरणमें आभास ही है ओर न तो प्रतिबिम्ब ही है। वह तो ज्यों-का-त्यों कूटस्थ ही है—कूटस्थ चैतन्यको ही अवच्छिन्न चैतन्य कहते हैं। वह तो ज्यों-का-त्यों द्रष्टा और साक्षी और अन्तःकरण नरकका सिनेमा दिखलाता है, अन्तःकरण स्वर्गका सिनेमा दिखलाता है—यह सब सिनेमाकी तरह अन्तःकरण तत्तदाकार होता है, मन तत्तदाकार होता है, सूक्ष्म शरीर तत्तदाकार होता है, अवच्छेदका आना-जाना नहीं होता। अच्छा, अब दृष्टि-सृष्टिवादमें लो! कि वहाँ तो नरक-स्वर्गकी बात छोड़ो, यह जो जाग्रत्-प्रपञ्च है, यही दृष्टि-मात्र है; यह नहीं कि जहाँ-जहाँ दृष्टि है वहाँ-वहाँ सृष्टि है—ऐसे नहीं, 'यत्र-यत्र दृष्टिः तत्र-तत्र सृष्टिः'—ऐसे नहीं, 'दृष्टिरेव सृष्टिः'—वहाँ तो दृष्टिके सिवाय न नरक है, न स्वर्ग है, न चन्द्रमा है, न सूर्य है, न देवयान है, न पितृयान है, न दक्षिणायन है, न उत्तरायण है, न वहाँ काल है, न तो स्थान है और न तो द्रव्य है, दृष्टि ही सृष्टि है।

अब अजातवादकी कल्पना करो। अजातवादकी कल्पना करो, तो वहाँ—'न जायते चित्तं चित्तदृश्यं न जायते'—'जीवो न जायते कश्चित्'—यह चार बात



देखो, 'चित्तं न जायते'—चित्तकी उत्पत्ति नहीं हुई; 'चित्तदृश्यं न जायते'—चित्तके दृश्यकी उत्पत्ति नहीं हुई इसमें जाग्रत्-स्वप्नका भेद नहीं है, जैसे स्वप्न चित्त-दृश्य है वैसे ही जाग्रत् भी चित्त-दृश्य ही है। तो 'चित्त-दृश्यम् अवस्तुकः'—जो चित्तदृश्य है वह तो अवस्तुक है, यह विज्ञानवादी बौद्धोंने स्वीकार किया और दृष्टि-सृष्टिवादियोंने स्वीकार किया। 'चित्तदृश्यं अवस्तुकम्' और 'न कश्चिज्जायते जीवः संभवोऽस्य न विद्यते'।

न कश्चिज्जायते जीवः संभवोऽस्य न विद्यते।

यह 'अजात-अजात' भी क्यों बोलते हो, इसके ऊपर भी वेदान्त है। वेदान्त कहता है—'अजः कल्पितसंस्मृत्याः'—तुमको जातकी कल्पना हो गयी है, अपने स्वरूपके अज्ञानसे। यह कल्पना हो गयी है कि यह पैदा हुआ, तो नेति-नेतिके द्वारा उसका निषेध करनेके लिए उस सत्त्वका एक नाम हमने कल्पित रूपसे 'अजात' रखा है, 'अज' रखा है, कि वस्तुतः तो वह भी नहीं। जो लोग कहते हैं कि हम अर्चि आदि मार्गसे पहले सूर्य-मण्डलका भेदन करेंगे और फिर जाकर ब्रह्मका दर्शन करेंगे तो बोले—जो ब्रह्म सूर्य-मण्डलके पार है वही ब्रह्म वहाँ है जहाँसे तुमने यात्रा प्रारम्भ की। यह 'घरका योगी योगना आन गाँवका सिद्ध' है! अपने घरका इच्छाके मूलमें विद्यमान, गतिके मूलमें विद्यमान, विचारके मूलमें विद्यमान जो अपना आपा है उसको तो तुमने ब्रह्म समझा नहीं, अपने घरके पारसको पहचाना नहीं और दूसरेके घर लोहा माँगने जाते हैं। जहाँसे इच्छा उदय होती है, जहाँसे अन्तःकरण भासता है, वह अपना-आपा!

'न युक्तं दर्शनं गत्वा'—ब्रह्म लोकमें कब पहुँचेंगे, सूर्य-मण्डलमें कब पहुँचेंगे, स्वर्गमें कब पहुँचेंगे, नरकमें कब पहुँचेंगे—तो ये सब दर्शन जितने होते हैं वे कालका नियम न होनेके कारण इसमें गति नहीं है, कहीं जाना-आना नहीं है, जाने-आनेकी केवल कल्पना ही होती है।

अब दूसरी बात बतलाते हैं, सपनेका एक और दृष्टान्त देते हैं। देखो, सपनेमें हमने देखा कि हम गंगातटपर हैं और जगे तो बम्बईमें हैं। अब यह बताओ कि जागनेपर हम जहाँ होते हैं वह चीज सच्ची होती है कि सपनेमें जहाँ हम रहते हैं, जो हम करते हैं वह सच्चा होता है? वह सच्चा नहीं होता? तो बतलाया कि जब 'प्रतिबुद्धश्च वै सर्वः'—जब हम जाग जाते हैं, प्रतिबोध होता है। प्रतिबोध क्या है कि यह घड़ेका, कपड़ेका, घड़ीका, पुस्तकका मेजका, स्त्रीका, पुरुषका ज्ञान हुआ; तो यह सब तो अलग-अलग हैं पर ज्ञान तो एक है। ज्ञान एक है और ज्ञानमें



दीखनेवाले आकार जुदा-जुदा हैं—भला ! तो मैं ब्राह्मण हूँ, मैं संन्यासी हूँ, मैं हिन्दू हूँ, मैं महाराष्ट्रीयन हूँ, मैं गुजराती हूँ, मैं भारतीय हूँ—यह सारा ब्रह्म कट जायेगा कि नहीं ? मैं सौर-मण्डलका हूँ, कि मैं चन्द्र-मण्डलका हूँ, कि मैं नारकीय हूँ, कि मैं स्वर्गीय हूँ—‘प्रतिबुद्धश्च वै तस्मिन्’—देहमें होकर, देहके स्थानमें बैठकर, जैसे स्वप्नकालमें हम एक स्वप्नके शरीरमें बैठकर गंगा-स्नानका दृश्य देख रहे थे, अब जग गये, जग गये तो बम्बईमें बैठकर बम्बई शहर देख रहे हैं। तो स्वप्नमें स्थानान्तर होता है और जाग्रतमें स्थानान्तर होता है, तो स्वप्नकी जो वस्तु होती है और जाग्रतमें नहीं होती। हम कहते हैं कि जब देह-रूप स्वप्नदेशमें बैठते हो तो तब ऐसी दुनिया सच्ची मालूम पड़ती है और जब जग गये स्थानान्तर हो गया तब कहाँ गये कि अपनेको ब्रह्म जान लिया। अपनेको ब्रह्म जान लिया तब इस देहके और इस अन्तःकरणके जो सत्य हैं वे स्थान-भेद हो जानेके कारण बिलकुल छूट गये। क्योंकि जिस स्थानमें, जिस देहमें बैठकर तुम संसारका अनुभव कर रहे हो—संसार माने कर्मानुसार पुनर्जन्म होगा, कर्मानुसार स्वर्ग होगा, कर्मानुसार नरक होगा, उपासनानुसार इष्टदेवका लोक मिलेगा, योगानुसार समाधि मिलेगी—यह सब तुम जिस देहमें बैठकर सोच रहे हो, ब्रह्मज्ञान होनेसे जब तुम अपनेको यह देह नहीं समझोगे, यह देह जब मिथ्या हो जायगा—यह स्थूल और सूक्ष्म देह जब—‘न मेरे हैं, न मैं हूँ, न सत्य हैं’—यह निश्चय जब तुमको हो जायेगा, यह अनुभव जब तुमको हो जायेगा तब तुम ब्रह्म हो न ! जब ब्रह्म हो तो देहमूलक गति जो आजाती है उसके साथ तुम्हारा कोई सम्बन्ध नहीं रहेगा, क्योंकि वे तो जग गये, देहमें—यह तो सपनेमें जैसा देह होता है वैसा जाग्रत् देह है और उसमें बैठकर तुम सपना देख रहे हो कि यह हमारा पति, यह हमारा बेटा, यह हमारा सम्बन्धी, यह हमारा सगा, यह हमारा पाप, यह हमारा पुण्य, यह हमारा नरक, यह हमारा स्वर्ग—सब देहमूलक हैं और जहाँ देहाभिमान कटा और ब्रह्मानुभूति जगी वहाँ यह सब कट गया, स्वप्न हो गया।

अब एक बात और बतलाते हैं—

‘मित्राद्यैः सह सम्मन्य’—देखो, सपनेमें दोस्त मिलते हैं न, तो उनके साथ सलाह-मशविरा होता है, वकील कोई मिल जाय तो मुकदमेकी सलाह दे देगा, तुरन्त; डाक्टर मिल जाय—चाहे कोई रोग शरीरमें न हो, अरे बाबा, कई लोग तो डिस्टिलवाटरका इन्जेक्शन लगाकर दवाका दाम ले लेते हैं और बिटामिनकी गोली देकर असली दवाका दाम ले लेते हैं—यह तो सभी जगह चलता है ! स्वप्नमें



समझो कोई मित्र मिले, उनके साथ खूब मन्त्रणा हुई, लेकिन जग गये तो वह मित्र भी नहीं और वह मन्त्रणा भी नहीं और वहाँ जो उपलब्धि हुई थी सो—उन्होंने बहुत बढ़िया भेंट दी थी—वह घड़ी दी थी, वह कलम दी थी सपनेमें, अब जाग्रतमें लेकर आये क्यों नहीं? तो, यह दृष्टान्त पहले यों दिया हुआ है कि स्वप्नके समान जाग्रत्। साम्य दृष्टान्त—यहाँ दूसरे अभिप्रायसे दिया हुआ है। क्या अभिप्राय है यहाँ, कि यहाँ यह अभिप्राय है कि एक जिज्ञासु घरमें—से निकला और उसके मनमें यह संकल्प आया कि हम संसारमें बड़े बँधे हुए हैं, बड़ा दुःख है—पत्नी अलग सताती है, भाई अलग सताता है, बेटा अलग सताता है। एक दुःख—मूलक दर्शन भी होता है—दुःखसे बचनेकी कोशिश करता है और सच्चा आदमी होता है—सत्यका प्रेमी, ये लोग भी तो जिद्द करते हैं। हम सच बोलेंगे। तो उनको चाहिए कि जब सच बोलनेका नियम लें तब सत्यकी जानकारी भी प्राप्त करें कि सत्य क्या है? कि मित्रके साथ विचार करने लग गये कि भाई! हमको श्रेय चाहिए, हमको प्रेम नहीं चाहिए, अरे रागमें कुछ नहीं रखा है, भोगमें कुछ नहीं, वासना व्यर्थ है। खूब वैराग्य हुआ और गुरुजीके पास गये। वहाँ ब्रह्मवादियोंके साथ वेदान्तविचार चला कि यह अधिष्ठान स्थलमें जो अध्यास भासता है यह कैसे हो गया? जिस आत्माको नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त कहते हैं वह अपनेको पापी कैसे अनुभव कर रहा है—अब यह चर्चा चली। वेदान्तका श्रवण हुआ डटकर।

‘मित्राद्यैः सह संमन्त्र्य’—मित्रोंके साथ, अपने साथी, अपने साथी जिज्ञासुओंके साथ और ‘आद्यैः’—‘गुरुभिः सह’—गुरुके साथ भी खूब बातचीत हुई। और संमन्त्रणा क्या हुई कि ‘तत्त्वमसि’। ऐसे ही और ‘सम्मन्त्र्य’—खूब मनन हुआ, खूब निदिध्यासन हुआ। अरे भाई, बन्धनमें बड़ा क्लेश है, इससे छुट्टी पाओ। अब वहाँ गुरुजी महाराजने ‘तत्त्वमसि’ महावाक्यका उपदेश करके जगा दिया। जगा दिया तो क्या देखते हैं कि श्रेय तो हम स्वयं हैं, न वैराग्य करनेकी जरूरत थी, न गुरुके पास जानेकी जरूरत थी, न श्रवण-मनन, निदिध्यासन करनेकी जरूरत थी—यह सब तो अविद्या निद्राके वशीभूत होकरके मैंने किया। मैं तो गुरुजीके पास जानेके पहले ही मुक्त था। मैं तो वेदान्तका श्रवण-मनन करनेके पहले ही मुक्त था। मैं तो वैराग्य होनेसे पहले ही मुक्त था। यह इतना गोबर पाथना पड़ा बिलकुल अज्ञानके कारण, बिलकुल अज्ञानके कारण यह करना पड़ा। तो देखो, क्या हुआ? बोले, मुक्ति जो है सो साधन-साध्य नहीं है और मेरे लिए नहीं है सो तो है ही, किसीके लिए भी नहीं है। कि क्यों? कि



‘सर्वमुक्तत्वनिश्चयात्’—क्योंकि सभी मुक्त हैं, इसलिए यह जो हम मुमुक्षु बने थे कि हम मोक्ष चाहते हैं—हम जो जिज्ञासु बने थे, हम जो गुरुजीकी सेवामें गये थे, हमने जो श्रवण-मनन-निदिध्यासन किया था, वह अज्ञानीकी दृष्टिसे जब हम अज्ञानमें फँसे हुए थे तब उस समय सब बिलकुल ठीक लगता था, लेकिन अब तो हम अपनेको ब्रह्म जान गये तो वह सब भ्रान्तिसिद्ध ही था। बोले—कि भेंट क्या मिली? तो बोले—यह उपदेश ही वहाँकी भेंट है। बोले—कि इस भेंटकी हमको कोई जरूरत थी? बोले—नहीं। वह उपदेश अब कहाँ है? बोले कि ब्रह्मके अनुभवमें ‘न शास्ता, न शास्त्रं, न शिष्यो न शिक्षाः न च त्वं न चायं प्रपञ्चः। स्वरूपावबोधो विकल्पा सहिष्णुस्तदेकोऽवशिष्टः शिवः केवलोऽहम्’। हैं न! न वहाँ कोई शास्ता है, न शास्त्र है, न शिष्य, न शिक्षा है—‘गुरुर्नैव शिष्यः चिदानन्दरूपः शिवोऽहम्, शिवोऽहम्’—वहाँ तो न कोई गुरु है, न कोई चेला है, वह तो भ्रान्तिसे सबकी जरूरत मालूम पड़ती थी, और सब था तथा वहाँ जो उपदेश आदि लेनेकी जरूरत मालूम पड़ती थी वह जबतक भ्रम था, तभीतक था।

‘गृहीतं चापि यत्किंचित्प्रतिबुद्धो न पश्यति’—तत्त्वज्ञ पुरुष इन सब बातोंको नहीं देखता है, क्योंकि वह तो जानता है कि अखण्ड एकरस प्रज्ञानघन ब्रह्म वही है। इसीसे बतलाया कि अज्ञानसे बन्धन है और ज्ञानसे मुक्ति है। बोले—भाई, सपनेमें बड़ी प्यास लगी थी, जागनेसे मिट गयी, इतनी ही बात है! अज्ञानमें बड़े-बड़े दुःख हैं, दुःखीपना है और ज्ञानमें न दुःख है, न दुःखीपना।

चित्तकी एक दशा स्वप्नाकार भास रही है और चित्तकी एक दशा सुषुप्ताकार भास रही है—एक अग्रहण और एक अन्यथा ग्रहण। विषयको ग्रहण करना, चित्तका स्वभाव है। जब वह सुषुप्ति दशामें विषयको ग्रहण नहीं करता है, तो उसे ‘अग्रहण’ बोलते हैं। जाग्रत्-स्वप्न दशामें अन्यथा ग्रहण करता है। अन्यथा ग्रहणका अभिप्राय यह हुआ कि वह स्वयं ही है। चित्त अपने स्वयंको अन्य रूपमें और अन्यान्य रूपमें ग्रहण करता है। जैसे सपनेमें/सपना देखनेवाला एक बेचारा अकेला है। चारपाईपर सोया हुआ है। वह वहाँ मनुष्य बनकर हजारों मनुष्य देखता है। अपनेको कभी पापी मानता है, कभी पुण्यात्मा मानता है। वह स्वप्नमें कभी सुखी मानता है, कभी दुःखी मानता है। स्वप्नमें कभी संयोग होता है, कभी वियोग होता है। स्वप्नमें वैराग्य होता है, स्वप्नमें त्याग होता है। स्वप्नमें जिज्ञासु बनकर गुरुके पास जाते हैं, स्वप्नमें विवेक, वैराग्य, साधन-सम्पत्ति होते हैं। श्रवण-मनन निदिध्यासन होता है। स्वप्नमें जीवन्मुक्त मिलते हैं—यह सब अन्यथा ग्रहण ही है,



वहाँ स्वयं स्वके अतिरिक्त और कोई वस्तु नहीं है। न शरीरके भीतर कुछ है, न विराट्के भीतर कुछ है। न स्थान है, न समय है। देहको 'मैं' मानकर सब दीखता है। तो, सपनेमें जिस देहको 'मैं' मानकर देखते हैं—वह तो कुछ है ही नहीं। ऐसे ही यह जाग्रत् भी चित्तकी ही एक दशा है। स्वप्नमें जैसे अनहुआ शरीर है, उसको 'मैं' मानकर बेटी-बेटावाले, धन-पत्नीवाले, जाति-सम्प्रदायवाले, गुरुवाले, चलेवाले मुक्त-बद्ध सब कुछ मानते हैं वैसे ही जाग्रत् दशामें भी एक अनहुए शरीरको ही मानकर अपनेको सबकुछ मान रहे हैं।

देखो, हिन्दूको हिन्दू होनेका कितना आग्रह है, मुसलमानको मुसलमान होनेका कितना आग्रह, शैव और वैष्णव, पशु और मनुष्य और यह है सब स्वप्न-दशाके समान ही। और नहीं तो जिन्दगी भर बतलाओ कि तुम ब्रह्म हो, ब्रह्म हो, लेकिन वे कहेंगे कि हम तो रागी हैं—हम भला ब्रह्म कैसे? हम तो त्यागी हैं, हम भला ब्रह्म कैसे? त्यागी लोग भी अपनेको ब्रह्म नहीं मानते हैं, जैसे रागी अपनेको नहीं मानते हैं, त्यागी तो अपने बराबर किसीको नहीं मानते हैं। वह तो होता है देहाभिमानी ही। रागी भी देहाभिमानी, त्यागी भी देहाभिमानी। अपनेको जिज्ञासु ही मान बैठे तो? अरे भाई! शास्त्र बतलाता है, गुरु बतलाता है, युक्तिसे सिद्ध होता है, अनुभवसे सिद्ध होता है कि 'तुम ब्रह्म हो'—यह जो जाननेकी इच्छावाला जिसको मान रहे हो न—जिज्ञासु माने जिसको ज्ञानकी इच्छा है, तो ज्ञानकी इच्छा जिस अन्तःकरणमें है, उस अन्तःकरणवाला शरीर तो स्वप्न-शरीरके समान ही अनहुआ मालूम पड़ रहा है। ब्रह्ममें इच्छा कहाँसे? तो गुरु बतलायेगा, शास्त्र बतलायेगा, विचारसे सिद्ध होगा, अनुभवसे सिद्ध होगा कि अपना आत्मा नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त है। अब उसमें एक और पूँछ लगा देंगे कि हम तो बड़े मुमुक्षु हैं। अरे, तुम मोक्ष हो, मुमुक्षु नहीं। बोले, हम जिज्ञासु हैं कि नहीं, तुम ज्ञान हो, जिज्ञासु नहीं हो। तुम साधन-साध्य नहीं हो स्वयं सिद्ध हो! है न! यह हमारा जिसमें कर्तव्यका अत्यन्ताभाव है—ऐसा स्वरूप है।

वेदान्तके प्रारम्भमें एक बात आती है—वेदान्तका दर्शन ककहरा समझो उसको, क ख ग घ जैसे होता है ऐसे। 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' यह प्रथम सूत्र है। वहाँ 'ब्रह्म-जिज्ञासा' शब्दमें आचार्योंने यह आपत्ति उठायी है कि जिज्ञासा कर्तव्य नहीं है। युक्ति दी कि इच्छा जो है वह कर्तव्य नहीं होती। इच्छा जब उठ जाती है कि हमको मिठाई चाहिए, हमको पैसा चाहिए, हमको स्त्री-पुरुष चाहिए—जब इच्छा मनमें आजाती है, तब मालूम पड़ती है। इच्छा कर्तव्यमान नहीं है, उदित-



इच्छाका ज्ञान होता है। कर्म कर्तव्य होता है। पाँवसे वहाँ चलकर जाना कर्तव्य है, हाथसे घड़ी उठाना कर्तव्य है; होम करना कर्तव्य है—जो पुरुषके प्रयत्नसे साध्य है। जिस कामको आदमी कर सकता है उसमें कर्तव्य-अकर्तव्यका भेद होता है। जो आदमीके द्वारा कृति-साध्य नहीं है, प्रयत्न-पूर्वक जो काम वह नहीं कर सकता—उसमें क्या कर्तव्य क्या अकर्तव्य? तुमको मालूम है कि अगले मिनटमें क्या इच्छा होगी मनमें? कैसे-कैसे संस्कार अन्तःकरणमें छिपे हैं और उनमें क्या इच्छा उदय होगी? यह वर्तमान जो आधुनिकतम मनोविज्ञान इसकी महानताको खोजे। शास्त्रमें इच्छाके लिए विधि-निषेध नहीं है। तुम क्या इच्छा करो और क्या इच्छा न करो—यह जो विधि-निषेध भोगको नियन्त्रित करनेके लिए है कर्मको नियन्त्रित करनेके लिए है, संग्रहको नियन्त्रित करनेके लिए है और उसमें भी केवल बाँध-ही-बाँध नहीं है, नहर भी है। उड़ियाबाबाजी महाराज ऐसे बोलते थे कि जैसे कोई गंगाजीको बाँधना चाहे तो बाँध तो बना ले और नहर न निकाले तो क्या होगा? वह बाँध टूट जायेगा। गंगाजीका प्रवाह तो बड़े जोरसे बह रहा है, जल बढ़ता जा रहा है, जल आता जा रहा है, सिर्फ बाँध लगानेसे गंगाजी नहीं रुकतीं! तो बाँध लगाओ और साथमें एक नहर बनाओ, पानी निकलनेके लिए। इसीको बोलते हैं—नियन्त्रण। नियन्त्रण माने तालाबन्दी नहीं, नियन्त्रण माने हड़ताल नहीं, नियन्त्रण माने जेलखाना नहीं। तो यह है पहला ककहरा।

प्रश्न यह उठाया कि ज्ञानकी इच्छा कर्तव्य है—यह क्या बात हुई। भोगकी इच्छा कर्तव्य है, धर्मकी इच्छा कर्तव्य है, अधर्मका निषेध कर्तव्य है—हम आपको वेदान्तका खास प्रारम्भिक सिद्धान्त सुना रहे हैं—कि तब? बोले कि 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा-कर्तव्यात्' तो यह कर्तव्यात् नहीं जुड़ेगा। आचार्योंने लिखा है—'इच्छाया अनारभ्यत्वात्'—क्योंकि इच्छा मनुष्यके द्वारा आरम्भ करने योग्य वस्तु नहीं है। वह तो जैसा संस्कार होगा—जो सुनेगा कि वेदान्त सुननेसे बड़ा फायदा होता है, उसके मनमें वेदान्त सुननेकी इच्छा अपने आप उदय होगी। जो सुनेगा कि रसगुल्ला खानेमें बड़ा मजा आता है, उसके मनमें रसगुल्ला खानेकी इच्छा अपने आप उदय होगी, वह कर्तव्य नहीं होती है। तब, इस अन्तःकरणमें संस्कारके कारण उदय होनेवाली इच्छा—इसको तुम अपनी क्यों मानते हो? तो बोले—वहाँ जिज्ञासा शब्दका क्या अर्थ है? बोले—वहाँ जिज्ञासा शब्दमें लक्षणा की गयी है—अभिधा वृत्तिसे जिज्ञासा शब्दका अर्थ नहीं होता। जैसे घड़ेका अर्थ घड़ा, ऐसे जिज्ञासा शब्दका अर्थ जिज्ञासा नहीं। 'जिज्ञासा-पदोपलक्षित

ब्रह्मविचार'—विचार कर्तव्य है, इच्छा कर्तव्य नहीं है। कर्तव्य है, विचार कर्तव्य है, जो बुद्धिके द्वारा होगा सो कर्तव्य है और जो शरीरके द्वारा क्रिया होगी सो कर्तव्य है या अकर्तव्य है। इच्छा कर्तव्य-अकर्तव्य नहीं हुआ करती, वह तो हो जाती है। मनमें आ ही जाती है।

अच्छा, अब हम एक और सिद्धान्तकी ओर आपका ध्यानाकर्षित करना चाहते हैं। वह क्या? कि यह सकाम-निष्कामवाला जो मामला है, कर्ममें यह सकामता कामना कृतिसाध्य नहीं है तब निष्कामता कृतिसाध्य कहाँसे होगी? इसलिए धर्म-विधानमें केवल अर्थके संग्रहपर नियन्त्रण है, भोग-क्रियापर नियन्त्रण है और चोरी-व्यभिचार आदि क्रियापर नियन्त्रण है, उससे धर्म सम्पन्न हो जाता है। अब देखो, शास्त्रकी पूरी संगति आप लगा लो—पूर्व-मीमांसा, उत्तर-मीमांसा दोनोंका समन्वय हो जायेगा। कर्तव्य-अकर्तव्य कर्ममें होता है, कर्तव्य-अकर्तव्य भोगमें होता है, कर्तव्य-अकर्तव्य संग्रहमें होता है, कर्तव्य-अकर्तव्य इच्छामें नहीं हुआ करता। एक सिद्धान्त आपको और सुनाते हैं—यह जो 'जिज्ञासुपने' का या 'जिहासुपने' का कि हम छोड़नेकी इच्छावाले हैं, हम त्यागनेकी इच्छावाले हैं—यह नहीं चलता। इस प्रकारका अभिमान विचार-दृष्टिसे बिलकुल झूठा है। सपनेका शरीर बना और सपनेकी इच्छा आयी और सपनेका भोग मिला!

'स्वप्ने चावस्तुकः कायः'—तो पहले अपनेको देह मानता था, उसने अब जान लिया अपनेको ब्रह्म। देह-देशमें रहकर तो अपनेको जिज्ञासु समझते थे और देशाधिष्ठान—देश जिसमें कल्पित है, उस देशके प्रकाशक होकर, उस देशके अधिष्ठान होकर हो गये ब्रह्म। देश जिसमें कल्पित है, मिथ्या है वह होकर आप ब्रह्म हैं और वह आपका स्वरूप है। तो 'स्वप्ने चावस्तुकः कायः'—स्वप्नमें जो शरीर है—सपनेमें घूम रहे हैं, क्या पानीमें तैरते हैं। सपना आता है—पानीमें तैर रहे हैं। अच्छा सपना है—पानीमें तैरना, आसमानमें उड़ रहे हैं—उड़ना अच्छा सपना है। स्वप्नमें यदि आदमी उड़े तो समझना उसकी मानसिक उन्नति हो रही है। अब देखो, है मिथ्या, वहाँ उड़ना थोड़े ही है—वहाँ न तुम्हारा शरीर है और न उड़ना है, न तैरना है; और पहाड़परसे गिर रहे हों तो—उस सपनेको अच्छा नहीं समझते हैं भला! यह सपनेकी बात है, यह ज्योतिष-शास्त्रके अनुरूप है, यह शकुन-शास्त्रके अनुसार है, वेदान्त सिद्धान्तके अनुसार नहीं है। यह मत समझना कि वेदान्तमें सपनेको भी कोई शुभ-सूचक, कोई अशुभ-सूचक माना हुआ है—सो बात नहीं है।



लेकिन स्वप्नको यदि कोई शुभ-सूचक, अशुभ-सूचक माने तो वेदान्तके विरुद्ध है, ऐसा भी नहीं मानना। क्योंकि वेदान्त विश्वकी किसी मान्यताका विरोधी नहीं है। मान्यतासे वेदान्तका क्या विरोध? न ब्रह्म व्यावहारिक सत्य होता है न व्यावहारिक उसका विरोध होता है। ब्रह्म पारमार्थिक सत्य है। मान्यताएँ मान्यताओंके साथ व्यावहारिक सत्य हैं। आपसमें सम-सत्ता होनेसे विरोध होता है। विषम-सत्ता होनेपर विरोध नहीं होता—यह वेदान्तकी बात आप लोग जानते होंगे? 'आपसमें सम-सत्ता जिनकी, लखि साधक बाधकता तिनकी' सपनेका दुश्मन सपनेके मित्रका विरोधी होगा, जाग्रत्का दुश्मन सपनेके मित्रका विरोधी नहीं होगा।

परमार्थ सत्ता यदि कोई होती तो ब्रह्मज्ञानका कोई विरोधी होता! यह व्यावहारिक मान्यताएँ—कोई अपनेको हिन्दू माने, कोई मुसलमान माने, कोई ईसाई माने। बोले, कि वेदान्तके विरुद्ध है। नहीं, ऐसा नहीं है। कोई अपनेको शैव, कोई अपनेको वैष्णव माने—तो क्या यह वेदान्तके विरुद्ध है? कि नहीं! कोई अपनेको पशु माने, कोई अपनेको पक्षी माने, कोई अपनेको मनुष्य माने, तो बोले क्या यह वेदान्तके विरुद्ध है? कि नहीं। क्यों? तो बोले—यह तो स्वप्निक सत्ता है। परमार्थमें अभेद है। ये भासमान सत्ताएँ हैं—एक स्त्री है, एक पुरुष है। बोले, ब्रह्ममें स्त्री-पुरुष कहाँसे? बोले—ब्रह्म परमार्थ सत्ता है और स्त्री-पुरुष जो हैं वह व्यावहारिक सत्ता है। व्यावहारिक सत्ताका पारमार्थिक सत्तासे विरोध नहीं होता। प्रतिभासिक सत्ताका भी पारमार्थिक सत्तासे विरोध नहीं होता। प्रतिभासका व्यवहारसे विरोध नहीं और व्यवहारका प्रतिभाससे विरोध नहीं। व्यवहार और प्रतिभासका परमार्थसे विरोध नहीं और परमार्थका प्रतिभास और व्यवहारसे विरोध नहीं है। ब्रह्म परमार्थ सत्तामें है और भक्ति व्यवहार सत्तामें है इसलिए दोनोंका विरोध नहीं है—ब्रह्म भक्तिका विरोधी नहीं है। गोलोक, वैकुण्ठ यह सब प्रतिभास सत्तामें है और ब्रह्म सत्तामें है, इसलिए दोनोंका कोई विरोध नहीं है।

अच्छा, हम यदि यह बतलाने लग जायँ कि आज हमने सपनेमें यह-यह-यह देखा, तो क्या आप कहेंगे कि ब्रह्ममें यह सब मिथ्या है? हम कहें कि हम आज कालबा देवी रोडपर यह देखकर आये हैं तो आप कहोगे यह मिथ्या है? अरे भाई, ब्रह्म दृष्टिसे मिथ्या होनेपर भी प्रतिभास दृष्टिसे, व्यवहार-दृष्टिसे सब ठीक होता है। इसीसे जो लोग वेदान्तका सिद्धान्त नहीं समझते, वे मिथ्याको भी ठीक नहीं समझते। रामचन्द्रकी योगवासिष्ठीका ज्ञान हो गया तो उन्होंने क्या ब्याह

नहीं किया, क्या वे राजा नहीं बने? रामचन्द्रका विवाह होना और राजा होना क्या ब्रह्म-ज्ञानके विपरीत है? ब्रह्मज्ञान होनेपर याज्ञवल्क्यने संन्यास ले लिया। तो क्या ब्रह्मज्ञान होनेपर संन्यास लेना वेदान्त-सिद्धान्तके विपरीत है? अरे भाई, संन्यास लेना और ब्याह करना—ये दोनों व्यावहारिक सत्तामें हैं और परमार्थ सत्तामें ब्रह्म है, इसलिए जो लोग कहते हैं कि शरीरमें दर्द होता है, तो बोलें कि ब्रह्मज्ञान भी हो गया और शरीरमें दर्द भी होता है? तो क्या ब्रह्मज्ञानी होनेपर शरीरमें दर्द नहीं होता है, आँखमें पानी नहीं आता है? पीनेके लिए गिलास-पर-गिलास पानी चाहिए तो हाथसे निकालनेके लिए भी तो चाहिए न! वह तो निकलेगा ही।

‘स्वप्ने चावस्तुकः कायः’—स्वप्नमें जो शरीर है वह अवस्तुक है। अवस्तुक है माने परमार्थ-सत्ताहीन है। उसकी पारमार्थिक सत्ता, सत्ता नहीं है वह केवल प्रतिभास मात्र है। क्योंकि ‘पृथगन्यस्य दर्शनात्’—जाग्रत् सत्तावाला जो शरीर है वह अलग सो रहा है। जैसे सपनेमें शरीर दिखायी पड़ता है—‘यथा कायस्तथा सर्व’ जैसे शरीर सपनेका प्रातिभासिक है वैसे ही यह सम्पूर्ण जगत् प्रातिभासिक है, क्योंकि ‘चित्तदृश्यत्वात्’—जैसे सपनेकी सब बातें मनसे मालूम पड़ती हैं वैसे ही जाग्रत्की भी सब बातें मनसे ही मालूम पड़ती हैं! अब देख लो मजा इसका! देखो, यह जाग्रत् जो मालूम पड़ता है इसका।

देखो, यह जाग्रत् जो मालूम पड़ता है कि हम एक शरीर होकर बैठे हैं और यदि ब्रह्मज्ञान हो गया तो क्या देखेंगे कि हम तो ब्रह्म हैं, अधिष्ठान हैं। जैसे सपनेमें गंगा-स्नान करनेवाला शरीर दूसरा और सोनेवाला शरीर दूसरा—तो सोनेवाला शरीर व्यावहारिक है और गंगा-स्नान करनेवाला शरीर प्रातिभासिक है। अब व्यावहारिक शरीरके रहते ही प्रातिभासिक शरीर बाधित हो जायेगा। इसी प्रकार हम ब्रह्म हैं, यह पारमार्थिक है और सिंहासनपर बैठकर उपदेश करनेवाला शरीर और यह नीचे बैठकर श्रवण करनेवाला शरीर—यह व्यावहारिक शरीर है। व्यावहारिक शरीर प्रातिभासिक शरीर—अब ब्रह्म-दृष्टिसे जब अपनी ब्रह्मदृष्टि हुई तब अपने परमार्थ स्वरूपको जान लिया और परमार्थ स्वरूपको जान लिया तो यह शरीर ऊपर बैठा है कि नीचे बैठा है कि ठठाकर हँस रहा है या हाय-हाय कर रहा है, इससे क्या मतलब! काशीमें मर रहा, यह चाण्डालके घरमें मर रहा है, इससे क्या? ओम्, ओम् करता मर रहा है कि चिल्ला-चिल्लाकर हाय-हाय करके मर रहा है—इससे क्या मतलब? इसके साथ स्मरण और विस्मरणका कोई प्रश्न नहीं है।



एक महात्मा मरे तो उनके चेलोंमें लड़ाई हो गयी। एकने कहा कि हमने सुना कि मरते समय आखिरी बार उन्होंने मुँहसे 'ऊफ' बड़ा दर्द है—कहा; एकने कहा कि नहीं नहीं, उन्होंने कहा—ओ.....म्.....ओ.....म्, ऐसे मरे। अब देखो, दोनोंमें—से श्रद्धालु कौन ज्यादा है, तब यह मालूम पड़ेगा कि जो अपने गुरुकी महिमा बढ़ा रहा है—वह तो महिमा बढ़ा ही रहा है, कि हमारे गुरुजी ओम् कहते हुए मरे, तो बड़े भारी महात्मा थे। उसने महिमा बढ़ा दी। पर, विचार-दृष्टिसे देखो तो जिसने कहा कि हमारे गुरुजी हाय-हाय करते हुए मरे, तो वह महिमा बढ़ा रहा है। कैसे? वह कहता है कि हमारे गुरुजीका इससे क्या सम्बन्ध था कि शरीर कैसे छूटे और मुँहसे क्या निकले और अन्तःकरणकी क्या गति हो? गुरुजी तो नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त ब्रह्म थे, अन्तिम अवस्थामें जैसा मन हो वैसी गति हो—ऐसी कोई उपासनाकी दशामें वे थोड़े ही थे! यह लोगोंके मनमें एक ख्याल बना हुआ है। एक परमार्थ-दृष्टि, एक व्यवहार-दृष्टि, तो जिसने अपनेको कूटस्थ ब्रह्म-शरीर अनुभव कर लिया—मैं कूटस्थ सर्वाधिष्ठान, स्वयं प्रकाश, सर्वावभावक, अद्वितीय ब्रह्म-तत्त्व हूँ, यह जिसने जान लिया यह परमार्थ-स्वरूप है और यह जो अन्तःकरण और स्थूल शरीर है—यह तो केवल प्रातिभासिक, केवल काल्पनिक, जैसे सपनेका शरीर हाय-हाय करे—सपनेके शरीरका पूर्वजन्म भी होता है। बोले—भाई, सपनेका शरीर तो जाग्रत्के संस्कारसे पैदा हुआ है? तो बोले—यह जाग्रत्का शरीर भी पूर्वजन्मके संस्कारसे पैदा हुआ है। है न! सपनेमें क्या नहीं मालूम पड़ता है कि यह सेठजीने पूर्वजन्ममें बड़ा भारी पुण्य किया होगा तब अब धर्मात्मा हुऐ होंगे। एक बात मैं आपको बताऊँ, कहना तो ठीक नहीं है क्योंकि आप लोग जानते ही होंगे—ज्यादा पैसावाला होना या ज्यादा भोगवाला होना, यह पूर्वजन्मके धर्मात्माका लक्षण नहीं है। इस जन्ममें धर्मात्मा होना, पूर्वजन्ममें धर्मात्मा होनेका लक्षण है। गरुड़ पुराणमें यह बात बिलकुल साफ-साफ आयी है—

अदत्तदानाच्च भवेद् दरिद्री दरिद्रभावाच्च करोति पापम्।

पापग्रभावात् नरकं प्रयासि पुनः दरिद्रो पुनरेव पापी॥

इस जीवनमें धर्मात्मा होना पुण्यात्मा पुरुषका लक्षण है। अन्तःकरणकी शुद्धि धर्मका समग्र लक्षण है। जिसका अन्तःकरण शुद्ध नहीं हो रहा है, ब्लैक तो बढ़ता जा रहा है, बेईमानी बढ़ती जा रही है, चोरी बढ़ती जा रही है, व्यभिचार बढ़ता जा रहा है और बोले पूर्वजन्मके धर्मका फल भोग रहे हैं! अरे, धर्मका

संस्कार होता तो धर्मात्मा होते न! तो, जब दुनियाकी चीजोंको पकड़कर बैठ जाते हैं—

यथाकायस्तथा सर्वं चित्तदृश्यमवस्तुकम्॥

जैसे यह शरीर सपनेमें है वैसे ही सपनेमें यह सब चित्त दृश्य है। जाग्रत् क्या दृश्य है? चित्तदृश्य नहीं है क्या? जाग्रत् भी तो सारेका सारा चित्तदृश्य ही है तो 'जाग्रतदृश्यः मिथ्या चित्तदृश्यत्वात् स्वप्न दृश्यवत्'—जाग्रत्के दृश्य भी मिथ्या हैं क्योंकि चित्तसे देखे जाते हैं।

यद् यद् चित्तदृश्यं तत्तद् मिथ्या

जो-जो चित्तदृश्य होता है वह मिथ्या है—'यथा स्वप्ने' जैसे स्वप्न और 'यन्नैवं तन्नैवं'—जो चित्तदृश्य नहीं है वह मिथ्या नहीं है। कैसे? जैसे आत्मा। जैसे चित्तका द्रष्टा आत्मा चित्तका दृश्य नहीं है, न सत्य है, इसी प्रकार 'ग्रहणात् चित्तदृश्यमवस्तुकम्'—तो यह सम्पूर्ण जो जाग्रत् है यह चित्तदृश्य ही है। यह भी संस्कारजन्य ही है, जैसे सपना संस्कारसे आता है, वैसे ही यह जाग्रत् भी संस्कारसे आता है। अच्छा, एक बात देखो कि बच्चा जो पैदा होता है उसमें माँ-बापमें-से कौन निमित्त कारण है, कौन उपादान कारण है, माता उपादान कारण है और पिता निमित्त है—कुम्हार पिता है और माता मिट्टी है—ऐसा है कि नहीं! अच्छा-पिता उपादान कारण है और माता निमित्त कारण है कि नहीं! दोनोंमें-से कोई न उपादान कारण है, न निमित्त कारण है। उपादान कारण तो पञ्चभूत है—बच्चेमें जो मशाला-वजन ५-६-७ पाँड है, वह तो पञ्चभूतका है, तो उपादान तो हुआ पञ्चभूत; अब निमित्त-कारण कौन है? माँ-बाप निमित्त कारण हैं कि जो सारी सृष्टिका निमित्त कारण है सो निमित्त कारण है? अच्छा, माँ-बाप निमित्त कारण हैं तो बापके पेटमें जो वीर्य पैदा हुआ उसका निमित्त कारण कौन है? वीर्यका उपादान तो पञ्चभूत है, उसका निमित्त कारण क्या है? अच्छा बोले—अंगूरका फल है, उसमें-से वीर्य आया! तो उस अंगूरमें वीर्य बननेकी शक्ति कहाँसे आयी? तो यह माता-पिता बच्चेके न उपादान कारण हैं और न निमित्त कारण, न सहकारी कारण। निमित्त कारणमें भी जैसे सहकारी कारण होता है—डंडा-चाक-सूत है, निमित्त कारण सबका ईश्वर और उपादान कारण पञ्चभूत है।

परब्रह्म परमात्मामें निमित्त और उपादान कारणका भेद नहीं है, उसमें उपादान और निमित्त एक हो गया। जैसे सुषुप्तिमें, जैसे प्रलयमें। तब यह कारण-कार्य-भाव केवल विवर्त है, वास्तविक नहीं। यह विचार ही करना मुश्किल है



कि माता-पिता उपादान कारण हैं कि निमित्त कारण हैं। जैसे—  
'चित्रदृश्यमवस्तुकम्' सपनेमें माता-पिता कौन कारण हैं—सहकारी कारण कि  
उपादान कारण या निमित्त कारण हैं ?

वहाँ कार्य-कारण भावका बिलकुल स्पर्श ही नहीं है। स्वप्नमें जैसे जंगलमें  
अलग-अलग ढेले पड़े होते हैं, वैसे माँ अलग पड़ी है, बाप अलग पड़ा है, बेटा  
अलग पड़ा है ! जैसे जंगलके ढेलोंमें कार्य-कारण-भाव नहीं है ऐसे सपनेमें नहीं  
है। वहाँ कौन पति, कौन पत्नी, कौन माँ, कौन बेटा ? वस्तु दृष्टि बिलकुल न्यारी है।  
इसमें भाषाका सौन्दर्य नहीं है, भावका भी सौन्दर्य नहीं है और इसमें समाधिका,  
शान्तिका भी सौन्दर्य नहीं है, क्या इसमें यथार्थताका सौन्दर्य है ? यदि सौन्दर्य है तो  
केवल सत्यका। यह सच्ची बात है। बोले—सपना भी ग्रहण होता है चित्रके द्वारा  
और जाग्रत् अवस्थाका भी ग्रहण होता है। है न ! अरे, यह तो स्वप्नमें जो लोग फँसे  
हुए हैं वे कहते हैं कि जाग्रत् स्वप्नका कारण है। स्वप्नदर्शीके लिए ही तो जाग्रत्  
स्वप्नका कारण है न ! स्वप्नमें अकथ्य-अकथ्य सत्य बोलते हैं तो जाग्रत्से।  
'तद्हेतुत्वात्'—जाग्रत् हेतु होनेके कारण जिसके स्वप्न कार्य मालूम पड़ता है वही  
स्वप्नको मिथ्या और जाग्रत्को सत्य मानते हैं।

जबतक विचारका उदय नहीं हुआ है, देखो—अधिष्ठानमें दृश्यका  
अत्यन्ताभाव है, चित्तका भी अत्यन्ताभाव है, इसलिए चित्त मिथ्या है। स्वयंप्रकाश  
चैतन्यमें दृश्यका अत्यन्ताभाव है इसलिए दृश्य मिथ्या है, स्वप्नवत् चित्त दृश्य है,  
इसलिए दृश्य मिथ्या है। दृश्य विकारी है इसलिए दृश्य मिथ्या है। है न ! दृश्य  
काल और देशकी अपेक्षा रखता है, इसलिए दृश्य मिथ्या है। दृश्य कालकी किसी  
कलामें नहीं होता, इसलिए मिथ्या दृश्य देशकी किसी कलामें नहीं होता, इसलिए  
दृश्य मिथ्या है। तत्त्ववेत्ताओंके अनुभवसे दृश्य मिथ्या है। प्रत्यक्षसे दृश्य मिथ्या  
है, अनुमानसे दृश्य मिथ्या है, उपमानसे दृश्य मिथ्या है, घटादि जो हैं ये प्रत्यय टूट  
जाते हैं। प्रतिज्ञादिके नाशका अनुमान होता है। स्वप्नादि उपमान विद्यमान हैं।  
अर्थापत्ति और अनुपलब्धिसे दृश्य मिथ्या है, ऐतिह्य और पुराणसे दृश्य मिथ्या है  
और सम्भव और चेष्टासे दृश्य मिथ्या है।

मिथ्या-मिथ्या कहनेका अभिप्राय क्या है ? इसको जरा समझो ! भोगीलोग  
जब मिथ्याकी बात सुनते हैं तो जरा चिढ़ जाते हैं—चिढ़ते तो योगीलोग भी हैं  
और मिथ्याकी बात सुनकर चिढ़ते हैं। उपासक लोग भी भोगी और कर्मी भी  
चिढ़ते हैं, पर मिथ्याकी बातको जो नहीं समझते हैं वे चिढ़ते हैं। उसमें बात

असलमें यह है कि अनन्त स्वातन्त्र्य इसका विषय है। यह जो प्रपञ्चके मिथ्यात्व की बात है इसमें प्राप्तव्य मिथ्या, इसमें वक्तव्य मिथ्या—मतलब यह है कि आत्मदेवका स्वातन्त्र्य अनन्त है। इतनी स्वतंत्रता देनेवाला सृष्टिमें कोई सिद्धान्त नहीं है। धर्ममें अनुष्ठानकी परतन्त्रता है, अधिकारकी परतन्त्रता है, वस्तुकी परतन्त्रता है, उपासनामें इष्टदेवकी परतन्त्रता है, योगमें अभ्यासकी परतन्त्रता है। वेदान्त-ज्ञानमें मनुष्यको जीतेजी परिवारसे स्वतन्त्र, जातिसे स्वतन्त्र, कर्तव्यसे स्वतन्त्र, सम्प्रदायसे स्वतन्त्र ब्रह्मलोक, स्वर्ग, नरक आदिके गमनागमन रूप बन्धनसे स्वतन्त्र करनेकी क्षमता है। यह शास्त्रसे स्वतन्त्र, धर्मसे स्वतन्त्र, नियामकसे स्वतन्त्र करता है। हमलोग जिसे मिथ्या कहते हैं—यह मिथ्या माने—आत्मदेवका परम स्वातन्त्र्य—इस स्वातन्त्र्यको ही परमानन्द बोलते हैं। यह निर्बन्ध स्थिति है। निर्बन्धमें राष्ट्रकी भी परतन्त्रता नहीं। शासनकी भी परतन्त्रता नहीं। सब देशके नागरिक हो गये, सब लोकके नागरिक हो गये। और सर्वधर्म अपना हो गया—इतनी बड़ी स्वतन्त्रता! वेदान्तमें जिस स्वतन्त्रताकी उपलब्धि है—वह है अनन्त स्वतन्त्रता और सो भी साध्यके रूपमें नहीं, सिद्धके रूपमें, अपने स्वरूपके रूपमें।

जो लोग स्वप्नदर्शी हैं माने सपनेमें ही फँसे रहना चाहते हैं—एक दिन एकने एकको जगाया—अरे उठो, भजन करनेका समय हो गया। बोला—अभी ठहरो, हम बहुत बढ़िया सपना देख रहे हैं। अब लो—हम बहुत बढ़िया सपना देख रहे थे—जागनेको तैयार ही नहीं होते। अच्छा, एक बात आप देखो—आप जितनी भूतकी याद करते हो वह सब इस समय आपका सपना है कि नहीं—हमारी मैया ऐसी, हमारी गैया ऐसी, हमारी दइया ऐसी, हमारा बैल ऐसा, हमारा बैल ऐसा—सब सपना ही तो है न! और आगेकी जितनी कल्पना करते हैं—दिवा-स्वप्न ही बोलते हैं। यह भविष्यके बारेमें सोचना-सपना ही तो है न! भूत और भविष्यसे जरा अलग करके वर्तमान सेकेण्डके दो हिस्से कर दो—एक भूत और एक भविष्य-मौजमें देखो। हाथमें कल दर्द हुआ था यह क्यों याद करते हो, और कल और दर्द होगा—इसका ख्याल क्यों करते हो? अच्छा, वर्तमानमें! वर्तमानमें भी देखो बिलकुल भूत-भविष्य जुड़ा ही होगा, भूत-भविष्यको छोड़कर वर्तमान बिलकुल मिथ्या ही है, वर्तमान नामकी कोई चीज ही नहीं है और यही अपनी स्वतन्त्रता है। कहीं बन्धन नहीं—‘मानि मानि बन्धनमें आयो।’

जो स्वप्नको जाग्रतसे पैदा मानते हैं न, वे कहते हैं कि कार्यरूप स्वप्न तो



मिथ्या है परन्तु जाग्रतरूप सत्यके संस्कारसे स्वप्न रूप मिथ्या पैदा हुआ है। बोले—गलत। 'उत्पादस्याप्रसिद्धत्वादजं' कहीं सत्य आत्मासे बन्ध्या-पुत्र उत्पन्न होता है? यह सम्बन्ध बिलकुल गलत है। एक होती है सम्पत्ति, एक होती है उत्पत्ति, एक होती है विपत्ति और एक होती व्यापत्ति—यह पत्ति माने—मनकी स्वीकृति। पत्ति-पदन-प्रतिपत्ति जैसे बोलते हैं। यह 'पद' शब्द है संस्कृतमें। मुँहसे बोलते हैं सो 'पद'। जिससे चलते हैं सो 'पद'। इसीमें जो उद्धवका भाव है उसको उत्पत्ति बोलते हैं जो सम्पदाका भाव है उसको सम्पत्ति बोलते हैं। जो विरुद्ध भाव है उसको विपत्ति बोलते हैं। मृत्युके भावको व्यापत्ति बोलते हैं। व्यापागम-व्यापत्ति-माने मृत्यु। विपत्ति माने दुःख, सम्पत्ति माने सुख-समग्रता और उत्पत्ति ये सब ज्ञानके विलास हैं—एक ही अखण्ड-ज्ञान कहीं उत्पत्त्याकार भास रहा है, कभी सम्पत्त्याकार भास रहा है, कभी विपत्त्याकार भास रहा है और कभी व्यापत्त्याकार भास रहा है—जन्माकार, सम्पदाकार, विपदाकार, मरणाकार—ये ज्ञानके आकार हैं। कैसे आकार? कि जैसे स्वप्नमें होते हैं।

'उत्पादस्याप्रसिद्धत्वात्' उत्पत्ति न चेतनसे जड़की हो सकती, न जड़से चेतनकी हो सकती; न भावसे अभावकी, न अभावसे भावकी; न सत्यसे मिथ्याकी, न मिथ्यासे सत्यकी। उत्पत्ति बिलकुल असिद्ध वस्तु है। इसलिए चाहे स्वप्न नाम लो, चाहे जाग्रत् यह है अजन्मा—'स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः'—श्रुतिने कहा—बाहर भी वही और भीतर भी वही—असलमें बाहर और भीतर दोनों वही, दोनों उसमें कल्पित, दोनोंका उसमें अत्यन्ताभाव और दोनों उससे अभिन्न। यह इसकी बात है। देखो, सर्पका जन्म रज्जुमें, सर्पकी स्थिति रज्जुमें, सर्पका प्रलय रज्जुमें कल्पित है कि नहीं? तीनों कल्पित हैं। असलमें सर्प रज्जुमें अध्यस्त, रज्जु सर्पका अधिष्ठान, अधिष्ठानसे अध्यस्त बिलकुल भिन्न नहीं, केवल रज्जु ही रज्जु, सर्प नहीं। जो लोग अज्ञानसे, इस अनन्तके अज्ञानसे, अपने अद्वय स्वरूपके अज्ञानसे इस सृष्टिकी यथार्थताके भावको नहीं मानते हैं उनकी समझमें यह आनेवाली बात नहीं है।

'न च भूतादभूतस्य संभावोऽस्ति कथंचन'—सच्चे आदमीसे झूठे आदमीकी उत्पत्ति नहीं हुआ करती। एक आदमी श्मशानमें बैठा था, श्मशानमें बैठकर, मुर्देपर बैठकर साधना करते हैं न! ये साधक लोग बड़े-बड़े उपद्रव करते हैं। अपने स्वरूपको न जानकर क्या-क्या दुर्दशा मनुष्य भोगता है। प्रेताराधन करनेके लिए रात कहाँ बितायी कि श्मशानमें। तो मुर्दे पर बैठ गया और मन्त्र अपना जगाने

लगा। तो क्या देखता है कि चारों ओर रोशनी हो रही है। बोले—उधर क्या हुआ? तो बोले—उधर बच्चा हुआ है भूतके। भूतोंकी टोली इकट्ठी है। ढोलक बज रही है, नगाड़े बज रहे हैं कि भूतोंके बच्चा हुआ है। एक तरफ उधर भूतोंके रोना मच रहा है। उधर क्या हुआ है? कि मरना हुआ है। उधर क्या हुआ? कि भूतोंके ब्याह हो रहा है। पति-पत्नी सजकर आ रहे हैं। तो—‘न च भूतादभूतस्य’—कि ये भूतके क्या सच्चा आदमी पैदा हुआ? सच्चा बच्चा पैदा हुआ? भूतके सच्चा मरण हुआ? भूतके सच्चा ब्याह हुआ? तो यह शंकरजीका महाश्मशान है!

जिस मोहके कारण, जिस रागके कारण, जिस द्वेषके कारण मनुष्य संसारमें व्याकुल है, जिस शरीरकी मृत्युके कारण मृत्युका डर—अभिनिवेश मनुष्यको दुःख दे रहा है, जिस अस्मिताके कारण कि मैं हिन्दू और यह मुसलमान एक दूसरेको मरने-मारनेको तैयार हो जाते हैं—यह राग, यह द्वेष, यह अस्मिता, यह अभिनिवेश—सबके सब भूतोंकी टोलीमें हो रहा है। महाश्मशान चेत रहा है—शंकरजीका।

‘न च भूतादभूतस्य’—भूतसे अभूतकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। सिद्ध वस्तुसे असिद्ध वस्तुकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। भूत माने पहलेसे मौजूद जो वस्तु है उससे गैर मौजूद वस्तुकी उत्पत्ति नहीं हो सकती, सच्चे आदमीसे बन्ध्या-पुत्रकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। बन्ध्या-पुत्रसे सच्चे आदमीकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। यह तो जैसा मूल तत्त्व है जगत्में बिलकुल वैसा ही है—स्वप्नावस्थामें भी वैसा ही है, जाग्रतावस्थामें भी वैसा है।

‘असज्जागरिते दृष्ट्वा’—देखो सपनेकी तो जाग्रत्में याद ही आती है—हमने यह सपना देखा है। अरे, कभी जाग्रत्की याद भी सपनेमें आती है? सपनेमें कभी जाग्रत्की याद नहीं आती। अब कौन अवस्था कमजोर मालूम पड़ती है और कौन जोरदार? स्वप्न तो इतना जोरदार है कि जाग्रत्के लिए अपनी याद भी छोड़ जाता है; लेकिन जाग्रत् तो इतना कमजोर है कि सपनेमें अपनी याद भी पार्सल करके नहीं भेज सकता। सपनेमें मरा हुआ आदमी जिन्दा दीखता है और यह मर गया यह याद भी नहीं आती। सपनेमें अपना मित्र मिला दीखता है लेकिन यह यहाँसे हजार मील दूर है यह याद भी नहीं आती। क्यों नहीं याद आती? बोले—जाग्रत् कमजोर है, अपनेको ठीक-ठीक सपनेमें नहीं देख सकता। लेकिन सपना बड़ा जोरदार है जो अपनेको जाग्रत्में भेज देता है।

अब देखो—सपना और जाग्रत् दोनोंका मूल क्या है कि सुषुप्ति यह तो पूर्ण



दृष्टि हुए बिना आप जिन्दगीके एक पहलू पर विचार करते हैं, केवल जाग्रत् सत्य। यह स्वप्न सत्य नहीं है, यह सुषुप्ति सत्य नहीं है? इन तीनोंमें क्या परमार्थ नहीं है? तो, जब पूर्ण दृष्टि होती है तब सुषुप्ति देखनेवाला 'मैं', स्वप्न देखनेवाला 'मैं', जाग्रत् देखनेवाला 'मैं' और ये तीनों क्या हैं—चित्तकी दशा। चित्तकी अग्रहण दशाका नाम सुषुप्ति है और अन्यथा ग्रहणका नाम—फोटो लेनेका नाम है अन्यथा ग्रहण, फोटो जितने आते हैं उल्टे आते हैं, पर आदमीको कहाँ मालूम पड़ता है? तुम पूरब मुँह खड़े हो जाओ तो फोटो कैसा आयेगा? पश्चिम—मुँह आयेगा कि नहीं? लेकिन देखनेवाला समझता है कि मेरा बिलकुल ठीक फोटो आया। उसको यह ख्याल ही नहीं रहता है कि जो पूरब मुँह था वह पश्चिम—मुँह हो गया। यह ख्याल कहाँ आता है? यह तो तब दीखता है जब यह साइन बोर्ड लगाती हैं—अरे, भाई कभी-कभी ऐसा उल्टा फोटो आता है कि मजा ही आ जाता है देखकर एकदम उल्टा। यह चित्त कैमरेकी तरह है और यह जो दुनियाकी फोटो लेता है—ब्रह्म एक होने पर चित्तके कोनेमें अनेक मालूम पड़ता है भला! यह चित्तकी, कैमरेकी विशेषता है, ब्रह्मकी नहीं। वह चेतन होनेपर भी कैमरेमें जड़ मालूम पड़ता है, उसमें दोस्त-दुश्मनका भाव न होनेपर भी दोस्त-दुश्मन मालूम पड़ता है। और चित्त भी वह नहीं जो इस शरीरमें रहता है, वह चित्त जिसमें यह शरीर दिखलायी पड़ता है। ये बेवकूफ लोग घूम-फिरकर बातको वहीं लाते हैं। आप देखो, चित्तमें शरीर दिखलायी पड़ता है—कि शरीरमें चित्त मालूम पड़ता है? बोले—हम शरीर हैं और हमारे भीतर चित्त है। बोले—हम शरीर हैं—यह कैसे मालूम पड़ता है? चित्तसे मालूम पड़ता है? चित्तसे मालूम पड़ता है कि बिना चित्तके मालूम पड़ता है? शरीरमें चित्त नहीं होता, चित्तमें शरीर होता है। यह भ्रान्ति है। यह सार्वजनिक अन्यथा ग्रहण है।

अच्छा ब्राह्मणका चित्त है अथवा चित्तका ब्राह्मण है, अच्छा हिन्दूका मन है कि मनका हिन्दू है; मनुष्यका मन है कि मनका मनुष्य है; भारतीयका मन है कि मनका भारतीय है? जो जब तत्त्व-दृष्टिसे ढूँढ़ोगे तो यह मनका ग्रहण ही सब कुछ है और ग्रहण भी मामूली नहीं उसको होना चाहिए था पूरब मुँह और हो गया पश्चिम मुँह। होना चाहिए था पश्चिम मुँह हो गया पूरब मुँह। कैमरेका मुँह टेढ़ा हो गया, उसका फोटो लेनेका कोण जो है वह बिगड़ गया। जबतक फोटो लेनेका कोण नहीं सुधारोगे तबतक ऐसा ही चित्र बनता रहेगा। मैंने देखा—एक तीन वर्षकी लड़की और उसने ऐसा कोण बनाकर फोटो नीचेसे लिया कि वह तो

मालूम पड़े बीस वर्षकी—तीन वर्षकी लड़की फोटो लेनेपर मालूम पड़े बीस वर्षकी। और पाँच फुटकी लड़की और फोटो ऐसे ढंगसे ली कि मालूम पड़े अढ़ाई फुटकी—यह फोटोका खेल है। तो, यह जो हमारा मन है—इसने अपना कोण बिगाड़ दिया है। इसका दृष्टिकोण सिद्ध करनेके लिए, दृष्टि बिन्दु सिद्ध करनेके लिए यह अनन्त ब्रह्ममें स्थित होकर फिर प्रपञ्चका फोटो ले, तो देखो यह प्रपञ्च ब्रह्मात्मक भासेगा।

उत्पादस्याप्रसिद्धत्वादजं

सर्वमुदाहृतम् ।

न च भूतादभूतस्य संभवोऽस्ति कथंचन ॥ 38 ॥

असन्नागरिते दृष्ट्वा स्वप्ने पश्यति तन्मयः ।

असत्स्वप्नेऽपि दृष्ट्वा च प्रतिबुद्धो न पश्यति ॥ 39 ॥

नास्त्यसद्भेतुकमसत्सदसद्भेतुकं तथा ।

सच्च सद्भेतुकं नास्ति सद्भेतुकमसत्कुतः ॥ 40 ॥

विपर्यासाद्यथा जाग्रदचिन्त्यान्भूतवत्स्पृशेत् ।

तथा स्वप्ने विपर्यासाद्धर्मास्तत्रैव पश्यति ॥ 41 ॥

उपलम्भात्समाचारादस्तिवस्तुत्ववादिनाम् ।

जातिस्तु देशिता बुद्धैरजातेस्त्रसतां सदा ॥ 42 ॥

अजातेस्त्रसतां तेषामुपलम्भाद्विद्यन्ति ये ।

जातिदोषा न सेत्स्यन्ति दोषोऽप्यल्पो भविष्यति ॥ 43 ॥

उपलम्भात्समाचाराण्मायाहस्ती यथोच्यते ।

उपलम्भात्समाचारादस्ति वस्तु तथोच्यते ॥ ४४ ॥

स्वप्न और जाग्रत्—ये दोनों चित्तकी दशाएँ हैं और ग्रहणकी शैलीमें कोई भेद नहीं है। स्वप्नके समय स्वप्न सच्चा मालूम पड़ता है और जाग्रत्के समय जाग्रत् सच्चा मालूम पड़ता है। हम तो स्वप्नका लक्षण ही यह करते हैं कि जो अपने समयमें सच्चा मालूम पड़े वह स्वप्न। जाग्रत् भी तो अपने समयमें सच्चा मालूम पड़ता है। तब यहाँ भी स्वप्नवत् लक्षण ही घटित हो गया। केवल भोग चाहनेवाले लोगोंको संसारको असार स्वप्नवत् कहनेसे बड़ा दुःख होता है—कि हमारा परिश्रम व्यर्थ जायेगा, हमारा संग्रह व्यर्थ जायेगा, हमारे रिश्ते-नाते व्यर्थ जायेंगे, हमारी जन्मकी कमायी चली जायेगी, इन सबमें बड़ा डर लगता है। अरे राम, यह सब सपना है।

हमारे एक मित्र थे। बड़े मधुर-मधुर, मीठे-मीठे। बाल भी जरा बड़े-बड़े



रखते थे। सामनेके तो कम हो गये थे। डबल एम. ए. पास थे। मालवीय टाइपका दुपट्टा लगावें—एकदम चिकने-चुपड़े। लेकिन जब कभी हम यह निरूपण करने लगे कि दृश्य होना ही मिथ्याका लक्षण है। अद्भुत है यह लक्षण। सब संसारी मानते हैं कि यह चीज है—क्यों? इसलिए कि दीख रही है, वेदान्ती कहता है कि यह चीज नहीं है; क्योंकि दीख रही है। जिस दृश्यता-रूप हेतुसे संसारी लोग संसारको सत्य सिद्ध करते हैं उसी दृश्यता-रूप हेतुसे विवेकी संसारको मिथ्या सिद्ध करता है। क्योंकि; दृश्यवत्-दृश्यत्वात्—स्वप्नदृश्यवत्—स्वप्नका दृश्य जैसा होता है वह भी दृश्य वैसा ही है।

‘चित्तदृश्यमवस्तुकम्’—यह प्रपञ्च मिथ्या है। यह पञ्चानन भगवान् जो हैं—पंचानन भगवान् माने शरीर—यह शिवका रूप है, रुद्र है—इसमें पाँच मुख हैं—शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध—इन पाँचों विषयोंको भोगनेवाले पाँच मुख हैं, पाँच इन्द्रियाँ—इन्हींको बोलते हैं—पंचानन। तो यह जो पंचानन भगवान् हैं—आँख खोलें तो दृष्टि बन जाय, अपनी दृष्टिसे ही सृष्टि बनाते हैं। और अपनी दृष्टिसे ही सृष्टिका संहार करते हैं। दो आँख रखें तो सृष्टि सत्य है और तीसरी आँख खोल दें तो सृष्टि मिथ्या है। इन्हींका नाम पंचानन है। देखो—कैसा शिवलिंग बना है गलेके ऊपर? यह शिवलिंग मालूम है? यह नाक, आँख, कान—ये तो ऐसे हैं जैसे तस्वीरमें लकीर खींच दी गयी है—यह तो बिलकुल ऐसे ही हैं—एक-एक हड्डी ज्योतिर्लिंग है। आपने पढ़ा हो तो पढ़ा हो योगवासिष्ठमें एक कथा है कि जब तत्त्वज्ञानी उद्दालककी मृत्यु हो गयी तो उनका शरीर जला, भस्म हुआ, भस्म हुआ तो हड्डियाँ बच गयीं; तो जगज्जननी जगदम्बाने उन हड्डियोंको लेकर उसका मुकुट बनाया, हार बनाया, कमरमें पहननेकी करधनी बनायी—बोलें कि यह तत्त्वज्ञानीकी हड्डी है, यह साक्षात् शिव है। यह कथा योगवासिष्ठमें है—उद्दालकोपाख्यान जहाँ है—वहाँ यह प्रसङ्ग है।

जिनको भोगमें रस नहीं है, धन खोनेका डर नहीं है, अपने परिश्रमके व्यर्थ होनेपर डर नहीं है, रिश्ते-नाते टूटनेका डर नहीं है, उनके लिए प्रपञ्चके मिथ्या होनेमें क्या आपत्ति है? प्रयोजनवश लोग इसको सत्य मानते हैं, तत्त्वदृष्टिसे सत्य थोड़े ही मानते हैं, जैसे, किसीसे कोई बात कही जाय और उसको शंका हो कि ये अपनी बात पूरी नहीं करेंगे तो बोलेंगा—महाराज, देखो आपने जबान दे दी है, अपनी बातको पक्की रखना। अब यह उपदेश वह क्यों करेगा, इसीलिए करेगा कि हमारा मतलब बन जाय, हमको सत्यवादी बनानेके लिए वह ऐसा उपदेश नहीं



करता। अपना काम निकालनेके लिए सत्यवादी बनाता है। तो यह सृष्टि प्रयोजनानुसार लोग मानते हैं, तत्त्व-दृष्टिसे नहीं मानते।

आओ, सृष्टिपर विचार करें कि स्वप्नका कारण जाग्रत् है कि नहीं है? जाग्रत्के संस्कारसे स्वप्नकी उत्पत्ति होती है—एक तर्क हुआ। दूसरा तर्क हुआ कि जाग्रतावस्था लम्बी है और स्वप्नावस्था छोटी है—स्वप्न तो अवान्तर-अवस्था है और जाग्रत् विकार-अवस्था है, जैसे 100 वर्ष किसीकी उम्र हो तो 100 वर्षकी एक जाग्रत्-अवस्था और उसमें बीच-बीचमें थोड़ी-थोड़ी देरके लिए निद्रा आयी और चली गयी और सपना आया और चला गया। हे भगवान्! असलमें जैसे निद्रा आती है और चली जाती है, सुषुप्ति आती है और चली जाती है वैसे ही जाग्रत् भी आता है और चला जाता है। जाग्रत् रहता कहाँ है? वह तो रोज-रोज जाग्रत् खत्म हो जाता है। अच्छा, यही बात मान लें कि जाग्रत्-अवस्था लम्बी और स्वप्न-अवस्था छोटी, तब यह सवाल हुआ कि तुमने यह निश्चय कैसे किया कि जाग्रत् कारण और स्वप्न कार्य? हम तो देखते हैं कि स्वप्नमें देखते हैं कोई चीज और वह जाग्रत्में मिल जाती है। कई लोगोंने हमको ऐसा बतलाया।

एक बार पहले-पहल मैं प्रभुदत्तजी ब्रह्मचारीके यहाँ गया। वे सभीके लिए ऐसा कहें कि यह तो नहीं मालूम पड़ता है। पहले-पहल गया तब मैं भी उन्हें नहीं पहचानता था, वे भी मुझे नहीं पहचानते थे। तब मैंने पूछा कि प्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी कौन हैं, उनकी कुटिया कहाँ है? वे खुद ही थे—बोले—हे नाथ नारायण!! वासुदेव! आओ! चला गया। जब बैठ गया तब खिलाया-पिलाया और फिर लिखकर दिया कि आज रातको हमने स्वप्न देखा था, हमारी एक समस्या थी कि हमारे यहाँ तेरह महीनेका अखण्डकीर्तन होगा, उसमें कथा कौन सुनावेगा? मनमें यह चिन्ता थी। रातमें हमको स्वप्न आया और मैंने तुमको देखा। तुम आ गये। तो अब? अब तो स्वप्न कारण हो गया और जाग्रत् कार्य हो गया।

ऐसी एक नहीं अनेक बातें हम जानते हैं और जिनपर अविश्वास करनेका कोई कारण नहीं है। मैं गोरखपुर गया, तो हनुमान प्रसादजीकी पत्नीने बुलाया मुझे, घरमें भोजन करनेके लिए। मैं वहाँ रहता था तब उनके घरमें ही भोजन करता था और सब कार्यकर्ता तो चौकेमें भोजन करते। बादमें हम और दादा दोनों जाकर वहाँ रहे—तब भी उनके घरमें ही भोजन करते थे। पहले-पहलेकी यह बात होगी—सन् 34-35के लगभग की। 32 वर्ष हो गया। तो जब मैं गया तो वे बोलीं—



‘आ गये’! हनुमान प्रसादजीने कहा—कुछ नहीं। बादमें मालूम पड़ा कि उन्हें रातमें स्वप्न आया था कि हमारे घरमें भागवतकी पुस्तक लेकर कोई ब्राह्मण आयेंगे और मैं आ गया। बहुत प्रेम करते थे, अब भी बहुत प्रेम करते हैं और हनुमानप्रसादजी तो मुझे अपना भाई ही मानते हैं।

कई जगह ऐसे सपने आये कि स्वप्नमें जो दिखा वह जाग्रत्में हुआ। अब कहते हैं कि जो जाग्रत्में दीखता है—उसमें पहलेके संस्कार रहते हैं, वे स्वप्नमें दीखते हैं। तो स्वप्नका कार्य जाग्रत् है कि जाग्रत्का कार्य स्वप्न है। एक नमूनेकी बात बतलाता हूँ—अच्छा, जो पहले हो सो कारण और जो पीछे हो सो कार्य। अब यह बतलाओ कि स्वप्नमें और जाग्रत्में कौन पहले और कौन पीछे है? अच्छा, जाग्रत् लम्बा मालूम पड़ता है और स्वप्न छोटा मालूम पड़ता है, तो क्या स्वप्नमें स्वप्न लम्बा नहीं मालूम पड़ता? स्वप्नमें यह नहीं मालूम पड़ता कि हमारी उम्र 20 वर्षकी है कि 50 वर्षकी है कि 70 वर्षकी है। क्या सपना ऐसा नहीं दीखता और क्या यह नहीं मालूम पड़ता कि जन्मसे अब तक हमने पढ़ा-लिखा है, हमारे माता-पिता हैं, हमारे गुरु-भाई हैं और हमारे पत्नी-बच्चे हैं—क्या स्वप्नमें यह नहीं मालूम पड़ता? स्वप्नमें भी यही मालूम पड़ता है कि हमारी जाग्रत्-अवस्था लम्बी है और उसमें जो स्वप्नान्तर होते हैं न—हम बीच-बीचमें छोड़-छोड़कर सपना देखते हैं। हमको एक सपना दिखा—कैसा सपना दिखा कि हम सोये वृन्दावनमें और स्वप्नमें देखा कि हम बम्बईमें हैं। और बम्बईमें खा-पीकर फिर सो गये; फिर स्वप्न देखा कि हम काशीमें हैं—इसको स्वप्नान्तर बोलते हैं। इसका नाम है—वृन्दावनमें बम्बईका स्वप्न हुआ और बम्बईमें काशीका स्वप्नान्तर हुआ। दोनोंमें मालूम पड़े कि बम्बईका जीवन लम्बा है और काशीमें मालूम पड़े कि काशीका जीवन लम्बा है। बम्बईमें वृन्दावनकी याद नहीं थी और काशीमें बम्बईकी याद नहीं थी। स्वप्न टूटा तो—काशीका टूटा तो बम्बईमें जगे और बम्बईका टूटा तो वृन्दावनमें जगे और देखते क्या हैं कि जाग्रत्-अवस्थामें वृन्दावनमें हैं। अब बताओ—दोनों ही लम्बे मालूम पड़ते थे, पूर्व-जन्म भी मालूम पड़ता था दोनोंमें।

पुण्यात्मा होते हैं तब ब्राह्मण होते हैं। है न! बड़े पुण्यात्मा हैं—विवेक करना चाहिए, अभिमान करनेके लिए यह नहीं है भला! ब्राह्मणत्वके अभिमानके लिए यह बात नहीं है। अगर अपनेको ब्राह्मण होनेसे तुम श्रेष्ठ मानते हो तो सवाल यह है कि सन्ध्या-वन्दन करते हो कि नहीं, अपने ब्राह्मणपनेका सदुपयोग करते

हो कि नहीं? तो, सन्ध्या-वन्दन करवानेके लिए ब्राह्मणपना उपयोगी है—यह इसका अभिप्राय हुआ। देखो, आपको बतलाते हैं कि किसी भी तरहसे कारण-कार्य-भावकी सिद्धि नहीं होती—जाग्रत्की तरह ही स्वप्न भी लम्बा मालूम पड़ता है, स्वप्नमें भी स्वप्नान्तर होता है। श्रीमद्भागवतमें इसका अच्छा उल्लेख है। स्वप्नमें स्वप्नान्तर होता है। और स्वप्नमें भी सम्बन्धी मालूम पड़ते हैं, पूर्व-जन्म मालूम पड़ता है। स्वप्नमें जाग्रत्के संस्कारसे यह स्वप्न हुआ है, यह बात मालूम भी नहीं पड़ती। तो जैसा स्वप्न है वैसा ही जाग्रत् है। यह कहो कि स्वप्न चंचल और जाग्रत् स्थिर तो 'सत्यम् एवम् अविवेकिनाम्'—सचमुच ऐसा मालूम तो पड़ता है परन्तु विवेक दृष्टिसे मालूम नहीं पड़ता।

उत्पादस्याप्रसिद्धत्वादजं सर्वमुदाहृतम्।

उत्पाद माने उत्पत्ति। उत्पत्ति, सम्पत्ति, विपत्ति, व्यापत्ति—ये सब जितने हैं—'अप्रसिद्धत्वात्'—उच्च कोटिके तर्क, युक्ति और अनुभव पर इनकी सिद्धि नहीं होती। उसमें-से एक अंकुर निकला तो उसको उत्पत्ति नहीं मानते हैं, लोक-दृष्टिसे जो जन्म प्रसिद्ध है उसको जन्म नहीं मानते। जन्म तो तब हो जब तत्त्वसे तत्त्व पैदा हो या अतत्त्वसे तत्त्व पैदा हो। वह तो अंकुर भी पञ्चभूत है, बीज भी पञ्चभूत है। जिस मिट्टीसे पैदा हुआ वह मिट्टी भी पञ्चभूत है। तो बोले कि यह हमारा शरीर पैदा हुआ तो इसको उत्पत्ति थोड़े ही बोलते हैं। यह देखो पहले भी माटी और बादमें भी माटी। माटी तत्त्व है, नाक माने तत्त्व नहीं, इसका नाम तत्त्व नहीं होता है, यह कनेरकी तरह दो कान लगे हुए हैं, यह सुदर्शनका फूल होता है वह जरा लम्बा होता है, कानके छेदमें डालने लायक होता है, कानकी दवा निकलती है उसमें-से, उसकी लम्बाई और छेद देखकर यह सिद्ध होता है कि लम्बे छेदवाली जो जगह शरीरमें होगी वहाँ यह लाभ पहुँचावेगा—सुदर्शन। तो 'उत्पादस्या-प्रसिद्धत्वात्'—किसी चीजका लम्बा होना, यह उसकी उत्पत्ति नहीं है, चौड़ा होना, यह उसकी उत्पत्ति नहीं है। शकल-सूरत बदल जाना—इसका नाम उत्पत्ति नहीं है। क्या एक वजनसे दूसरा वजन पैदा हो गया? एक वजनसे दूसरी वजनदार चीज पैदा हो गयी? अरे पंचभूत ज्यों-का-त्यों, राख ज्यों-की-त्यों, पानी ज्यों-का-त्यों, हवा ज्यों-की-त्यों, गर्मी ज्यों-की-त्यों—आपलोग सब ज्यों-के-त्यों हैं और अनुत्पन्न हैं—यह अद्भुत लीला है! विवेकियोंकी दृष्टिमें किसीकी उत्पत्ति नहीं होती, कार्य-कारण भाव जो है वह मिथ्या है। इसलिए—'अजं सर्वमुदाहृतम्'—वह अजन्मा है। वेदान्तमें यह बात बहुत प्रसिद्ध है, थोड़े



दिन इसपर विचार करोगे तो मालूम पड़ जायेगा—‘स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः’—यह है मुण्डक। देखो बाहर भी एकरस, भीतर भी एकरस। जन्म और मृत्युका भय छुड़ानेवाली ऐसी कोई विद्या नहीं है।

‘अज’ भी दो तरहका होता है—एक तो आत्मा अज है और एक बन्ध्या-पुत्र अज है। आपको कौन-सा ‘अज’ अभीष्ट है? आप तो आत्मा होनेसे ‘अज’ हैं और आपके सिवाय जो मालूम पड़ता है वह बन्ध्या-पुत्र होनेसे ‘अज’ है; लेकिन द्वितीय ‘अज’ प्रथम ‘अज’से भिन्न नहीं होता भला! अध्यस्त जो अजता होती है वह अधिष्ठानगत अजतासे पृथक् नहीं होती। यह जो मानते हो कि जाग्रत्-अवस्था सच्ची है और स्वप्नावस्था झूठी है और वह जाग्रत्से उत्पन्न होती है तो यह बात कई बार समझा चुके कि सत्यसे असत्यकी, सत्यसे सत्यकी, सत्यसे सत्यासत्यकी, असत्यसे असत्यकी, असत्यसे सत्यकी, असत्यसे असत्यासत्यकी कोई उत्पत्ति नहीं हो सकती। अब देखो—यह भी कोई कहे कि संस्कारसे जन्म होता है—तो, यह अद्भुत ही लीला है! अच्छा हम मान लेते हैं कि संस्कारसे जन्म होता है, लेकिन सच्चेके संस्कारसे जन्म होता है—यह नियम है कहीं? संस्कार जो है वह सच्ची वस्तुका ही पड़ता है—यह नियम है कहीं क्या? झूठी वस्तुका भी तो संस्कार पड़ता है।

‘विचार सागर’में वर्णन है कि एक जादूगरने लोगोंको सावधान-किया—सावधान-सावधान! देखो जादूका खेल! और एक कपड़ा उसने निकाला। बोला हमारे हाथमें क्या है? बीज है, बीज। और फिर कपड़ेके नीचे उसने बीजको रख दिया। थोड़ी देरमें क्या देखते हैं कि जब वह कपड़ा हटाता है तो उसमें—से अंकुर निकल आया, फिर कपड़ा हटाया तो उसमेंसे पेड़ निकल आया, फिर कपड़ेसे ढक दिया तो फूल निकल आया। फिर फल निकला। अब लोगोंने देखा कि बीजमें—से पौधा निकला, पौधेमें—से पत्ता, फूल-फल लगा। पूछा—काहेका फल है यह? तो छुहारेका फल है। यहाँ कुछ और कहते होंगे। आम ही हो, कोई भी फल हो! लोगोंने पहले कभी छुहारा या आम नहीं देखा था! अब जिन लोगोंने देखा उनको पत्तेको देखकर, पेड़को देखकर, फूलको, फलको देखकर ख्याल हो गया कि ऐसे पत्ते-फूलवाला, फलवाला पेड़-छुहारेका पेड़ होता है, मनमें बैठ गया। अब वे जंगलमें गये और पूछे कि वह जो दूर दीखता है वह कहीं छुहारेका पेड़ तो नहीं है और उससे मिलते-जुलते पत्तेका कोई पेड़ दिख जाय तो छुहारेके पेड़का भ्रम हो जाय! तो भ्रम होनेके लिए संस्कारकी तो जरूरत है; परन्तु सच्ची वस्तुसे

संस्कार पैदा हुआ हो, यह जरूरत नहीं है। यह तो है मिथ्या-पर-मिथ्या; मिथ्या-पर-मिथ्या!

असज्जागरिते दृष्ट्वा स्वप्ने पश्यति तन्मयः।

पहले तो तुमने कहा जाग्रत्से स्वप्नकी उत्पत्ति होती है, स्वप्न जाग्रत्का कार्य है और अब असिद्ध क्यों बता रहे हो? बोले, देखो, हमारे मतमें कार्य-कारण कैसा है—असत्के दर्शनका ही संस्कार है और उससे सिर्फ असत्का ही दर्शन होता है। देखो, एक साथ जो लोग दीखते हैं स्वप्नमें—पाँच वर्षका बेटा और तीस वर्षका बाप—है न, दोनों एक साथ दीखते हैं—बापने बताया यह हमारा बेटा है, बेटेने बतलाया—यह हमारा बाप है—अब बतलाओ, वे तो दोनों एक साथ दीख रहे हैं न! दीखना ही उनका काल है, दीखनेके अतिरिक्त उनका कोई काल नहीं है, प्रतीति ही दृश्यका काल है। इसमें अपनी सत्ता होती है। अब अपनेको जाननेवाला देखते हैं तब सत्ता अपनेसे अलग मालूम पड़ने लगती है। उसमें कार्य-कारण-भावकी कल्पना होने लगती है। और सत्तासे यदि अपनेको अलग कर लें तो द्रष्टा-दृश्य भावकी कल्पना हो जाती है—यह विज्ञान है। यह विज्ञानका विषय है।

असलमें विज्ञान और विज्ञानका विषय—कारण और कारणका परिणाम—कार्यमें केवल जितनी देर मालूम पड़ती है—काल-सहित, देश-सहित, वस्तु समूची-की-समूची-प्रतीति कालसे जुदा नहीं होती। प्रतीतिकालका जो अधिष्ठान है—स्वयं प्रकाश, सर्वाविभासक उसमें न कार्य है, न कारण है। कार्य-कारण उसको समझानेके लिए पहले अध्यारोप है। इसके बाद अपवाद है। कार्य-कारणके अध्यारोप और अपवादसे उपलक्षित जो वस्तु है वह सत्य ब्रह्म है। वह न कार्य है, न कारण। कार्य-कारणका भी अध्यारोप और कार्य-कारणका अपवाद है। इसी तरह ज्ञाता-ज्ञेयका, विज्ञान-विज्ञेयका अध्यारोप है और अपवाद करनेके बाद विज्ञप्ति मात्र वस्तु है। भोक्ता-भोग्य—यह अध्यारोप और अपवाद है और आनन्द मात्र जो है वह स्व-वस्तु है। जाग्रत्में जो असत् पदार्थ देखे जाते हैं देखनेसे तन्मय हो जाते हैं और तन्मय होकर तद्भावभावित हो जाते हैं रज्जु-सर्पवत्। कल्पित वस्तुको देखकर रस्सीमें भी साँपका भ्रम कभी हो जाय तो बादमें जैसे साँप समझकर डर गये, दिलमें एक बार कँपकँपी हो गयी, एक बार चौंक गये! फिर मालूम पड़ गया कि यह साँप नहीं है रस्सी है, तब भी धड़कन जो बढ़ गयी है वह तुरन्त नहीं शान्त होती है। देखो, बिलकुल असत् सर्पको देखकर जो दिलमें



धड़कन पैदा हुई, जो डर हुआ, जो दिमागमें साँप-ही-साँप भर गया, वह तो दिमागमें कई घंटे तक रहेगा। आँखके सामनेसे तो साँप तुरन्त निकल गया; लेकिन दिमागमें जो साँप भरा वह घंटों तक रहता है। असत् सर्पने दिमागमें यह उथल-पुथल मचा दी—धड़कन बढ़ा दी—समझना पड़ता है।

‘असत्स्वप्नेऽपि दृष्ट्वा’ स्वप्नमें भी हम असत् वस्तु देखते हैं और देखकर फिर जाग्रत्में उनको नहीं देखते हैं, कभी देखते हैं—‘च’ पदका अर्थ है कि कभी सपनेमें देखी हुई चीज बाहर देखी जाती है और कभी नहीं देखी जाती है। अच्छा, आप सब लोगोंके जीवनमें यह अनुभव होगा कि किसी आदमीकी याद दो-चार वर्षसे नहीं आयी थी, आज सबेरे याद आ गयी, तो देखते क्या हैं कि तीन-चार घंटे बाद वह सज्जन हाजिर हैं सामने! जिस दिन आने वाले होते हैं उसदिन उनकी याद आती है, यह सपना ही है—यह दिवास्वप्न है! अच्छा, वह आदमी आया सामने और चला गया और फिर उसकी बार-बार याद आ रही है! यह क्या है? यह मत समझना कि आँख बन्द रहने पर ही सपना आता है, खुली आँखसे भी सपना आता है। अच्छाजी, आपको जब स्वप्न की याद आती है तब आप स्वप्न-द्रष्टा रहते हैं कि जाग्रत्-द्रष्टा रहते हैं? जरा ख्याल करके देखो! जिस समय चित्तमें स्वप्नकी स्मृति होती है उस समय स्मर्यमान स्वप्नके आप द्रष्टा हैं या विद्यमान जाग्रत्के द्रष्टा हैं? बिल्कुल स्वप्नके द्रष्टा हैं, उस समय तैजससे ऐक्य हो गया है, विश्व बेचारा तो ढीला पड़ गया है, जाग्रत्का जो अभिमानी है वह तो ढीला पड़ गया और तैजस प्रधान हो गया। इसीसे एक सिद्धान्त ऐसा भी है कि स्वप्नमें ही स्वप्नका स्मरण होता है, जाग्रत्में स्वप्नका स्मरण होता ही नहीं। यह लो, एक यह भी बमगोला है! स्वप्नमें ही स्वप्नकी याद जब हम करने लगते हैं तब असलमें जाग्रत्को भूल जाते हैं, जाग्रत्में नहीं होते हैं, सपनेमें चले जाते हैं! इसी प्रकार जो भूतमें ज्यादा फँस जाते हैं वे भूत हो जाते हैं। मनको अटकाना नहीं ज्यादा!

आपको हल्की-फुल्की एक बात सुनाते हैं। एक बार हम गये उत्तरकाशी। एक महात्मा मिले। उनसे मैंने कहा कि हम उत्तरकाशीमें रहनेके लिए आये हैं। बोले कि देखो, ये जो घोड़े होते हैं—बढ़िया घोड़े—इनके गलेमें रस्सी लगती ही है बाँधनेके लिए, पिछले पाँवमें भी रस्सी बाँध देते हैं, अगाड़ी और पिछाड़ी दोनों ओरसे बँधे होते हैं। अगर अगाड़ी-अगाड़ीका ही बन्धन हो तब तो घोड़े उसको तुड़ा लेते हैं, लेकिन जब पिछाड़ीका भी बन्धन होता है, माने पिछले पाँवमें भी

रस्सी बँधी होती है तब उसको तुड़ाना बड़ा मुश्किल होता है ! अगर पीछे कोई खींचनेवाली चीज छोड़कर आये होंगे तब तो वह रहने नहीं देगी, खींचकर पीछे ले जायेगी और केवल भविष्य-भविष्यकी बात हो तब कोई बात नहीं। वह तो हल्का बन्धन होता है।

यह भूतका बन्धन बड़ा खराब होता है। इसीलिए पहले जो विरक्त महात्मा होते थे, वे एक पेड़के नीचे बैठे होते और लघुशंका करनेके लिए उठते तो दूर जाकर लघुशंका करते और फिर उस पेड़के नीचे आकर नहीं बैठते, दूसरे पेड़के नीचे चले जाते। क्योंकि वे उस पेड़के नीचे ही जाकर बैठें यह उनके लिए बन्धन नहीं था। तो यह जाग्रतमें जो वस्तुएँ दिखती हैं, स्वप्नमें भी तन्मय होकर उनको देखते हैं, फिर उनको जाग्रतमें देखते हैं, कभी नहीं देखते हैं। कभी जाग्रतकी देखी हुई वस्तु स्वप्नमें दीखती है और कभी नहीं दीखती है। यह क्या कोई नियम है कि जाग्रतमें जो देखें वह सब सपनेमें दिखे और इसी प्रकार क्या यह नियम है कि जो सपनेमें देखें वह सब जाग्रतमें दिखे। अरे, यहाँका भी नियम नहीं है और वहाँका भी नियम नहीं है। तो यह जो लोकमें बीजांकुरके समान कार्य-कारण परम्परा लौकिक दृष्टिसे देखनेमें आती है उसका अनुवाद करके हम कहते हैं कि बाबा ! जाग्रतके संस्कारसे स्वप्न हुआ। परमार्थ दृष्टिसे नहीं।

नास्त्यसद्भेतुकमसत्सदसद्भेतुकं तथा।

‘नास्त्यसद्भेतुकम्’—असत्से सत्की, सत्यसे सत्यकी, सत्यसे असत्यकी, असत्यसे असत्यकी इन चारों प्रकारसे किसी भी वस्तुकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। यह बात कई बार कह चुके। इसलिए इसका विस्तार करनेकी जरूरत नहीं। श्रीमद्भागवतमें इसके लिए बहुत बढ़िया युक्तियाँ दी हैं। एक ओर तो कार्यकारणभावकी सिद्धि करते हैं और एक ओर कार्य-कारण-भावको काटते हैं। कार्य-कारणकी सिद्धि काहेके लिए करते हैं, श्रुति, स्मृति, उपनिषद्, महाभारत, पुराण, गीता—सबमें यह वर्णन है कि एक अद्वितीय तत्त्व जो पहले था वही सृष्टिके रूपमें प्रकट हुआ। है न, ‘एकमेवाद्वितीयम्’—एक अद्वितीय सत्ता ही प्रारम्भमें थी।

कार्यकारण भावका तो बड़ा वर्णन है। तुम कहते हो कि कार्यकारण भाव है ही नहीं और श्रुतिमें, गीतामें, महाभारतमें, पुराणमें सर्वत्र कार्य-कारण-भावका वर्णन है, तो अब इस प्रश्नको उठाते हैं कि वस्तुतः कार्य-कारण भाव है कि कल्पित कार्यकारण भाव है ? बोले—एक बात तो यह है कि संसारमें जो बन्धन



हैं, दुःख हैं, राग हैं, द्वेष हैं—वे हैं कि नहीं हैं? तुमको मालूम पड़ते हैं कि नहीं पड़ते? यदि मालूम पड़ता है, तो उसको मिटानेका उपाय भी तो होना चाहिए। जो मालूम पड़नेसे तुमको दुःख होता है, ठीक उसके विपरीत मालूम पड़ने लग जाय तो दुःख मिट जायेगा। जैसे परिच्छिन्न मालूम पड़नेसे दुःख मालूम पड़ता है न! वैसे यदि अपरिच्छिन्न मालूम पड़ जाय तो दुःख मिट जायेगा। जैसे तुमको किसीके वियोगका दुःख है और नित्य संयोगका ज्ञान हो जाय तो दुःख मिट जायेगा। जन्म-मरणका दुःख है, अजन्मा और अमृतका ज्ञान हो जाय तो दुःख मिट जायेगा। तो जैसा मालूम पड़नेसे संसारमें दुःख हो रहा है ठीक इसका जरा दूसरा पहलू देखो कि यह जन्मनेवाला किसमें, यह मरनेवाला किसमें?

हमारे महात्माओंने कहा कि देखो, तुमको तो बहुत मालूम पड़ता है, हम जरा संक्षेपमें सुनाते हैं—‘सर्वं खल्विदं ब्रह्म’ परमात्माके सिवाय दूसरी कोई वस्तु नहीं है? कि तब? हमको तो मालूम पड़ता है कि स्त्री है, पुरुष है, घर है, मकान है, नदी है, धरती है, पशु है, पक्षी है, सब कुछ है। तब बोले कि ऐसे उपासना करो कि ये जितनी अनेकताएँ मालूम पड़ रही हैं ये सब एकमें पैदा हुई हैं, एकमें रह रही हैं, और एकमें मिल जायेंगी—ये सब एक ही हैं। सब-का-सब एक ही है। यह क्यों बतलाया? अनेकताके कारण, भेदके कारण जो दुःख है उसको मिटानेके लिए, चित्तकी शुद्धिके लिए, राग-द्वेषके निवारणके लिए—तत्त्वाभिमुख करनेके लिए यह उपासना बतलायी। मूल तत्त्व क्या है? कि देखो, जब यह बात बतलायी गयी कि ज्ञानसे मुक्ति होती है तब यह सिद्ध हो गया कि अज्ञानसे बन्धन है, जब यह बात बतलायी गयी कि ज्ञानसे द्वैतकी निवृत्ति होती है तब यह बात सिद्ध हो गयी कि अज्ञानसे द्वैत है। जब यह बात बतलायी गयी कि ज्ञानसे आत्यन्तिक दुःखकी निवृत्ति होती है तब यह बात सिद्ध हो गयी कि अज्ञानसे ही दुःख है। तो, अज्ञानसे जो चीज होती है वह होती हुई भी नहीं होती है। मूल सिद्धान्त यह है कि आत्मा और ब्रह्म इन दोनों शब्दोंका अर्थ दो नहीं है, एक है। ‘लोगोंको हजार मालूम पड़ता है, हजारमें-से चित्तको हटानेके लिए कही गयी। हजार एकमें जुड़ता है और हजारमें-से निकलता है। माने एकसे जुदा हजार नहीं है—यह भाव समझानेके लिए कार्य-कारण भावका उद्भेद वेदान्तोंमें किया जाता है। यह कारिका ही तो बोलती है। यह बौद्ध नहीं बोल सकता। यह बात आप ध्यानमें रखना।

वेदका कहना है कि नानात्व नहीं है। ‘इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते’ यह

भी इसका कहना है—‘अजायमानो बहुधाभिजायते।’ यह वेदान्तका निश्चय है—एक अद्वय ब्रह्म। इस बातको ही समझना चाहिए। इसको ऐसे नहीं समझना चाहिए कि जो लोग जगत्के मूलमें जो सत्ता है उसको जड़ मानते हैं उनके लिए तो यह समस्या बड़ी आसानीसे हल हो गयी कि वह जड़ वस्तु जो है वह विकारको, परिणामको प्राप्त करके जगत्के रूपमें बन गयी परन्तु जगत्के मूलमें जो लोग चेतनको मानते हैं, बड़ी अद्भुत स्थिति है—जो लोग जगत्के मूलमें चेतनको मानते हैं उनका चेतन परिणामका साक्षी होगा। परिणामको जो प्राप्त होगा वह तो दृश्य होगा। जगत्का कारण चेतनको मानना और उसको परिणामी मानना—उपासक सम्प्रदायोंकी यही गलती अद्वैतियोंने पकड़ी। क्या कि चैतन्य जो है वह तो ज्ञानमात्र है, साक्षी है और वह बदलता है, जगत् बनता है कि जो साक्षी होगा वह जगत् बनेगा नहीं और जो जगत् बनेगा वह साक्षी होगा नहीं, तो जगत्का कारण चैतन्यको मानना और उसको परिणामी मानना—यह बात गलत है।

अच्छा, और जगत्का कारण जड़को मानना और उसको स्वयंभू मानना—यह बिलकुल गलत है। जैसे देखते हैं कि जगत्के मूलमें जड़ सत्ता थी और वह बिलकुल नियमित रूपसे देश, काल, वस्तुके रूपमें—मनुष्यसे मनुष्य, पशुसे पशु, पक्षीसे पक्षी—जिन लोगोंने विकासका क्रम बैठाया था—डार्विनने, हेकलेने—बड़ा परिश्रम करके विकासके क्रमको जोड़ा था कि पहले काई बैठी, फिर कीड़े पैदा हुए, फिर यह हुआ, फिर यह हुआ—फिर बन्दरसे मनुष्य हुए—बहुत कोशिश करके उसने यह क्रम बैठाया था, लेकिन ऐतिहासिक परम्परा इस बातकी साक्षी है कि जबसे हेकलेने और डार्विनने यह ‘थ्योरी’ निकाली तबसे अबतक एक भी बन्दरको उन्होंने मनुष्य नहीं बनाया, एक भी चिड़िया गाय-बैल नहीं बनी; चिड़ियाकी परम्परा अलग है और गाय-बैलकी परम्परा अलग है और चतुष्पादकी परम्परा अलग है। चतुष्पाद जो हैं वे बादमें द्विपाद हो गये और पहले चिड़ियाके रूपमें परिन्दे थे, विकासका यह क्रम-स्वयंभू वस्तु जो है वह ऐसी अचिन्त्य रचनाको प्राप्त हो जाय—जड़ वस्तु बिना किसी कालकी संवित्के, बिना किसी देशकी संवित्के, बिना किसी कर्मकी संवित्के, बिना ज्ञानके सत्ता स्वयंभू हो यह बात असंगत और ज्ञानपरिणामी हो यह बात असंगत और हमारा आत्मा ज्ञानरूप है—इसमें क्या सन्देह है? सन्देह है तो केवल विपर्यासके कारण। विपर्यास क्या है? बहुत विलक्षण ढंग है इसका। जो ज्ञान है वह देश-काल-



वस्तुसे अपरिच्छिन्न है—क्योंकि देश-काल-वस्तुका प्रकाशक है। अपरिच्छिन्न ज्ञान है। ज्ञानका स्वभाव है प्रकाशित करना। जो प्रकाशित करे, जो अपनेको जाने, दूसरेको जाने उसीको तो ज्ञान कहते हैं। अच्छा, दूसरा जाननेको नहीं हो तो वह क्या करेगा, दूसरा हो ही नहीं तो ज्ञान क्या करेगा? अपने आपको ही जानेगा और स्वयं भी जाना जायेगा। बोले—यह तो कर्तृ-कर्म-विरोध होगा। अर्थात् हम अपने कन्धे पर स्वयं चढ़ जायँ यह बात जैसे सम्भव नहीं है वैसे अपने आपको देख पाना, अपने आपको ज्ञेय बना लेना शक्य नहीं है।

बहुतसे वेदान्ती इसलिए जिन्दगी भर परेशान होते हैं कि आत्माको ज्ञानकी कसौटीपर घिसना चाहते हैं। जैसे आँखसे घड़ी देखते हैं वैसे ही चाहते हैं कि हम ज्ञानसे आत्माको देखेंगे। अरे आत्मा जिससे देखा जाता है वह आत्मा है। जो देखा जाता है वह आत्मा नहीं है। तो तुम अपनेको आत्माके, ब्रह्मके रूपमें जानो तो आज ही समस्या हल और यदि देखकर ब्रह्मको जानना चाहो तो यह समस्या कभी हल नहीं होगी। माने ज्ञान जो है वह ज्ञानका विषय नहीं होता, वह तो सबको विषय करता है। बहुतसे जिज्ञासु इसलिए मारे गये कि उन्होंने ज्ञानको ज्ञानका विषय बनाना चाहा। जो ज्ञानका विषय है उसका निषेध कर दो। उसका अपवाद कर दो। सबका निषेध कर देनेपर स्वयं ज्ञानस्वरूप तुम हो। इसको श्रुतिने बतलाया ही है कि तुम वह ब्रह्म हो—‘तत्त्वमसि।’

यही देश-काल-वस्तुसे अपरिच्छिन्न—होनेके कारण यह पूर्ण है, कालसे अपरिच्छिन्न होनेके कारण यह अविनाशी है, विषयसे अपरिच्छिन्न होनेके कारण यह अद्वय है—यह अद्वय स्वरूप अपना आत्मा है। देखनेके लिए तो दूसरा कुछ है नहीं। तो यह ज्ञान ही अपने आपको दृश्यात्मक, ज्ञेयात्मक और ज्ञानात्मक—अपने आपको ज्ञाता बनाकर और ज्ञेय बनाकर यह शुद्ध ज्ञान है। ज्ञानमें ज्ञानके दो रूप मालूम पड़ते हैं। एक जाननेवाला और एक जाना जानेवाला। ये दोनों तो प्रतीतिमात्र रूप हैं। जिसमें दोनों प्रतीतियाँ प्रकट हो रही हैं। इसमें क्या हुआ कि सर्वज्ञ भी ज्ञाता है, अल्पज्ञ भी ज्ञाता है; सर्व भी ज्ञेय है, अल्प भी ज्ञेय है, तो सर्व-अल्प-रूप ज्ञेय और सर्वज्ञ-अल्पज्ञ रूप ज्ञाता—ये अविनाशी, अद्वितीय, परिपूर्ण ज्ञानस्वरूप आत्माके विवर्त हैं माने इसमें अपने अद्वय-ज्ञान-स्वरूप आत्मामें ये केवल प्रतीतिमात्र हैं। तो यह कार्य-कारण-भाव जितना है वह सृष्टिको देखकर है, तत्त्वको देखकर नहीं। यह अज्ञान असलमें क्या है—यह बात श्रीमद्भागवतमें बहुत अच्छे ढंगसे समझायी गयी है—वहाँ पूछा है—हे परमात्मन्, आप क्या



अपना अन्त जान सकते हैं? आप कहाँ नहीं हैं? कब आप नहीं रहेंगे और क्या चीज आप नहीं हैं? यह ज्ञान आपको है कि नहीं है? अब ईश्वर इसका क्या जबाब दे? तो इसके दो पक्ष बने। एक तो यह कि ईश्वर कहे कि बाबा; यह बात तो हमको नहीं मालूम है और दूसरी बात—कि ईश्वर बोले कि हमको मालूम है। तो, यदि ईश्वरको मालूम है कि वह क्या नहीं है, कब नहीं है और कहाँ नहीं रहेगा तो और पदार्थोंके समान ईश्वर भी नाशवान् हो गया, खण्ड हो गया, परिच्छिन्न हो गया—ईश्वरको मालूम है कि हम कब मरेंगे। बोले कि तुमको मालूम है कि नहीं? ईश्वरने कहा कि नहीं भाई, हमको मालूम है; हमको यह भी मालूम है कि हम कब मरेंगे। बोले—चलो, तब तुम मरनेवाले हो? बोले कि हमें तो मालूम नहीं है कि हम कब मरेंगे तो बोले कि तब तुम अज्ञानी हो—अगर तुमको मालूम है कि तुम कब मरोगे तब तुममें और मरनेवालेमें फर्क क्या? ईश्वरने कहा—बाबा, देखो जैसे तुम हो ज्ञानी-अज्ञानी, मरनेवाले, नहीं मरनेवाले वैसी ही मैं भी हूँ तुमसे बिलकुल न्यारा मैं नहीं हूँ। तुम ज्ञानी हो तो मैं ज्ञानी हूँ, तुम अज्ञानी हो तो मैं अज्ञानी। तुम मरनेवाले हो तो मैं मरनेवाला और तुम अमर हो तो मैं अमर। तुममें और मुझमें कोई भेद नहीं है भला! यह अज्ञानके माने—अब देखो, किसीने कहा कि ईश्वर अज्ञानी है तो ईश्वर अज्ञानी कैसे होगा?

तो बोले—भाई, ईश्वर भी ईश्वरके अन्तको नहीं जानता। तो यह जो नहीं जानना है, स्वयं परमात्मा अपने शुद्ध-स्वरूपको अपना दृश्य नहीं बना सकता और यही अज्ञान हो गया और इसी अज्ञानसे जो दृश्यरूप दिखलायी पड़ रहा है, वह परमात्मासे जुदा न होने पर भी परमात्मासे जुदा मालूम पड़ता है। यह परमात्माकी बेबशी जगत्के रूपमें दिखलायी पड़ रही है। क्योंकि उसको यह पता नहीं कि वह कहाँ नहीं, यह पता नहीं कि कब नहीं—इसका मतलब हुआ कि अज्ञान भी परमात्माका स्वरूप है। चिन्न भी वही, परिच्छिन्न भी वही; अपरिच्छिन्न भी वही, भाव भी वही, अभाव भी वही; सबसे न्यारा और सब कुछ।

यह वेदान्त मरनेके बाद जो चीज मिलती है; वह सच्ची है और मरनेके पहले जो मिलती है वह झूठी है, ऐसा नहीं कहता। जो सम्प्रदायवादी धार्मिक हैं वे कहते हैं कि इस जन्ममें धर्म करो, तकलीफ उठाओ, होम करो, तप करो—मरनेके बाद तुम्हें सच्चा सुख मिलेगा। वेदान्तियोंका मत इससे विलक्षण है। वेदान्त यह नहीं कहता कि मरनेके बाद स्वर्ग मिलता है। उपासक कहते हैं कि इस



लोकमें साधन कर सकते हैं—उपासना करो, अपने इष्टदेवका चिन्तन करो, फिर जब देशान्तर होगा, माने बैकुण्ठमें जाओगे, गोलोकमें जाओगे तब वहाँ सुख मिलेगा। तो सच्चा सुख यहाँ नहीं है वहाँ है, इस मतसे वेदान्तकी क्या विलक्षणता है यह बात आपके ध्यानमें आनी चाहिए। वेदान्त कहता है 'सुख यहीं है।' जो यहीं काम करता हुआ सुखी है सो सुखी है। जो यहीं रहता हुआ सुखी है वह सुखी है। योगी कहते हैं कि सुख यहाँ है तो सही लेकिन वह खुली आँखसे नहीं मिलता। बन्द आँखसे मिलता है। है तो यहीं; लेकिन जब समाधिमें जाओगे तब मिलेगा। वेदान्तियोंका कहना है उसके लिए समाधिमें भी जानेकी जरूरत नहीं है। यहाँ खुली आँखसे वह सुख मिलता है। क्या ऐसा भाव बनाकर रखें तब वह सुख मिलेगा। वेदान्ती कहते हैं नहीं तुम स्वयं सुखस्वरूप हो इसमें भाव बने कि न बने। तो बोले कि ये जो चीजें मालूम पड़ती हैं या जैसी अन्ध परम्परा चली आयी है दोनोंको ये काटना चाहते हैं कि जो चीज जैसी मालूम पड़ती है वह वैसी ही हो, यह जरूरी नहीं है और जो परम्परासे होता आया है उस सत्यके आधारपर ही हो यह जरूरी नहीं है। जीवनमें जैसे सत्यका ज्ञान देखनेमें आता है वैसे ही झूठका ज्ञान भी देखनेमें आता है। यह ज्ञान ऐसी चीज है कि जिसको सचसे प्रेम है तो झूठसे परहेज भी नहीं है। इससे आप डरना नहीं—जैसे घी-को-घी बतलाना ज्ञानका काम है वैसे ही डालडाको डालडा बतलाना भी तो ज्ञानका ही काम है। सचको, झूठको बतलाता है ज्ञान। यह प्रिय है, यह अप्रिय है—यह कौन बतलाता है? ज्ञान। यह जड़ है यह कौन बतलाता है? ज्ञान। यह चेतन है—यह कौन बतलाता है? कि ज्ञान। ज्ञान यथार्थ, अयथार्थ; चेतन, जड़, प्रिय, अप्रिय, दूर, निकट; देर, सबेर, यह वह—सब बतलाता है। यह अगर ब्राह्मणको बतलाता है तो चमारको भी बतलाता है। साहूकारको बतलाता है तो चोरको भी। यह तो स्वयंप्रकाश आत्मदेव हैं। विषयके भेदसे भिन्न-भिन्न नहीं होते। दुनियामें चाहे कुछ भी मालूम पड़े सब इन्हींको मालूम पड़ता है। जो कुछ हो सब इन्हींको मालूम पड़ता है। चाहे जिस इन्द्रियसे मालूम पड़े, इन्हींको मालूम पड़ता है। विक्षेपमें पड़े तो और शान्तिमें मालूम पड़े तो!

यह है अपना आपा, यह ज्ञानस्वरूप—बहुत बड़ी वस्तु है। इसको कभी हीन मत समझना। छोटा मत समझना। इसको थोड़ी देरके कर्मसे पापी या थोड़ी देरके कर्मसे बड़ा भारी पुण्यात्मा समझ लेना—दोनों हीन भाव हैं। कर्मसे यह घटता है, बढ़ता है—दोनों हीन भाव हैं। वृत्तिसे, भावसे यह घटता-बढ़ता है—



वस्तुके बारेमें जो भाव है वह घट जाता है और वस्तुके बारेमें जो भाव है वह बढ़ जाता है। कपड़ा कभी सस्ता और कभी महँगा; गणेशजी कभी बहुत प्यारे लगे और कभी नहीं लगे। वस्तुके बारेमें भाव बनता-बिगड़ता है, परन्तु जिसको यह भाव होता है वह तो ज्यों-का-त्यों, अपने बारेमें भाव नहीं बिगाड़ना। तुम्हारा भाव सब भावोंको सिद्ध करनेवाला है। स्थितिसे अपनी कोई वृद्धि या अपना कोई ह्रास नहीं होता।

वेदान्ती बोलते हैं कि कार्य-कारण भाव नहीं है। आपको सुनाया था कि कर्तृ-कर्म-भाव दो प्रकारका होता है। एक परमात्माकी प्रधानतासे कि उसने सृष्टि बनायी और वह बनानेवाला—सर्जनहार है। यह तत्पदार्थकी प्रधानतासे निरूपण हुआ और हमने कर्म किया और अपने कर्मके द्वारा सृष्टि बनायी, बिगाड़ी, बढ़ायी—यह आत्माकी प्रधानतासे और वह सर्वज्ञ है और सर्वशक्तिमान् है यह शरणागत होनेके लिए आवश्यक है और हम ही द्रष्टा हैं यह सांख्ययोगमें आवश्यक है—त्वम् पदार्थ प्रधानतासे द्रष्टा और तत् पदार्थकी प्रधानतासे सर्वज्ञ-त्वम् पदार्थकी प्रधानतासे भोक्ता मैं महेश्वर! और तत् पदार्थकी प्रधानतासे भोक्ता वह—परमेश्वर। वेदान्तमें ये तीनों युग्म मैं कर्ता-कर्म, वह कर्ता-कर्म; मैं द्रष्टा-दृश्य, वह द्रष्टा-दृश्य; मैं भोक्ता-भोग्य और वह भोक्ता-भोग्य—ये दोनों तरफ हैं। इनका अधिष्ठान है वह स्वयंप्रकाश, वह अद्वितीय है। अपने आत्माको ही ब्रह्म कहते हैं—यह वेदान्तका सिद्धान्त है।

देखो, जैसे कागजपर कोई लकीर खींच देते हैं मानसिक, हाथी बना दिया, घोड़ा बना दिया; तो क्या वहाँ हाथी पैदा हुआ, घोड़ा पैदा हुआ? स्त्री बनायी, पुरुष बनाया—अरे, तत्त्वकी दृष्टिसे क्या है वह? कागज है, रंग है, कागज और रंग दोनों माटी हैं। तो जैसे कागजपर तस्वीर कल्पित है, खींची हुई—वैसे ही माटीमें कागज और रंग भी कल्पित हैं। वैसे ही सत्तामें माटी भी वैसी ही है जैसे माटीमें रंग अलग और कागज अलग। माटीमें गुलाब अलग, कमल अलग, बेला अलग, चमेली अलग—सब गन्ध-प्रधान हैं—माटीमें ही यह जैसे तस्वीर बनती है वैसे ही बनते हैं, तो उत्पत्ति नहीं होती। इसका नाम उत्पत्ति नहीं होता है। मिट्टीका ही नाना आकार-विकार-प्रकारके रूपमें भासना और नाना नामवाला होना होता है। इसी प्रकार एक ही सत्ता नाना नामवाली हो रही है। नाना रूपवाली हो रही है। यह नामाभास है, यह रूपाभास है। सत् अविनाशी है वह परिपूर्ण है। वह अखण्ड है, वह अद्वय है। लोगोंको तो यही मालूम पड़ता है कि घड़ा पैदा होता है—बनाया



जाता है। घड़ा क्या पैदा होता है—बनाया जाता है। घड़ेमें माटी बनायी गयी। एक नहरना बनाया गया लोहेमें। लोहा तो नहीं बनाया गया। सोनेमें जेवर बनाया गया, सोना तो नहीं बनाया गया! जैसे मूलसत् ज्यों-का-त्यों हैं और इसमें तस्वीरें दिखलायी पड़ती हैं। व्यवहारके लिए इनके अ, ब, प; स, नाम कल्पित कर दिये जाते हैं। ये वास्तविक नहीं हैं। ये कैसे हैं? जैसे सिनेमामें पति-पत्नी—डालडा पति-पत्नी हैं। गोरा और काला, वहाँके बाल लम्बे—ये सिनेमाके परदेपर मूँछवाले आते हैं—सब डालडा मूँछवाले होते हैं—झूठे और बाल भी कभी कैसा बना लिया, कभी कैसा! ऐसे ही यह दृश्य दिखता है। ब्रह्मरूप अधिष्ठान-स्वयं प्रकाश आत्मामें—ये दृश्य अनहुए दीखते हैं।

इनके समाधानके लिए पहले 'माया' शब्दका प्रयोग किया जाता था। जैसे जादूगर जादू दिखलाते हैं। जादू दो तरहका होता है। एक जिसमें करनेवालेके हाथकी चालाकी हो—हस्तकौशला। हाथमें ही छिपा लेते हैं, बिना पेंदीका गिलास। एक पेंदीवाला और एक बिना पेंदीका। एक गिलासकी चीज दूसरे गिलासमें चली गयी—ऐसा दिखला देते हैं। दूसरा ऐसा होता है कि देखनेवालेकी आँखको धोखा हो जाय—आँख ही बाँध दी जाय। एक ऐसा होता है कि होता तो वैज्ञानिक है; परन्तु देखनेवाला उस विज्ञानको न जानता हो, समझे नहीं! हमने देखा था—अदालतमें कचहरीमें—गाँवके लोग तो जानते नहीं इन सब चीजोंको—मुकदमे होते हैं उनके—तो वहाँ आँखकी दवा बेचता कोई। वह क्या करता कि गिलासमें पानी लेकर रखता और उसमें थोड़ी धूल डाल देना, पानी गँदला हो जाता और उसके बाद उसमें नीबूका सत् होता है—टाटरी—वह जरा-सा डाल देता है और सारी मैल कट जाती है। तो वह बतलाता कि जैसे पानीमें यह दवा डालनेसे मैल कट जाती है वैसे ही जब तुम अपनी आँखमें यह दवा डालोगे तो तुम्हारा मोतियाबिन्द कट जायेगा। माड़ा निकल जायेगा। एक पैसेकी चीज इस तरह वह पाँच रुपयेमें बेचता। अब, यह नासमझी हुई न! तरह-तरहके पावडर होते हैं जो पानीमें डालते ही पानी उछलने लगता है। शहरके लोग जानते हैं, रोज पीते हैं, उसको, पर देहातके लोग नहीं जानते! वह जादूका खेल हो जाता है। ऐसी युक्ति होती है जिनको जानकार समझते हैं और अनजान नहीं। जहाँ प्रक्रिया अज्ञात होती है उसको जादू बोलते हैं। आँखमें धोखा हो जाता है। जहाँ हस्त-कौशल होता है, उसको जादू बोलते हैं। इसी जादूके खेलको शास्त्र में माया कहकरके समझाया है।

मायाका स्वरूप क्या है कि देखनेमें तो आवे और विचार करनेपर निकले नहीं—‘विचारसहिष्णुत्व’—विचारको सहन न कर सके—खोज-बीनको, जाँच-पड़तालको सहन न कर सके! एक आदमी हमको शुकतालमें मिला। उसने तौलियेके नीचे अपना हाथ डाला और गाँठ लगाता गया। 10-20 गाँठ हमको साफ दिखती थीं। फिर ऐसे उसको फूँक दिया कि सब-की-सब छूट गयीं। हमने कहा—भाई, तुम यह हाथ छिपाकर क्या करते हो सो हमको देखने दो। बोला—कि यह हम नहीं देखने देंगे। क्या मतलब हुआ कि मायाका जो खेल होता है वह खोज-बीनको सहन नहीं करता। इन्द्रियोंसे तो मालूम पड़े और जाँच-पड़ताल—प्रमाणकी कसौटीपर ठीक न उतरे—इसीको शास्त्रमें ‘माया’ बोलते हैं।

ज्ञानसे अविद्याकी निवृत्ति हो जाती है। यह इसकी लीला है। जो कार्य-कारण-भाव दिखलायी पड़ता है वह हमें इन्द्रियोंसे मालूम पड़ता है। आँखसे, नाकसे, कानसे, जीभसे, मनसे, बुद्धिसे। कार्य-कारण-भाव असलमें कार्य-कारणसे ही मालूम पड़ता है—एक यह नियम है। चोरका गवाह कौन कि चोर। यह दुनिया कार्य-कारणात्मक है इसमें प्रमाण क्या? हमारे शरीरमें मौजूद कार्य-कारण। क्या यह आँख कार्य-कारणमें नहीं है? क्या यह मन कार्य-कारणमें नहीं है? क्या जीभ कार्य-कारणमें नहीं है? तो कार्य-कारणसे कार्य-कारणकी सिद्धि होती है। देखो—एक विचार—यह आजकलकी दुनिया तो जरा निराली है न! यह फूल लाल है यह कैसे सिद्ध होता है? आँखसे सिद्ध हो गया कि लाल है, हमको आँखसे लाल दिखता है, सबको लाल दिखता है—सर्वसाधारण लाल है जब हम कार्य-कारणका विचार करते हैं तब हमारा उद्देश्य सिर्फ इतना ही नहीं रहता कि फूल लाल है कि पीला है—हमारा उद्देश्य यह रहता है कि जो आँख फूल देखती है, वह भी फूल सरीखी ही है। फूल माटीमें-से निकला और यह आँख शरीरमें-से कैसे निकली—इसकी भी तो जाँच करेंगे! माने समूची सृष्टि कैसे पैदा हुई—यह विचार करना पड़ता है। तो जो देश-काल-वस्तुसे अपरिच्छिन्न अधिष्ठान है उसमें यह सृष्टि-विचार करनेपर सिद्ध नहीं होती। इन्द्रियोंसे मालूम पड़ती है। मालूम पड़ना और अनुभवसे सिद्ध न होना—इसीको बोलते हैं—अनिर्वचनीय। यह मायामयी अनिर्वचनीय कार्य-कारणकी पद्धति सृष्टिमें दिखलायी पड़ रही है। जैसे—

विपर्यास—जाग्रत् अवस्थामें ही जैसे विपर्यास हो जानेके कारण माने



अधिष्ठानका ठीक ग्रहण न होनेके कारण, रस्सीको ठीक न पहचाननेके कारण हम साँप देखने लगते हैं। साँप कहींसे आता है? किस जातिका आता है? डोंड़हा है कि कोबरा है? कितनी उम्र है उसकी? वह कितना लम्बा-चौड़ा है? देखनेमें तीन-चार हाथ लम्बा लगता है, इतना मोटा लग रहा है, इतनी उम्र लग रही है। दादा-परदादा बतलाते थे कि पहले यहाँ साँप था, यह उसीका बेटा-पोता होगा। तो उसकी कोबरा जाति भी बना लो, उसकी उम्र भी बना लो, उसके बापकी भी कल्पना कर लो, उसकी लम्बाई-चौड़ाई भी कर लो, लेकिन वह बिलकुल अधिष्ठानके अज्ञानसे, माने रस्सीके अज्ञानसे ही मालूम पड़ता है! अब यह साँप कहाँसे आया? एक आदमी जो रस्सीको जानता है, वह कह रहा है कि बिलकुल नहीं है और एक आदमी जिसको भ्रम हो रहा है—वह कह रहा है कि हमको दीख रहा है, बिलकुल है। अब वह कहीं विश्वसनीय आदमी हुआ तो उसने कहा कि नहीं-नहीं यहाँ साँप-वाँप नहीं है, यहाँ रस्सी है। बोले—होगी, रस्सी होगी, आप कहते हैं तो ठीक है। साँप कहींसे आकर उसमें लिपट गया होगा? या साँप उसमें साँप पैदा कर गया होगा—ऐसा बोलेगा। लेकिन ये दोनों बातें झूठ है। वह तो केवल विपर्यास है कि जाग्रतमें दिखते हुए भी वहाँ कोई वस्तु नहीं है। इसी प्रकार स्वप्नमें विपर्यास हो जानेके कारण हजारों आदमी दिखते हैं, हजारों मील भूमि दिखती है, हजारों मिनट दिखते हैं, हजारों वर्ष दिखते हैं। ये सब वहाँ-वहाँ मालूम पड़ते हैं। यह सब दर्शनका विस्तार है, वहाँ साँप वस्तुमें-से उत्पन्न नहीं हुआ है, दिमागमें-से जाकर चढ़ बैठा है। वह जो रस्सीमें साँप दिखता है—वह रस्सीमें साँप नहीं है, रस्सी साँपके समान मालूम पड़ती है, परन्तु क्यों मालूम पड़ती है? कि दिमागकी खराबीसे। वहाँ तो दिमागकी त्रुटि है, वस्तु नहीं है। इसी प्रकार यह जो सृष्टि मालूम पड़ रही है यह ब्रह्ममें या आत्मा में या सत् में या चित् में या आनन्द में या अपरिच्छिन्न में या अनन्त में कहीं उत्पन्न नहीं हुई है, कहीं स्थित नहीं है, कहीं प्रतीत नहीं होती है—मायामय कार्य-कारण-भाव ही, अविद्यामय अज्ञानमय, विपर्यासरूप कार्य-कारण-भाव ही यह विपर्ययरूप दिखलायी पड़ रहा है।

कुछ लोगोंने कहा कि बड़े-बड़े जो वेदान्त-ग्रन्थ हैं उनमें भी उत्पत्ति-स्थिति-प्रलयका वर्णन आता है। यद्यपि इसका समाधान पहले जहाँ वेदार्थका विचार किया, वहाँ ठीक-ठीक कर दिया है—

**उपायः सोऽवताराय नास्ति भेदः कथंचन।**

अद्वैत-प्रकरणमें जब प्रसङ्ग आया तो यह बात बतलायी कि यह तो केवल समझानेके लिए है।

वेदान्तमें, उपनिषदोंमें भिन्न-भिन्न प्रकारसे सृष्टि बतलायी है। एक जगह बतलाया कि तेज, अप और अन्न—इन तीनोंसे सृष्टि होती है। एक जगह बतलाया कि आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवीसे सृष्टि होती है। एक जगह बतलाया कि ये पाँचों आत्मासे पैदा होते हैं। एक जगह बतलाया कि ये पाँचों मनसे पैदा होते हैं। एक जगह बतलाया कि ये सब अव्याकृतसे पैदा होते हैं, एक जगह बतलाया कि ये सब ईश्वरसे पैदा होते हैं। एक जगह त्रिविकरण बतलाया और एक जगह पंचीकरण बतलाया। तो देखो कौन-सा सच है? बोले—असलमें यह सच्चाई नहीं है, अध्यारोप है—यह बात बतलानेके लिए ही तरह-तरहसे कही गयी है। गौड़पादाचार्यने कहा कि वेदान्तमें इसपर जो निरूपण है—‘इति वेदान्तनिश्चयात्’—‘संभूतेरपवादाच्च संभवः प्रतिषिद्ध्यते’—संभव माने कार्यसे भी अन्य है और ‘असंभवात्’ है—कारणसे भी अन्य है। धर्मसे भी अलग, अधर्मसे भी अलग, धृतसे भी अलग, अधृतसे भी अलग, विदित और अविदित, कार्य और कारण दोनोंसे बिलकुल विलक्षण है—यह बात तो साफ श्रुतिमें कही गयी है। यह वेदान्तका सिद्धान्त है।

यह प्रश्न ही है कि वह वस्तु कौन-सी है कि विदित माने कार्य और अविदित माने कारण—देखो, यह ज्ञानकी दृष्टिसे विदित-अविदित शब्दका प्रयोग किया। आपको एकदिन सुनाया था कि कर्मकी दृष्टिसे कृताकृत बोलते हैं, और वैश्यकी दृष्टिसे, लाभकी दृष्टिसे, प्राप्त-प्राप्तव्य बोलते हैं और क्षत्रियकी दृष्टिसे विध्यविधि बोलते हैं और ब्राह्मणकी दृष्टिसे ज्ञात-ज्ञातव्य बोलते हैं। दृष्टि बदल जाती है। सत्तामें कार्य-कारणका आरोप करते हैं। चेतनमें विदित-अविदितका आरोप करते हैं। विदितसे भी विलक्षण और अविदितसे विलक्षण साफ-साफ श्रुति है। कई लोग बोलते हैं कि ऐसा देखनेमें आता है—उपलम्भात्। उपलम्भात् माने उपलब्धि—देखनेमें ऐसा आता है। ‘अरे भाई! सबके घरमें ऐसा ही होता है।’ यह युक्ति कब दी जाती है कि जब बच्चेसे कहो कि तुमने ऐसा क्यों किया? तो बोलेगा कि वह हमारा पड़ोसी भी ऐसा ही करता है। जब अपने पास जबाब देनेके लिए नहीं रहता है तब ध्यान पड़ोसीकी तरफ डाला जाता है। वैसा हमारा पड़ोसी करता या उसने किया इसलिए वैसा मैंने किया—तो अपनेको मूर्ख ही तो बतलाया न! हम तो नहीं समझते कि क्यों किया जाता है। हमने तो नकल की है।



इसमें हमारी कोई कला नहीं है, कला तो सामने वालेकी है—‘नास्ति कला यस्मिन् नकलः।’ पड़ोसीकी कला है। इतनी पीढ़ीसे ऐसा होता आ रहा है, इसलिए ऐसा कर रहे हैं, यह स्वीकार करना है कि हम समझते नहीं। अज्ञानकी स्वीकृति है। हमें ऐसे ही मालूम पड़ा कि अधिष्ठान तक ज्ञान प्राप्त करके मालूम पड़ा या बिना अधिष्ठानका ज्ञान प्राप्त किये ही मालूम पड़ा? उपलब्धात्—सपनेमें देखा तुमने कि तुमको लाख रुपये मिल गये, जगे और बोलने लगे—हमको लाख रुपये मिल गये। कैसे मिले भाई? कि हमने देखा है, गिनकर देखा, नोटके बण्डल देखे हैं। कब देखे? सपनेमें देखे। यह देखनेसे वह बात क्या सच्ची हो जायेगी? सच्ची नहीं होगी।

आपको एक बार सुनाया था कि बंगालमें पहले पहल एक मुकदमा ऐसा चला था। अंग्रेजोंने चलाया था। किसी बम बनानेवाले क्रान्तिकारी पर। गवाहको फोड़ना था—उसने सब बतलाया, बयान दिया कि इन्होंने अमुक जगह गोष्ठी की। यहाँ बम बनाया। सामनेसे कहा जाता ‘था पाँच सौ देंगे इशारा करते थे। फिर गवाही देता कि यह किया, यह किया। अन्तमें संकेत एक हजारतक पहुँचा तब उसने कहा कि जज साहब, बस इतना देखते-देखते हमारी आँख खुल गयी और देखा तो वहाँ कुछ नहीं। तब जज बोले कि फिर इतनी देर तक तूने वर्णन किसका किया है? बोला—मैं तो सपनेका वर्णन कर रहा था कोई सच्ची बात थोड़े ही कह रहा था। सारा ही मुकदमा उलट गया। देखनेसे कोई बात नहीं बनती। उसकी तह तक पहुँचकर उसकी सच्चाईका ज्ञान होना चाहिए। उपलब्धिसे बात नहीं बनती।

बहुत लोग कहते हैं कि यह दुनिया दीख पड़ती है और इसमें समाचार माने वर्णाश्रम आदिके सम्यक् आचार हमेशासे होते आये हैं इसलिए वस्तु है, सृष्टि है। ‘ब्राह्मणः यजेत्’—श्रुतिने कहा—‘ब्राह्मण यजन करे’ और ‘स्वर्गकामो यजेत्’ स्वर्गकी कामनासे करे। यदि यह बात मानेंगे कि यह सृष्टि जो है वह अधिष्ठानमें हुए बिना ही भास रही है तो ब्राह्मण भी मिथ्या हो जायेगा। यज्ञके द्वारा प्राप्त होनेवाला स्वर्ग भी मिथ्या हो जायेगा। तो बोले कि नहीं बाबा, यह वेदमें कही हुई बात कहीं झूठी न हो जाय इसलिए ब्राह्मणादि वर्ण भी सच्चे और उनके द्वारा यज्ञ-यागादिके द्वारा प्राप्त होनेवाला स्वर्ग भी सच्चा। देखो, भाई! जहाँ परमार्थका निरूपण हो वहाँ व्यवहारकी बातको बीचमें घुसेड़ना नहीं चाहिए। व्यावहारिक सत्य, अर्थ क्रियाकारित्व दूसरी चीज है, सच्चाईका निर्णय दूसरी

चीज है। जिस समय युक्तिसे और अनुभवसे ब्रह्मका विचार करते होते हैं उस समय बीचमें कोई कबीरकी साखी बोल दे—कि देखो, कबीर बाबाने यह कहा, फिर क्या होगा? तब हमारे दिमाग पर एक दबाव डाल दिया गया कि अब कबीरको सम्हालते हुए बोलो। बुजुर्गका नाम लेकर बुजुर्ग हैं न, कबीर तो बुजुर्ग हैं, बड़े-बूढ़े हैं, देखो, जब हम साखी बोलकर कोई बात समझाते हों तो आप उसके विरुद्ध साखी बोल सकते हैं। जब हम आपको श्लोक बोलकर कोई बात समझाते हों तब आप उसके विरुद्ध श्लोक बोल सकते हैं और जब युक्ति और अनुभवसे कोई बात समझाते हैं तब उसके विरुद्ध आप युक्ति और अनुभवका प्रयोग कर सकते हैं।

अब जिनका आग्रह है कि हम ब्राह्मण हैं, यज्ञ करेंगे और पायेंगे स्वर्ग, वेदमें लिखा है इसलिए ब्राह्मणपना भी सच्चा, यज्ञ भी सच्चा, स्वर्ग भी सच्चा। बोले हाँ जी, ये सब व्यावहारिक रूपसे सत्य हैं। तब फिर यह जो तुम कहते हो कि सब ब्रह्म है सो कैसे? बोले—

जातिस्तु देशिता बुद्धैरजातेस्त्रसतां सदा ॥

‘अजातेस्त्रसतां’—वे लोग अजातवादसे डरते हैं कि यदि कोई उत्पन्न ही नहीं होगा तो हमारा वेदशास्त्र क्या होगा, ब्राह्मण क्या होगा, स्वर्ग क्या होगा? विद्वानोंने कहा कि देखो जो तुम ब्राह्मण हो तो यह मूलम है तुमको कि तुम कहाँसे पैदा हुए हो, यज्ञ कहाँसे पैदा हुआ है। स्वर्ग किसने बनाया? जानो यह बना एक अखण्ड ब्रह्मसे। ‘यतो इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति तद् ब्रह्मेति। तै० 3.1 ‘सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानि शान्त उपासीत।’ (छा० 3.14.1) उसमें यह पैदा हुआ, उसमें यह रह रहा है, उसमें यह लीन होनेवाला है। इसलिए उससे भिन्न नहीं है।

यह जन्मका वर्णन कार्य-कारण-भावकी वास्तविकताका निरूपण करनेके लिए नहीं है। जो अजातवादसे डरते हैं उनका डर उड़ाकर पहले कारणमें एकत्व समझाकर उनके ध्यानके लिए ‘तदज्जलानि शान्त उपासीत’ उनकी उपासनाके लिए कि ‘सर्वं खल्विदं ब्रह्म’—एक भूमिका तैयार कर देते हैं। इस भूमिकासे आत्म-विषयक विवेक उनको हो ही जायेगा। जब वेदपर विश्वास होगा तो वेदान्तपर भी विश्वास होगा। वेदान्तपर विश्वास होगा तो स्वयं आत्मा अजन्मा, अद्वय है, यह ‘तत्त्वमस्यादि’ वाक्योंसे विवेक हो जायेगा। परमार्थ-बुद्धि हो जायेगी। तो, ये जो श्रोत्रिय हैं—‘ते हि श्रोत्रियाः



स्थूलबुद्धित्वादजातेः अजातिवस्तुनः सदा त्रस्यन्त्यात्मनाशं मन्यमाना अविवेकिन इत्यर्थः—'शांकरभाष्यमें आया—वे समझते हैं कि अरे जब ब्रह्म होगा तब मैं क्या होऊँगा! यह डर लगता है कि कहीं मैं मर न जाऊँ—तो यह उनको समझानेकी युक्ति है।

अजातेस्त्रसतां—इसलिए जो लोग अजातिसे त्रस्त होते हैं, बुद्ध माने विद्वान्, अनुभवी, ज्ञानी पुरुष—उन लोगोंने उनके लिए जन्मका उपदेश किया है। क्योंकि वे अजातके नामसे डरते हैं। योगी लोग अस्पर्शयोगसे डरते हैं। जातिवादी अजाति ब्रह्मसे डरते हैं और जातवादी अजात ब्रह्मसे डरते हैं, ये विवदमान लोग आपसमें लड़ाई-झगड़ा करनेवाले कहते हैं कि हमारी जीविका कैसे चलेगी? एक गुण्डा तत्त्व भी तो होता है सृष्टिमें! लोग कहते हैं यदि सब भलेमानुष हो जायेंगे तो हमारी गुण्डा-गिरी कहाँ चलेगी—गाँवमें ऐसे लोग होते हैं कि नहीं? तो, जिन लोगोंको लड़ाई-झगड़ा करनेका अभ्यास हो गया है वे जब ब्रह्मके एकत्वका, अद्वयका वर्णन सुनते हैं तो उनको जल्दी सन्तोष नहीं होता। वे कहते हैं कि जब ब्रह्म होगा तब हम शैव-वैष्णवकी लड़ाई कैसे करवायेंगे। असलमें जितने भेद हैं उनमें वस्तुतः अभेद है। भेद एकदम प्रातिभासिक है। इसलिए राम और कृष्णमें कौन बड़ा? इसके लिए, जो लड़ता है वह राम-कृष्णको बड़ा-छोटा सिद्ध नहीं करता, अपनी मूर्खताको प्रकट करता है। बोले—शिव बड़े कि विष्णु बड़े—यह केवल भाषामें—कैसे कह दिया गया कि यह केवल तत्त्व है, एकने कहा कि यह केवल असलियत है—दोनों लड़ गये। बोले—'असलियत' नहीं 'तत्त्व' है। 'तत्त्व' नहीं है 'असलियत' है। यह असल वस्तु है 'न सलति इति असलम्।' जो गतिशील न हो वह असल है। तो 'असल' कहो कि 'तत्त्व' कहो।

आप लोगोंने सुना होगा—काशीमें एक 'लक्खी चौतरा' है—मुहल्लेका नाम है ठठेरी बाजार और रानी कुँआ दोनोंको मिलानेके लिए यह गली है। वहाँ किसी सेठका मकान बना। उसने एक हाथ गलीमें मकान नहीं, चबूतरा बढ़ा लिया। म्युनिस्पैलिटीकी जमीन थी। अंग्रेजोंका जमाना था—चला मुकदमा। एक हाथ जमीनके लिए म्युनिस्पैलिटी और सेठमें मुकदमेबाजी विलायत तक गयी। लाख रुपये खर्च हुए। चबूतरा एक हाथका उसने नहीं हटाया। तबसे उस गलीका नाम लक्खी-चबूतरा हो गया। दुनियादार लोग इतनी छोटी-छोटी चीजके लिए लड़ते हैं। उसकी दृष्टि असली वस्तुपर कहाँसे जाय?

‘उपलम्भात् समाचारात्’—उपलब्धिके कारण और वर्णाश्रमाचारके कारण-वर्णाचारके कारण जो लोग तत्त्वसे अलग हो जाते हैं, असलियतको छोड़ देते हैं और अजातिवादसे डरते हैं। द्वैतको स्वीकार कर लेते हैं। असली वस्तुसे अलग हो जाते हैं। जब उनको असली बात समझायी जाती है कि सब ब्रह्मसे ही पैदा हुआ है। इससे क्या फायदा होगा—‘जातिदोषा न सेत्स्यन्ति’—जिन बातोंको लेकरके वे लड़ाई करते हैं, राग-द्वेष करते हैं वह जाति-दोष हैं। राग-द्वेष तो होता है—अलग-अलग हैं तो लेकिन सबसे अलग-अलग। अरे भाई! सब एक ही मिट्टीके बने हैं। दो बच्चे आपसमें लड़ रहे थे कि हम हाथीका खिलौना खायेंगे, वह बोले हम घोड़ेका खिलौना खायेंगे—दोनों शक्करके बने हुए हैं। माँ-बापने समझाया कि बेटा, क्यों लड़ते हो, दोनोंके खानेमें स्वाद तो शक्करका ही आयेगा देखनेमें एकं घोड़ा है, एक हाथी है। दोनों-दोनोंको घोड़ेको घोड़ा और हाथीको हाथी मानते हैं। एकको हाथीसे ग्लानि थी, एकको घोड़ेसे। एक कहता—हम हाथी ही खायेंगे, एक कहता—हम घोड़ा ही खायेंगे। जब यह बात समझमें आयी कि दोनों शक्करके हैं तो जो लड़ाई हो रही थी वह टूट गयी। लड़ाई टूट गयी तो राग-द्वेष भी टूट गया न! अब रह गया कि शक्करमें हाथी घोड़े बने थे कि नहीं! हाथी-घोड़े शक्करके विवर्त हैं, परिणाम नहीं। उसमें शक्कर अवस्थान्तरको प्राप्त नहीं है—इसीको विवर्त बोलते हैं। हाथीवत् वर्तन है परन्तु हाथी नहीं। घोड़ेवत् है आकृति है, वह घोड़ा नहीं है, शक्कर है। जहाँ हम यह बतलाते हैं कि एक ही ब्रह्म सर्वरूपमें प्रकट हुआ है, वहाँ शिव नहीं है विष्णु है; विष्णु नहीं है शिव है—यह झगड़ा कहाँ रहा?

तो राग-द्वेषको मिटानेके लिए—‘जातिदोषा न सेत्स्यन्ति’ है। सचमुच उत्पन्न मानकर राग-द्वेष होता है। वे सिद्ध नहीं होंगे। बोले थोड़ा तो दोष रहेगा? हाँ, यह कि अजातमें जो जातकी कल्पना की, जिसमें न कारण है न कार्य है उसमें कार्य-कारण भावकी कल्पना करली, तो अज्ञान तो अभी रह गया जरूर! ‘दोषोऽप्यल्पो भविष्यति’—केवल अज्ञान रहा और वह प्रत्यक्षचैतन्याभिन्न ब्रह्मतत्त्वका ज्ञान होनेसे वह दोष भी निवृत्त हो जायेगा। हमने कार्य-कारण भावकी कल्पना करके बिलकुल कारणतक तो पहुँचा दिया न! अब तो एकत्व तक पहुँचा दिया। कारणमें पहुँचना माने एक तक पहुँचना और ब्रह्मानुभूति होना माने अद्वय तक पहुँचना। कारण जो होता है वह एक होता है। प्रजापति-सूक्त है वेदमें—



हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।

सदाधार पृथिवीं द्यावामुते मां कस्मै देवाय हविषा विधेम॥

एक है वह, लेकिन जब वेदान्त बोलते हैं तब 'एक' कहनेसे काम नहीं चलता। 'एकमेवाद्वितीयम्'—वेदान्त अद्वितीय तक पहुँचाता है। यह कार्य-कारण-भाव एक तक पहुँचाता है। एकसे बड़ा अद्वितीय होता है। एक तो जैसे दो, तीन, चार आदिमें अन्वय होता है वैसे एकका भी। जो दो, तीन, चार आदिसे व्यतिरिक्त होता है उसको 'एक' कहते हैं। अन्वयी और व्यतिरेकीको एक कहते हैं। अन्वय और व्यतिरेककी कल्पनासे शून्यको अद्वय कहते हैं। न अद्वय बढ़ता है, न अद्वय घटता है। 'उपलम्भात्समाचारात्मायाहस्ति यथोच्यते'—जैसे उपलब्धिके कारण और परम्पराके कारण जादूसे बनाये हुए हाथीको हाथी कहते हैं—वह देखनेमें भी आता है। एक आदमी जादूसे हाथी बन गया। जादूके खेल बड़े विचित्र-विचित्र होते हैं। देखनेवालेकी आँख बाँध दें, देखनेवालेको धोखेमें डाल दें, देखनेवाला कुछ समझ ही न सके—जादूगर बन गया मायाका हाथी। उस समय उसे हाथी बोलेंगे। अच्छा, नाटकमें पति-पत्नी भी भाई-बहन बनकर आवें तो नाटकमें क्या बोलेंगे उनको? पति-पत्नी या भाई-बहन! भाई-बहनका व्यवहार होते हुए भी वह सच्चा नहीं है। भाई-बहन यदि नाटकमें पति-पत्नी बन गये तो नाटकमें जो भूमिका करेंगे वही उनको दिखायी पड़ेगा। तो यह मायाका हाथी-हाथी नहीं है देखनेमें हाथी है। उसपर चढ़ते हैं, उसके सूँड़ होती हैं। हाथीको हाथी क्यों कहते हैं—क्योंकि उसका हाथ विलक्षण है—हम लोगोंके दो-दो हाथ होते हैं और किसी पशुके हाथ नहीं होता, वे मुँहसे खाते हैं, लेकिन यह हाथी जो है—हस्ती—दुनियाभरके सब जानवरोंकी परीक्षा करके तब इसका नाम हस्ती रक्खा है—विशेष प्रकारका हस्त जिसके होवे वह हस्ती, जिसके विशेष प्रकारका 'कर' होवे उसका नाम 'कर'। 'हस्ति'—मायाका—इसी प्रकार यह उपलब्धि होनेके कारण और एक परम्परा आचरण होनेके कारण जैसे उस हाथीको बाँधते हैं, उसपर चढ़ते हैं, उसको हाथी-हाथी कहकर पुकारते हैं, उसको चलानेकी जो आवाज है सो बोलते हैं। इसी प्रकार यह जो द्वैत है इसमें उपलब्धि भी है और तत्-तत् जाति, वर्ण, आश्रम आदिके आचार भी हैं। परन्तु यह मायाका हाथी, सच्चा हाथी नहीं है। यह दिखाऊ है। कि तब सच्चा क्या है? आओ परमार्थका वर्णन करें!

जहाँ वर्णन नहीं है वहाँ विवेकका भी वर्णन नहीं होता, जहाँ शब्द ही

नहीं है—‘न तत्र वाग् गच्छति’ (केन. 1.3) श्रुतिने कहा कि जो बोलोगे वह वाणीका विषय हो जायेगा। ‘अशब्दं अस्पर्श’ वहाँ शब्द ही नहीं है। शब्दके द्वारा संकेत नहीं है। वाणीके द्वारा उच्चारण नहीं है। मनके द्वारा कल्पना नहीं है। बुद्धिके द्वारा ज्ञेयत्व नहीं है। तो एकने कहा कि इतना तो अज्ञेयवाद हो गया। नहीं यह अज्ञेयवाद नहीं हुआ यह तो स्वयं प्रकाशवाद हो गया—ज्ञेय और अज्ञेय दोनोंको जाननेवाला अपना आत्मा। यदि ऐसे बोलते कि ‘वह’ शब्दका विषय नहीं, ‘वह’ वाणीका विषय नहीं, ‘वह’ सातवें आसमानपर—यदि ऐसे बोलते कि वह बुद्धिका विषय नहीं, वह समाधिका विषय नहीं। तो बोलते हैं—मैं। मैं-इन्द्रियोंका शब्द नहीं, मैं शब्दका विषय नहीं, मैं वाणीका विषय नहीं, मैं बुद्धिका विषय नहीं, इसमें जो मैं है, वह वह नहीं है। वह अज्ञेय नहीं है। यह तो बिलकुल साक्षात् अपरोक्ष है—

‘जात्याभासं चलाभासं’—यह जन्म भासता है, है नहीं। यह चलता हुआ भासता है, है नहीं। ये द्रव्य जो हैं ज्ञान-सापेक्ष, वे भासते हैं, हैं नहीं। अपना आत्मा वह जात्याभासंकी जगह अजं है। चलाभासंकी जगह अचलम् है। द्रव्याभासंकी जगह अद्रव्यं है। ‘विज्ञानं आनन्दं ब्रह्म विज्ञानघन एव’ श्रुति कहती है। बौद्ध लोग भी तो विज्ञान शब्दका प्रयोग करते हैं। वृहदारण्यक श्रुतिमें भी विज्ञान शब्दका प्रयोग है। अरे, वेदोंमें, ऋचाओंमें, संहिताओंमें विज्ञान शब्दका प्रयोग है। बोले—तो ये वेदान्ती तो प्रच्छन्न बौद्ध हैं। अरे, नहीं, ये बौद्ध तो प्रच्छन्न वेदान्ती हैं। लड़लो, इस बातके लिए। कि बस, फिर लड़ाई आयी? कि नहीं—विज्ञानं शान्तं—यह शान्त जो है—शान्त विज्ञान है और बौद्ध-मतमें जो विज्ञान है वह शान्त विज्ञान नहीं है। वह चल विज्ञान है। क्षणिक-विज्ञान बोलते हैं। विज्ञानमें धारा होती है—बौद्धमतमें जिस विज्ञानका निरूपण है उस विज्ञानमें धारा है। वह चित्तका पर्याय है। यह अगले श्लोकमें बोलते हैं—

‘एवं न जायते चित्तं’ चित्त है ही नहीं। तो ये क्या कहते हैं कि देखो जायमानसे विलक्षण और चलसे विलक्षण, द्रव्यसे विलक्षण और ज्ञानस्वरूप किन्तु कालमें रहनेवाली धारा नहीं, शान्त और विषय-वाह्यार्थका निषेध करनेके लिए अद्वयं है और क्षणिकत्वका निषेध करनेके लिए शान्त है और फिर भी चित्तकी प्राप्ति होवे तो ‘एवं न जायते चित्तं’—ऐसा जो विज्ञान है—विज्ञानघन, प्रज्ञानघन ‘श्रीकृष्णस्तु प्रज्ञानघन एव’ ‘विज्ञानमानन्दं ब्रह्म’—वह विज्ञान ही वस्तुतः तत्त्व है।



जात्याभासं चलाभासं वस्त्वाभासं तथैव च ।

अजाचलमवस्तुत्वं विज्ञानं शान्तमद्वयम् ॥ 45 ॥

एवं न जायते चित्तमेवं धर्मा अजाः स्मृताः ।

एवमेव विज्ञानन्तो न पतन्ति विपर्यये ॥ 46 ॥

ऋजुवक्रादिकाभासमलातस्पन्दितं यथा ।

ग्रहणव्याहकाभासं विज्ञानस्पन्दितं तथा ॥ 47 ॥

अस्पन्दमानमलातमनाभासमजं यथा ।

अस्पन्दमानं विज्ञानमनाभासमजं तथा ॥ 48 ॥

अलाते स्पन्दमाने वै नाभासा अन्यतोभुवः ।

न ततोऽन्यत्र निस्पन्दान्नालातं प्रविशन्ति ते ॥ 49 ॥

न निर्गता अलातात् द्रव्यत्वाभावयोगतः ।

विज्ञानेऽपि तथैव स्युराभासस्याविशेषतः ॥ 50 ॥

विज्ञाने स्पन्दमाने वै नाभासा अन्यतोभुवः ।

न ततोऽन्यत्र निस्पन्दान्न विज्ञानं विशन्ति ते ॥ 51 ॥

भाषाका व्यवहार परमार्थ वस्तुके लिए और केवल भासमान वस्तुके लिए एक सरीखा ही होता है। जब बादलमें रथ चलता दीखता है तब यह नहीं कहेंगे कि देखो वह हाथी दीख रहा है कि वह घोड़ा दीख रहा है, बस, रथ चलता दीखता है। बोलेंगे तो ऐसे ही लेकिन वह प्रकृति मात्रके लिए केवल मालूम पड़ते हुए हाथीके लिए हाथी, घोड़ेके लिए घोड़ा, रथके लिए रथ, पथके लिए पथ—शब्दका प्रयोग होता है। वहाँ दरअसल कुछ नहीं है। तो जो लोग केवल उपलब्धिको ही वस्तुसत्ता मानते हैं—या परम्पराको ही वस्तुसत्ता मानते हैं वे तो ऐसे ही मानते हैं जैसे कोई जादूगर हाथी बना हुआ हो और उसको हाथी मानकर देखें, हाथी मानकर चढ़ें, हाथी मानकर व्यवहार करें—वैसा ही है। इसलिए उपलब्धि माने मालूम पड़ना—आकाशकी नीलिमा मालूम पड़ती है, पर इस उपलब्धिके कारण वह सच्ची तो नहीं हो जाती।

देखो, आचारके उदाहरणमें अपनी वर्णमालापर ध्यान देने लायक है। एक तरहकी लकीर कागजपर खिंची रहती है तो हम 'क' पढ़ते हैं, 'ग' पढ़ते हैं, 'म' पढ़ते हैं—अक्षर नहीं बोलें तो पद नहीं बनेगा, पद नहीं बनेगा तो वाक्य नहीं बनेगा, वाक्य नहीं बोलें तो किसी अर्थका बोध नहीं होगा। किसी भी अर्थका बोध करानेके लिए वाक्य बोलते हैं और वाक्य पदोंसे बनता है और पद अक्षरोंसे

बनते हैं और अक्षरोंका उच्चारण कैसे होता है कि कागज पर लकीर देखकर 'जात्याभासं चलाभासं वस्त्वाभासं'—पढ़ लें। बोले कि भाई, एक मुसलमानके सामने जो नागरी लिपि नहीं जानता है या एक अंग्रेजके सामने जो नागरी लिपि नहीं जानता है यह श्लोक रख दो तो वह नहीं पढ़ेगा—पढ़ नहीं सकता। तो यह लकीरोंमें अक्षरका आरोप होता है। असलमें लकीर अक्षर नहीं होती, लकीरमें अक्षरका आरोप होता है—जिसके दिमागमें यह संस्कार भर दिया गया कि ऐसी लकीर हो तो यह अक्षर पढ़ना, यह रेखा हो—पंचकोण रेखा हो तो उसको 'अ' पढ़ना—उसके तीन कोने आगेको और एक ऊपरको और एक नीचेको—पाँच कोण होते हैं तो उसका नाम 'अ'कार बन जाता है।

यह देखो—शून्यमें—से, बिन्दुमें—से एक लकीर नीचे खींची तो १ बन गया और बिन्दुके ऊपर थोड़ा टेढ़ा कर दिया और नीचे पूँछ खींच दी तो २ बन गया—बिन्दुमें ही एक और दो बीचमें बिन्दु बना करके थोड़ा ऊपर थोड़ा नीचे टेढ़ा कर दिया तो ३ हो गया, बिन्दु नीचे करके ऊपर तो लकीर खींच दी तो ४ हो गया। यह बिन्दुमें—से रेखा बना-बनाकर संख्या बना लेते हैं। संख्या न भी बनावें पर रेखा तो जितनी होती है सब बिन्दुसे ही खिंचती है। रेखामें बिन्दुके सिवाय कुछ और है ही नहीं। कभी देख लो उसको, खुर्दबीन लगाकर देख लो—अलग-अलग बिन्दु मालूम पड़ती हैं, उसीसे अँगूठेका निशान पकड़ लेते हैं। उसीसे लिपि पकड़ लेते हैं—कि किस ढंगसे बिन्दुओंका विन्यास होता है।

बिन्दु उसको कहते हैं जिसमें लम्बाई-चौड़ाई न हो। तो जिसमें लम्बाई-चौड़ाई नहीं है उसीसे लम्बी-चौड़ी रेखा बनती है और रेखासे ही सारी आकृतियाँ बनती हैं—हाथीकी आकृति, घोड़ेकी आकृति, मनुष्यकी आकृति और उसीसे सारी भाषा बनती है। माने—नाम-रूप जितने भी हैं सब रेखासे बनते हैं। यह हम लोगोंका शरीर भी रेखात्मक है—यह हाथ एक रेखा ही तो है न! यह पाँव एक रेखा ही है। यह शकल जो आकाशमें है—एक रेखा ही है। रेखा काहेसे बनी कि बिन्दुओंसे बनी। यह बिन्दु बिना कालके ही काल बनाकर दिखा दे, बिना देशके ही देश बना दे। ये पूरब, पश्चिम, उत्तर-दक्षिण क्या हैं कि ये बिन्दु हैं—बिन्दु-आत्मक है। यह जो एक सेकेण्ड, दो सेकेण्ड, तीन सेकेण्डकी भेद-भावना है बिलकुल रेखात्मक है और यह हम लोगोंकी शकल-सूरत भी। अब वही लिपि दूसरेके सामने रखो तो कुछ नहीं।

हमको याद है बचपनमें जब हमारी माँ पढ़ती थीं रामायण—



मंगल भवन अमंगल हारी।

द्रवउ सो दसरथ अजिर बिहारी॥

तो हम देखते कि जैसे भेड़ लगती हैं एक सरीखी काली-काली गड़ेरियेकी—आप लोगोंने देखी है कभी भेड़-बकरी, तो उसमें कौन-सी किसकी है, इसका विवेक हम नहीं कर सकते थे। इसी तरह वे भेड़की तरहकी रेखाएँ मुझे काली-काली लगे। हम कहें कि इसको देखकर हमारी माँ कैसे पढ़ लेती है? तब उसने हमें बतलाया कि ऐसी रेखा हो तो 'म', ऐसी हो तो ग, ऐसी हो तो ल—हम भी पढ़ने लग गये। स्कूलमें गये तो उर्दू लिपि देखी—वह महाराज उल्टी चले—अब उसमें हमने अपना नाम लिखना सीखा, उसके बाद अंग्रेजी लिपि देखी—उसमें-से भी हमारा नाम निकले—अब सबमें-से हमारा नाम निकले—और लिपि सबकी अलग-अलग। तो उनमें अक्षरत्व जो है वह आरोपित है।

शून्यमें बिन्दु और बिन्दुमें रेखा और रेखामें अक्षर, अक्षरमें पद, पदमें वाक्य और वाक्यमें अर्थ भी कल्पित है—अमुक शब्दका उच्चारण करनेसे अमुक अर्थका बोध होता है, यह दिमागमें होता है, यह किताबमें नहीं होता। अब देखो इसीके लिए कि लिपि दाहिनेसे लिखें कि बायेंसे लिखें कि ऊपरकी ओर जायें कि नीचेकी ओर जायें। यह नागरी है, यह अरबी है—तामिल, तेलगू, कन्नड़, मलयालम, उड़िया, बंगाली है, रोमन है—विचित्र-विचित्र हैं। अब तो साफ ही मालूम पड़ता है कि अमुक लकीर खींचनेपर यह बोलना, यह समझना, यह अर्थ निकालना। ऐसी शकल हो कि मुँहके पास पेट उठा हुआ हो तो समझना—यह गणेशकी मूर्ति है। यह बात दिमागमें ही भरी हुई है। और पूँछ हो तो हनुमान समझना। यह बात वस्तुमें-से नहीं निकली? संस्कार डाल-डालकर दिमागमें भरी गयी—ऐसी शकल हो तो स्त्री, ऐसी शकल हो तो पुरुष, ऐसी शकल हो तो शत्रु, ऐसी शकल हो तो मित्र—ये सारे नाम, सारे रूप, सारे व्यवहार बोले कि सच्चे हैं। हिन्दू और मुसलमान, हिन्दी और उर्दू लिपिको लेकर देखो क्या मजेदार आन्दोलन करते हैं। आन्दोलन न हो तो नेता मर जायँ और शान्ति न हो तो साधु मर जायँ। यह एक-एक पहचान, एक-एक लक्षण बने हुए हैं।

यह जो केवल मालूम पड़ना और केवल उसकी परम्परा होना और मालूम पड़नेमें संकेत जोड़ देना, बोलनेमें संकेत जोड़ देना। अब देखो तार आते हैं। तो तीन बार टिप-टिप-टिप हो तो क्या मतलब है और दो बार टिप-टिप हो तो क्या

मतलब और चार बार हो तो क्या मतलब? तारकी भी तो एक 'टिप' होती है न! सोलह इशारोंसे घोड़ेको इतनी बात सिखा देते हैं कि वह अपना सारा अनुभव इशारेसे प्रकट कर सके। केवल कुत्तोंको इशारे बता देते हैं और अपनी बोली तो तोतेको भी रटा देते हैं। तो केवल परम्परा होनेसे ही कोई बात सच्ची है यह बात नहीं सिद्ध होती और केवल उपलब्धि होनेसे, मालूम पड़नेसे ही कोई बात सच्ची है, ऐसा नहीं होता।

'जात्याभासं चलाभासं'—देखो, यह जन्म हुआ ऐसा मालूम पड़ता है—यह परमार्थ सत्य नहीं है। जो जन्मता हुआ मालूम पड़ता है—एक तो मालूम पड़नेका विषय है और एक जो मालूम पड़नेके रूपमें प्रकट होता है, तो जन्मता नहीं; लेकिन जन्मता—सा मालूम पड़ता है उसका नाम परमार्थ, सद्वस्तु; जो विचलित नहीं होता लेकिन विचलित—सा मालूम पड़ता है उस अचलका नाम परमार्थ—वस्तु, जो द्रव्य नहीं होता, किसी भी क्रिया और गुणका आश्रय नहीं होता, कि यह कौन कि आजमलका जन्म हुआ, वह देखो टंगूमल जा रहे हैं—आजकल बच्चोंका नाम ऐसा ही रखते हैं—मनुस्मृतिमें लिखा है कि बाबा, जिसको सुन्दर बनाना हो उसका नाम सुन्दर रखो। नाममें भी सौन्दर्य चाहिए। सबके नाम है—मिट्टी, पिट्टी, सिट्टी। पहले ऐसा रखते थे—देवदत्त, सोमदत्त, यज्ञमित्र, पुष्यमित्र।

'जात्याभासं चलाभासं'—यह पैदा हुआ और यह चल रहा है—यह वस्तु है क्योंकि गोरी है और लम्बी है। 'देवदत्तो गौरो दीर्घश्च'—यह आदमी लम्बा है और गौर वर्णका है—तो गौरवर्ण गुण हुआ और लम्बाई भी। जिसमें लम्बाई हो और गुण भी हो वह तो द्रव्य हो गया—यह वस्तु है बोले, वस्तु नहीं है, वस्त्वाभास है। पञ्चभूतमें ठीक सपनेमें जैसे एक आदमी चलता हुआ मालूम पड़ता है, वैसे ही पंचभूतके भीतर एक आदमी चलता हुआ मालूम पड़ता है और पंचभूत मनमें हिलते हुए मालूम पड़ते हैं और मन अपने स्वरूपमें हिलता हुआ मालूम पड़ता है। अजन्मा है अपना आत्मा और अचल है द्रव्यसे विलक्षण है। इसका नाम है विज्ञान।

विज्ञान शब्दका अर्थ है—ज्ञाता नहीं, ज्ञेय नहीं, मैंने जाना इसका नाम विज्ञान नहीं और घड़ी जानी गयी—घड़ीका नाम विज्ञान नहीं—'अहं'का नाम विज्ञान नहीं और 'इदं'का नाम विज्ञान नहीं; सर्वज्ञ और अल्पज्ञका नाम विज्ञान नहीं और सर्व और अल्पका नाम विज्ञान नहीं—सर्व और अल्प दोनों विज्ञानके विषय हैं। सर्व



और अल्प इन दोनोंके ज्ञातापनेका जो अभिमान है वह सर्वत्र-अल्पज्ञ है। अभिमान और वस्तु दोनों जिस विज्ञानसे प्रकाशित होते हैं—अहंता और इदंता—जायमान भासती है, चल भासती है, द्रव्यात्मक भासती है। परन्तु जो अविज्ञप्तिरूप—विज्ञान माने विज्ञप्ति—‘विज्ञानं विज्ञप्तिः विज्ञायते इति विज्ञानम्।’ ‘विज्ञायते अनेन’ ऐसा नहीं—‘विज्ञायते इति’—भावव्युत्पत्ति कर्मव्युत्पत्ति नहीं विज्ञप्तिः विज्ञानम्। केवल मालूम पड़ना—जानना। कैसा जानना कि शान्त। शान्त क्योंकि जिसमें जाति नहीं, जिसमें चलना नहीं, जिसमें द्रव्य नहीं—ऐसा विज्ञान तो शान्त ही होगा और अद्वयं—न विज्ञानके बाहर कुछ, न भीतर कुछ, बाहर-भीतर ही नहीं—न पहले कुछ, न बाद कुछ—‘अपूर्व अनपरं’ माने कारण और कार्य नहीं, पहले कारण होता है और फिर कार्य होता है। तो इस विज्ञान वस्तुमें न कुछ कारण है न कार्य। जहाँ देश-काल नहीं वहाँ चल वस्तु नहीं, चल वस्तुमें देश-काल जरूर होंगे—ऐसा विज्ञान-अद्वय-जिसमें द्वैत नहीं, शान्त, जाति और चलतासे रहित और विज्ञान वस्तु माने जड़ वस्तु नहीं, विज्ञान वस्तु—यह अपना स्वरूप है! तो इसीको परमार्थ सत्य बतलाया।

पहले बतलाया था कि मनका निग्रह ऐसे करना—

मनसो

निग्रहात्तमभयं

सर्वयोगिनाम्।

दुःखक्षयप्यक्षया प्रबोधश्च गच्छति शान्तिरेव च॥ 40॥

बोले कि उसकी जरूरत नहीं है। इसमें न एकाग्रताकी जरूरत है, न निरोधकी जरूरत है, उपासनामें एकाग्रता अपेक्षित है—तन्मयता। योगमें निरोध अपेक्षित है। यहाँ दोनों नहीं, क्योंकि इसमें हेतु फल नहीं है। इसलिए यहाँ धर्म और वहाँ स्वर्ग ऐसा भी नहीं है। कारण और फल इसमें दोनों नहीं हैं। इसलिए यज्ञ-यागादि और स्वर्ग दोनों नहीं हैं। इसमें प्यासा और तृप्त दोनों नहीं हैं। इसमें प्यास और तृप्ति दोनों नहीं हैं। इसलिए अपना स्वरूप है। अब देखो, ये शान्ति और विक्षेप दोनों नहीं हैं। शान्ति भी चित्ताभास है और विक्षेप भी चित्ताभास है और इष्ट भी चित्ताभास है और इच्छुक भी चित्ताभास है और यज्ञ-यागादि संस्कार-जन्य चित्ताभास हैं। स्वर्गादि भी संस्कार-जन्य चित्ताभास हैं। स्वर्ग भी चित्ताभास और यज्ञ-यागादि धर्म भी चित्ताभास। विक्षेप भी चित्ताभास—‘एवं न जायते चित्तम्’। इस प्रकार बतलाया कि ‘चित्तं चैतन्यं न जायते’, ‘चित्तं न जायते’। बोले, भाई, यह तो कोई अद्भुत विलक्षण सिद्धान्त है यह!

बोले मन, मन क्या? देखो, लोगोंका ऐसा ख्याल है कि चित्तमें ऐसा होगा



तो यह होगा, ऐसा होगा तो यह होगा, ऐसा होगा तो यह होगा—यह दुनियाके लोग डरते रहते हैं—ऐसा न हो जाये। वेदान्त तो निर्भय पद है। इसमें न स्वर्गसे च्युत होनेका डर है और न इसमें नरकमें गिरनेका डर है, इसमें न इष्ट-प्राप्तिकी इच्छा है और न अनिष्टकी आशंका है; न इसमें अभ्यास है, न इसमें अभ्यास है। न इसमें क्रान्ति है और न इसमें शान्ति है। न श्रान्ति है न भ्रान्ति है। यह स्वतः सिद्ध पद है। इसीसे बतलाते हैं कि चित्त नामकी वस्तु कोई नहीं है, न भीतर न बाहर। यदि आप यह सिद्ध करो कि शरीरके भीतर चित्त है तो हम यह सिद्ध कर देंगे कि चित्तके भीतर शरीर है। बिलकुल उल्टा—चित्तके बिना शरीरका भान हो ही नहीं सकता। चित्तसे ही शरीरकी सिद्धि है और शरीरके बिना चित्तकी भी सिद्धि नहीं होती। सपना भी देखे, मनोराज्य भी करे तो शरीरमें रहकर ही तो करेगा पट्टा, बिना शरीरके चित्तकी कोई क्रिया देखनेमें आती नहीं और बिना चित्तके शरीर है ऐसा मालूम नहीं पड़ता। तो यह अनिर्वचनीय हो गया—चित्त भी अनिर्वचनीय, शरीर भी अनिर्वचनीय। इनका कार्य-कारण भाव भी अनिर्वचनीय। आप हमारे विज्ञानको हल्का-फुल्का करके नहीं देखना।

एक आदमी भगा जा रहा है, दौड़ा जा रहा है कि हम उसके प्रेममें फँस गये हैं, यह मन ऐसा है। वह कौन है मालूम है? बोले—वह भूत है भूत, वह कभी पैदा ही नहीं हुआ। एक अनहुई चीजसे तुम्हारी प्रीति हो गयी और उसके पराधीन हो गये तुम। यह सबसे बड़ा भूत कौन है कि मन। यह आपने सुना ही होगा। महात्मा लोग पहले ऐसे ही उपदेश करते थे। एक आदमी था। उसने कोई भूत सिद्धिकी साधना की। भूत सिद्ध हो गया। आया सामने। बोला—वर माँगो बेटा! बोला कि हम यह वर माँगते हैं तुमसे कि हम जो कहें वर काम तुम कर दो। बोला कि यह वह तो हम देंगे लेकिन एक शर्त है हमारी; तुम जो कहोगे वह काम हम कर देंगे लेकिन यदि तुम हमको निकम्मा रखोगे, काम नहीं बतलाओगे तो हम तुमको खा जायेंगे। उसने मान लिया। फिर उससे कहा—मुम्बईसे हमको यह चीज ला दो, तुरन्त ला दी उसने। दिल्लीसे यह ला दो, लन्दनसे यह ला दो, ला दी। एक मिनटमें ला दे—मन ही तो है, भूत ही तो है—घण्टे-आध-घण्टेमें सारे काम पूरे हो गये। अब बोला, हमको काम बतलाओ नहीं तो तुमको खायेंगे। यह मनीराम है। आपने सुना होगा, कई बार सुना होगा—भगा बिचारा, एक महात्माके पास गया। बोला—महात्माजी, भूत खाने दौड़ रहा है। पूछा—क्या बात है, बोला, हमारी बात हो गयी थी कि हम काम नहीं बतायेंगे तो वह हमको खायेगा। बोले,



अच्छा, बोलो उसको कि एक ऐसा बाँस ले आओ जो दुनियामें सबसे बड़ा हो— अब भूतने पहले तो पता लगाया कि कौन-सा बाँस दुनियामें सबसे बड़ा है और फिर उसको उखाड़ कर ले आया। फिर कहा—इसको गाड़ो! गाड़ दिया। खूब पक्का गाड़ो खूब पक्का गाड़ दिया। देखो, अब जबतक हम तुमको दूसरा काम न बतावें तबतक इसपर चढ़ो और उतरो, चढ़ो और उतरो—यह तुम्हारा काम है। तो, यह मनीराम जो हैं यह भूत है। इनके लिए भी एक बाँस ही गाड़ना पड़ता है कि इसपर तुम चढ़ो-उतरो। मन ही फँसाना पड़ता है। भोग नहीं होता संसारमें। एक आदत होती है और मन ही फँसता है, मन ही फँसाना पड़ता है—भला! तो, यह जो चित्त है—मन जिसको बोलते हैं, यह शरीरके भीतर नहीं रहता है। अपना घर तो इसको पसन्द ही नहीं है। जब देखो तब यह मनोवृत्तिका पर्स हाथमें और यह दूसरेके घर, दूसरेकी कम्पनी पसन्द करता है।

मन बाहर भी कहीं एक जगह तो रहेगा ही नहीं 'बोर' हो जायेगा। लोग बोर हो जाते हैं। एक बात अगर पूछो कि मौसम आज कैसा है? बड़ा बढ़िया मौसम है, चाँदनी रात है, पर बादल भी है—थोड़ी देर बात करेंगे और फिर 'बोर' हो जायेंगे। अब कबतक चले कि नाक तुम्हारी तोता सरीखी और कान तुम्हारे हाथी-सरीखे और आँख तुम्हारी खंजन-सी या मृगनैनी हो। दाँत अनारदाने सरीखे। मन एक जगहसे दूसरी जगह जाता है। पर इसका घर न बाहर है, न भीतर है। मनका स्वरूप क्या है? अर्थका भासना, वस्तुका भासना। यह भासना ही मनका स्वरूप है—भासती हुई वस्तुको जो हम अच्छा-बुरा समझते हैं यह परम्परागत संस्कार है।

मनका काम है केवल वस्तुको दिखाना, आँखका काम है रूपको दिखाना, इसके साथ तुम चिपक जाओ यह बताना आँखका काम थोड़े ही है। आँख कहती है कि यह स्त्री है, यह पुरुष है, यह पशु है, यह पक्षी है, यह मकान है, यह सड़क है—बतलाना सिर्फ आँखके अधिकारमें है, आँखका यह अधिकार नहीं है कि वह कहे कि हे मालिक, अब तुम इसीके साथ ब्याह कर लो! मनका काम है केवल उड़ती हुई चीजोंको—जो उड़ती हुई मालूम पड़ती हैं उनको मालूम करा देना। मन एक इन्द्रिय है। सृष्टिमें आसक्ति इन्द्रियोंका धर्म बिलकुल नहीं है। किसी इन्द्रियको किसी एक विषयमें तुम आसक्त करके दिखा दो। इन्द्रियका काम है विषयको दिखाना, इन्द्रियका काम आसक्त करना नहीं है। आँख यह बतलावेगी कि यह कुरूप है और यह सुन्दर है। हमने पहले बचपनमें सुना था कि

चीन देशमें पुराने जमानेमें छोटा पाँव पसन्द करते थे। माने मानते थे कि पाँव जितना छोटा होवे उतना सुन्दर। तो बच्चा जब होता तब लोहेका जूता पहना देते और बच्चा तो बढ़कर तीन-चार फुटका हो जाय—वहाँ लोग जरा नाटे होते हैं—लेकिन पाँव तो वही लोहेमें बँधा हुआ और बोले कि कितना सुन्दर पाँव है, कितना छोटा पाँव है। हमारे यहाँ देखो कान छेदना एक संस्कार मानते हैं, नाक छेदना संस्कार नहीं है। अपने शरीरको काट-काटकर सुन्दर बनाते हैं। यह क्या है? यह सुन्दरता अपने-अपने देशमें, अपनी-अपनी जातिमें, अपने-अपने समाजमें मानी हुई होती है। यह मनका काम है। मन सिखलाता है। कुरूपता और सुरूपताका आरोप तो परम्परागत संस्कारसे ही होता है। यह प्रिय है, यह अप्रिय है। देखो; जो लोग मिर्च खाते हैं—वे कहते हैं—क्या स्वाद है! अंग्रेज लोग मिर्च-मसाला खाते ही नहीं हैं। उनमें भी खानेकी आदत पड़ जाय तो वे भी खा लें! ऐसे उनको खिला दो—रसगुल्ला ही खिला दो—तो उनकी तबियत घिनघिना जाती है। तो, यह आदत है। रसगुल्ला मीठा होता है, मिर्च तीखी होती है—यह संस्कार है। मनका यह काम तो केवल बतलाना है कि यह लम्बा है, यह चौड़ा है, यह लाल है, यह पीला है। वह सुख है कि दुःख है—यह बतलाना संस्कारोपरक्त होकर संस्कारके निमित्तसे मन ऐसा बतलाता है।

यह मनीराम क्या हैं? केवल प्रकाशमात्र हैं, रोशनी हैं। जैसे बाहर आँख एक रोशनी है वैसे भीतर मन एक रोशनी है। बाहर मन एक रोशनी है—न बाहर है, न भीतर है। यह आत्मदेव हैं—यह भी रोशनी हैं! हमारे कहनेका अभिप्राय यह कि ज्ञान जो है वह आसक्तिजन्य नहीं होता और ज्ञान आसक्तिका जनक भी नहीं होता, इन्द्रियोंका भी नहीं होता, मनका भी नहीं होता तो आत्मज्ञानकी तो बात ही क्या? तो इस तरहसे चित्त नामकी वस्तु न कभी हुई, न है और न होगी और यह जो अलग-अलग शरीरमें मालूम पड़ता है—यह मैं, यह मैं, यह मैं—न यह माँसे पैदा हुए, न बापसे, अरे, यहाँ तो यह बतला रहे हैं कि न प्रकृतिसे पैदा हुए न ईश्वरसे, न ब्रह्मसे पैदा हुए न ब्रह्मके अतिरिक्तसे—एक अद्वय आत्मतत्त्व है, कोई चीज किसीसे पैदा हुई ही नहीं है, 'एवं धर्मा अजाः स्मृताः।' धर्माः माने शरीरके भेदसे प्रतीयमान जीवभेद। जीव कैसा कि—सब अजन्मा ब्रह्म है यह। बहुवचन क्यों है कि शरीर भेद जो मालूम पड़ता है। जैसे सपनेमें मालूम पड़ता है, बहुत आदमी हैं, बहुत जीव हैं, ऐसे ही मालूम पड़ता है। एक अपना आत्मदेव है।



‘एवमेव विजानन्तो’—जब तुम जान जाओगे! यह वेदान्त तुमको स्वतन्त्र बनाता है परतन्त्र नहीं, निर्भय बनाता है, भयभीत नहीं, यह मुक्त बनाता है; बद्ध नहीं, यह आनन्द-स्वरूप-ज्ञानी बनाता है, दुःखी नहीं, यह तुमको ज्ञानस्वरूप-ज्ञानी बनाता है, बेवकूफ-अज्ञानी नहीं, तुमको जन्म और मरणके चक्करसे छुड़ाता है जन्म और मरणवाला नहीं बनाता। वह विजानन जो है यह तो प्रथममें ही बहुवचन है—विजानन्तः। और वहाँ जो विजानतः है वहाँ विजाननका षष्ठीका एक वचन है। विजानतः—वही विजानन है। यह भी विज्ञानमें—से ही निकला है। इस विजाननका ही विज्ञान बनता है। तो यह विज्ञान जिसको प्राप्त हो गया अपने आत्माको जान गया—मैं कौन-अद्वितीय, अखण्ड, परिपूर्ण तो मिट गया जन्म-मरणका फन्दा, मिट गयी बेवकूफी, मिट गयी आसक्ति। मैं आसक्त हूँ यह भ्रान्ति होती है, आसक्ति नहीं होती है। कोई भी आत्मदेव कहीं राग-द्वेषके फन्देमें फँसते नहीं हैं। कितना भी राग हो, द्वेष हो पार निकल जाते हैं। यह तो महीना, छह महीना, वर्ष, दो वर्ष, चार वर्षके लिए चक्कर आता है। द्वेष आता है, राग आता है, अन्तमें शान्त हो जाते हैं।

‘एवमेव विजानन्तो’—जो इस बातको जान लेते हैं वे विपर्ययमें, विपर्ययके गढ़ेमें नहीं गिरते हैं। ‘विपर्यये न पतन्ति’—देखो पतन्ति क्रियासे मालूम पड़ता है कि विपर्यय गढ़ा है। एक विपर्ययका स्वरूप बतलाया है कि यह जो हड्डी-मांस-चामका शरीर है—इसको ‘मैं’ मानना ‘विपर्यय’ है। इसको सुन्दर मानना भी विपर्यय है। हड्डी-मांस-चाममें क्या सुन्दरता है? यह तो परमात्माके साथ जुड़े—यही इसका सौन्दर्य है। परमात्माका ज्ञान प्राप्त हो इसी जीवनमें, यही इसका सौन्दर्य है। भक्तोंने कहा है कि—‘मुँहमें भलो न चाम’। जीभ-यह अच्छी चीज नहीं है—चाम है। भगवान्का नाम लो तो यह जीभ सार्थक हो जाये। अपने आपको जान लो तो तुम्हारा मनुष्य-जीवन सफल हो जाय।

एक जगह आया है शास्त्रमें कि इन्द्रने जाकर एक महात्मासे कहा—‘तुम स्वर्गमें चलो बड़ा सुख है वहाँ।’

महात्माने पूछा—क्या सुख है वहाँ?

इन्द्र—जैसे हम इन्द्राणीके साथ रहते हैं वैसे तुमको उर्वशी, मेनका, रम्भा, ये मिलेंगी, बड़ा सुख मिलेगा।

महात्माने कहा—इन्द्र! एक बात बतलाओ—तुमको इन्द्राणीके साथ रहनेमें जितना सुख मिलता है, यह धूलिपर रहनेवाले और लोटनेवाले कुत्तेको कुतियाके

साथ रहनेमें उतना ही सुख मिलता है कि नहीं मिलता? सुखकी वही संविद् जो तुम्हारे चित्तमें भोगसे होती है वह इसके चित्तमें होती है कि नहीं? तो यदि हम अपनी तपस्यासे, संयमसे, उपासनासे, योगसे, तत्त्वज्ञानसे वही सुख प्राप्त करें जो इस कुत्तेको और कुतियाको सहज स्वभावसे प्राप्त है तो हमारा यह ज्ञान, हमारी यह तपस्या, हमारा यह मनुष्य-जीवन किस कामका?

विपर्यय माने—पत्थरके टुकड़ेको हीरा समझना, काँचके टुकड़ेको हीरा समझना, इसका नाम विपर्यय है; हड्डी-मांस-चामको सुन्दर समझना—इसका नाम विपर्यय है। इसको मेरा समझना इसका नाम विपर्यय है। स्वयं अपने अपरिच्छिन्न ब्रह्म स्वरूपको न जानकर अपनेको परिच्छिन्न जानना—इसका नाम विपर्यय है। 'पर्यय' माने यह पर्यनुगत ज्ञान नहीं, विपर्यय माने, 'वि' माने विपरीत और 'पर्यय' माने अनुगत जो चीज जैसी है उसको उससे विपरीत जानना—इसका नाम 'विपर्यय' है। विपर्ययका गड्ढा। तो बोले—यह सृष्टि क्या है? देखो, सृष्टिको फिर समझाते हैं—उसी परमार्थ-दर्शनको बतलानेके लिए।

'ऋजुवक्रादिकाभासम्'—एक उल्का बनाते हैं—उल्का शब्द जो है वह गाँवमें उलटकर 'लूका' बन गया है। लूका माने ऐसा समझो कि एक तरहका देहाती मशाल। मशाल आप लोगोंने देखा ही होगा! लकड़ीमें दोनों तरफ कपड़ा बाँधकर या घास बाँध कर और उसपर किरासनका तेल डालकर आग लगा देते हैं। बीचमें-से लकड़ीको पकड़कर घुमाते हैं। उसको देखते ही बनता है, बड़ा मजा आता है। अब तो गाँवके लोग भी जरा कोमल प्रकृतिके होते जा रहे हैं। नागरिक होते जा रहे हैं। अब जो लोग पहले जानपथिक थे—जनपथके रहनेवाले वे लोग नागरिक हो गये। नागर और ग्रामीणमें फर्क होता ही है। ग्राम्य लोग उसे दोनों हाथसे बीचमें पकड़ते हैं। ऐसे हमने देखा है। कोई एक हाथसे पकड़ते हैं और उसे घुमाते हैं खूब। दोनों पाँवके नीचेसे (बीचमें-से) भी निकाल देते हैं। घुमाते समय बिलकुल गोल चक्कर बन जाता है। कभी लम्बा होता है। दो तरफ दो अग्नि प्रज्वलित होती है। वह तो नहीं मालूम पड़ती। बिलकुल एक मालूम पड़ती है। वह कभी मनुष्यकी तरह लम्बा हो जाता है। कभी हाथीकी तरह मोटा। कभी चाककी तरह गोल। 'ऋजु' माने कभी सीधा होता है, 'वक्र' माने कभी टेढ़ा होता है। यह सब उसके आभास होते हैं। उसीको बोलते हैं उल्का। लूका-बनेठी भी बतलाते हैं उसको। माने आग न जल रही हो तब भी लाठी लेकर बनेठी भाँजते हैं। बिना आगकी भी बनेठी होती है। आगवाली बनेठी भी होती है। वह सब क्या



है कि अलातका स्पन्दन है? क्या जला रहे हैं भाई? अलात जला रहे हैं—अलात! यह अलात शब्दका अर्थ आपको बतलाते हैं—‘लात’ माने ‘गृहीत’—जो पकड़ लिया जाय—‘ला’ आधा नहीं, जिसको आँख पकड़ ले कि इसका सच्चा स्वरूप क्या है? वह होगा! ‘लात’ और ‘अलात’ माने जिसका रूप आँखके द्वारा पकड़ा न जा सके—माने असलियत जो उसकी है वह आँखके द्वारा पकड़ी न जा सके। तब उसको क्या बोलेंगे कि अलात। अलात—ये पंखें हैं न! हम कभी लेते रहते हैं और ऊपर पंखा चलता है और जब पंखा खूब तेज हो जाता है तो क्या होता है कि छत जो दीखती है पंखेकी पत्तियोंके भीतरसे वह नहीं दीखती। जब पंखा खड़ा रहता है तब तीन पत्ती खड़ी मालूम पड़ती है और जितनी दूरमें पत्ती होती है उतनी दूरमें छत नहीं दीखती, बाकी दूरमें छत दीखती है। लेकिन जब पत्ती तेज चलने लगती है तो पत्तीकी जो गति है वह आँखके द्वारा अलात हो जाती है। अलात हो जाती है माने अगृहीत हो जाती है। उसको हम नहीं देख पाते। और जब नहीं देख पाते तब हमारी आँख और छतके बीचमें पंखा भी है यह नहीं मालूम पड़ता। पंखा जो है वह अपनी गतिकी तीव्रतासे अलात हो जाता है। यह अलात-स्पन्दित है। हमने चैतन्यका ग्रहण छोड़ दिया—चैतन्य कौन हो गया कि अलात हो गया—अलात हो गया माने अग्रहण हो गया—हम नित्य-शुद्ध-बुद्ध मुक्त अविनाशी परिपूर्ण, अद्वय चैतन्य ब्रह्म है—यह जब अलात हो गया—माने अगृहीत हो गया तो उस अग्रहणका ही यह स्पन्दन सम्पूर्ण सृष्टि है—इसका अभिप्राय अज्ञान-जनित है।

‘ग्रहणग्राहकाभासं’—इसी प्रकार ग्राह्य, ग्रहण और ग्राहक समझो। ग्राह्य क्या है कि यह घड़ी ग्राह्य है; ग्रहण क्या है कि हाथ है; और ग्राहक कौन है कि मनुष्य है। जैसे—ग्राह्य क्या है कि फोटो है गणेशकी—अब यहाँ कहो कि ग्रहण क्या है? तो आँख है। और ग्राहक कौन है कि मैं आँखवाला जीव—यह ग्राहक है! तो यह ग्राहक माने जीव और ग्रहण माने करण-इन्द्रिय और ग्राह्य माने विषय। ये जो मालूम पड़ रहे हैं—तीनोंका जो आभास हो रहा है, यह एक विज्ञानका स्पन्दन है। विज्ञानका असली स्वरूप अलात हो जानेके कारण माने अगृहीत हो जानेके कारण, आकाश न दीखनेके कारण नीलिमा दीखती है, समुद्रकी गहराई न दीखनेके कारण जलमें रंग दीखता है, ये बादल जो यहाँ नीले-नीले दीखते हैं बिलकुल पास जानेपर कैसे दीखते हैं! आपको मालूम है? नीले नहीं दीखते हैं। अच्छा, यह जो इन्द्रधनुष होता है आकाशमें—हमारे

बचपनकी, गाँवकी बोलीमें इसको 'बोरो' बोलते थे। बोरोका मतलब यह होता है कि जब वह आकाशमें दीखता है तब वर्षा होगी—गाँव डूब जायेगा। इसके लिए 'बोरो' बोलते हैं—यह बोर देगा, डुबो देगा! यदि आप हवाई जहाजसे उड़कर वहाँ जायँ जहाँ वह दिखलायी पड़ता है—पीला, लाल, हरा आपको वहाँ क्या दीखेगा? आपकी आँख तो बतला रही है कि वहाँ कोई रंगीन चीज है। है कुछ? बिल्कुल अग्रहीत होनेके कारण है। यदि वहाँ पहुँच जाओ हवाई जहाजपर चढ़कर तो कहीं न लाल मिलेगा, न पीला मिलेगा, न हरा मिलेगा। न वहाँ कोई लकीर मिलेगी। वह तो जलकी तो फुहियाँ हैं। वह वहाँ ऐसे ढंगसे विन्यस्त हो जाती हैं कि सूर्यकी किरणें वक्रीभूत हो जाती हैं, टेढ़ी हो जाती हैं। सूर्यकी किरणोंका वक्रीभवन हो जाता है। वह रंग जो है वह दूरसे देखनेमें आता है। वहाँ जानेपर कुछ नहीं होता। इसी प्रकार यह अपने स्वरूपभूत चैतन्यको न देखनेके कारण यह दुनिया दीखती है।

'अस्पन्दमानमलातम्'—जब अलातको स्थिर कर दो तो क्या होगा? कोई आभास नहीं है। न ऋजु है, न वक्र है, न लम्बा है, न गोल है। कोई आभास नहीं, वह क्या है कि वह तो बिल्कुल अज है। इसी प्रकार विज्ञान? स्थिर विज्ञानका स्वरूप क्या है? 'अनाभासमजं यथा'—यह अनाभास है और अज है—इसमें न कोई 'अहं' है और न कोई 'इदं' पैदा हुआ है।

ज्यों-के-त्यों शुद्ध ब्रह्म है—'अलाते स्पन्दमाने वै'—जब वह अलात घूमता है—वह उत्का, वह लूक जब घुमाया जाता है तब उसमें जो तरह-तरहके आकार शकलें दीखती हैं वे क्या कहीं और आकर जुड़ जाती हैं। नहीं, कहींसे नहीं आती हैं। कहीं और रहती हैं? नहीं; वह निःस्पन्द जब हो जाता है तब क्या सब उसमें समा जाती हैं? नहीं निस्पन्द होनेसे शकलें उसमें समाती नहीं हैं, उसमें स्थिर नहीं होती हैं। और दूसरी जगहसे आती भी नहीं हैं और दूसरी जगह जाती भी नहीं हैं। ऐसी स्थितिमें उस लूकासे अलग शकल-सूरत कुछ नहीं है, ऐसे ही विज्ञानसे अलग संसारकी कोई वस्तु नहीं है।

'न निर्गता अलाताते'—वे उस लूकमें-से, उस अलातमें-से निकली हुई नहीं हैं क्योंकि वह तो कोई वस्तु ही नहीं है—'द्रव्यत्वाभावयोगतः'—द्रव्यत्वाभाव रूप युक्तिसे यह सिद्ध है—आकार कोई वस्तु होता ही नहीं, यह जैसे हमारे हाथमें क्या है। स्त्रीका हाथ कुछ गोल-गोल होता है और पुरुषका हाथ कुछ चिपटा हुआ होता है, तो बच्चेको कभी-कभी लोग लाकर दिखाते हैं



कि यह बच्चा क्या है, लड़की है कि लड़का? अब यह आकार अलग होनेपर भी जो पंचभूत है शरीरमें हड्डी-मांस-चाम है उसमें कोई भेद नहीं होता। रक्तमें कहीं स्त्री-पुरुषका भेद होता है? मिट्टीमें कहीं स्त्री-पुरुषका भेद होता है? पानीमें कहीं स्त्री-पुरुषका भेद होता है? कहीं अग्निमें, वायुमें, आकाशमें कहीं स्त्री-पुरुषका भेद होता है? आकार-भेद होनेसे वस्तु भेद नहीं होता। जेवरके आकारमें भेद होनेसे सोनेमें भेद नहीं होता। इसी प्रकार यह सृष्टिके आकारमें भेद होनेसे तत्त्वमें भेद नहीं है। आकारमें भेद होनेसे विज्ञानमें भी भेद नहीं है। हम एक काला देखते हैं, एक गोरा देखते हैं, एक मोटा देखते हैं, एक नाटा देखते हैं—तो क्या हमारी आँख भी वैसी-वैसी हो जाती है? यही तो विज्ञानका स्वरूप है न! माने जो दृष्टमात्रवस्तु है आत्मा, बाह्य वस्तुओंके परिवर्तनका उसपर कोई प्रभाव नहीं है। तो यह 'आभासस्याविशेषतः'—यह आभास बिलकुल वैसा ही है। इसीलिए विज्ञानमें भी ये वस्तुएँ बिलकुल वैसी ही भास रही हैं।

'विज्ञाने स्पन्दमाने वै'—अब यह जो है इस दृष्टान्तका दार्ष्टान्त। माने एक तो होता है दृष्टान्त और एक होता है दार्ष्टान्त—दृष्टान्त है जैसे रज्जु-सर्प और दार्ष्टान्त है—ब्रह्ममें जगत्। हमारे संस्कृत साहित्यमें यह देखनेमें बड़ा मजा आता है। यदि कोई बहिर्मुख आदमी ग्रन्थ लिखने लगता है तो वेदान्तमें उसकी पहचान हो जाती है। इसकी पहचान आपको बतलाते हैं—बहिर्मुख आदमी वेदान्तकी पुस्तक लिखेगा तो यह लिखेगा कि रज्जुमें सर्पकी ख्याति कैसे हुई? इसपर वह इतना विचार करेगा कि ग्रन्थ पूरा हो जायेगा। सत्-ख्याति, असत्-ख्याति, अन्यथा-ख्याति, आत्म-ख्याति, अनिर्वचनीय-ख्याति क्या है—रज्जुमें? सर्प क्या है अरे! सर्प कहीं-न-कहीं देखा हुआ है, उसका संस्कार है, कहीं सर्प होता है—हजार बात कहेगा और अन्तर्मुख व्यक्ति जब वेदान्तका निरूपण करेगा तब वह ब्रह्ममें जगत् कैसे हुआ इसका निरूपण ज्यादा करेगा। ब्रह्ममें जगत् कैसे दीखता है अगर रज्जुपर ही दृष्टि जमी रही तो बहिर्मुख है। वह आदमी दृष्टान्तके बारेमें ज्यादा सोचता है। मालूम पड़ जाता है कि इसकी दृष्टि कहाँ लग रही है। आओ दिखायें कि अलातका जो दृष्टान्त बतलाया वह क्या है? अलातशान्ति-प्रकरण तो इसका नाम ही है। अलातको हिलाओ मत, उसको शान्त कर दो। देखो, उसमें क्या है—ऋजु है कि वक्र है—यह तुम्हारे शान्त विज्ञान, अद्वय-आत्मामें यह प्रपञ्च क्या है जरा बतलाओ!

न निर्गतास्ते विज्ञानाद् द्रव्यत्वाभावयोगतः ।  
कार्यकारणताभावाद्यतोऽचिन्त्याः सदैव ते ॥ 52 ॥  
द्रव्यं द्रव्यस्य हेतुः स्यादन्यदन्यस्य चैव हि ।  
द्रव्यत्वमन्यभावो वा धर्माणां नोपपद्यते ॥ 53 ॥  
एवं न चित्तजा धर्माश्चित्तं वापि न धर्मजम् ।  
एवं हेतुफलाजातिं प्रविशन्ति मनीषिणः ॥ 54 ॥  
यावद्धेतुफलावेशस्तावद्धेतुफलोद्भवः ।  
क्षीणे हेतुफलावेशे संसारं न प्रपद्यते ॥ 55 ॥  
यावद्धेतुफलावेशः संसारस्तावदायतः ।

क्षीणे हेतुफलावेशे संसारं न प्रपद्यते ॥ 56 ॥

लुआठी घुमानेसे लम्बाई—ऋजुता=सरलता, टेढ़ापन, गोलाई मालूम पड़ती है। ये कहीं दूसरी जगहसे आकर उसमें मिल नहीं जाती। उसमें-से निकलती भी नहीं। उसमें लीन भी नहीं होती। उस उल्काके साथ उन आकारोंका कोई कार्य-कारण भाव नहीं है। मालूम पड़ते हैं। क्योंकि वे स्वयं द्रव्य नहीं हैं, कोई वस्तु परिणामी द्रव्य, जड़ नहीं हैं। विज्ञानके सम्बन्धमें भी ठीक ऐसा ही समझना चाहिए। यह विज्ञान-स्पन्दित है सम्पूर्ण विश्व सृष्टि, विश्व प्रपञ्च। न विज्ञानके सिवाय यह किसी दूसरेसे पैदा हुआ है, न विज्ञानसे निकलकर किसी दूसरी जगह गया है और न तो विज्ञानमें इसका लय होता है। विज्ञान है ज्यों-का-त्यों।

‘अजाचलम्’ कहनेका अर्थ है कि उसमें न कोई गुण है, न क्रिया है। न शब्दादि गुण हैं और न धर्माधर्मादि क्रिया हैं। वह चैतन्य है। यह भी बात ध्यान देने लायक है कि मूल जो उपनिषद् है उसमें ‘प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः’ भी आया। प्रपञ्चोपशम जो मूलमें शब्द है उसकी यह व्याख्या है। इसलिए उपनिषद्के मूल शब्दकी व्याख्या होनेके कारण ‘शान्तमद्वयम्’—कारिकामें भी आया। निष्प्रपञ्च—तो निष्प्रपञ्चका अर्थ है कि विज्ञानमें ये जो शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध आदि गुण, धर्माधर्मादि क्रिया और परिणाम चलना और जाति-जन्म—तो जो वस्तुका जन्म मालूम पड़ता है और जातियाँ मालूम पड़ती हैं—स्थूल अर्थमें भी उनको ले लेना; क्योंकि जन्म मालूम पड़ेगा तभी मनुष्य, पशु-पक्षी आदि जातियाँ होंगी; तो किसी वस्तुमें परिणाम होना, उनमें तरह-तरहकी जाति होना और उनमें कार्य-कारण भाव होना और



उसमें लय होना और उसमें शब्द-स्पर्शादिका सम्बन्ध होना और उसमें धर्माधर्मादिका सम्बन्ध होना—ये सभी बातें प्रपञ्चोपशम शिव अद्वैतमें नहीं हैं। यह बात मूल उपनिषद्में कही गयी थी। उसकी व्याख्या की।

विज्ञानमें असलमें स्पन्दन नहीं है—स्पन्दाभास ही है—चलाभास कहो। यह चल भी कहते हो अचल भी कहते हो, क्या बात है? यह तो जैसे कोई मूल द्रव्य ही न हो—कभी चल भासे कभी अचल भासे। चल और अचल दोनों आभास हों—ऐसा मालूम पड़ता है। यह तो 'तदेजति तत्रैजति तदूरे तद्वन्तिके।' (ई० 5) की व्याख्या करोगे तो तत्त्वदृष्टिसे 'अनैजत्' है और व्यावहारदृष्टिसे एजत् है। विद्यादृष्टिसे नैजति और ब्रह्मज्ञानकी दृष्टिसे उसमें चाञ्चल्य नहीं है। अविद्या-दृष्टिसे उसमें अध्यारोपित चाञ्चल्य है, इसलिए दोनोंकी संगति लग गयी! तो पहले ही स्मृति किया कि—'एवं न जायते चित्तं चित्तदृश्यं न जायते' विज्ञानवादीके मतमें यह कारिका कभी संगत नहीं हो सकती। 'एवं न जायते चित्तं'—विज्ञानवादीने तो यह सिद्ध किया था कि वस्तुकी उत्पत्ति नहीं होती। चित्त है—कालमें बहती हुई चित्तकी धारा है, विज्ञानकी धारा है और उसमें यह प्रपञ्च मालूम पड़ता है, यह संसार मालूम पड़ता है। तो इन्होंने कहा—'एवं न जायते चित्तम्'—जिस युक्तिसे तुमने प्रपञ्चका न होना और चित्तका होना सिद्ध किया उसी युक्तिसे हम यह सिद्ध करते हैं कि चित्त भी उत्पन्न नहीं हुआ—तब विज्ञान शुद्ध विज्ञान ही है।

इसीको बोलते हैं—प्रपञ्चोपशम—यह जो इन्द्रियोंने प्रपञ्च रचा है, यह मनने प्रपञ्च रचा है—प्रपञ्च बोलते हैं और गाँवमें इसको परपञ्च बोलते हैं—बखेड़ा! यह जो इन्द्रियोंने दुनियाका बखेड़ा खड़ा कर दिया है—क्या कि यह शब्द है, यह स्पर्श है, रूप है, रस है, गन्ध है—एक ही चीजको इन इन्द्रियोंने, पाँच करके बतला दिया। असलमें यह चीजोंका भेद नहीं है, इन्द्रियोंका भेद है। देखो, एक ही गुलाब-आँखने कहा—लाल है, नाकने कहा—सुगन्ध है, जीभने कहा—कड़ुआ है, त्वचाने कहा—मुलायम है, वस्तु एक और इन्द्रियोंने उसमें पाँच चीज बतला दी। ऐसे ही एक अखण्ड-सत्ता है, एक अखण्ड विज्ञान है और उसको ये इन्द्रियाँ पाँच प्रकारकी बतलाता है। और विज्ञान एक है, चित्त एक है और वह इन्द्रियोंको पाँच प्रकारकी बतलाती हैं। और विज्ञान एक है, अज है, अचल है और वह पाँच प्रकारका भासता है, मायासे। 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' वह प्रपञ्चोपशम अद्वैत शिव है।

‘विज्ञाने स्पन्दमाने वै’—उसी प्रकार अस्पन्दमान विज्ञानमें और स्पन्दमान विज्ञानमें—‘वस्तुतः अस्पन्दमाने किन्तु व्यवहारतः स्पन्दमाने वै प्रतीयमाने।’ संस्कृत-भाषाकी विचित्रता है—इसमें अस्पन्दमान भी है और स्पन्दमान भी है। व्याकरणके नियमानुसार अकार इसमें मिल जाता है। तो ‘नाभासा अन्यतोभुवः’—यह जो प्रपञ्चाभास है—अन्तःकरण-आभास, इन्द्रियाभास, विषयाभास, जाल्याभास, चलाभास, द्रव्याभास—यह सब क्या है कि ये कहीं किसी दूसरी वस्तुसे पैदा नहीं हुए हैं; क्योंकि विज्ञानके सिवाय दूसरी वस्तुकी तो सिद्धि होती ही नहीं। विज्ञानसे निकलकर कहीं बाहर नहीं गये हैं; क्योंकि विज्ञान तो निस्पन्द है और विज्ञानमें कार्य-कारण-भाव न होनेसे लय भी नहीं होता। तो, अब कहो कि यह क्या है? यह श्रुति कहती है—अपनी आत्मा अनिवर्चनीय है! आत्माका कोई दूसरा आत्मा नहीं। जैसे चिड़िया अपने घोंसलेमें घुसती है या घड़ा फूटकर मिट्टीमें घुसता है वैसे प्रपञ्च जब छूटेगा तब आत्मामें घुसेगा, जबतक है तबतक तो प्रपञ्च है और जब इसका प्रलय होगा तब यह आत्मामें घुसेगा। अरे, यह कल्पना नहीं करना—वेदान्त यह बतलानेके लिए नहीं है कि जैसे घड़ा फूटकर मिट्टी हो जाता है—मिट्टीमें मिल जाता है वैसे ही यह संसार जब फूटेगा तब ब्रह्ममें लीन होगा! यह न कहीं अलगसे पैदा हुआ है और न ब्रह्मसे निकलकर अलग कहीं गया है और न तो ब्रह्ममें इसका लय होता है। यह क्या है कि यह जो बृहदारण्यक श्रुति है—‘अपूर्व अनपरं, अनन्तरं अबाह्यम्’—इसकी व्याख्या है यह। अच्छा बोले, जो यह चित्तका निषेध किया कि चित्त ही नहीं है—यह तो शून्यवादी बौद्ध लोग निषेध करते हैं। यह तुम कैसे करते हो? तो देखो, हम मूल श्रुति आपको बतलाते हैं। कौन-सी, कहाँकी श्रुति बतलावें? तो बोले—जहाँकी जिसकी यह व्याख्या है वही श्रुति बतलाते हैं।

नान्तः प्रज्ञं न बहिः प्रज्ञं नोभयतः प्रज्ञं न प्रज्ञानघनं न प्रज्ञं नाप्रज्ञम्। अदृष्टम-  
व्यवहार्यमग्राह्यलक्षणचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्मप्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशमं शान्तं  
शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा विज्ञेयः।

अन्तःप्रज्ञं—अन्तःप्रज्ञ नहीं है। माने स्वप्न चित्तवाला यह नहीं है। न बहिः प्रज्ञं माने जाग्रत् चित्तवाला यह नहीं है। प्रज्ञा माने चित्त ही तो है न! नोभयतः प्रज्ञं—अन्तराल प्रज्ञावाला भी नहीं है। न प्रज्ञानघनं—न यह प्रज्ञानघन है। न प्रज्ञ, न अप्रज्ञ! चित्तकी इतनी दशाका निषेध जो मूल उपनिषद्में किया गया माने जाग्रत्-



चित्त, स्वप्न-चित्त, सुषुप्ति-चित्त, अन्तराल-चित्त और चित्ताभाव और चित्तघन—इनका निषेध करके माण्डूक्य-श्रुतिमें तत्त्वका निरूपण किया गया—ऐसा यह शिव शान्त अद्वैत तत्त्व है, तो उसमें चित्तकी उत्पत्ति और प्रलय कहाँसे और उसमें बाह्य वस्तुओंकी उत्पत्ति और प्रलय कहाँसे? तो वह उत्पत्ति और प्रलयकी बात उन लोगोंके लिए है—जिन लोगोंकी समझमें विज्ञानघन आत्मा, विज्ञानघन ब्रह्म, सृष्टि-स्थिति-प्रलयसे रहित है—यही नहीं आती है। उनकी समझके लिए उसीसे सृष्टि, उसीमें स्थिति, उसीमें प्रलय बतलाकर उससे अभिन्नता सिद्ध करनेकी एक युक्ति दी हुई है।

‘न निर्गतास्ते विज्ञानाद्’—वे विज्ञानसे निकले नहीं हैं, अलात और विज्ञान दोनों समान हैं, पर अलात जो है वह चल है, अलात जो है वह चल होनेसे अपनेमें ऋजु, वक्रादि आभास दिखलाता है और आत्म-विज्ञान जो है वह अचल है। तो ‘विज्ञानात् ते न निर्गताः’—वे विज्ञानसे निकले हुए नहीं हैं—निष्क्रान्त नहीं हैं। जैसे माँके पेटमें—से बच्चा निकल आता है, बीजमें—से जैसे अंकुर निकल आता है, जैसे मिट्टीमें—से घड़ा गढ़ लिया जाता है; वैसे ही यह विज्ञानमें—से, परमात्मामें—से यह सृष्टि निकली नहीं है।

‘द्रव्यत्वाभावयोगतः’—परमात्मा कोई द्रव्य थोड़े ही है। द्रव्यत्वाभावकी युक्ति है। योग माने युक्ति। योग माने उपाय। असलमें परमात्मा जो है वह द्रव्यत्वाभावका भी साक्षी है। द्रव्यात्वाभावका भी अधिष्ठान है। अधिष्ठानता और साक्षिता—ये परमार्थ नहीं हैं। यह तो दुनियामें जो व्यवहार होता है, इसकी असत्ता बतलानेके लिए, इसकी अयौक्तिकता बतलानेके लिए, इसकी अभोग्यता बतलानेके लिए एक कल्पित अधिष्ठानमें और कल्पित साक्षीके द्वारा दृश्य है। अपने स्वरूपमें साक्षिता साक्ष्यकी अपेक्षासे है और अपने स्वरूपमें अधिष्ठानता अध्यस्तकी अपेक्षासे है। नहीं तो अपने स्वरूपमें यह जिस अध्यस्त और अधिष्ठान भावको लेकर वेदान्तका सारा निरूपण होता है, कैसे सम्भव है! जब देखनेवाला इन्द्रिय, द्रव्य, द्रव्यवाला हो तभी होगा।

‘द्रव्यत्वाभावयोगतः’—आप देखो द्रव्यत्वाभाव क्या है? अन्तःकरणवाला हो, ऐसा समझो, चित्त द्रव्यवाला यदि हो साक्षी तब उसको अन्य देशमें, किसी कालमें रज्जु आदिमें सर्पकी भ्रान्ति होगी। भ्रान्ति तो अन्तःकरणवालेको होगी। जहाँ अन्तःकरण नहीं है वहाँ भ्रान्ति कहाँसे होगी? जहाँ इन्द्रियाँ नहीं हैं वहाँ भ्रान्ति कहाँसे होगी? तो यह जो सिर-पड़ा व्यवहार है इसकी संगति लगानेके लिए

अधिष्ठानमें अध्यासकी कल्पना की गयी है। इससे अपना विलक्षणत्व दिखलानेके लिए, अन्यत्व दिखलानेके लिए नहीं, दृढमात्र वस्तुमें जहाँ साक्षी और साक्ष्यका भेद कथंचित् कथमपि हो नहीं सकता, उसमें साक्षीका प्रतिपादन है। द्रव्यत्वाभावकी युक्तिसे यह बात सिद्ध होती है। द्रव्यत्व क्या है? गुणाश्रयत्व, क्रियाश्रयत्व, इसीका नाम तो द्रव्य है न! द्रव्य किसको कहते हैं? जिसके आश्रयसे शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध आदि गुण रहते हैं। कोई-न-कोई गुण जिसमें हो उसको द्रव्य कहते हैं। अपना विशेष गुण होना चाहिए। जिस वस्तुमें अपना कोई विशेष गुण नहीं होता, अपनी कोई विशेषता नहीं होती वह द्रव्य ही नहीं होता। देखा और हाथ है, हाथमें क्रिया होती है तो कोई चीज है न उसमें! आत्मवस्तुमें न शब्द, न स्पर्श, न रूप, न रस, न गन्ध और न आँख, न कान, न नाक, न जीभ, न त्वचा, उसमें न मन, न बुद्धि और उसमें न इनका अभाव। भाव जिसमें होता है उसीमें अभाव भी होता है। वह है इनके भावाभावका साक्षी इनके भावाभावका अधिष्ठान।

‘न निर्गतास्ते विज्ञानात्’—विज्ञानसे निष्क्रान्त नहीं हैं, क्योंकि द्रव्यत्वा-भावकी युक्तिसे यह आत्मा, विज्ञानस्वरूप है। यह द्रव्य नहीं है। यह गुणाश्रय नहीं है। यह क्रियाश्रय नहीं है। इसकी अखण्डता, अद्वितीयता, अनन्तता सिद्ध है। अज्ञानसे ही इसमें, द्रव्यत्व आदि आरोपित हैं। ‘कार्यकारणताभावाद्यतोऽचिन्त्याः सदैव ते।’ असलमें कार्य और कारण भाव ‘अपूर्व अनपरं’, अपूर्व माने अकारण और अनपर माने अकार्य। जिसके पहले कोई नहीं हो उसको अपूर्व कहेंगे। पूर्व माने नियत पूर्ववृत्ति कारणका न होना। बापका पहले होना जरूरी है न! तब बेटा होगा। इसको कार्यकारण भाव बोलते हैं। मिट्टीका पहले होना जरूरी है तब गड़ा होगा। उसमें पहले पीछेकी गति नहीं है। बादमें कोई पैदा हो गया कि नहीं—‘अनपरं’ बादमें भी कुछ नहीं।

देखो, दुनियाकी एक रीति सुनाते हैं—यदि कोई अनाथ हो जाय दुनियामें, उसके माँ-बाप भी न हों और बेटे-बेटी भी न हों और साथी भी न हों, पति न हो अथवा पत्नी भी न हो, मित्र भी न हों तो वह रोयेगा, सिर पीटेगा—हाय-हाय हमारा कोई नहीं है! दुनियामें इसको बड़ा भारी दुःख मानते हैं। यहाँ देखो—माँ-बाप नहीं हैं, बेटा-बेटी नहीं हैं, पति-पत्नी नहीं हैं, भाई-बन्धु नहीं हैं, सगा-सम्बन्धी नहीं हैं—अरे, यह कैवल्य, यह अद्वैत! यदि यह ख्याल हो जाय कि जो लक्षण इस समय मुझमें हैं—ये सोलह आने ब्रह्मके हैं। अरे! मैं तो ब्रह्म हूँ, अगर



उनको यह ख्याल आजाय तो ऐसे अनाथ लोग भी अपनेको अभय, परिपूर्ण, स्वतन्त्र समझ लें।

यह जीवनमें जो परापेक्षता है—परावलम्बन, यही दुःख है। आप मनुजीसे कभी पूछना—आप लोगोंको तो ज्यादा ग्राहकोंसे और व्यापारियोंसे पूछना रहता है न! मनुजीसे तो बात करनेका कभी मौका ही नहीं पड़ा होगा। किसी-किसीको कभी मनुजीसे बात करनेका मौका पड़ा होगा! मनुजी बोलते हैं—

सर्व परवशं दुखं सर्व आत्मवशं सुखम्।

एतद् विद्यात्समासेन लक्षणं सुखदुःखयोः॥

जो कुछ पराधीन है, पराधीन सम्पत्ति, पराधीन जीवन दुःख है और सबका स्वाधीन होना यह सुख है, यदि तुम सुख और दुःखका संक्षेपमें लक्षण सुनना चाहते हो तो यही है। स्वातन्त्र्य सुख है और पारतन्त्र्य दुःख है।

एकवार मैं कहींसे आ रहा था—अंग्रेजोंका जब राज्य था तबकी बात है, ग्रह हमारे गाँवके पास एक अच्छे ठाकुर-साहब थे, पढ़े-लिखे थे, परन्तु उन्होंने मनुस्मृति नहीं पढ़ी थी, उनसे बात हुई सड़कके पुलपर हम दोनों बैठ गये। मैंने उन्हें दो श्लोक मनुस्मृतिके सुना दिये। एक यह—‘सर्व परवशं दुखं’ और एक—

सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।

यह मनुस्मृतिका ही श्लोक है—सबमें अपने आपको और अपने आपमें सबको—‘समं पश्यति’। जो समान तत्त्वरूप देखता है और अपने अहंका बलिदान कर देता है, अपने सुख-स्वार्थका परित्याग कर दे—उसको स्वराज्यकी प्राप्ति होती है। अब उन दिनों स्वराज्यके लिए बड़ा भारी आन्दोलन होता था तो मैंने ‘स्वराज्यं अधिगच्छति’ कह दिया और वे थे अंग्रेजोंके पिट्टू—बोले कि यह श्लोक मनुस्मृतिमें नहीं हो सकता, बादमें यह गढ़ा गया होगा, और किसीने मनुस्मृतिमें जोड़ा होगा! है तो यह बहुत पुराना—

सर्व परवशं दुःखं आत्मवशं सुखम्।

यह ब्रह्मतत्त्व जो है—इसमें ‘पर’ ही नहीं है पराधीनकी तो बात ही क्या है? ‘न तत् कश्चित् जनिता न चाधिपः।’ इसका कोई माँ-बाप नहीं। इसका कोई स्वामी नहीं। क्या ब्रह्मपनेका लक्षण है। संन्यासी लोग अपने-आप जान-बूझकर माँ-बापको बोलते हैं कि ईश्वरने दिया है तो कहते हैं—हे ईश्वर, तुम माँ-बाप अपने घर रक्खो, वापस ले लो माँ-बाप। बोले—किसीका नौकर बना दिया

भगवान्ने। तो बोले—प्रभु, हम नौकर नहीं रहना चाहते, हम पराधीन नहीं रहना चाहते—ऐसे ही बोलते हैं। बन्धनसे मुक्ति! यह वेदान्त सब प्रकारके बन्धनोंसे मुक्ति दिलाने वाला है, आप अपनेको जिस अवस्थामें अनाथ समझते हो उस अवस्थामें वेदान्त आपको ब्रह्म बतलाता है।

‘न तस्य कार्य कारणं च विद्यते’—इसमें कर्तव्यका बन्धन नहीं है कि यह—यह करो तब ब्रह्म हो जाओगे। कोई कर्तव्य पूरा करके ब्रह्म नहीं होता—कहो कि कई लोगोंको तो यह बन्धन है कि यह फल जब प्राप्त हो जायेगा तब हम कृतकृत्य हो जायेंगे—बेटा हो जाय, इतना धन हो जाय, बोलेंगे—हमने यह संकल्प किया है कि पाँच करोड़ रुपया बेटेके लिए छोड़ दें और उसके बाद हम संन्यासी हो जायँ। ये पट्टे कभी संन्यासी होनेवाले नहीं हैं! भगवान् संन्यासको इनसे बचावे तो ही अच्छा है। बोले—महाराज, बेटा तो है, अब उसके भी बेटा होनेकी आशा है, अब हो जाये और जरा उसको खिला लें थोड़े दिन, उसके बाद हम अकेले रहेंगे। अरे भाई, अभी बेटा खिलानेकी इच्छा तो पूरी हुई नहीं। भगवान्ने तो तुमको संन्यासी बनाया और तुम बेटा खिलानेके फेरमें पड़े हुए हो। देखो, भगवान्ने जब पैदा किया था तब अकेले पैदा किया था न! कोई कपड़ा भी शरीरपर नहीं, इसीलिए संन्यासीके लिए बतलाया है—आप लोग बुरा मत मानना जैसा इसका सिद्धान्त है वह बतलाता हूँ। संन्यासीका जहाँ वर्णन है वहाँ ‘यथा जातरूपधरा’ है। माताके गर्भसे जिस रूपमें प्रकट हुआ था उसी रूपमें रहनेवाला। इसका अर्थ हुआ कि परब्रह्म परमात्मा जैसे अजात दशामें है वैसे ही जातदशामें भी रहनेवाला कार्यकारणका भाव होता है।

एकदिन किसीके लिए मुँहसे गाली निकल गयी तो सिरमें दर्द होने लगा—अरे हाय-हाय, हमने उनको गाली दे दी इसलिए सिरमें दर्द हो रहा है। फिर उनसे भेंट हुई तो उनके मनमें तो कोई बात ही नहीं थी कि गाली दी, फिर उन्होंने उनसे बात की कि मैंने आपको गाली दे दी, तो वे बोले—हमने तो सुना ही नहीं। तो कार्य-कारण-भावकी ऐसी कल्पना होती है कि जो लोग अपनी ही दृष्टिसे कोई अपराध करते हैं वे अपने जीवनके कई अंगोंमें उस अपराधका फल जोड़ लेते हैं। जो लोग पुण्य करते हैं वे अपने जीवनके कई अंगोंमें उस पुण्यका फल जोड़ लेते हैं। असलमें कार्यकारण भाव दीखता है पर है नहीं। बेटा माँके शरीरमें-से नहीं निकलता है, बापके शरीरमें-से भी नहीं निकलता। अंगूरके शरीरमें-से भी नहीं निकलता। भला साँचा कहीं उपादान कारण होता है।



ये माँ-बाप तो साँचे हैं। पंचभूत साँचेमें डाल दिया। साँचा उसको कहते हैं जैसे कोई मशीन होती है। ठप्पा होता है न—उसमें थोड़ा सोना डाल दिया, थोड़ी चाँदी डाल दी, थोड़ा रूपा डाल दिया, चाहे जैसी शक्ल—साँचेमें ढाल दिया। ये माँ-बाप तो साँचे हैं—उपनिषद्में यह बात बिलकुल स्पष्ट रूपसे आयी हुई है। मनुष्यकी आकृति साँचेके अनुसार निकली हुई है। उपादान थोड़े ही है, माता-पिताका संस्कार भी नहीं है। माता-पिताका मशाला भी नहीं है। मशाला तो पंचभूतका है। और आत्मा परमात्माका स्वरूप है! उसमें कार्य-कारण भाव कहाँ है?

लौकिक दृष्टिसे भी कार्य-कारण भाव जो है वह बिलकुल असंगत है, कहीं कार्यसे कारणकी उत्पत्ति होती है, अच्छा यदि कारण और कार्य-भाव बिलकुल नियत होता तो कारणसे ही कार्यका अनुमान होता। यहाँ तो कार्यसे ही कारणका अनुमान होता है। अनुमान तीन तरहका होता है—पूर्ववत्, देशवत्, सामान्यतोहत। कारणको देखकर कार्यका अनुमान, कार्यको देखकर कारणका अनुमान और सामान्यरूपसे देखकर जैसे पिता-पुत्रको देखकर अनुमान कर लिया। ये पिता-पुत्र होंगे या बड़ी पगड़ी देखकर संस्कृतका पण्डित मान लिया। ज्ञात न हो प्रत्यक्षसे तो धुँआ देखकर आगका अनुमान नहीं हो सकता। अनुमानसे सिद्ध जो आग है उसका फिर प्रत्यक्ष होता है। प्रत्यक्षमूलक और प्रत्यक्षफलक जो अनुमान हैं उस अनुमानमें स्वतन्त्र प्रामाण्य है कहाँ? और प्रत्यक्ष जो है वह इन्द्रियाधीन है।

ये इन्द्रियाँ—अगर वासना हो तो असुन्दरको सुन्दर बतला दें। वासना न हो तो सुन्दरको भी असुन्दर बतला दें। विरक्तको—दुनियाँमें जिसको सुन्दर बोलते हैं—सुन्दर नहीं मालूम पड़ता। रागी हो तो असुन्दर भी सुन्दर मालूम पड़ता है। ये इन्द्रियाँ राग-द्वेषके अधीन होकर बिलकुल गलत ज्ञान देती हैं। इसलिए इनके चक्करमें न पड़कर कार्यकारणताभाव बिलकुल सिद्ध नहीं है। इसलिए सृष्टिमें अनिर्वचनीयता ही है।

पिछले दिनों एक प्रश्न उठा था—है तो बहुत पुराना—कि प्रमाणसे प्रमेयकी सिद्धि होती है कि प्रमेयसे प्रमाणकी सिद्धि होती है? वस्तुके अधीन प्रमाण है कि प्रमाणके अधीन वस्तु है? दो पक्षोंमें अच्छा शास्त्रार्थ हुआ। आँखसे घड़ी सिद्ध होती है। बोले ठीक है—आँखसे घड़ी सिद्ध होती है तो आँख प्रमाण हुई और घड़ी प्रमेय हुई। बोले, अरे चीजें हैं इसलिए इन्द्रियोंसे



मालूम पड़ती हैं। चीजें हैं इसलिए इन्द्रियोंसे मालूम पड़ती हैं कि इन्द्रियाँ हैं इसलिए चीजें मालूम पड़ती हैं? समझो इसको, शास्त्रार्थका रूप यही है कि बुद्धि है इसलिए यह दुनिया मालूम पड़ती है कि दुनिया है इसलिए मालूम पड़ती है? अब ये दोनों तो परस्पर द्वन्द्वात्मक ही हैं। इसका सिद्धान्त वेदान्तमें यह तय किया गया है कि इसके चक्रमें मत पड़ो कि प्रमाणसे प्रमेयकी या प्रमेयसे प्रमाणकी सिद्धि होती है।

मानके अधीन मेयकी सिद्धि है, यह विज्ञानवादी बोलते हैं और मेयके अधीन मानकी सिद्धि है, यह बाह्यार्थवादी बोलते हैं। वेदान्तियोंमें त्रिसत्तावादी आभासवादी, पञ्चदशी, विचार-सागर आदि कहते हैं—घट है इसलिए मालूम पड़ता है और दृष्टि-सृष्टिवादी कहते हैं कि घट मालूम पड़ता है, इसलिए है। ऐसा उसके बारेमें प्रत्यय होता है। वेदान्तका सिद्धान्त है कि न प्रमेयका कार्य प्रमाण, न प्रमाणका कार्य प्रमेय—यह अनिर्वचनीय हैं, ये दोनों केवल मालूम पड़ते हैं। अपने अधिष्ठानमें, स्वस्वरूपमें ये दोनों नहीं हैं—ये अनिर्वचनीय हैं! इसीको बोलते हैं—प्रमेयवादसे प्रमाणवादका खण्डन हुआ और प्रमाणवादसे प्रमेयवादका खण्डन हुआ—दोनों अनिर्वचनीय हैं!

‘द्रव्यं द्रव्यस्य हेतुः स्याद्’—देखो भाई, किसी वस्तुकी उत्पत्ति होगी तो द्रव्यसे ही होगी। घड़ा बनेगा तो माटीसे ही तो बनेगा। और यहाँ तो सिद्ध हुआ कि चेतन वस्तु ही है, एक अचल आत्म तत्त्व है—इसमें भी जो लोग कार्य-कारण भावकी कल्पना करते हैं उसमें भी स्वका कारण स्व होगा कि अन्यका कारण अन्य होगा? तो, द्रव्य-द्रव्यका कारण होवे—यही स्थिति है। बाह्यार्थवादी जो हैं, वे कहते हैं कि बाह्यार्थसे मानें घट-पटादिसे घट-पटादि आकार, अन्तश्चित्तकी उत्पत्ति होती है—बाहरके लिए। जैसे हमारे भौतिकवादी हैं—यन्त्रवादी ये नेत्रवादी नहीं हैं, यन्त्रवादी हैं। बुद्धिवादी नहीं हैं, मशीनवादी हैं। मशीनका कानून भी बड़ा विचित्र-विचित्र ही होता है। तो अब यह हुआ कि बाहरकी चीजोंसे मन बनता है। बोले—मन बनकरके तब बाहरकी चीजोंको बनाता है। मन सूक्ष्म है—यह स्थूल शरीर कैसे बना? कि पहले सूक्ष्म शरीरका आकार ऐसा हुआ और फिर भौतिक कणोंको एकत्र करके उसने ऐसा शरीर बना दिया। पहले सूक्ष्म बना फिर स्थूल बना। बोले नहीं भाई; पहले स्थूल धातुएँ थीं, वे ही सूक्ष्म दशाको प्राप्त होकर स्थूल हो गयीं। अंगूर, गेहूँ, जौ, मटर, दूध जब पेटमें गया तो पेटमें सूक्ष्मदशापन्न होकर शरीर बन गया। एक यन्त्रवाद है—तो स्थूलसे सूक्ष्मकी उत्पत्ति होती है



और सूक्ष्मसे स्थूलकी उत्पत्ति होती है, परन्तु वस्तुसे वस्तुकी उत्पत्ति होती है। और एक दशासे उत्पन्न होकर दूसरी दशा होती है, एक वस्तुसे उत्पन्न होकर दूसरी वस्तु होती है। विज्ञानवादी कहते हैं कि सूक्ष्म-सूक्ष्मसे सूक्ष्म ही स्थूलाकार भासता है—है न? और स्थूलवादी कहते हैं कि स्थूलसे सूक्ष्मकी उत्पत्ति होती है। तुम्हारे मनको एक इन्जेक्शन ठोंक दिया और बेहोश कर दिया, सारी चेतना लुप्त कर दी। यदि गलत लगा दिया तो इहलीला ही समाप्त कर दी। पहले हमको एक डॉक्टरने कहा था कि अमुक-अमुक इन्जेक्शन लगवानेको कभी कोई डॉक्टर कहे तो पहले रक्तकी परीक्षा करवाकर देख लें और फिर इन्जेक्शन लें—यह नहीं कि चाहे जो ठोंक दे—परीक्षा रक्तकी पहले और इन्जेक्शन बादमें।

‘द्रव्यत्वमन्यभावो वा’—किसी भी तरहसे यह बात देखनेमें नहीं आती कि अद्रव्य किसीका कारण हो, जो वस्तु है ही नहीं वह किसीका कारण कैसे हो! फिर बोले कि देखो, यह रूप द्रव्य नहीं है। यह रंग—लाल है, पीला है—यह द्रव्य नहीं है। लेकिन यह किसी भी प्रकारसे जब सूतके साथ जुड़ जाता है, सूत जिस रंगका हो उसी रंगका कपड़ा बन जाता है। कपड़ेमें रंग आनेका कारण क्या है कि सूतमें रंग होना, लेकिन रंग तो द्रव्य नहीं है। सूत द्रव्य है। रंग द्रव्याकार होकर ही कारण है। स्वतन्त्र कारण नहीं है। गुणसे किसी भी वस्तुकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। क्रियासे भी किसी वस्तुकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। वस्तुका आश्रय लेकर वस्तुकी उत्पत्ति होती है। परन्तु यह जो धर्म है माने हमारा आत्मा है यह क्या है? न तो यह अन्य है आत्मा और न तो यह द्रव्य है। तो इससे भला किसीकी उत्पत्ति कैसे होगी? तो यह किसीका कारण नहीं हो सकता। आत्मामें न किसीका कारणपना है और न किसीका कार्यपना।

एवं न चित्तजा धर्माश्चित्तम्—एक आत्मामें चित्त ही पैदा नहीं हुआ। इसका बड़ा परिणाम है। यह कोई मामूली बात नहीं। चित्तसे जैसे यह सिद्ध किया पहले कि दृश्यसे बुद्धि नहीं और बुद्धिसे दृश्य नहीं। इन दोनोंकी उत्पत्ति कार्य-कारण-भाव शक्य नहीं है। इसी प्रकार चित्तसे आत्माकी उत्पत्ति और आत्मासे चित्तकी उत्पत्ति यह धर्म माने आत्मा—जैसे शरीरको पकड़ रखता है। यह मैं, यह हाथ मेरा, यह पाँव मेरा—‘ए हाथ, तू जाकर पाँवकी सेवा कर।’ ‘ए हाथ, तू जरा मेरी आँखमें-से कीचड़ पोंछ दे। तू हमारे सिरपर जरा खुजली कर दे!’ सिर भी मेरा और हाथ भी मेरा। यह सिर और हाथको मेरा करके जो धारण किये हुए हैं। मनने कहा यह चीज भोग ले, बुद्धिने कहा—न-न, ऐसा नहीं करना—तो क्या करना



चाहिए कि यह जो बुद्धि और मन दोनोंमें समन्वय स्थापित करनेवाला है, दोनोंको धारण करनेवाला है—वह धर्म है। 'धारणात्-धर्मः'—तो धर्म माने आत्मा—तो बौद्धमतमें धर्म शब्दका प्रयोग आत्माके लिए किया जाता है। क्यों? तो उसकी व्युत्पत्ति यहाँपर यों है कि वे आत्माको धर्मो नहीं धर्म मानते हैं। इसका कारण यह हुआ कि उनको जब निर्वाणकी प्राप्ति होगी तब यह धारणात्मक जो भाव है वह बिखर जायेगा और बिखर जायेगा तो अनेक अवयवोंके संयोगसे जो धर्मो बना हुआ है उसका उच्छेद हो जायेगा, माने आत्मा नामकी कोई वस्तु निर्वाणकी प्राप्तिपर नहीं रहेगी। वेदान्ती यह बात नहीं मानते। शब्द-साम्य होनेपर भी अर्थ-साम्य नहीं है। यहाँ धर्म माने आत्मा है। भाई, न तो आत्मासे चित्तकी उत्पत्ति होती है और न तो चित्तसे आत्माकी उत्पत्ति होती है। जैसे जगत्, दृश्य और बुद्धिका, स्थूल और सूक्ष्मका जैसे कार्य-कारण भाव नहीं है वैसे ही आत्मा और अन्तःकरणका भी कार्य-कारण भाव नहीं है। तो इससे क्या निकला कि—

एवं हेतुफलाजाति प्रविशन्ति मनीषिणः ।

यह विज्ञान स्वरूपका आभास-मात्र है। यह अलग-अलग-शरीरमें जो आत्मा मालूम पड़ती है यह अखण्ड विज्ञान ब्रह्म स्वरूपका आभास मात्र है। यह देहके सम्बन्धसे, अन्तःकरणके सम्बन्धसे अलग-अलग मालूम पड़ता है, लेकिन वस्तुतः एक है। जब इस तरह विचार करते हैं तब क्या होता है कि हेतु और फल दोनों कभी पैदा ही नहीं हुए, अजाति हैं। अब हेतु और फल दोनों शब्द भूल गये होंगे! पहले इसका बहुत विचार किया था। हेतुसे फलकी उत्पत्ति होती है कि फलसे हेतुकी! हेतु माने कर्म—धर्माधर्म और फल माने शरीर। तो कर्मसे शरीरकी उत्पत्ति होती है कि शरीरसे कर्मकी उत्पत्ति होती है! इस विषयका पहले बहुत विवेक किया गया है। यह बात वहाँपर कही गयी कि यदि शरीरसे कर्मकी उत्पत्ति हुई शुरू-शुरूमें तो शुरू-शुरूवाला शरीर बिना कर्मके कैसे आया और यदि शुरू-शुरूमें कर्म था और उससे शरीर पैदा हुआ तो बिना शरीरके शुरू-शुरूमें कर्म कैसे आया और यदि दोनों अनादि हैं तो कार्य-कारण-भाव कहाँसे आया? यदि दोनों आदि हैं तो कार्य-कारण-भाव कहाँसे आया? दोनों अलग-अलग एक साथ पैदा हुए दो सींगकी तरह तो भी कार्य-कारण नहीं। दोनों यदि अनादि हैं तो समानान्तर रेखाके समान—जैसे समानान्तर रेखा होती है वह कभी आपसमें नहीं मिलती है, वैसे कर्म-फलसे नहीं मिलेगा कहीं। फल-कर्मसे नहीं मिलेगा। कर्मकी समानान्तर रेखा अलग



और शरीरकी समानान्तर रेखा अलग। कार्य-कारण भाव कहाँसे आवेगा? परम्परा नामकी कोई वस्तु नहीं है, तो इससे यह हुआ कि न तो कर्मकी उत्पत्ति होती है और न तो शरीरकी उत्पत्ति होती है। तो कहाँ उत्पत्ति नहीं होती! वह वस्तु कहाँ है? जहाँ, जो, जिसमें तुम अनुत्पत्ति सिद्ध कर रहे हो, उसका नाम 'ब्रह्म' है। उसका नाम 'आत्मा' है। तो प्रत्यक्चैतन्याभिन्न ब्रह्मतत्त्वमें न तो शरीर है और न शरीरकी परम्परा है। और न तो धर्माधर्म और उसकी परम्परा है। माने कार्य-कारण भाव बिलकुल नहीं है।

इस दशामें कौन पहुँचते हैं—बोले कि मनीषि पहुँचते हैं। मनीष माने ब्रह्मज्ञ लोग। मनीषि माने ब्रह्मविद् कैसे होता है यह लखा देते हैं। क्योंकि जानते तो हो ही आप—जब केनोपनिषद्में प्रश्न हुआ 'केनेहं पतति प्रेषितं मनः?' किसके भेजनेसे यह मन विषयोंमें जाता है? इसमें जो ईषा है वही मनषा ईषा=मनीषा: मनको भेजनेवाली संवित् है, उसीको मनीषा बोलते हैं। किसकी प्रेरणासे मन अपने विषयमें गिरता है? 'केन ईषितं केन प्रेषितं' तो वहाँ क्या बतलाया कि—आत्मा, परमात्मा। तो वही मनसा ईषा: जो है—'बुद्धिर्मनीषा धीः प्रज्ञा शेमुषी मतिः' वह मनीषा अध्यस्ति—इति मनीषि। ब्रह्मविद्या जिसे प्राप्त है उसे बोलते हैं मनीषि। मनीषि अपने अज-अद्वय भावको प्राप्त हो जाते हैं। जो देहकी, जन्मकी परम्परा चल रही है इसमें कहीं कोई कार्य-कारण-भाव नहीं है। अपने स्वरूपके अज्ञानके सिवाय और भ्रमके सिवाय, आवेशके सिवाय—योगकी भाषामें अभिनिवेशके सिवाय कुछ नहीं है। आवेश क्या होता है? हमने आवेश देखा है, वैसे तो आवेश सभीको आता है। जब क्रोधावेश आता है तब बोलते हैं कि अपने गुरुको भी आज हम समझ लेंगे। आज हम इन्हें समझा कर रहेंगे—ऐसा मनमें बोलते हैं। थोड़ी देर बाद जब बुद्धि आती है तब क्या बोलते हैं कि अरे, हमसे गलती हो गयी। अच्छा, किसीको भूतका आवेश आ जाता है कि अरे, मैं वह हूँ—हमने देखा है कि आदमी जब बकवास करने लगता है, आवेशमें बोलता है—मैं वह हूँ और मैंने उसको मारा, मैंने उसको गाली दी और मैं यह करूँगा और मैं इसको चूर-चूर कर दूँगा। 'मैं इसको चबा डालूँगी।' जैसे डाइन आ गयी है। अपने बच्चोंके बारेमें भी माँ बोलती है आवेशमें। आवेशमें होता है वह। दूसरा दूसरेके सिर पर चढ़कर बोलता है। भूतावेश। यह क्रोधावेश भी ऐसा ही है। कामावेश भी ऐसा ही होता है। विद्वान् लोग किसी प्रकारके आवेशको उचित नहीं मानते। क्योंकि वह तो नशेमें किया



हुआ धर्म हुआ न! नशेमें जो धर्म हुआ उससे संस्कार कहाँ उत्पन्न होगा? नशेमें शराब पी और पाँच रुपया किसीको दे आये। पाँच रुपया किसीको मिला, उसका भला हुआ यह बात दूसरी है। लेकिन भला करनेका जो संस्कार अपने अन्तःकरणमें उत्पन्न होता है वह उत्पन्न नहीं होता।

नशा वे पीकर धरे ध्यान।  
 ग्रही हो के कथें ज्ञान॥  
 यति हो के कूटें भंग।  
 कहे कबीर ये तीनों ठग॥

ये तीनों ठग हैं—नशेमें ध्यान नहीं होता। नशेमें दान नहीं होता। यह क्या है?

यावद्धेतुफलावेशस्तावद्धेतुफलोद्भवः ।

क्षीणे हेतुफलावेशं नास्ति हेतुफलोद्भवः॥

जयतक तुम मानते हो कि हम भूत हैं—यही आवेश है। आवेश है यह देह। मैं पापी हूँ—यह पाप मैंने किया है, तुमने अपने 'मैं' को कर्मके कन्धेपर बैठा दिया। अब श्मशान-यात्रा होगी—माने जहाँ-जहाँ कर्म जायेगा वहाँ-वहाँ तुमको जाना पड़ेगा। इसी प्रकार हड्डी-मांस-चामकी बनी हुई एक पालकी है। इसमें 'मैं' कर लिया तो जहाँ-जहाँ जायेगी, तुम जाओगे। यह बीमार पड़ेगा, तो तुम बीमार, यह बुढ़ा होगा तो तुम बुढ़े, यह मरेगा तो तुम मरे। बोलते हैं—फलावेश। हेत्वावेश और फलावेश। कर्मका आवेश—बोले कि ओरे, हमको तुम् क्या समझते हो? बोले कि हम नहीं जानते हैं, तुम जरा बता दो! हमने इतने अस्पताल बनवाये, स्कूल खोले, युनिवर्सिटी खोली, यह-यह कुँआ बनवाया, यह बावड़ी खुदवायी, ये-ये धर्म किये। तो यह हुआ कर्मावेश! पापका भी कर्मावेश होता है और पुण्यका भी। यह स्वाभाविक नहीं है।

यह देहमें कि मैं मोटा हूँ, मैं दुबला हूँ। हम किसी स्कूलमें पहुँच जायँ तो बच्चे हँसते हैं—मास्टर चाहे कितना भी उनको डाँटें, धमकायें, पर बच्चे हमारे मोटापेको देखकर मुँह दबाकर, मुँह फेरकर हँसते हैं। आपसमें इशारा कर लेते हैं, संकेत कर लेते हैं। हमें कई बच्चे बतलाते हैं—यहाँके भी और बाहरके भी। हमने अपने पढ़ानेवाले टीचर-प्रोफेसरका क्या इशारा बना लिया है—नाम रख लेते हैं उनका और आपसमें हँसते हैं। दुबलोंके लिए भी इशारा होता है—यह सींकिया पहलवान है। किसीको बोलते हैं—यह अफीमची है। किसीके लिए बोलते हैं—



लो। हाथी आ गया—ऐसे! यह क्या है देहावेश। अपनेको हड्डी मांस चामकें पृतलेंपर बैठा देना और उसका चलना, उसका बोलना, उसका फिरना, उसकी जवानी, उसका बुढ़ापा, उसका ज़रना, उसका मरना अपनेमें ले लेना। तो, जैसे एक भूत दूसरे आदमीपर चढ़ता है वैसे ही तुम स्वयं ब्रह्म होकर और देहावेशमें आगये और स्वयं तुम निष्क्रिय होकर कर्मविशमें आगये कि हम पापी और हम पुण्यात्मा और फिर सुखावेश-दुःखावेश आगया, रागावेश-द्वेषावेश आगया, ये सब आवेश हैं।

जबतक तुम अपनेको अपरिच्छिन्न समझोगे नहीं, परिच्छिन्नतासे विमुख, संकीर्ण-बन्धनसे अपनेको छुड़ाओगे नहीं—किसी भी खण्ड, किसी भी अपरिच्छिन्न वस्तुमें मैं जोड़ना और उसके कर्म उसके धर्मको, उसकी अवस्थाको, उसके स्वभावको अपना मानना यह हुआ आवेश। जबतक हेतु और फलमें माने धर्माधर्ममें और शरीरमें आवेश है तबतक नये-नये कर्म होते रहेंगे। नये-नये शरीर पैदा होते रहेंगे। और अभिनिवेशको हटाया—बना रहे शरीर और होते रहें कर्म!

**क्षीणे हेतुफलावेशे नास्ति हेतु फलोद्भवः।**

जहाँ तुमने अपनेको कर्म और कर्तासे जुदा किया, अपनेको साक्षी अधिष्ठान ब्रह्मके रूपमें जाना, अपनेको जहाँ अपरिच्छिन्न जाना, हेतु और फलका आवेश जहाँ उतरा, बस काम बन गया! देखो जब आदमी आवेशमें रहता है तो कहते हैं कि ठहरो भाई यह आदमी अभी पागल हो गया है। जब इनका पागलपन उतरेगा तब इनसे बात करेंगे। पागलके साथ ज्यादा बात करनेवाला भी पागल है।

‘क्षीणे हेतुफलावेशे’—जब यह आवेश क्षीण हो जाय—मैं परिच्छिन्न शरीर नहीं हूँ, न स्थूल, न सूक्ष्म, न कारण। भला, कुछ मैं पापी-पुण्यात्मा-कर्ता नहीं हूँ। मैं सुख-दुःखका भोक्ता नहीं हूँ। मैं रागी-द्वेषी नहीं हूँ। ‘मैं’ मैं हूँ। मैं हूँ उज्ज्वल-शुद्ध-निर्मल—जहाँ यहपना परिच्छिन्नके साथ जुड़ा हुआ है, यह कहा कि फिर न तो शरीरकी उत्पत्ति है, न तो धर्माधर्मकी उत्पत्ति है। नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त है। अविद्याके कारण हेतु और फलकी उत्पत्ति मालूम पड़ती है। उनके साथ तादात्म्य होता है। अविद्या माने अपने स्वरूपको न जानना। अविद्या माने कोई चीज नहीं, कोई लम्बी-चौड़ी एक-फुट, दो फुटकी नहीं; अविद्या माने एक मिनट, दो मिनट नहीं—उम्र भी नहीं, अविद्या माने कोई लाल-पीली रंगकी नहीं—अविद्या न लाल,

न पीली—द्रव्य नहीं है अविद्या। है न! अविद्याका जन्म ही नहीं मालूम। वह नित्य जवान है, वह मरती तो है—तत्त्वज्ञान होनेसे मर जाती है लेकिन अपनी उम्र कभी बता नहीं सकती। उसको मरना मंजूर है लेकिन उम्र बतलाना मंजूर नहीं। अनादि है न! एक दिन हमने कहीं पढ़ा कि अमेरिकामें कोई स्त्री प्रेसिडेण्ट नहीं होती। क्यों नहीं होती? क्या मना है वहाँके कानूनमें? कि नहीं कानूनन मना नहीं है—वहाँ यह है कि पैंतीस वर्षकी उम्रके बादका व्यक्ति प्रेसीडेण्ट हो सकता है। तो कोई स्त्री वहाँ अपनेको पैंतीस वर्षकी स्वीकार ही नहीं करती। अविद्या अपनी उम्र नहीं बतलाती कि मैं कबसे हूँ, लेकिन मर जाती है। तो यह जो हम अपनेको पापी मानकर रोते हैं, पुण्यात्मा मानकर अभिमान करते हैं, अपनेको जवान, बुद्धि, मरनेवाला मानते हैं, जन्मनेवाला मानते हैं—यह आवेश है। अन्यके धर्मको हमने अपनेमें स्वीकार कर लिया। वह है ब्राह्मण और चाण्डालकी आत्मासे एक हो गया। अब अपनेको अस्सी वर्षका मानने लग गया। असलमें यह चतुर्थ प्रकरण है। इसमें तुरीयतत्त्वका निरूपण है। मूल उपनिषद्में इसका वर्णन है। उससे इस प्रपञ्चोपशमका, शान्तका, अद्वैतका, तुरीयका अत्यन्त सुन्दर निदर्शन है।

संवृत्या जायते सर्वं शाश्वतं नास्ति तेन वै।

सद्भावेन ह्यजं सर्वमुच्छेदस्तेन नास्ति वै ॥ 57 ॥

धर्मा य इति जायन्ते जायन्ते ते न तत्त्वतः।

जन्म मायोपमं तेषां सा च माया न विद्यते ॥ 58 ॥

यथा मायामयाद्वीजान्नायते तन्मयोऽङ्कुरः।

नासौ नित्यो न चोच्छेदी तद्बद्धर्मेषु योजना ॥ 59 ॥

नाजेषु सर्वधर्मेषु शाश्वताशाश्वताभिधा।

यत्र वर्णा न वर्तन्ते विवेकस्तत्र नोच्यते ॥ 60 ॥

यथा स्वप्ने द्वयाभासं चित्तं चलति मायया।

तथा जाग्रद्वयाभासं चित्तं चलति मायया ॥ 61 ॥

अद्वयं च द्वयाभासं चित्तं स्वप्ने न संशयः।

अद्वयं च द्वयाभासं तथा जाग्रन्न संशयः ॥ 62 ॥

स्वप्नदृक्प्रचरन्स्वप्ने दिक्षु वै दशसु स्थितान्।

अण्डजान्स्वेदजान्त्वापि जीवान्पश्यति यान्सदा ॥ 63 ॥

स्वप्नदृक्चित्तदृश्यास्ते न विद्यन्ते ततः पृथक्।

तथा तद्दृश्यमेवेदं स्वप्नदृक्चित्तमिष्यते ॥ 64 ॥



हेतु और फल माने जिस कारणसे शरीर उत्पन्न होता है। वह कारण है धर्म और अधर्म। शरीर है फल। तो तत्त्वदृष्टिसे ये दोनों न अनादि सिद्ध होते हैं, न आदि सिद्ध होते हैं, न परस्पर एक दूसरेके कारण सिद्ध होते हैं, न इनकी परम्परा सिद्ध होती है! स्वप्नमें भी जो शरीर दिखलायी पड़ता है उसके किसी कारणकी कल्पना करो तो धर्माधर्मकी सिद्धि हो जायगी। उस शरीरसे जो धर्माधर्म होते हैं उससे आगेके शरीरकी भी सिद्धि हो जायेगी। दोनों अनादि भी सिद्ध हो सकते हैं। दोनों आदि भी सिद्ध हो सकते हैं। दोनोंकी परम्परा भी सिद्ध हो सकती है। जागकर उनपर विचार किया जाय तो वहाँ न कारण है, न कार्य है, न हेतु है न फल है, न अनादि है न आदि है। तो पहले तत्त्वदृष्टिसे इसका निरूपण कर चुके हैं कि जो जगत्का मूलतत्त्व है, जो अधिष्ठान है, जो स्वयंप्रकाश, अविनाशी, परिपूर्ण, अद्वय, प्रत्यक्चैतन्य है उसमें तो न धर्माधर्म है और न शरीर है।

अब दुबारा यहाँ यह प्रसङ्ग क्यों लाया गया? एक बात जब तत्त्वकी दृष्टिसे कह दी गयी, तब लोग तत्त्वके बारेमें यह ख्याल बना लेते हैं कि तत्त्व ऐसा है। तत्त्व धर्माधर्मसे रहित है, अकर्ता है, अकारण है, तत्त्व अकार्य है, तत्त्व काल-परिच्छेदसे शून्य अविनाशी है, देश-परिच्छेदसे शून्य परिपूर्ण है, विषय परिच्छेदसे शून्य अद्वय है। यह सब बात तत्त्वके विषयमें मालूम पड़ गयी। फिर भी वह रहता है परोक्ष ही। पंचदशीमें यह प्रश्न एक जगह उठाया कि 'तत् कीदृक्'—वह तत्त्व कैसा है? तदृक् बतलाते हो वैसा है—तो सादृश्य है। तो वह परोक्ष हुआ। बोले ईदृक् है—ऐसा है। बोले—ऐसा है बतलायेंगे तो दृश्य होगा। आँखसे दृश्य होनेका सवाल नहीं है। बुद्धिसे दृश्य होगा? वह भी उतना सवाल नहीं है, सवाल तो यह साक्षीभास्यसे होगा—जिसको कहेंगे कि ऐसा है वह यदि जाग्रत्के समान हो तो ईदृक् है, स्वप्नके समान हो तो ईदृक्—सुषुप्तिके समान हो तो ईदृक् है। ईदृक् माने ऐसा और ऐसा जो हुआ वह तो इदंताक्रान्त हुआ। और इदंताक्रान्त हुआ तो साक्षीभास्य हो गया। प्रमेय हो गया। भास्य हो गया। प्रकाश्य हो गया। दृश्य हो गया। और वैसा कहें तो परोक्ष हो गया। तो पंचदशीकारने उसके लिए क्या भाषा निकाली जिसको ईदृक् भी न कह सकें और तादृक् भी न कह सकें। जो तादृक्ता माने परोक्ष और ईदृक्ता माने प्रत्यक्ष-दृश्य। दृश्य और अदृश्य दोनोंसे विलक्षण। प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनोंसे विलक्षण—उस साक्षात् अपरोक्ष अपने आपको ही तत्त्व कहते हैं। तो वह कौन है जिसको धर्माधर्म नहीं लगते। वह कौन है जिसको



शरीर नहीं लगता। बोले—वह है एक तत्त्व, एक ब्रह्म। गोंडपादजी इस रूपमें तत्त्वका निरूपण पहले कर चुके हैं।

वहाँ तत्त्वके साथ धर्माधर्म और शरीरका सम्बन्ध नहीं है। यह वर्णन कर चुके हैं। यहाँ अब यह वर्णन करना है कि—प्रत्यगात्माके साथ धर्माधर्म और शरीरका सम्बन्ध नहीं है। अर्थात् जो तत्त्वका वर्णन पहले किया गया है वह तत्त्व कोई अन्य नहीं है। अपने आत्माका स्वरूप है। तो कोई भी चाहता है कि हम कर्म बन्धनसे और देह-बन्धनसे मुक्ति प्राप्त करें। उसीको तो मुमुक्षु चाहते हैं। मुमुक्षु किसको बोलते हैं, देखो जब पापका ख्याल होता है कि हमने पाप किया तब ग्लानि होती है। विपाद होता है और अपने आपमें हीनताका भाव आता है। आदमी दब जाता है और जब पुण्यका भाव आता है, कर्तृत्व आता है कि हमने यह अच्छा काम किया, तब दूसरे लोग अपनेसे छोटे मालूम पड़ने लग जाते हैं। हम बड़े हो जाते हैं। दूसरेको छोटा समझना और अपनेको बड़ा-समझना—यह भी हीनताका भाव है। दूसरेको बड़ा समझना और अपनेको छोटा समझना यह भी हीनताका भाव है। तो ये दोनों बातें कैसे होती हैं कि यह कर्मके सम्बन्धसे, पुण्यके सम्बन्धसे, पुण्यापुण्यके सम्बन्धसे, धर्माधर्मके सम्बन्धसे आती हैं—हमने यह बुरा किया और हमने यह भला किया। हमने भला किया—इसमें अभिमान और हमने बुरा किया इसमें ग्लानि। दिनभरमें लोग कई बार इसी चक्करमें रहते हैं। चींटीको आटा डाल दिया तो बोले—हमारे बराबर और कोई नहीं और एक खटमल मर गया तो बड़ा भारी विषाद हो गया, ग्लानि हो गयी। हाय-हाय यह क्यों मर गया? मुँहका जायका ही बिगड़ गया। तो, यह जो छोटे-छोटे कर्मसे अपनेमें अभिमान और छोटे-छोटे कर्मसे अपनेमें ग्लानि आती है।

यह आत्मतत्त्वकी दृष्टिसे कर्म कैसे हैं कि जैसे सपनेमें कोई कर्म हो जाय वैसे ही हैं। तत्त्व दृष्टिसे यह शरीर कैसा है कि जैसे सपनेमें कोई शरीर मिलता है ऐसा ही है। तो यह शरीर न अपना असली मैं है और न इसके द्वारा किया हुआ कर्म अपना कर्म है। लेकिन सुख-दुःख तो अपनेको ही भोगने पड़ते हैं! जबतक कर्मके साथ सम्बन्ध है तभीतक सुख-दुःखके साथ सम्बन्ध है। ये परस्पर प्रतिद्वन्दी सुख-दुःख हैं सुखाकार वृत्ति, दुखाकार वृत्ति—अहं सुखी ऐसा अभिमान, अहं दुःखी ऐसा अभिमान—यह तो जब सुषुप्तिमें नहीं रहते हैं तब विश्राम मिलता है। इसलिए यदि शरीरमें कोई रोग हो जाय और डाक्टर चाहे कि



इस रोगीको आराम मिले तो उसको क्या करना पड़ता है कि यह सुखीपने और दुःखीपनेकी जो वृत्ति है इसको औपधके द्वारा शान्त कर देना पड़ता है। चाहे वह गोली खिलाकर शान्त करे, चाहे इन्जेक्शन लगाकर। चाहे नीड आनेका कोई ऑग उपाय करे, परन्तु अहं सुखी, अहं दुःखी इत्याकारक वृत्तिको शान्त करके ही वह रोगीको विश्राम दे सकता है। सुपुतिमें न मैं देह हूँ यह भान है, न मैं पापी-पुण्यात्मा हूँ—यह भान है और न मैं सुखी-दुःखी हूँ यह भान है। चाहे कृत्रिम मूर्च्छा हो और चाहे स्वाभाविक, चाहे औपधिमूलक सुपुति हो और चाहे स्वाभाविक। जबतक यह वृत्तियोंका जो उठाव है यह शान्त नहीं होगा तब तक विश्राम नहीं मिलेगा। परन्तु, वह बात तो सुपुतिसे होगी या मूर्च्छासे होगी या दवासे होगी या समाधिसे होगी। एवं मन्त्रजन्य सिद्धि होती है। औपधि-जन्य सिद्धि होती है। तपजन्य सिद्धि होती है। समाधिजन्य सिद्धि होती है। किसीमें जन्मसे ही यह विशेषता होती है। यह मत समझना कि सब दवासे ही होता है, या सब करनेसे भी होता है।

वेदान्त यह कह रहा है कि न तो तुम्हें मूर्च्छित होना पड़े, न सोना पड़े, न दवाका सेवन करना पड़े, हम नींदमें कर्म और शरीरसे तुम्हारा सम्बन्ध छुड़ाना नहीं चाहते। हम यह चाहते हैं कि तुम जाग्रत् अवस्थामें ही अपने शरीरसे और कर्मसे सम्बन्ध तोड़ लो और जो कर्ममूलक ग्लानि और अभिमान है उसको छोड़ दो। पापमूलक ग्लानि और पुण्य-मूलक अभिमान है, किसी-किसीको पाप-मूलक अभिमान भी होता है। बातमें केवल शब्दोंमें नहीं फँसना चाहिए। डाकू जब बहुत बड़ा डाका डालता है और बहुत लोगोंके बीचमें-से माल लूटकर ले आता है, चोर जब बहुत उलझावदार जगहमें-से तिजोरी तोड़कर कहीं तहखानेमें घुसकर माल ले आता है तब उसको बड़ा गर्व होता है कि मैंने बड़ा भारी काम किया। हिंसक लोग जब सैकड़ों आदमियोंको मार डालते हैं तो उनको भी अभिमान होता है। दुष्कर्मसे चाहे ग्लानि हो चाहे अभिमान, कोई पुण्य करके अभिमान करते हैं और किसीको पुण्य करके भी ग्लानि होती है।

पुण्यसे ग्लानि किसको होगी? कि सुनो! एक योगी थे। वे एकान्तमें रहकर प्राणायामका, धारणाका, ध्यानका अभ्यास करते थे। अपने चित्तको समाधिमें ले जाना चाहते थे। एक दिन उनके मनमें वासना उठी कि हम दान करें। बाजारमें जाकर बैठ गये और गरीबोंको दें। थोड़ी देर बाद उनको यह ख्याल हुआ कि हाय-हाय, मैं समाधि छोड़कर कहाँ दान करने आ गया? यह विक्षेपमें मैं कहाँ



आ गया? तो ग्लानि हो गयी। वे सिर पकड़कर बैठ गये। पाप करनेपर जैसे आदमीको दुःख होता है वैसा दुःख उनको दान करनेपर होने लगा। एक सदाचारी व्यक्ति हो और वह चायनाके आवेशमें भोग प्राप्त कर ले तो पीछे उसको ग्लानि होगी। और एक चायनावान प्राणी हो और वह कभी उपस्थित कोई भोग छोड़ दे तो चादमें उसको दुःख होगा। तो इस संसारमें ये सुख-दुःख जो हैं—इनका नियम नहीं है।

वेदान्तकी शिक्षा है इस बारेमें कि चाहे पाप-पुण्य दोनोंमें-से किसीके कारण ग्लानि हो, अभिमान हो—दोनों तुम्हारे चित्तको, तुम्हारी नसको, तुम्हारे भीतर जो बहुत छोटे-छोटे कण हैं उनको गिरानेवाला ही है। तो यह देहमें मैं होना—देहमें माने—स्थूल शरीरमें 'मैं' होना, सूक्ष्म शरीरमें 'मैं' होना और ऐसा समझो कि दस खरब 'सेल' यदि हमारे मस्तिष्कमें हैं तो उनमें-से किसी भी एकमें 'मैं' होना—यह ग्लानिका और अभिमानका कारण बनता है! इसका वैज्ञानिक रूपसे अध्ययन हो रहा है, खोज की जा रही है। जैसे बीमा कम्पनीकी आफिसमें, बैंकके आफिसमें ऐसी मशीनें होती हैं जो अरबोंका, करोड़ोंका बड़ा उलझावदार गणित—बटन दवाने मात्रसे सारा हिसाब लगा देती हैं। ये हिसाब लगानेवाली मशीनें जैसे बनी हैं ऐसे ही समझो, यदि दस खरब सेल हैं अन्तःकरणमें तो दस लाख सेल ऐसे काम करते हैं इसका पता विज्ञानने लगा लिया है। अभी तो बहुत बाकी है पता लगानेके लिए। वैज्ञानिक लोग ऐसा उद्योग करते हैं और कहते हैं कि हम एक दिन यह खोपड़ीसे सटा हुआ जो सिर है न—इसमें कितने कण हैं, कितने जीवाणु हैं और वे शरीरमें रहकर क्या-क्या काम करते हैं और उनमें क्या-क्या विशेषताएँ हैं—इसका पता लगा लेंगे! और जब पता लगा लेंगे तब मनुष्यके मस्तिष्कका निर्माण करेंगे। मनुष्य जैसे अपनी समस्याओंका, सुखका, दुःखका, पापका, पुण्यका, भविष्यका, भूतका, राजनीतिक समस्याओंका, परिवारका जैसे समाधान करता है वह हम उस मस्तिष्कके द्वारा समाधान बिलकुल सही-सही कर सकेंगे। किस गलतीसे रोग होता है, किस गलतीसे आदमी पागल होता है, किस तरहसे गलत निर्णय करता है इन सबका हम सही-सही उत्तर मशीनसे—बौद्धिक समस्याओंका उत्तर हम यन्त्रके द्वारा निकालेंगे इतना बड़ा उनका उद्योग है। वेदान्त कहता है कि विज्ञानके द्वारा आगे जिन जीवाणुओंके निर्माणकी सम्भावना है और जो जीवाणु प्राकृत रूपसे निर्मित हुए हैं—हो रहे हैं क्षण-क्षण और आगे हो सकेंगे तो प्राकृत-



विज्ञानसे भी और मानव-विज्ञानसे भी वह जीवाणु हमारा 'मैं' नहीं है। हमारा जो आत्मा-चैतन्य है, वह उनसे बिलकुल अलग है। ये जीवाणु और जीवाणुओंके समूह-जिनमें कर्तृत्व और भोक्तृत्व रहता है जो एक-एक इकाईसे, परिच्छिन्नतासे, इकाइयोंके समूहसे जो भी संघटित होते हैं वह अपना आत्मा, अपना मैं नहीं है। जो जीवाणु चाहे प्रकृति रूप हेतुसे उत्पन्न हुए हैं या फल रूप हैं—इन फलोंमें जो क्रिया, प्रतिक्रिया, क्रिया होती हैं उनके द्वारा ये रूपान्तरित हो जायँ—ये किसी अवस्थासे रूपान्तरित होकर बने हैं और रूपान्तरित होकर किसी अवस्थामें जायेंगे, परन्तु न ये और न इनका समूह—न इनकी व्यष्टि और न इनकी समष्टि वह नहीं है। व्यष्टि माने बीजाणु—'अष्टि' कहते हैं बीजको और 'वि' कहते हैं विशेषको—विशेष बीजाणु। समष्टि माने संघीकृत बीजाणु। ये न हमारा 'मैं' है और न तो 'मेरा' है। हमारा जो स्वयं प्रकाश अधिष्ठान चैतन्य है वह अपना स्वरूप है। वह बिलकुल न्यारा है।

'यावद्धेतुफलावेशः'—जबतक तुम इन बीजाणुओंको 'मैं' समझोगे—एकको समझोगे और समष्टिको समझोगे और इनकी पूर्वावस्थाको मैं समझोगे और इनकी उत्तरावस्थाको मैं समझोगे तबतक—'संसारस्तावदायतः'—तबतक यह जन्म-मरणरूप संसार क्षीण नहीं होगा। लम्बा होता चला जायेगा। 'यावद्धेतुफलावेशः'—यह आवेश है। जैसे क्रोधका, कामका, लोभका, प्रेमका आवेश हो जाता है। जो चीजें टिकाऊ नहीं हैं—भाव-रूपसे आती-जाती हैं वैसे इस शरीरमें हमारा भावावेश हो गया है कि यह मैं हूँ, यह मेरा है। जबतक यह भावावेश रहेगा तबतक इसकी पूर्वावस्थामें मैं, इसकी उत्तरावस्थामें मैं, इसकी वर्तमान अवस्थामें मैं, इसकी क्रियामें मैं, इसकी प्रतिक्रियामें, इसकी विक्रियामें 'मैं' माने मैं सुखी, मैं दुःखी, मैं पापी, मैं पुण्यात्मा, मैं जन्मवाला, मैं मरणवाला, मैं छोटा, मैं बड़ा—यह अशान्ति बनी रहेगी।

जाग्रत्-अवस्थामें इन्जेक्शन लगाकर, दवा पिलाकर, शरीरपर कोई लेप करके शान्ति नहीं आयेगी। कोई दवा डाल देते हैं, तो उससे थोड़ी देरके लिए उस स्थानपर शून्यता आ जाती है। संवेदन नहीं होता है। कभी हाथ फेरकर 'हिप्रोटाइज' कर देते हैं। तो यह जो 'मेस्मराइज' से, दवा खानेसे, साँस रोकनेसे, आँख चढ़ानेसे, नस दबानेसे, अमुक-अमुक मानसिक क्रिया करनेसे आती है—ये सब-की-सब कृत्रिम शान्ति हैं। अपने स्वरूपके ज्ञानसे जो शान्ति है, वह जाग्रत् अवस्थामें—व्यवहार कालमें, युद्धमें बाण मारते हुए और बाण खाते हुए भी रहती



हैं। अर्जुनने गीता सुनकर समाधि थोड़े ही लगायी थी। वह भीष्मको, वह द्रोणको, वह अश्वत्थामाको—कोई गुरु हैं, कोई ब्राह्मण हैं, कोई भाई हैं—बाण-पर-बाण चलाता हैं। अर्जुनके दिमागमें—नसपर कहीं तनाव नहीं आता।

वेदान्तका सिद्धान्त यह है कि हमारे जीवनमें किसी प्रकारका आवेश न हो, जब हम अपने अनन्त-अनन्त माने इकाइयोंका समूह नहीं, अनन्त माने जिसमें इकाई खुदकी भी नहीं होती और दूसरी इकाइयोंका जोड़ भी नहीं होता। सर्व और अनन्त ये दोनों अलग-अलग हैं। सर्व माने एक-एक-एक यह सर्व जिसमें एक-एकका जन्म हुआ और जिसमें एक-एकका लय हुआ कि नहीं जन्म और लय भी वास्तविक नहीं हुआ, कल्पित हुआ और कल्पित नहीं हुआ प्रतीत होता है। वह वस्तु अपने आत्माका स्वरूप है। तो जहाँ-कर्म और शरीरकी पूर्वावस्था, वर्तमान अवस्था, उत्तरावस्था—इनके साथ जहाँ आत्माका आवेश है—इनमें-से अपने मेंको उठाकर मैं-में रख दिया तबतक यह मालूम पड़ता है कि मैं पापी, मैं पुण्यात्मा, मैं सुखी, मैं दुःखी, मैं ऊँच, मैं नीच, मैं दैत्य, मैं देवता।

**क्षीणे हेतुफलावेशे संसारं न प्रपद्यते।**

जहाँ अपने स्वरूपको जानकर ज्ञानमें गये, वहाँ कालके क्षण नहीं होते, ज्ञानको कालकी कलनासे—ज्ञानमें परिच्छिन्नता, अनेकता नहीं आती कि पहले क्षणका ज्ञान, दूसरे क्षणका ज्ञान, तीसरे क्षणका ज्ञान—ज्ञान क्षणिक नहीं होता; क्योंकि कालकी अनादि और अनन्त अधिष्ठानसे अभिन्न स्वरूपमें कालका जो क्षण है, वह तो कल्पनाके द्वारा ज्ञात है। कालमें जो विभाग है वह कल्पनाके द्वारा ज्ञात है—यह क्षण, यह मिनट—तो क्षणमें कल्पना नहीं होती, कल्पनाके द्वारा क्षणका ज्ञान होता है। इसलिए कल्पना क्षणिक नहीं है। क्षण ही कल्पनिक है! यह अनन्त कालके निरवयव कालमें। कालके जो संवत्सर, मास, पक्ष, ऋतु, अयन, मन्वन्तर, कल्प, दिन, रात, घंटा, क्षण, सेकेण्ड ये सब जो हैं ये निरवयव कालमें चित्तके द्वारा कल्पित हैं। इसी प्रकार अनन्त, निरवयव देशमें माने अधिष्ठानाभिन्न देशमें ये जो देशके पूरब, पश्चिम-उत्तर-दक्षिण-बाहर-भीतर आदि अवयव हैं, ये सब-के-सब चित्त-दृश्य हैं, ये सब-के-सब काल्पनिक हैं। देशमें कल्पना नहीं होती। देश ही कल्पनामें उदय होते हैं! तो कहनेका अभिप्राय यह है कि यह जो क्षणमें, यह जो कणमें, यह जो इंच-फुटमें, यह जो कर्ममें 'मैं-पना' और 'मेरापना' है—यह परिच्छिन्नके साथ मैं-का जो तादात्म्य है—मैंमें जो परिच्छिन्नपनेकी भ्रान्ति है, इस भ्रान्तिका कारण है अपनी अपरिच्छिन्नताका अज्ञान।



तो अज्ञानसे भ्रान्ति और भ्रान्तिसे हेतु और फलमें आवेश और आवेश होनेके कारण जिसमें हम आविष्ट हो गये हैं उसकी पूर्वावस्था उत्तरावस्थाके साथ मध्यन्ध जोड़कर अपनेको तद्गत अवस्थापन्न मानते हैं। जब हेतु और फलका आवेश क्षीण हो जाता है, तब संसारकी प्रपत्ति नहीं होती 'संसारं न प्रपद्यते।'।

संसार माने लोग समझते हैं दुकान, मकान-इनका नाम संसार नहीं होता। संसारका मतलब यह होता है कि यह जो हमारे चित्तका अव्यवस्थित प्रवाह है—अव्यवस्थित अथवा व्यवस्थित-चित्तका प्रवाहीपना है—उसमें सत्यत्वकी भ्रान्ति ही है। शंकराचार्य भगवान्ने कई जगह इसका उल्लेख किया—'कर्तृत्वभोक्तृत्व-लक्षणः संसारः।' हम संसार किसको कहते हैं कि अपनेमें पापीपना, पुण्यात्मपना, सुखीपना और दुःखीपना—इन चार प्रकारके अध्यारोप और इन चारोंके आरोपका कारण परिच्छिन्नपनेकी भ्रान्ति और परिच्छिन्नपनेकी भ्रान्तिका कारण अपने ब्रह्मस्वरूपका अज्ञान—यस, इसीका नाम संसार है। जो अपनेको ब्रह्म जानकर अज्ञानको मिटा देता है उसकी शेष पाँच बातें माने परिच्छिन्नमें हैं—पना, सुखीपना-दुःखीपना, और पापीपना और पुण्यात्मपना—परिच्छिन्नपना कट गया तो संसारीपना अपने आप ही कट गया—संसारीपना माने नरकमें जाना, स्वर्गमें जाना—ये सब—तो संसारकी प्रवृत्ति नहीं होती।

अब प्रश्न यह है कि जब आत्मा कूटस्थ है, अद्वितीय है तब फिर जन्म क्या और नाश क्या? जन्म और नाशका व्यवहार संसारमें कहते हैं कि अमुक आदमी पैदा हो गया और अमुक आदमी मर गया तो तत्त्वकी दृष्टिसे तो इसका कहीं व्यवहार होता ही नहीं—यह बात जब जन्म और मरणकी कही जाती है तब तात्त्विक दृष्टिसे नहीं कही जाती। हमेशा ही नहीं कही जाती। यह बात व्यक्ति दृष्टिसे कही जाती है। जैसे किसीकी नाक कट गयी, हाथ कट गया, पाँव कट गया। अब देखो कि तत्त्वदृष्टिसे नाक कट गयी कि व्यवहार-दृष्टिसे पंचभूतमें-से कुछ कटा क्या? तत्त्व तो मिट्टी है, पानी है, हवा है, आग है, आकाश है। ब्रह्म-तत्त्वको जाने दो, मोटा-मोटी जिसको तत्त्व बोलते हैं—आकृतिका नाम तत्त्व है क्या? नामके आकारका नाम तत्त्व है? हाथके आकारका नाम तत्त्व है, पाँवके आकारका नाम तत्त्व है? तो, इतनी मोटी नजरसे भी अगर देखें—घड़ा फूट गया तो घड़ा फूट गया यह जो व्यवहार है, यह तत्त्वके बारेमें है कि घड़ेके आकारके बारेमें है? तो घड़ेका तत्त्व तो माटी है और माटी तो टूटी नहीं, माटी तो फूटी नहीं, माटीका तो कुछ नुकसान हुआ नहीं। है न!



‘संवृत्या जायते सर्वम्’—देखो, व्यावहारिक दृष्टिसे जद्य देखें तो संवृतिका अर्थ है—संवरण करना—ढकना। जब किसी चीजको ढक देते हैं माने जब हम उसको बिल्कुल ठीक-ठीक नहीं देखते हैं तब जन्मका व्यवहार होता है। जब जन्मका व्यवहार होता है तब मृत्युका भी व्यवहार होता है। तो, अनन्तपर दृष्टि न होनेसे ही हम शान्तको देखते हैं और शान्तमें जन्म-मृत्युका व्यवहार होता है। ‘सद्भावेन ह्यजं सर्वं’ और जब तत्त्वपर दृष्टि जाती है तब देखते हैं कि कुछ उत्पन्न हुआ ही नहीं, सब अज है। ‘उच्छेदस्तेन नास्ति वै’—तब मृत्यु भी नहीं है। आत्माका न जन्म है और न मृत्यु है। ‘सद्भावेन’ और ‘संवृत्या’—संवरणकी दृष्टिसे देखें तो सब पैदा हो रहा है और सब मर रहा है। लौकिक व्यवहारकी दृष्टिसे ‘जायते सर्वं’—सब उत्पन्न होता है। ‘तेन शाश्वतं नास्ति’—सब पैदा होता है इसलिए सब नहीं है। कोई भी शाश्वत नहीं है। अविद्या विषयक लौकिक दृष्टिसे सभी चीज पैदा होती है और सब चीज पैदा होती है इसलिए कोई भी वस्तु शाश्वत नहीं है, अविनाशी नहीं है। यह लौकिक व्यवहार दृष्टि हुई और परमार्थ तत्त्वकी दृष्टि हुई कि कोई भी वस्तु उत्पन्न नहीं होती, इसलिए किसी भी वस्तुकी मृत्यु नहीं है, समुच्छेद नहीं है।

शुरू-शुरूकी बात है, मैं श्रीउड़ियाबाबाजी महाराजके पास आया था। थोड़े दिनोंके बाद भोले बाबाकी मृत्यु हुई। भोले बाबाजी बहुत मशहूर संत थे—गंगा किनारेके। ‘कल्याण’ निकला तब परमहंस विवेक मणिमाला नामका उपनिषद् सम्बन्धी उनका लेख कई वर्षतक लगातार हर अंकमें निकला। उसका नाम था—‘परमहंस विवेकमणि माला’—और भी कई वेदान्तके बड़े रोचक लेख छपे। उनके लिखनेका ढंग भी उत्तम था। उपनिषदोंका अभिप्राय सरलतासे समझा देते थे। गंगा-किनारे उनके बड़े भक्त थे। अच्छे ढंगसे रहते थे। हम लोग भी कभी-कभी उनका दर्शन कर आते थे। उनकी मृत्यु जब हुई तब मैंने श्रीउड़ियाबाबाजी महाराजसे पूछा कि महाराज, उनकी तो मुक्ति हो गयी? बाबा बोले, देखो बेटा! जो चीज मुक्त है वह तो भोले बाबामें भी मुक्त थी, तुममें भी मुक्त है, हममें भी मुक्त है, चिड़ियामें भी मुक्त है, चींटीमें भी मुक्त है। जो मुक्त है उसका तो बन्धन कभी हुआ ही नहीं। जो चीज बढ़ भासती है—मैं पापी, मैं पुण्यात्मा, मैं देह, मैं सुखी, मैं दुःखी—ये चीज उनकी भी मुक्त नहीं थी; तुम्हारी भी मुक्त नहीं है और चींटीकी भी मुक्त नहीं है। व्यवहारका जो विषय है वह तो परस्पर सापेक्ष है, आबद्ध है। यह अविद्या-मूलक,



भ्रान्तिमूलक, संवृत्ति-मूलक ऐन्द्रियक व्यवहार चल रहा है। इसमें तो देखो, पति-पत्नीसे बँधा हुआ है। माँ-बेटे बँधे हुए हैं। भाई-भाई बँधे हुए हैं। घरके साथ बँधे हुए हैं। बन्धन ही तो हैं सब। जातिके साथ, सम्प्रदायके साथ, परिवारके साथ, अपनी-अपनी धारणाके साथ जो बद्ध हैं सो तो बद्ध हैं। जो मुक्त हैं सो मुक्त हैं। अपनेको जिसने मुक्त जान लिया वह मुक्त और अपनेको जो बद्ध जानता है सो बद्ध। यह केवल मुक्ति और बन्धनका भेद केवल अपनी जानकारीके साथ सम्बन्ध रखता है। तुमने अपने आपको मुक्त जाना कि तुमने अपने आपको बद्ध? अष्टावक्र गीतामें एक ऐसा श्लोक है—

मुक्ताभिमानी मुक्तो हि बद्धो बद्धाभिमान्यपि।

किं वदन्तीह सत्येयं यः मति सा गतिर्भवेत्॥ 1.11

जिसको यह अभिमान है कि मैं बद्ध हूँ वह बद्ध है। किसके साथ बद्ध है? सेठ रुपयेके साथ बद्ध है, क्या सेठ और रुपयेके बीच कोई रस्सी है? बन्धनका अभिमान है? रुपया जहाँ खींचकर ले जाय। सात समुद्र पार भी। रुपयेमें कोई चुम्बकीय आकर्षण है? आकर्षण रुपयेमें नहीं है, पर सेठ उनके पीछे-पीछे सात समुद्र पार जाता है। ये प्रेमी-प्रियतम जो बनते हैं। एक दूसरेके पीछे-पीछे घूमते हैं। इनमें क्या कोई चुम्बकीय आकर्षण है? कि कोई रास्विक आकर्षण है। रस्सीका बन्धन? कोई शृंखला, कोई जंजीर लगी हुई है? हम अपनेको देहके साथ, कर्मके साथ बाँध लेते हैं। वासनाका यह बिलकुल मानसिक बन्धन है। भोगका मानसिक बन्धन है। स्वर्गमें और नरकमें पुनर्जन्ममें—गीधराजका भाई-बन्धु बनना पड़ता है। कभी क्षेमकरी-चीलका बन्धुत्व ग्रहण करना पड़ता है। कभी चींटीका। क्यों बनना पड़ता है? कि ये सब वासनाकी आकृतियाँ हैं। ये सात्त्विक आकृतियाँ नहीं हैं। ये सब-की-सब वासनाकी आकृतियाँ हैं। जहाँ अपनेको मैं-मेरा करके बैठा दोगे वहाँ तुम बँधे हुए हो। यह मैं-मेराका उत्थान ही बन्धन है। इसका निवारण तत्त्वज्ञानपूर्वक करना चाहिए। इसके निवारणका नाम ही मुक्ति है। क्या नित्य क्या अनित्य? परमार्थ दृष्टिसे केवल सत्य अविनाशी नित्य ही नित्य है। किसी वस्तुका समुच्छेद नहीं है क्योंकि ब्रह्मके अतिरिक्त, परमात्माके अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं। व्यावहारिक दृष्टिसे ऐसी कोई चीज नहीं है, जो मरती नहीं हो। व्यवहारमें सब जन्म और मृत्युसे ग्रस्त। परमार्थमें जन्म और मृत्यु बिलकुल नहीं हैं।

‘धर्मा य इति जायन्ते’—जिनके बारेमें ऐसा मालूम पड़ता है कि यह नया-नया पैदा हुआ है। ऐसा यह अपने अज्ञानकी अभिव्यंजना है। जब तुमने किसी चीजको नयी-नयी देखा तो यह नहीं कि वह चीज नयी हुई है, पहलेसे थी। यह जो धातुएँ होती हैं जिससे आणविक शक्ति बनायी जाती है। अब उनका नाम तो आपको हमसे ज्यादा मालूम होंगे? लोग बतलाते हैं कि अमुक वैज्ञानिकने इसको ढूँढ़ निकाला! वे पहलेसे थीं तब तो ढूँढ़ निकाला। उसने नया पैदा तो नहीं किया? ऐसा मालूम पड़ता है कि अमुक चीज नयी-नयी पैदा हुई तो हमको उसकी नयी जानकारी मिली, इस बातको प्रकट करनेके लिए कहते हैं। अणुबम बन गया, कहते हैं, अरे भाई, अणुबम बनानेकी शक्ति, बनानेको प्रक्रिया पहलेसे मौजूद थी, तुमको मालूम नहीं थी, अब मालूम पड़ गयी।

‘जायन्ते ते न तत्त्वतः’ दुनियामें कोई वस्तु, कोई जीव या कोई व्यक्ति पैदा हुआ-हुआ दीखता है। वस्तुतः पैदा नहीं होता। यह मालूम पड़ता है। यह चीज मर गयी, मिट गयी, वह मरती नहीं है, मिटती नहीं है। हमारी जानकारीके अन्दर थी वहाँसे वह हट गयी, लुप्त हो गयी। केवल जानकारीमें फर्क पड़ा। जानकारी और वस्तु तत्त्वतः दो नहीं हैं। जानकारीसे अभिन्न वस्तु ही प्रकट होती है। जानकारीसे अभिन्नका लोप है और जानकारीसे अभिन्नका ही जन्म। जानकारीके भीतर ही छिपी वस्तु जन्मती है। जानकारीके भीतर ही वस्तु छिप जाती है। तत्त्वतः यह नहीं है। तो फिर यह क्या है?

‘जन्ममायोपमं तेषां’ जैसे जादूके खेलमें मालूम पड़ता है कि कोई चीज पैदा हुई और कोई चीज मालूम पड़ती है कि यह नष्ट हुई, लेकिन जादूके खेलमें न कोई वस्तु पैदा होती है और न मिटती है। इसलिए वास्तविक न तो किसी वस्तुका जन्म है और न तो मृत्यु। माया माने अज्ञान। जिसको हम नहीं समझते। एक बार मैं कोलकतामें था तो एक बड़े समझदार, हट्टे-कट्टे व्यक्ति थे तो वे छह महीने विलायतमें रहते और छह महीना हिन्दुस्तानमें। एकने उनसे पूछा क्यों पसन्द करते हो? बोले, छह महीने हिन्दुस्तानमें हिन्दुस्तानकी तरह रहते हैं। छह महीने विलायतमें वहाँ नाचते हैं, गाते हैं, वहाँ उछलते हैं, कूदते हैं। जवानीका अनुभव करते हैं। सत्तर वर्षकी उम्रमें—छह महीने वहाँ जवानीका अनुभव करके लौटते हैं। यहाँ भी छह महीने उसका असर रहता है। यहाँ रहते हैं बिलकुल भारतीय रीतिसे। एक दिन उन्होंने पूछा स्वामीजी, ये चमत्कार क्या होते हैं? वे हमारी एक पत्रिकासे बहुत चिढ़े हुए थे। समझो साधुसे बहुत चिढ़े हुए थे। क्योंकि



उसके चमत्कारोंके विषयमें बहुत ख्याति थी। उससे वे चिढ़ते थे। बहुत समझदार और बड़े अनुभवी थे। बोले, चमत्कारकी बात बतला-बतलाकर लोगोंके दिमागको क्यों गिराते हो? यह है कोई वैज्ञानिक प्रक्रिया, यह है कोई प्राकृत नियम? जिसको तुम जानते हो, हम नहीं जानते। एक मनुष्य चिड़ियाकी तरह आकाशमें कैसे उड़ने लग जाय—इसका कोई प्राकृत नियम है। चिड़ियाके शरीरमें इच्छा-शक्ति जैसे उसके नस-नाड़ियोंपर, पंखोंपर काम करती है वह तुमको आगया। तुम जान गये—तुम अब भले ही आकाशमें उड़ जाओ लेकिन है प्राकृत नियम, है यह वैज्ञानिक नियम। चमत्कारका अर्थ केवल इतना ही है कि उसके प्राकृत नियमको, उसके वैज्ञानिक नियमको तुम जानते हो और व्यवहारमें ला सकते हो, इसको हम चमत्कार मानते हैं। हम नहीं जानते हैं, उसको व्यवहारमें नहीं ला सकते। हम जान जायँ तो हम भी उसको व्यवहारमें लायेंगे। इसलिए चमत्कार नामकी कोई चीज नहीं होती। यह केवल जानकारी और गैर जानकारीका ही सवाल है। यह माया है माया—इसका नाम है अज्ञान।

‘नीयते जगत् अनया तत्त्वं न नीयते’—जिससे जगत् मालूम पड़े और तत्त्वं न मालूम पड़े उसका नाम माया है। ‘सा च माया न विद्यते’—माया कहो तो माया भी एक वस्तु हो गयी। अविद्या शब्दका अर्थ भी दो तरहका है। जो विद्याके विरुद्ध हो उसका नाम अविद्या और ‘न विद्यते इति अविद्या’—जो अविद्यमान हो उसका नाम अविद्या। अविद्याके हाथ-पाँव नहीं होते। अविद्यामें लम्बाई-चौड़ाई नहीं होती। अविद्यामें रंग-रूप नहीं होता। अविद्याकी उम्र नहीं होती। अविद्याका स्थान नहीं होता। अविद्यामें वजन नहीं होता। वह भी अपने स्वरूपको जबतक तुम नहीं जानते हो तबतक अविद्या है। ‘नीयते जगदनया’—स्वामी रामतीर्थने इसका एक जगह अर्थ कर दिया—मा—या—‘मा’ माने नहीं, ‘या’ माने जो। तो, इसमें बात यह है कि व्यवहारकी दृष्टिसे तो है मालूम पड़ती है। जब ब्रह्मानुभूति हो जाती है तब नहीं। ‘सदसद्भ्यां अनिर्वचनीया’—यही सत्ता और असत्ताके द्वारा अनिर्वचनीय है।

‘यथा मायामयाद् बीजाद्’ जैसे मायामय बीजसे मायामय अंकुरकी उत्पत्ति होती है। वास्तविक अंकुर निकले तो समझना कि यह अंकुर कहींसे लाकर छिपाया हुआ था। अब दीख गया। पहलेसे था और अब दीख गया है—यही वास्तविक है। नहीं तो मायाका बीज खत्म हुआ और उसमें दिखनेवाला अंकुर भी खत्म!



‘नासौ नित्यो न चोच्छेदी’—यह मायामय अंकुर न नित्य है न इसका नाश होता है। यह तो था ही नहीं। बन्ध्या-पुत्र न पैदा हुआ न मरता है। संसारके जितने जन्मनाश आदि हैं—किसीका जन्म ही नहीं होता, नाश भी नहीं होता—तत्त्व-दृष्टिसे। व्यवहार दृष्टिसे जन्म-नाश ही उनका रूप है! व्यवहारमें ऐसी कोई चीज नहीं है जो जन्मे नहीं और मरे नहीं और परमार्थमें ऐसी कोई चीज नहीं है जो जन्मे और मरे। इसलिए व्यावहारिक संवृत्ति है यह, सांस्कृतिक व्यवहार है भ्रान्ति-मूलक व्यवहार है।

‘नाजेपु सर्वधर्मेषु’—सर्व धर्म अजन्मा है। संसार बन्ध्यापुत्रकी तरह अजन्मा है। परमार्थ—आत्मा अजन्मा है। इसमें क्या शाश्वत और क्या अशाश्वत? न आत्मामें नित्य-अनित्यका भेद है और न तो बन्ध्या-पुत्रमें नित्य-अनित्यका भेद है। यह कहना ही बेकार है कि कौन-सी वस्तु नित्य और कौन-सी वस्तु अनित्य, सब अपने स्वभावके अनुसार, स्वरूपके अनुसार—सारा ही वर्तन है। अरे बाबा, जहाँ शब्द ही नहीं है—‘न तत्र वाग् गच्छति’—वाणीकी गति नहीं है। ‘न विद्यः न विजानीमः’—वहाँ बुद्धिकी भी गति नहीं है।

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।

मन दूसरेके लिए है, अपने लिए मन थोड़े ही है। अपने लिए मन नहीं होता, मत तो दूसरेके लिए होता है। हम हैं कि नहीं, यह क्या ध्यान करके पता लगाया जाता है या दूसरेके बतलानेसे मालूम होता है? तो ‘वर्णन्ते अर्थाः’—जिससे अर्थोंका निरूपण हो उनका नाम वर्ण है। वे शब्द जिसका अभिधान, नाम नहीं रख सकते, जिसमें संकेत नहीं चल सकते। ‘इदं एवं’—यह वस्तु ऐसी है। एक महात्मासे जाकर किसीने कहा कि महाराज, ब्रह्मका स्वरूप बतलाइये! ‘अवचनेनैव प्रोवाच’। मैं एक बार कुम्भका मेला देखने गया, तो शहरके लोगोंके लिए तो बिलकुल विलक्षण चीज है—समझो, सन् 28-30 के लगभग। कितनी बार मैंने कुम्भका मेला देखा! हरिद्वार हमारे हर साल घूमनेकी जगह, प्रयाग हमारे पड़ौसमें। बहुत कुम्भ देखे हैं हमने। एक बार एक कुम्भमें—से लौटकर आया तो एक महात्मा थे, अविनाशीजी महाराज उनका नाम था। बोले—कहो! क्या देखकर आये? कोई चीज मिली वहाँ? क्यों गये थे? मैंने कहा कि तमाशा देखनेके लिए। हमारे एक मित्र थे, उन्होंने मुझसे कहा कि महात्माजी पूछ रहे हैं तो बतलाओ वहाँ क्या-क्या देखा? कैसे विरक्त देखे? कैसे महात्मा देखे? क्या-क्या अनुभव हुआ? मैं चुपचाप हँसने लगा। मैं तो नहीं बोला, महात्माजी बोले कि



देखो, बतला दिया इन्होंने। ये पहले चुप रहे तो उसका मतलब हुआ कि परब्रह्म परमात्माका जो स्वरूप है न—अवाङ्मनसगोचर ही है। यह परमात्मा ऐसा ही है। उसके बाद हँस दिये। सब आनन्द स्वरूप ही है। बोले कि तमाशा देखनेके लिए ही गया था। यह सृष्टिका नाटक ऐसा ही है। एक कुम्भमें जितनी भीड़ होती है उससे ज्यादा भीड़ मुम्बईमें रोज रहती है! यह सब स्वप्नवत् है। वह तो गाँवके लोग थोड़ी-थोड़ी भीड़ देखे हुए रहते हैं। उनको कुम्भकी भीड़ बहुत बड़ी मालूम देती है। हम लोग यदि जायें तो यह जरूर लगेगा कि मुम्बईकी सड़क बहुत अच्छी है और कुम्भमें धूल उड़ती है। यह मालूम पड़ेगा कि यहाँ जैसे मोटरके भोंपू, वहाँ लाउडस्पीकर—आपसमें टकराते हैं। कहनेका अभिप्राय क्या है कि यह जो हमलोग बोलते हैं—यह जो इन्द्रियोंसे, मनसे जो दुनियाकी चीजें देखते हैं उनके बारेमें इशारा बनाकर अ, ब, स—यह अमुक नम्बरकी चीज, दो नम्बरकी चीज, यह मनसे, इन्द्रियोंसे संसारमें देखकर बोलते हैं। अपना जो स्वरूप है। उसको देखनेके लिए इन्द्रियोंकी जरूरत नहीं है। उसको देखनेके लिए मनकी भी जरूरत नहीं है। उसको देखनेके लिए बहुत अक्ल लगानेकी भी जरूरत नहीं है। देश-काल-वस्तु जो भास रहे हैं, इनका जो अधिष्ठान और साक्षी अद्वय है—अपना आत्मा है। इसमें क्या नित्य, क्या अनित्य? शब्दका प्रयोग करके भला इसका क्या वर्णन किया जायेगा?

चरआगरिते जाग्रद्विषु वै दशसु स्थितान् ।

अण्डजान्स्वेदजान्वापि जीवान्पश्यति यान्सदा ॥ 65 ॥

जाग्रच्चित्तेक्षणीयास्ते न विद्यन्ते ततः पृथक् ।

तथा तद्दृश्यमेवेदं जाग्रतश्चित्तमिष्यते ॥ 66 ॥

उभे ह्यन्योन्यदृश्ये ते किं तदस्तीति नोच्यते ।

लक्षणाशून्यमुभयं तन्मतेनैव गृह्यते ॥ 67 ॥

यथा स्वप्नमयो जीवो जायते क्षियतेऽपि च ।

तथा जीवा अमी सर्वे भवन्ति न भवन्ति च ॥ 68 ॥

यथा मायामयो जीवो जायते क्षियतेऽपि च ।

तथा जीवा अमी सर्वे भवन्ति न भवन्ति च ॥ 69 ॥

यथा निर्मितको जीवो जायते क्षियतेऽपि वा ।

तथा जीवा अमी सर्वे भवन्ति न भवन्ति च ॥ 70 ॥

जहाँ-जहाँ श्रीशंकराचार्य भगवान्ने श्रीगौड़पादाचार्यका वचन उद्धृत किया

है वहाँ बड़े आदरके साथ नाम लिया है—‘यथाहुः सम्प्रदायविदः आचार्याः’—अद्वैत सम्प्रदायके जानकार आचार्य जैसा कहते हैं। गौड़पादाचार्यका नाम लिया इन्होंने।

‘नैष्कर्म्य सिद्धि’ में दो श्लोक सुरेश्वराचार्यजीने गौड़पादाचार्यके उद्धृत किये हैं। हमारे दोनों आचार्य हैं। एक गौड़ हैं, एक द्राविड़ हैं। गौड़ कौन हैं? गौड़पादाचार्य और द्राविड़ कौन हैं? शंकराचार्य। माने दक्षिण भारत और उत्तर भारतकी सम्मति है। इसमें गौड़, द्राविड़, दक्षिण-उत्तर भारतकी क्या बात है? वार्तिकमें चार श्लोक उद्धृत किये हैं। श्रीसुरेश्वराचार्यके कहनेका अभिप्राय यह है कि अद्वैत सम्प्रदायमें सचमुच श्रीगौड़-पादाचार्यजी महाराजका वही स्थान है जो शंकराचार्यके परमगुरुका होना चाहिए। यह व्याख्या श्रुति की है। तीसरेमें और दूसरेमें और पहलेमें तो कोई शंका ही नहीं कर सकता कि यह श्रुतिकी व्याख्या है कि नहीं, क्योंकि आगम प्रकरणकी तो सब कारिकाएँ मूल उपनिषद्के साथ मिली हुई हैं। वैतथ्य और अद्वैत प्रकरणमें बीसों जगह—‘इति वेदान्तनिश्चयः’ आदि आया है। अलातशान्ति प्रकरणके ये 100 श्लोक हैं। किस श्रुतिमें—से कौन—सा श्लोक निकलता है, यह समझने लायक है। चौथे प्रकरणमें तुरीय आत्माका निरूपण है। तो ‘नान्तः प्रज्ञं न वहिः प्रज्ञं नोभयतः प्रज्ञं’का वर्णन है। अब समझो कि वहाँ कह दिया—अनिर्देश्यं, अलक्षणं, अचिन्त्यं। तो यह अव्यपदेश शब्दसे जो बात कही गयी कि आत्मा कैसा? बोले, अव्यपदेश्य—अपदेश करके, संकेत करके, इशारा करके चेष्टा-प्रामाण्यसे—अंगुल्या निर्देश करके बतलाया है। यह आत्मा अव्यपदेश्य है। यह तो भेदका ही निर्देशक है न, उसके लिए कोई क्रियात्मक संकेत नहीं है। क्रिया दो तरहकी होती है। एक वाचिक—वाणीसे भी तो क्रिया ही होती है। क, ख, ग, घ आदि वर्णोंका उच्चारण होता है। यह क्रिया है। बोलना कर्म है। वागिन्द्रिय कर्मेन्द्रिय है। किसी वस्तुको बतलानेके लिए द्रव्यको बतलाते हैं—बोले—शब्दवाली वस्तु है आकाश, स्पर्शवाली वस्तु है वायु। किसीको बतलाते हैं कि यह राम है, यह श्याम है, यह मोहन है, यह सोहन है। अंगुल्यानिर्देश कर देते हैं और बोल देते हैं। अब आत्मदेवका कैसे निरूपण किया जाय? तो मूल उपनिषद्में आया कि ‘अव्यपदेश्यम्’—उसके लिए कोई इशारा नहीं है, क्योंकि जितने संकेत होते हैं, जितने इशारे होते हैं वे सब द्वैतमें होते हैं। तो ‘यत्र वर्णाः न वर्तन्ते विवेकस्तत्र नीयते’ यह ‘अव्यपदेश्यम्’की व्याख्या है। प्रत्येक श्लोकको श्रुत्यारूढ़ कर लो।



विवेक माने दो पदार्थोंमें जो एक दूसरेको अलग-अलग करनेके लिए बौद्धिक क्रिया है, उसका नाम विवेक है। 'विचिर पृथक् भावे विवेचनं विवेकः।' विचिर धातु पृथक् भावके अर्थमें है। एक दूसरेको अलग करना, यह विवेक है। जौ और चना, गेहूँ और चना एकमें मिल गये हों तो गेहूँ और चनेको अलग करना विवेक है। तिल और चावल एकमें मिल गये हों तो तिल और चावलको अलग-अलग करना—यह विवेक है। यहाँ परिच्छिन्नतामें अपरिच्छिन्नता घटी हुई है। परिच्छिन्नतासे विवेक करके अपरिच्छिन्नताको समझना। जिस मूल तत्त्वमें जड़ और चेतनका भेद ही नहीं है, वहाँ शब्द नहीं है, वहाँ वाग् इन्द्रिय नहीं, वहाँ घट-पटादि प्रत्यय नहीं, पदार्थ नहीं, शब्द नहीं, उसे व्यक्त करनेवाली इन्द्रिय नहीं, तो जो अखण्ड अद्वय वस्तु है उसका वर्णन कैसे किया जाय। 'विवेकस्तत्र नोच्यते'—वहाँ विवेकका निर्देश करनेकी कोई आवश्यकता नहीं। यह आत्मा है, यह अनात्मा है, यह शाश्वत है, यह अशाश्वत है—यह सब कैसे कहा जाय! इस परमार्थ तत्त्वकी अद्वयता बतलानेके लिए आगे स्वप्नका दृष्टान्त देकर समझाते हैं। पहले बतलाया कि जाग्रत्में जो वस्तु दीखती है वह स्वप्नके समान दीखती है। जैसे जाग्रत् अवस्थामें विचार करनेपर स्वप्नमें देखनेवाला व्यक्ति और देखा जानेवाला व्यक्ति दोनों जैसे चित्त-स्पन्दन ही हैं, इसी प्रकार जगत्में जो मालूम पड़ता है देखनेवाला और देखा जानेवाला यह ज्ञानका स्पन्दन ही है, अपना ज्ञान ही है। स्वरूपभूत ज्ञान है।

ये दस श्लोक करीब-करीब पहले आ चुके हैं वैतथ्य प्रकरणमें, अद्वैत प्रकरणमें। इसलिए कुछ बातें आपको सुनाते हैं। आजकल जो जड़वादी व्यक्ति यन्त्रसे परीक्षा करके और इन्द्रियोंसे परीक्षा करके जगत्को सिद्ध करते हैं, तो इसमें सारी बात यहाँ आकर अटक जाती है कि सत्तासे—सत्से चित्की उत्पत्ति हुई कि चित्से सत्की उत्पत्ति हुई! देखनेमें यह आता है कि जहाँ चित्के प्रयत्नके बिना सत्से किसी वस्तुकी उत्पत्ति होती है वहाँ विकार-रूप उत्पत्ति होती है। विक्रिया बोलते हैं उसको। विक्रियां माने घरमें रखा-रखा दूध सड़ गया या दही सड़ गयी—तो यह विक्रिया हुई। विकार हुआ उसमें। चैतन्यके प्रयत्नसे जो वस्तु बनायी जाती है उसमें क्रिया होती है, विक्रिया नहीं होती। क्रिया और विक्रियाका भेद समझ लें। क्रियामें धर्म और अधर्मकी उत्पत्ति होती है। विक्रियामें धर्म और अधर्मकी उत्पत्ति नहीं होती है। जब कोई काम किया जायेगा जानबूझकर, कर्तृत्व-पूर्वक चैतन्य जब कोई काम करेगा, क्रिया करेगा, तब उस क्रियासे पाप



या पुण्यकी उत्पत्ति होगी और जो स्वयं विक्रिया होती है, जो वस्तु स्वयं बदलती है—एक बीज अंकुर हो गया या एक अंकुर तना हो गया और तनेमें पत्ते निकल आये या फूल निकल आये या फल निकल आये, प्रकृतिमें जो स्वयं उत्पत्ति होती है, उसको विक्रिया बोलते हैं। और चैतन्य जिसको प्रयत्नपूर्वक करता है उसको क्रिया बोलते हैं। तो क्रियासे धर्माधर्मकी उत्पत्ति होती है और धर्माधर्मसे जो सृष्टि उत्पन्न होती है वह व्यवस्थित देखनेमें आती है; क्योंकि वह फलात्मक है। जैसा कर्म—धर्माधर्म—रूप कारण होगा वैसा ही उससे फल और वैसा ही उससे फलकी उत्पत्ति होगी। जगत्के मूलमें जब हम यन्त्रके द्वारा ढूँढ़ेंगे तो एक चैतन्यरहित जड़सत्ताकी उपलब्धि होगी। तो वह जड़सत्ता विकारको प्राप्त होकर प्रपञ्च बनी है।

इस प्रणालीमें बाह्य पदार्थसे विकार होकर यह सृष्टि बनी है। यहाँ तक कि जो चैतन्य है वह भी बाह्यार्थका विकार ही है। स्वयं जड़ता ही है। यह जैसे डाक्टर लोग, वैद्यलोग वैज्ञानिक लोग देखते हैं कि अमुक-अमुक रसायन मिला देनेसे अमुक प्रकारके जीवाणु प्रकट हो जाते हैं और वे क्रिया करने लगते हैं, इसी प्रकार अमुक-अमुक प्रकारके जड़-द्रव्योंके सम्मिश्रणसे यह चैतन्यकी उत्पत्ति हो गयी और यह चैतन्य जड़से उत्पन्न हुआ। 'भूत्वा भावी' पहले पैदा होकर फिर मालूम पड़ता है।

दूसरी प्रक्रिया है अपने स्वरूपका अनुसन्धान—यह अनुभवकी प्रणाली है। एक दृक् प्रणाली है और एक आनुभाविक प्रणाली है। प्रणाली दो प्रकार की है। यह जड़ है या जड़में भेद है? जड़में प्रकार है? यह वर्तमान कालमें चैतन्यसे उपलब्ध होता है। जड़तासे चैतन्यकी उपलब्धि होती है कि चैतन्यसे जड़ताकी उपलब्धि होती है? आप देखो फिर वही प्रश्न उठा। इदंसे अहंकी उत्पत्ति हुई कि अहंसे इदंकी उत्पत्ति हुई? यह प्रक्रियाको समझनेके लिए—इदं माने जड़। यह—'यह'से 'मैं'की उत्पत्ति हुई कि अहंसे, मैंसे 'यह'की उत्पत्ति हुई? चैतन्यवादियोंका यह दृढ़ निश्चय है कि उत्पत्ति तो किसीकी सिद्ध होती नहीं; परन्तु सबकी प्रतीति होती है चैतन्यसे। यही मौलिक मतभेद है। चैतन्यसे जड़ सत्ताकी प्रतीति होती है। यह अनुभवकी प्रणाली है। अहंसे इदंकी प्रतीति होती है, चैतन्यसे जड़की प्रतीति होती है। 'भात्वा भवति'—भानपूर्वक ही सब कुछ होता है। और जड़ताकी प्रणाली यह है कि—'भूत्वा भाती'—होकर भासता है। तीसरी प्रणाली आप जो सुन चुके हैं धर्माधर्म और शरीरकी। इस



बातको चित्तमें बैठा लें—होकर भासना और भासकर होना, इनमें पहले कौन ?

वैज्ञानिक लोग कहते हैं कि होकर भासता है और ज्ञानी लोग कहते हैं कि भासकर होता है। एकसे अनेक होना, यह विज्ञान है और अनेकका एकमें समावेश हो जाना—यह ज्ञान है। अच्छा, तीसरा मत इसके सम्बन्धमें यह है कि भान और भवन—होना और भासना—ये दोनों अनादि हैं। इनमें कौन पहले, कौन पीछे, नहीं बतला सकते। भानसे भवन, भवनसे भान, दोनों अनादि हैं। चौथी प्रणाली है, ये दोनों मिथ्या हैं—भासना भी मिथ्या है और होना भी मिथ्या है। क्योंकि ये दोनों सापेक्ष हैं। होनेके बिना भासनेकी और भासनेके बिना होनेकी—घड़ा हो तब भासे और भासे तब घड़ा है, ऐसा मालूम पड़े। तो ये दोनों परस्पर सापेक्ष होनेसे मिथ्या हैं।

वेदान्तकी प्रणाली श्रीगौड़पादाचार्यकी प्रणाली सुनाते हैं—जड़से चैतन्यकी उत्पत्ति नहीं होती है। चैतन्यकी उत्पत्ति सिद्ध किससे होगी, चैतन्यकी उत्पत्तिका कोई साक्षी है कि नहीं? यदि चैतन्यकी उत्पत्तिका कोई साक्षी है तो वह चैतन्य अनुत्पन्न है, उत्पन्न नहीं है। अच्छा, अब कहो कि चैतन्यसे जड़की उत्पत्ति हुई, तो जड़से जो जड़की उत्पत्ति होती है वह विक्रिया द्वारा होती है। चैतन्यसे जो जड़की उत्पत्ति होती है वह तो भानरूप होती है, प्रतीति-रूप होती है। प्रतीतिमें वस्तुतः किसीकी उत्पत्ति नहीं होती। जैसे बीजसे अंकुर निकला—तो बीज और अंकुर दोनों जड़ हैं। जड़से जड़की उत्पत्ति हुई मान लो तो ऐसे यदि चैतन्यसे किसी चीजकी उत्पत्ति हो तो उत्पन्न चैतन्यमें और उत्पादक चैतन्यमें कोई फर्क नहीं होगा। वह प्रतीति होगी, उत्पत्ति नहीं होगी।

वेदान्तका यह सिद्धान्त है कि होना और भासना—दोनों दो चीज नहीं हैं। अद्वय हैं, अद्वय! इसलिए यदि भानसे भवनकी उत्पत्ति हुई तो भान हुआ किसका? भवनसे उत्पत्ति हुई तो मालूम कैसे पड़ी? इसलिए भान और भवन दोनोंकी उत्पत्ति परस्पर नहीं हो सकते। दोनों नित्य हों तो जैसा सांख्य मानते हैं, जैन, वैशेषिक, न्याय, पूर्व-मीमांसक भी वैसा मानते हैं—जड़से चैतन्यकी उत्पत्ति। चार्वाक जड़-चैतन्य दोनोंको नित्य मानते हैं। चैतन्यसे जड़की उत्पत्ति मानते हैं। उपासक—हिन्दू उपासक, वैष्णव, शाक्त, सौर, मुसलमान, ईसाई सिक्ख—इनमें कोई अलग करनेकी जरूरत नहीं है—चैतन्यसे जड़की उत्पत्ति मानते हैं। वेदान्तमें उत्पत्ति नामकी कोई वस्तु सिद्ध नहीं होती। मृत्यु नामकी भी



कोई वस्तु सिद्ध नहीं होती। यह जो चैतन्य है यह अज, अद्वय, अचल, एकरस, अविनाशी, परिपूर्ण, अखण्ड-प्रत्यक् चैतन्य है। मौलिक भेद कहाँ हुआ? चैतन्यसे सृष्टि मानना, कि जड़से सृष्टि मानना! तो जड़से सृष्टिकी उत्पत्ति सिद्ध नहीं होती, जड़ ही सिद्ध नहीं होता। चैतन्यके बिना उत्पत्ति तो क्या जड़की ही सिद्धि नहीं होती। और चैतन्यसे यदि उत्पत्ति हो तो चैतन्यसे जड़की उत्पत्ति हुई कि चैतन्यसे, चेतनकी उत्पत्ति हुई। तो चैतन्यसे जड़की उत्पत्ति हुई तो उसको विवर्त बोलते हैं। चैतन्य परिणामी नहीं होता। चैतन्य तो परिणामका साक्षी होता है। इसलिए जिन लोगोंने चैतन्यसे सृष्टि मानी और सच्ची मानी सृष्टिको उनका मत अनुभवके विरुद्ध है। परिणामको—बदलनेको जो जाने सो चैतन्य। बदलनेको जो जाने सो चैतन्य जो बदले सो चैतन्य नहीं। परिवर्तनके साक्षीका नाम चैतन्य है। चैतन्यसे सृष्टि मानना और उसको परिणामी मानना—यह गलत है।

चैतन्यमें भी तो अंश होगा! चैतन्य सत्ता है। वह सत्ता अंशसे परिणामको प्राप्त होता है। चैतन्यरूपसे साक्षी रहता है। यह एक ही चीजके दो हिस्से कैसे हो गये? यह अखण्डमें खण्ड केवल प्रतीति है। चैतन्यको उपादान कारण माननेवालोंमें भी बड़े-बड़े मतभेद हैं।

देखो, श्रीरामानुजाचार्यजी महाराजका कहना ऐसा है कि जैसे आप कभी नील कमल देखें या लाल कमल देखें या पीला कमल देखें या श्वेत कमल देखें—कोई भी कमल हो, तो कमल एक वस्तु है और उसमें जो नीलिमा है, रक्तिमा है, पीतिमा है, श्वेतिमा है वह एक वस्तु है। तो चैतन्य-ब्रह्म कमलवत् है और यह सृष्टि उसमें कैसी है? नीलिमा आदि जैसे विशेषण हैं। ये विशेषण वैसे सृष्टि है। श्रीनिम्बार्काचार्यजी महाराज कहते हैं कि जैसे कमलके बीजमें एकत्व है, अंकुरदशामें वह बीज ही—बीजका विक्षेप ही कमल है। बीजमें—से शक्तिका विक्षेपण हुआ—विद्यमान शक्ति है—जो ऊपरको निकली, वह पंखुड़ी बन गयी, मंजरी बन गयी, कर्णिका बन गयी, रंग बन गयी—यह बीजमें निहित शक्तिका विक्षेप कमल है। इसलिए कारण-दशामें, बीज-दशामें अद्वैत और कार्य-दशामें मंजरी, कर्णिका, पंखुड़ी, रंग अलगाव, सुगन्ध ये सब अनेकत्व हैं। श्रीबल्लाभाचार्यजी महाराज कहते हैं—पंखुड़ी भी कमल है। मंजरी भी कमल है, पराग भी कमल है। उसमें पीतिमा आदि रंग भी कमल हैं। असलमें यह सब-का-सब नाम अलग-अलग होनेपर भी और आकृति अलग-अलग होनेपर भी सब-का-सब सब कमल ही है। श्रीमध्वाचार्यजी बोलते हैं कि उस कमलमें बैठा हुआ



जो ईश्वर है उस ईश्वरने पहलेसे ही विद्यमान उपादानसे उस कमलकी रचना की है। तो यह कमल भी अस्वतन्त्ररूपसे नित्य है और इसको बनानेवाला ईश्वर भी स्वतन्त्ररूपसे नित्य है। ईश्वर स्वतन्त्र है और कमल अस्वतन्त्र है, परतन्त्र है। इस दृष्टिसे दोनोंका द्वैत शाश्वत है। कमलको अपनेमें समेट लेना और अपनेमें इसका निर्माण कर देना—यह ईश्वरका काम है। यह आपको नमूनेके तौरपर बतलाया कि यह कमल कैसा?

वेदान्ती कहते हैं कि कमल स्वतः सिद्ध है कि प्रतीति सिद्ध है—यह बतलाओ! बोले—प्रतीति सिद्ध है। हम स्वप्नमें एक कमल देखते हैं—प्रतीति होती है कमलकी और जाग्रत्में एक कमल देखते हैं, प्रतीति होती है कमलकी, तो दोनोंमें क्या फर्क है? यहाँ घट-ज्ञान, पट-ज्ञानका व्यवहार होता है। घट-ज्ञान माने घड़ेका ज्ञान। घड़ीका और लाउडस्पीकरका ज्ञान मालूम पड़ता है तो दो ज्ञान हुआ? एक बार घड़ीका ज्ञान उदय हुआ और नष्ट हो गया, फिर एक बार लाउडस्पीकरके ज्ञानका उदय हुआ और नष्ट हो गया, यह बात नहीं है। ज्ञानके सामने एक बार घड़ी आयी और चली गयी और एक बार लाउडस्पीकर आया और चला गया। और रोशनी टॉर्चकी रोशनीकी तरह बिलकुल एक है, ज्ञान एक है। माने वस्तुके अलग-अलग होनेसे ज्ञान अलग-अलग नहीं होता।

एक झूठी चीज है और एक सच्ची चीज है। चीज सच्ची-झूठी हो सकती है। ज्ञान सच्चा-झूठा नहीं होता। ज्ञानका तो काम ही है—सच्चेको सच्चा और झूठेको झूठा बतलाना। ज्ञान एक है जैसे रोशनी एक है। उसीसे स्त्री भी दीख रही है और उसीसे पुरुष भी। स्त्री और पुरुषके अलग-अलग होनेसे क्या रोशनी अलग-अलग हो गयी? एक ही रोशनी है। अब यह हमारी आँखसे हमें कोई स्त्री दीख रही है कोई पुरुष, तो यह देखो कि दुनियामें कुछ सच होता है, कुछ झूठ होता है। कुछ दूर होता है कुछ निकट होता है। कुछ पहले दीखता है, कुछ पीछे दीखता है; परन्तु ज्ञान एक रहता है। ज्ञानमें न पहले, न पीछे। न दूर, न निकट। न घड़ा, न कपड़ा। इनका भेद ज्ञानमें नहीं होता। यथार्थ-अयथार्थका भेद भी ज्ञानका स्पर्श नहीं करता। कानसे शब्द सुनते हैं, आँखसे रूप देखते हैं। आँख और कानके अलग-अलग होनेसे ज्ञानमें अलगाव नहीं होता। जाग्रत्-स्वप्न सुषुप्तिके अलगाव होनेसे ज्ञानमें अलगाव नहीं होता। विक्षेप और समाधिके अलगाव होनेसे ज्ञानमें अलगाव नहीं होता। अन्तःकरण अलग-अलग होनेसे ज्ञानका अलगाव नहीं होता। धर्म और अधर्म अलग-अलग होनेसे भी ज्ञानका अलगाव नहीं होता।



यह ज्ञान कौन है ? कि यह ज्ञान अपना आपा है । यह ज्ञान ही आत्माका स्वरूप है । कोई-कोई कहते हैं कि जबतक शरीर रहे तबतक हम हैं, तो शरीर ही हम हैं । बोले—नहीं । अच्छा, जबतक साँस चलती है तबतक हम हैं ? पहले लोग नाकपर रुई लगाकर देखते थे कि साँस चल रही है कि नहीं ? न चले तो बोले मर गया । अब साँसको उतना प्रामाणिक नहीं मानते । डॉक्टर लोग साँस बन्द हो जानेपर भी यह देखते हैं कि धड़कनकी क्या दशा है ? धड़कन बन्द होनेपर फिर मालिश-वालिश करके देखते हैं कि इसमें चेतनाका संचार किया जा सकता है या नहीं ? असलमें देह 'मैं' है कि साँस 'मैं' है ? अपने-परायेको जानना 'मैं' है ? देखो, अपने-परायेको नहीं जानते हैं तब भी जिन्दा रहते हैं । चेतना शरीरमें रहते हुए ही अपने-परायेकी पहचान छूट जाती है । तो अपना-पराया पहचाननेवाली जो चेतना है सो 'मैं' नहीं हूँ—भला !

तब 'मैं' क्या है ? मैं एक ऐसी चीज है जिसमें विषयके भेदसे, झूठा या सच्चा होनेसे, दूर-निकट होनेसे, पहले-पीछे होनेसे ज्ञानपर कोई असर नहीं पड़ता । इन्द्रियोंके अलग-अलग होनेसे ज्ञानपर कोई असर नहीं पड़ता ; अन्तःकरणके अलग-अलग होनेपर भी ज्ञानपर कोई असर नहीं पड़ता । समाधि और विक्षेप लगानेसे भी ज्ञानपर कोई असर नहीं पड़ता । यह जो ज्ञान-स्वरूप है यह कल कुछ, आज कुछ और परसों कुछ, ऐसा नहीं । आज-कल-परसोंका भेद होनेपर भी ज्ञान ज्यों-का-त्यों और यहाँ कुछ वहाँ कुछ—ऐसा ज्ञान नहीं, यहाँ भी वही और वहाँ भी वही और घड़ेका भी वही कपड़ेका भी वही, समाधिका भी वही, विक्षेपका भी वही, विद्याकी सिद्धि करनेवाला भी वही और अविद्याकी सिद्धि करनेवाला भी वही ! तो स्वयंसिद्ध, स्वयंप्रकाश है । दूसरा हो कि नहीं इस अपेक्षासे रहित—निरपेक्ष चेतन ज्ञान है । उसमें यह सृष्टि नहीं है ! परमार्थ दृष्टिसे देखें, तो ज्ञान-विज्ञान अद्वय है ।

यह जाग्रत् सृष्टि जो मालूम पड़ती है सो क्या है ? तो बोले कि यह अपना आत्मा ही है । बोले, अरे सब अलग-अलग दीखता है और अपना आत्मा बोलते हो ? यह ज्ञान अद्भुत है । अद्वय है, यह कितना श्रेष्ठ सन्देश है कि हम पुण्यात्मा होनेपर भी पुण्यात्मा नहीं होते ! माने पुण्यात्मापनेका अभिमान हमारे अन्दर नहीं है । कितने पुण्यात्मापन स्वप्नमें भासते हैं और निकल जाते हैं । अभिमानके लिए कहीं कोई गुंजाइश हुई ? यह अभिमानरहित चेतन हुआ और यह कितना अद्भुत, दिव्य सन्देश है कि कर्म चाहे अच्छा हो, चाहे बुरा, हम कर्ता नहीं हैं । कितना



स्वातन्त्र्य है हमारे अन्दर! यह दिव्य सन्देश आत्माके लिए, हमारे लिए, अपने लिए वेदान्तको छोड़कर कौन दे सकता है! कर्मजन्य ग्लानि और कर्मजन्य अभिमान, कर्मजन्य नरक और कर्मजन्य स्वर्ग; कर्मजन्य सुख और दुःख इनके साथ हमारा कोई सम्बन्ध नहीं है। कर्म और फलका सम्बन्ध कल्पित है। कर्म और उसका फल स्वप्नवत् प्रतीतिमात्र है। आत्मा अद्वय और अखण्ड है। इस शरीरके जन्म-मरणसे वह जन्मता-मरता नहीं। सम्बन्धियोंके विछोहसे यह विछुड़ता नहीं। अन्धा होनेसे ज्ञान अन्धा नहीं होता। गूँगा होनेसे ज्ञान गूँगा नहीं होता। बहरा होनेसे ज्ञान बहरा नहीं होता। साँस बन्द हो जानेसे ज्ञानकी साँस बन्द नहीं होती। दिलकी धड़कन दिलकी फुरफुराहट बन्द हो जानेसे ज्ञानकी फुरफुराहट बन्द नहीं होती। यह कितना दिव्य सन्देश मनुष्यके लिए है कि जो मैं-मैं करके मर रहा है, उसको परमात्मा बतानेवाला है।

‘यथा स्वप्ने द्रव्याभासं’ स्वप्नमें जो द्रैतका आभास होता है, बोले—दस आदमी हैं और आपसमें बातचीत कर रहे हैं। सब बोलनेवाले हैं कि नहीं? सबके वाणी है और सब एक दूसरेकी बात समझ रहे हैं। सब अन्तःकरणवाले हैं। सब अपनेको सुखी-दुःखी, पापी-पुण्यात्मा माननेवाले हैं! एकने स्वप्नमें गोवध किया, वह हाथमें भिक्षा-पात्र लेकर गाँव-गाँव घूम रहा है कि हमने गाय मारी है, पाप लगा है, तुम हमें इस पापसे मुक्त करो, मैं अपने आपको जाहिर करता हूँ, तुमसे क्षमा माँग रहा हूँ। दूसरा कहता है कि भाई, गलती सबसे हो जाती है, तुमसे भी हुई, पर अब तो तुम पछता रहे हो, पश्चात्ताप कर रहे हो, तुम्हारा यह पाप निवृत्त हो जायेगा। देखो, वह स्वप्नमें—‘द्रव्याभास’ एक पापी मालूम पड़ा और एक क्षमाशील। दोनों कौन हैं?

‘चित्तं चलति मायया’—चित्तका ही यह चलन है—मैं पापी हूँ—गोवध करके और मैं क्षमाशील हूँ—आश्वासन देकर, ये दोनों रूप किसने ग्रहण किया? चित्तने। यह चित्त कहाँसे आया? ‘न जायते चित्तं’—चित्तकी तो उत्पत्ति होती नहीं। चित्त तो है ही नहीं; वह तो दृश्य सापेक्ष ज्ञान है। ज्ञान सापेक्ष ब्रह्म है। उसको दृश्य बोलते हैं। ज्ञान-सापेक्ष-ब्रह्मको दृश्य बोलते हैं। दृश्य-सापेक्ष-ब्रह्मको चित्त बोलते हैं। तो ब्रह्म ही है। ब्रह्ममें जो सापेक्षता है इसीका नाम प्रपञ्च है। तो इसी प्रकार जाग्रत्में भी जो यह द्रव्याभास है—यह स्त्री, यह पुरुष और यह साधु और यह गृहस्थ यह सब ब्रह्म ही है।

पहाड़की गुफाकी उपाधिसे बैठा हुआ ब्रह्म जुदा है और सीमेण्टके



मकानकी उपाधिसे बैठा हुआ ब्रह्म जुदा है, लाल कपड़ेकी उपाधिसे बैठा हुआ ब्रह्म जुदा और सफेद कपड़ेकी उपाधिसे बैठा हुआ ब्रह्म जुदा; गोरे शरीरमें ब्रह्म जुदा और काले शरीरमें ब्रह्म जुदा! यह झूठी उपाधियोंकी कल्पना करके और इस उपाधि भेदको ब्रह्ममें आरोपित करना जैसे मिथ्या है, इसी प्रकार यह जो जाग्रत् और स्वप्नके भेद हैं—‘यथा जाग्रत् द्वयाभासम्’—इसकी व्याख्या पहले हो चुकी है। जाग्रत्में जो चित्त है वह चित्त ही द्वयाभास होकर ‘मायया चलति’ माया शब्दका अर्थ यह है कि जब हमको चित्त, प्रपञ्च दीखता है तब इसके अज्ञात कारणकी जो कल्पना ब्रह्ममें की जाती है उसका नाम माया है। अधिष्ठानका ज्ञान जब हो जाता है तब यह प्रपञ्च अधिष्ठानसे जुदा है ही नहीं। न कभी पैदा हुआ न कभी मरता है। इसके कारणकी, कल्पनाकी आवश्यकता नहीं रहती। ज्ञात ब्रह्म निर्माय है और अज्ञात ब्रह्म समाय है। प्रत्यक् चैतन्य रूपसे जो ज्ञात ब्रह्म है उसमें माया नहीं है। ब्रह्म-ही-ब्रह्म है। प्रत्यक्-चैतन्य रूपसे अज्ञात ब्रह्ममें जाग्रत्के कारण रूपसे मायाकी कल्पना की हुई है। जाग्रत् और स्वप्न दोनोंका कारण चित्त और परब्रह्म परमात्मामें चित्त कहाँ? जबतक तुमको जाग्रत् और स्वप्न अलग-अलग निश्चय होते हैं कि अलग-अलग हो सकते हैं तबतक इनके कारण रूपसे माया कल्पित है। अन्यथा ब्रह्ममें माया कहाँसे आयी?

जैसे स्वप्न देखनेवाला शरीर पलंगपर लेटा हुआ है। जब पिछला युद्ध हो रहा था तब मैंने एक दिन सपना देखा। सो रहा था गोरखपुरमें। सपना देखा कि इटलीमें जो युद्ध हो रहा है। हवाई-जहाजसे मैं वहाँ घूम रहा हूँ—युद्ध-भूमिके ऊपर। एक दिन स्वप्नमें बैकुण्ठ पहुँच गया। एक दिन स्वप्नमें देखा गोलोकमें पहुँच गया हूँ। एक दिन देखा स्वप्नमें कि राधा-कृष्ण नृत्य कर रहे हैं। प्रेममय नृत्य! कठपुतली अगर नाचती हुई आप देखें तो क्या मालूम पड़ेगा? यह जड़में आकृति बनायी गयी है और वह नाच रही है। सपनेमें आकृतियोंको नाचते देखें तो कैसा मालूम पड़ेगा? जाग्रत्में आकृतियोंको नाचते देखें तो कैसा मालूम पड़ेगा? एक दिन मालूम पड़ा स्वप्नमें कि हम गोलोकमें हैं और राधा-कृष्ण और गोपीजन नृत्य कर रहे हैं—आपसमें प्रेम कर रहे हैं, मुस्कुरा रहे हैं, हँस रहे हैं, खेल रहे हैं—तो यह स्वप्न देखनेवाला एक और शरीरधारी बन जाता है और स्वप्नमें कभी अमेरिका जाता है, कभी रूस जाता है, कभी दिल्ली जाता है, कभी मद्रास जाता है, कभी पड़ोसीके घर जाता है, कभी अपने ही घरमें दुनिया बना लेता है। वहाँ भी यह पूरब, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण बना लेता है। दसों दिशाएँ मालूम



पड़ती हैं। वहाँ भी चिड़िया उड़ती दीखती हैं। सपनेमें अण्डज—अण्डेसे पैदा, स्वेदज—पसीनेसे पैदा खटमल, जुएँ आदि होते हैं कि नहीं! जरायुज—पशु-चतुष्पाद पशु और द्विपाद मनुष्य—ये होते हैं कि नहीं! उद्भिज्ज—जो धरतीको छेदकर निकलते हैं—वे दिखलायी पड़ते हैं कि नहीं? सपनेमें सब दिखलायी पड़ते हैं।

‘स्वप्नद्रष्टृदृश्यास्ते’—स्वप्नद्रष्टाके चित्तसे वे सब-के-सब दीख रहे हैं। स्वप्नद्रष्टाके चित्तसे अलग नहीं हैं। जैसे चित्तसे अलग स्वप्नका दृश्य नहीं है वैसे ही चित्त भी द्रष्टासे अलग नहीं हैं। दृष्टि द्रष्टासे अलग नहीं है।

यह दृश्य-प्रपञ्च दृष्टिसे अलग नहीं है और दृष्टि द्रष्टासे पृथक् नहीं है। द्रष्टासे बिलकुल चिन्मात्र ही है। चिन्मात्र भी क्यों कहते हैं? जड़तासे अलग बतलानेके लिए। चिन्मात्र बोलते हैं। जड़ और चेतनमें परमार्थतः कोई भेद नहीं है। यही तो एक अद्भुत लीला है। जो पहुँचे हुए वेदान्ती हैं उनको छोड़कर दूसरे लोग इस बातको नहीं समझते। उसका कारण यह है कि जो लोग जड़ मानते हैं, वे मानते हैं कि एक जड़ नियत रूपसे, व्यवस्थित रूपसे—जैसे आमकी परम्परा में आम, गंधेकी परम्परा में गंधा, मनुष्यकी परम्परा में मनुष्य होते हैं। वे मानते हैं कार्य-कारणकी व्यवस्थाको स्वीकार करके इस जगत्की प्रतीति हो रही है। वहाँ जड़ सत्ता में व्यवस्थित स्वयं भवनका सामर्थ्य मानना है। जड़को स्वयंभू माना। हमारी भाषा में—स्वयंभू=स्वयं जो सत्ता थी, उसका नाम वे प्रकृति रखते हैं। जड़ रखते हैं, प्रधान रखते हैं, जड़द्वैत रखते हैं। वे कहते हैं कि वह स्वयं व्यवस्थित रूपसे जगत्के रूपमें आता है। तो जड़ सत्ता में स्वयं भवनका सामर्थ्य मानना और व्यवस्थित रूपसे उसमें परिणाम मानना। उसे बुद्धिपूर्वक न मानना—यह जड़वादकी असंगति है! अगर जड़से सृष्टि होती है तो उसके मूलमें सर्वज्ञ चेतन जरूर विद्यमान है।

ये चैतन्य सृष्टि मानते हैं लेकिन कहते हैं कि चैतन्य जड़ नहीं है, क्योंकि चैतन्य जड़का साक्षी है। चिन्मात्रको निष्क्रिय मानना यह जड़ताकी मूलावस्था है। असलमें चिन्मात्र निष्क्रिय होनेसे सन्मात्र ही है। और सन्मात्र वह स्वयं भवन सामर्थ्यवाला होनेसे चिन्मात्र ही है। असलमें चिन्मात्रकी स्वयंप्रकाशताका नाम स्वयं भवन है। सत्के स्वयं भवनका नाम स्वयं प्रकाशता है। सत् चित् दोनों एक होनेसे सद्रूपसे सत्त्वमें निष्क्रियताका आरोप है और चित् रूप से सत् स्वयं भवनका आरोप है। चित्के होनेके कारण वह स्वयंभू है। सत् होनेके कारण वह



निष्क्रिय है। सत्तामें निष्क्रियता और चित्तमें स्वयं भवन। इन दोनोंको मिलाकर उसे सच्चिदानन्द कहते हैं। यह सृष्टिकी प्रक्रिया समझानेके लिए है, वास्तविक नहीं है।

‘तथा तद् दृश्यमेवेदं’—असलमें यह उस स्वप्नद्रष्टाका ही दृश्य है—जैसे स्वप्नद्रष्टाकी दृष्टिमें समूचा स्वप्न है। जैसे दृष्टि द्रष्टासे जुदा नहीं है और द्रष्टा दृग्मात्र है। वैसे ही यह सम्पूर्ण जाग्रत् चित्त दृश्य है। चित्त चित्त-द्रष्टामें कभी उत्पन्न ही नहीं हुआ। द्रष्टा दृग्मात्र है। उसमें न देश है न काल। न वस्तु है, न जातीय-विजातीय, न स्वगत। उसीको दृष्टान्त देकर बतलाते हैं—

‘चरञ्जागरिते जाग्रद्विक्षु’—जैसे सपनेमें एक आदमी यात्रा करता है—रेलगाड़ीसे। यात्रा करके वृन्दावन जाता है। वृन्दावन-आनन्ददायक है। जमुनाजीकी शीतल-मन्द-सुगन्ध वायु, वह विशाल पुलिन, वह कदम्ब, वह लता, वह मन्दिर—हम कहाँ पहुँच गये कि वृन्दावन। जाग्रद्-अवस्थामें वहाँ जाकर देखा कि यह पूरब दिशा है, यह पश्चिम दिशा है, यह उत्तर दिशा है, यह दक्षिण दिशा है, यह ऊपर है, यह नीचे है, यह कोने और वहाँ भी अण्डजा चींटी बहुत हैं, मच्छर बहुत हैं—कोई जाय तो मच्छरदानी लेकर। नहीं तो रातभर भजन करायेंगे, सोने नहीं देंगे। ‘जागरिते’—धन-धन वृन्दावनके मच्छर! धन्य-धन्य क्यों? वे साधुको सोने नहीं देते—कहते हैं—उठो, बेटा! भजन करो। तुम वृन्दावनमें आकर सो रहे हो।

‘जाग्रच्चित्तेक्षणीयास्ते’—ये सब जितने अण्डज हैं, स्वेदज हैं, जितने जरायुज हैं—ये सब-के-सब दिखलायी पड़ते हैं—पेड़ भी, पौधे भी, मच्छर भी, खटमल भी, जुएँ भी, पशु भी, पक्षी भी, मनुष्य भी सब दिखलायी पड़ते हैं; परन्तु वह चित्तके द्वारा दीखते हैं। जैसे स्वप्नमें दीखनेवाली चीजें चित्तसे पृथक् नहीं होतीं वैसे ही जाग्रत्में भी चित्तसे दीखनेवाली चीजें चित्तसे पृथक् नहीं होतीं। देखो हमारा चित्त कितना बड़ा है! एक दिन हमने देखा कि एक हमारा मित्र और एक दुश्मनी करनेवाला, दोनोंमें आपसमें विवाद हुआ, शास्त्रार्थ हुआ और फिर दोनोंमें लड़ाई हो गयी—शास्त्रार्थके बाद शस्त्रार्थ हो गया। अब काशीमें हमने कितनी बार देखा था कि वहाँ नाग-पञ्चमीके दिन शास्त्रार्थ करते-करते उठकर खड़े हो जाते हैं, एक दूसरेका हाथ पकड़ लेते हैं, संस्कृतमें गाली देने लग जाते हैं! गाली भी देते हैं संस्कृतमें! संस्कृतमें एक बातकी बड़ी सुविधा है—एक बार कह देंगे—



‘प्राज्ञतां आकरोषि’—आप इस तरहसे अपनी प्राज्ञताका आविष्कार कर रहे हैं—प्रकर्षणेन यह अर्थ भी इसका होगा और आप बड़े अप्रज्ञावान् हैं—यह अर्थ भी होता है। आप ज्ञानवत्ता दीखा रहे हैं और बोले—आप अपनी मूर्खता दीखा रहे हैं। दोनों ही अर्थ उसका होता है। ऐसे ही शब्द बोलेंगे जैसे—प्राज्ञता। एक बड़े पण्डितकी बात है—नाम तो उनका नहीं लेना है, बड़े पण्डित थे और अब उनका शरीर पूरा हो गया। दो पक्ष हो गया, एक पक्षके लोग गये और उनसे कहा कि गुरुजी! आप हमारे कागजपर दस्तखत नहीं करोगे तो हमारा पक्ष कौन मानेगा? बोले—लाओ, हम उसपर हस्ताक्षर कर देते हैं, हस्ताक्षर करनेमें क्या लगता है? लिख दिया उसपर—‘इदं परमसत्यम्।’ दूसरा पक्ष आया—गुरुजी केवल आप उन्हींके गुरुजी थोड़े ही हैं, हमारे भी हैं। उसपर भी लिख दिया—‘इदं परमसत्यम्! अब मुकदमा गया अदालतमें। पंडितजी बुलवाये गये। दोनोंपर हस्ताक्षर थे। इतने बड़े विद्वान्! बोले—मैंने परमसत्यं परम सत्यम् नहीं लिखा है। कि तब क्या लिखा है? बोले—‘परम् असत्यम्।’ ‘परम सत्य’की जगह ‘परम् असत्य’ कर दिया। ‘अण्डजान्स्वेदजान्’ यहाँ जो दिखलायी पड़ता है। अब दुश्मन-दुश्मन लड़ रहे हैं—अच्छा, कौन है दुश्मन? हमने देखा—विलायतमें एक बहुत बड़े विद्वान् थे। उनका ख्याल था कि हम सर्वज्ञ ही हैं। एक दिन उन्होंने सपनेमें देखा कि कोई प्रतिपक्षी विद्वान् आया, शास्त्रार्थ हुआ—विवाद हुआ और वे हार गये। हारनेके बाद वे जग गये, बड़े दुःखी हुए। हाय-हाय, मैं सपनेमें किसीसे हार गया। यह बात सच्ची है। फिर ख्याल आया कि अब वृन्दावन देखो, वे लड़ते हुए हमारे दोस्त-दुश्मन देखो, लड़ते हुए हमारे प्रतिपक्षीको देखो—वे कौन हैं? हमारा चित्त ही तो है। जो शत्रु बना, मित्र बना, वृन्दावन बना, जो लड़ाई हुई, दुःख हुआ। अब जब ख्याल आया उनको तो बोले वह तो हमारा मन ही था। दूसरा कोई नहीं। यह जो सृष्टिमें हमको शत्रु, मित्र, भले-बुरे, धर्म-अधर्म मालूम पड़ते हैं—इसमें निष्ठा करके एक जगह बैठो, एक व्यवस्थासे चलो। यह तो सामाजिक पद्धति है, सम्प्रदायकी पद्धति है, धर्मकी पद्धति है—उस निष्ठाको नहीं उड़ाते हैं। सबकी अपनी-अपनी निष्ठा है, सबका अपना-अपना स्वप्न है। अपना-अपना चित्त है। अपना-अपना सम्प्रदाय है, अपनी-अपनी रहनी है। वह तो तुम्हारा ही चित्त है, तुम्हीं सबके रूपमें रह रहे हो।

एक महात्मासे एक बार किसीने जाकर कहा कि अमुक आदमी आपकी निन्दा करता है। महात्मा बोले—अरे, वह तो मैं ही हूँ रे, तू पहचानता नहीं—ऐसे।

बोले—महाराज, आप खुद ही अपनी निन्दा करते हैं ? तब जिज्ञासुसे कहते थे कि शरीरमें मांस है, हड्डी है, विष्टा है, मूत्र है—हम अपनी ही तो निन्दा करते थे न ! अब भी अपनी निन्दा करते हैं । क्योंकि हमारे पास भीड़-भाड़ न हो, इसलिए हम ही उस शरीरमें बैठकर इस शरीरकी निन्दा करते हैं । बोले—महाराज, आपकी वे बड़ी प्रशंसा करते हैं ! बोले, अरे, वह मैं ही हूँ । अपने मुँहसे अपनी प्रशंसा ? 'मैं अपनी प्रशंसा नहीं करूँगा तो दूसरा मुझे क्या जानेगा ।' मैं ही अपनी प्रशंसा करता हूँ और मैं ही अपनी निन्दा करता हूँ । मैं ही कभी भर्मात्माके रूपमें विख्यात होता हूँ, मैं ही कभी अधर्मीके रूपमें विख्यात होता हूँ; मैं ही यशस्वी और मैं ही अयशस्वी । तो—

‘जाग्रच्चित्तेक्षणीयास्ते’—यह सारी जाग्रत् अवस्था जाग्रत् चित्तके द्वारा देखी जाती है । यह जाग्रत् चित्तसे पृथक् नहीं है । यह स्वप्नद्रष्टा ही इस चित्तको देख रहा है । इसलिए स्वप्नद्रष्टासे भिन्न, दृष्टमात्रसे भिन्न, अपने स्वरूपसे भिन्न कोई भी वस्तु नहीं है ।

न कश्चिज्जायते जीवः संभवोऽस्य न विद्यते ।

एतत्तदुत्तमं सत्यं यत्र किञ्चिन्न जायते ॥ 71 ॥

चित्तस्पन्दितमेवेदं ब्राह्मणकवद्वयम् ।

चित्तं निर्विषयं नित्यमसङ्गं तेन कीर्तितम् ॥ 72 ॥

योऽस्ति कल्पितसंवृत्या परमार्थेन नास्त्यसौ ।

परतन्त्राभिसंवृत्या स्यान्नास्ति परमार्थतः ॥ 73 ॥

अजः कल्पितसंवृत्या परमार्थेन नाप्यजः ।

परतन्त्राभिनिष्पत्त्या संवृत्या जायते तु सः ॥ 74 ॥

यह निरूपण किया कि जाग्रत् अवस्थामें कार्य-कारण जन्म-संहार आदि दिखते हैं वे दृश्य स्वप्नके जीवोंके समान हैं । सत्य यह है कि कोई जीव जन्मता नहीं ।

जीवोंके शरीर और इन शरीरोंके उपादान तथा इनसे अलग-अलग जीव मालूम पड़ते हैं । जाग्रत्-अवस्थाके आकारमें परिणत चित्तसे जुदा नहीं हैं । इसलिए कि चित्तसे ही दिखलायी पड़ते हैं । इसमें दृष्टान्त क्या है कि जैसे स्वप्न-द्रष्टा स्वप्न-दशामें अपने चित्तसे जीवोंके शरीर भी देखता है, उनके उपादान पंचभूत आदि भी देखता है और उनमें अलग-अलग मनुष्य, पशु-पक्षीके शरीरमें जीव हैं—ऐसा भी देखता है, परन्तु जैसे—स्वप्नावस्थामें न स्वप्नद्रष्टाके चित्तसे जुदा



कोई शरीर है, न उनका उपादान है, न उनमें जीव है, ठीक उसी प्रकार यह जाग्रत्-अवस्थामें भी द्रष्टाकी दृष्टिसे पृथक् और कुछ नहीं है। अब, वह चित्त जिससे स्वप्नावस्था दीखती है, जाग्रतावस्था दीखती है—वह द्रष्टा आत्मासे जुदा नहीं है। क्योंकि वह भी द्रष्टाका दृश्य है। जैसे स्वप्नका चित्त स्वप्नद्रष्टासे जुदा नहीं है वैसे ही-जाग्रत्का चित्त भी जाग्रत् द्रष्टासे जुदा नहीं। स्वप्नद्रष्टा और जाग्रत्-द्रष्टा तो एक ही हैं। क्योंकि जिस 'मैं' ने सपना देखा वही 'मैं' जाग्रत् देख रहा हूँ। द्रष्टाकी दृष्टिका ही नाम चित्त है। स्वप्न भी एक दृष्टि है, जाग्रत् भी एक दृष्टि है। दृष्टिसे पृथक् न जीव हैं, न उनके शरीर हैं। न उनके उपादान हैं, न वहाँ कोई माया, अविद्या, प्रकृति या अन्य कुछ है। केवल दृष्टमात्र वस्तु ही सत्य है।

अब बतलाते हैं कि—

'उभे ह्यन्योन्यदृश्ये ते'—सपनेमें जैसे एक घड़ी हम देखते हैं, मेज, कुर्सी, चश्मा देखते हैं वहाँ वह चश्मा, घड़ी, मेज चित्तसे जुदा है क्या? चित्त ही तो उन-उन रूपोंमें दिखलायी पड़ रहा है? यह अपना मन बड़ी गड़बड़ी मचाता है। प्रीति हो तो सब अनुकूल दीखता है। द्वेष हो तो सब प्रतिकूल दीखता है। एकबार मैं बलिया गया था—बलिया उत्तर-प्रदेशके पूर्वमें है और मैं तो बहुत परिश्रम करके गया था और वहाँ कोई उत्सव है यह बात मुझे मालूम नहीं थी। मैं था, मेरे साथ स्वामी प्रबोधानन्दजी थे—हमारे मित्र हैं। बहुत पढ़े-लिखे हैं। डबल एम० ए० हैं। मौन रहते हैं, बीस-तीस वर्षसे। उन्होंने भी शंकराचार्यजीसे ही दीक्षा ली है। हम दोनों बलिया गये। दोनों दण्डी। जिनके यहाँ हमें जाना था वे उत्सवमें बैठे थे। तो हमने कहा कि जब हम आये ही हैं इनसे मिलने तब हम लोग अलग बैठें और उनको अपने पास बुलावें इसकी अपेक्षा हम उत्सवमें ही चले चलें। हम उत्सवमें पहुँच गये। अब उत्सवमें हमारे लिए ऊँचा आसन हो गया। बड़ा स्वागत-सत्कार हुआ। खूब पधारे! व्याख्यान देनेको उन लोगोंने कहा तब व्याख्यान भी दे दिया। अब दूसरे दिन उनके घरमें ठहरे तो घरमें व्याख्यान देने लगे। अब शहरका झुकाव हमारी तरफ हो गया। इससे उत्सवके लोग ऐसे नाराज हुए और बोले कि ये तो हमारा उत्सव बिगाड़ने आये हैं। पहले दिन गये तो बड़े खुश। बोले—उत्सव बनानेके लिए आये हैं। अब उन्होंने न हमको बुलाया था, न हमें निमन्त्रण भेजा था। दूसरे दिन अपने आप हम नहीं गये, जानेका कोई कारण नहीं था। फिर भी वे बोले कि ये हमारा उत्सव बिगाड़नेके लिए आये हैं। भरी सभामें उन्होंने यह कह भी दिया कि देखो, हजारों आदमी उधर चले गये। इधर हमारे आदमी कम हो



गये। हमारा उत्सव घट गया। दूसरे दिन हमारे पास यह खबर आयी तब मैंने कहा—अच्छा चलो अब बिना बुलाये ही चलते हैं। जाकर सबके साथ उनकी सभामें बैठ गये। उनका उत्सव सम्पन्न हो गया। यह अपना मन बड़ी गड़बड़ी करता है।

बिहारीजीका दर्शन होता है वृन्दावनमें। बड़ी दिव्य झाँकी होती है। बड़ा दिव्य दर्शन होता है। पर्दा हटाते हैं, फिर लगाते हैं, फिर हटाते हैं। एक दिन एक आदमी गया तो बिहारीजीका भोग आगया, पर्दा गिर गया, पट बन्द हो गया। अब वह बिगड़ा—मैं आया बिहारीजीका दर्शन करने और इन्होंने पट बन्द कर लिया। जाओ हम दर्शन करने आयेंगे ही नहीं, लौट गया। अब बिहारीजी बेचारे, आप जानते ही हैं जैसे हैं। किसीसे द्वेष करके अपना पट बन्द तो किया नहीं। वे तो निष्क्रिय हैं, निर्गुण-मूर्ति हैं। निर्विकार—न राग, न द्वेष। अब दूसरा आदमी गया, उसने देखा पट बन्द है। तो बोला—आ-हा! आज ठाकुरजी रात भर जगे होंगे, बड़ा परिश्रम किया होगा, थक गये होंगे, इनको भोजन करके सोना बहुत जरूरी होगा! इन्होंने हमको अपना समझा, पट बन्द कर लिया। हम तो कल भी मिल लेंगे। बहुत बढ़िया! हम बैठेंगे और जब इनको सुविधा होगी, जब आराम होगा तब हम मिल लेंगे। अब एक आदमी बिहारीजीपर नाराज और एक आदमी बिहारीजीपर खुश। बन्द हुआ पट। दुनियामें जो अच्छाई, बुराई, राग-द्वेष, सुख-दुःख मिलता है, यह भीतर फुरफुरानेवाला जो मन है, वह सपना बना देता है। अब यह देखना कि वह चीज जो है जिससे सपना हुआ, मनसे वैसी कल्पना हुई, उस कल्पनाका कोई संस्कार था जिससे वैसा मन बना।

हमलोग समझो—वेदान्ती लोग जरा दूसरी वस्तुका निरूपण करनेवाले होते हैं। यह वस्तुका भावाभाव—घड़ेका होना और घड़ेका फूटना, दोनों जिस मिट्टीमें है उसका विवेक करते हैं; होना और फूटना जिस साक्षीसे मालूम पड़ता है उस साक्षीका विवेक करते हैं। आप कुम्हारके घर मत पहुँच जाना, हमारा घड़ेसे कोई मतलब नहीं है। ये वेदान्तमें जो दृष्टान्त आते हैं वे आपको कुम्हारके घरमें या जुलाहेके घरमें या लुहारके घरमें या सुनारके घरमें पहुँचानेके लिए नहीं होते। किसीने वेदान्तपर एक थीसिस लिखी—उसमें लिखा है कि वेदान्तके जितने पण्डित थे ये सब कुम्हार, सुनार, लुहार या जुलाहा—इसी जातिके थे। कैसे? कि अंग्रेजीके बड़े-बड़े विद्वान् होते हैं, बड़े-बड़े खोजी—उनकी खोजके सामने तो हमलोग बिलकुल चित्त हो जाते हैं—तो उसने कहा कि वे कुम्हार न होते तो



घड़ेका दृष्टान्त नहीं देते। जुलाहे न होते तो सूत और कपड़ेका दृष्टान्त नहीं देते। सुनार नहीं होते तो जेवर और कड़ेका दृष्टान्त नहीं देते। हाँ, तो भाई यह उनका कहना बिलकुल ठीक होगा, पर यह दृष्टान्त देकर आपको कपड़ा बनाना या जेवर बनाना तो सिखाना नहीं चाहते। वे आपको चामकी पहचान तो बतलाना नहीं चाहते, वे तो एक अद्वितीय तत्त्वकी पहचान कराना चाहते हैं। वह हममें और तुममें—दोनोंमें एक सरीखा है। यह राग-द्वेष मिटानेकी युक्ति है। यह राग-द्वेष बढ़ानेकी युक्ति नहीं है। साधकके जीवनमें प्रत्येक घटना जो आये और प्रत्येक क्रिया जो हो, वह राग-द्वेषको मिटानेवाली होनी चाहिए, उससे चित्तमें शान्ति आनी चाहिए। उससे चित्तमें आग नहीं लगनी चाहिए।

वेदान्ती लोग विचार करते हैं बड़े ढंगसे। आपको मालूम है कि आपके नाक है इसका पता तो आपको होगा ही। किसी बच्चेसे पूछो कि बेटा तुम्हारे नाक है? तो बोलेगा हाँ, है। कि कहाँ है, तो झट अपनी नाकपर हाथ रख देगा, वैसे ही जैसे हमने अपनी नाकपर हाथ रख दिया। अब आप समझो कि वेदान्ती या दार्शनिक इस नाकको जो हाथसे पकड़ी जाती है नाक नहीं मानते। तब किसको मानते हैं? गन्ध ग्राहक इन्द्रियको, गन्ध जिससे मालूम पड़े, उस औजारको, उस करणको, उस यन्त्रको नाक मानते हैं। तो हमारे नाक है इसका पता उँगुलीसे पकड़कर नहीं चलता, जब गन्ध मालूम पड़ती है यह गुलाब है, यह कमल है, यह बेला है, यह चमेली है, यह इत्र है। यह दुर्गन्ध है, यह सुगन्ध है ये जिससे मालूम पड़े उसे बोलते हैं—नाक। बोले—नाक होनेसे गन्ध मालूम पड़ी और गन्ध होनेसे नाक मालूम पड़ी। इसमें कौन प्रमाण है और कौन प्रमेय है? नाक प्रमाण है और गन्ध प्रमेय है। प्रमेयके बिना तो प्रमाणकी सिद्धि ही नहीं होगी। अगर गन्ध नहीं हो तो नाक है, यह कैसे मालूम पड़े? अच्छा, नाक न हो तो गन्ध कैसे मालूम पड़े? ये दोनों एक ही तराजूके चट्टे-बट्टे हैं। जहाँ-जहाँ मिट्टी है, शरीरमें सिरसे लेकर नाखूनतक पृथिवीका होना, पार्थिव तत्त्वका होना सिद्ध है। नासिका और गन्ध दोनोंका उद्गम कौन है? पृथिवी-तत्त्व-तत्त्वकी दृष्टिसे पृथिवी है, वही विषय होकर गन्ध और वही इन्द्रिय होकर नासिका। तो पृथिवी तत्त्वमें न गन्ध है, न नासिका। यह पृथिवी तत्त्वमें गन्ध और नासिका दोनों परस्पर सापेक्ष हैं। एकसे दूसरेकी सिद्धि होती है। असलमें पृथिवी तत्त्वसे जुदा न गन्ध है, न नाक है।

अब देखो यह कार्य-कारण भावकी पद्धतिसे यह बात बतलायी कि



नाकके बिना गन्धकी सिद्धि नहीं और गन्धके बिना नाककी सिद्धि नहीं। हम आपको कुछ ऐसा बनाना नहीं चाहते हैं कि आप गन्ध और नासिकाका अनुसन्धान करें। हमारे अनुसन्धानकी पद्धति यह है कि चाहे आप कोई भी मशीन लगा लो, उससे जो भी चीज मालूम पड़ेगी वह हमारी किसी इन्द्रियसे सम्बद्ध होकर मालूम करायेगी। हमको मालूम नहीं पड़े तो मशीन पट्टी क्या करेगी! खुर्दबीनसे बड़ी महीन चीज दिखती है, लेकिन वह खुर्दबीनके साथ हमारी आँखसे हमको दीखनी चाहिए न! खुर्दबीनको मालूम पड़ जाय और हमको मालूम नहीं पड़ी तो वह क्या किसी कामकी रही? दूरबीनसे बड़ी दूरकी चीज दिखती है कि ठीक है दूरबीन बेचारी तो देख रही है, लेकिन यदि हमारी आँख दूरबीनमें लगी हुई नहीं है और हमारे चित्तको मालूम नहीं पड़ रहा है तो वह दूरबीन किस कामकी? ज्ञान अध्यात्ममें होता है। जैसे एक बहुत चमकदार मूर्ति सामने रखी हुई है। बीचमें कैमरा रखा हुआ है। मूर्ति अपना प्रतिबिम्ब डाल रही है कैमरेमें। कैमरा मूर्तिका प्रतिबिम्ब ग्रहण कर रहा है। लेकिन वह कैमरेसे लिया हुआ प्रतिबिम्ब, मूर्ति और वह कैमरा यदि किसी चैतन्यको मालूम नहीं पड़े तो क्या वह मूर्ति, वह प्रतिबिम्ब और वह कैमरा किसी कामका है? चन्द्रलोकमें गया हुआ रॉकेट चित्र लेकर वहाँसे भेजे और वह मनुष्यको ग्रहण न हो, मालूम न पड़े तो वह क्या किसी कामका है? मूलतत्त्व वह चैतन्य है। ये इन्द्रिय और विषय, ये करण और करणके द्वारा गम्य पदार्थ हैं। ये परस्पर सापेक्ष हैं।

‘किं तदस्ति इति किं न इति उच्यते’—किसीने प्रश्न किया कि क्या वह बाहरका दृश्य है, क्या वह ग्रहण करनेवाला करण है? नहीं है। क्योंकि वह एक दूसरेसे, एक दूसरेकी अपेक्षासे सिद्ध-असिद्ध होनेवाले हैं। यह तस्वीर लेते हैं कैमरेसे। जितनी दूरी कैमरेको चाहिए अगर उतनी दूरी न हो! वह दूरी सापेक्ष हो गया। इतनी देरमें ही न ले लो, थोड़ी मशीन रुक जाय तो क्या वह चित्र आयेगा? बिना एक निश्चित देरीके और बिना एक निश्चित दूरीके और बिना एक मनुष्यके लिए प्रयोजनीय हुए बिना एक मनुष्यके आँखसे मालूम पड़े, उस चित्रकी कोई कीमत नहीं होती। शरीरमें चाहे सब जगह नाक बना ली जाय, पृथिवी-तत्त्वका रसायन बनाकर उसका इन्फ्रैक्शन लगाकर आपरेशन करके गन्ध-ही-गन्ध मालूम पड़े; सब जगह जीभ-ही-जीभ बना लें ताकि स्वाद मालूम पड़े कि खट्टा है, कि मीठा है; सब जगह आँख बना लें—रूप दीखने लगे; सब जगह त्वचा बना लें—



स्पर्शका अनुभव होने लगे, जिसको ग्रहण होता है अगर वह इन्द्रिय और विषय दोनोंसे निरपेक्ष होकर, दोनोंसे जुदा हो तो! इनकी सिद्धि नहीं होती है। यहाँ दाक्षिणात्य गौड़पादकारिकाका पाठ है—‘किं तदस्तीति चोच्यते’—ऐसा है। एक हमारा इधरका अवधीय पाठ है। दोनोंका अभिप्राय एक है।

जो चीज बिना एक खास अपेक्षाके सिद्ध नहीं होती, एक खास करणकी, एक खास स्थितिके बिना जिसकी सिद्धि नहीं होती वह वस्तु क्या है? ‘वह वस्तु है’—ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्यों कि ‘लक्षणाशून्यमुभयं’—दोनोंमें कोई लक्षणा नहीं है। लक्षणा माने प्रमाण। यह आप देखो कि संसारमें ऐसा मानते हैं कि बाहरवाली चीज—अपनी रोशनी डालती है हमारी आँखमें तब हम उसको देखते हैं—कैमरेकी तरह। भीतर बैठकर कोई आँखकी ओर देखता है, तब वह ग्रहण करता है कि अमुक चीज है—यह अद्भुत लीला है। वैसे पहलेके दार्शनिकोंमें इस बातको लेकर बहुत मतभेद था कि आँखकी रोशनी जाती है चीजमें कि चीजकी रोशनी आती है आँखमें? लेकिन अब यह प्रायः निश्चितप्राय हो गया है कि वेदान्तियोंने जैसा माना है कि वस्तुका प्रतिबिम्ब ही नेत्रादि इन्द्रियोंमें पड़ता है—यही सर्वमान्य है। जैसे बन्दूककी आवाज होती है। तो गोली पहले लगती है और उसकी आवाज पीछे कानमें पड़ती है। चलकर आती है—आँख गोलीकी चिंगारी जब देखेगी—उसमें और सुनायी पड़नेवाली चीजमें फर्क पड़ता है। एक बात हमने देखी वृन्दावनमें—इस बार या इसके पहली बार जब गये तब। वहाँकी म्युनिसिपैलिटी रेडियो बजाती है, तो सुनायी पड़ता है—हमारे यहाँके रेडियोमें। वही प्रोग्राम आरहा है दिल्लीसे और म्युनिसिपैलिटी रेडियोमें वही प्रोग्राम आ रहा है दिल्लीसे। तो उसमें फर्क पड़ता था—एक सेकेण्डका फर्क पड़ता था। क्यों फर्क पड़ता था कि म्युनिसिपैलिटीका रेडियो हमारे यहाँसे मील भर दूर था। वहाँसे आवाज निकलकर हमारे पास पहुँचती थी और हमारे रेडियोसे आवाज निकलकर हमारे पास पहुँचती थी। उसमें समयका अन्तर पड़ जाता था।

अच्छा, एक जहाज समझो दो फ्लाईङ्ग दूर खड़ा है पानीमें और एक जहाज किनारेपर खड़ा है—दोनोंने अपना भोंपू बजाया। दोनोंने—ठीक एक क्षणमें बज। लेकिन क्या हमने दोनोंको एक ही क्षणमें सुना? नहीं वह तो फ्लाईङ्गवाली आवाज देरमें पहुँची और किनारेवाली आवाज जल्दी पहुँची। मालूम ऐसा होता है कि दोनों एक साथ बोल रहे हैं या सुनायी पड़ रहे हैं। तो, यह



संसारकी सारी वस्तुएँ दूरी-माने देशकी अपेक्षा रखती हैं; देरी माने कालकी अपेक्षा रखती हैं, क्रियाकी अपेक्षा रखती हैं, इन्द्रियोंकी अपेक्षा रखती हैं और इन्द्रियाँ भी अपने विषयकी अपेक्षा रखती हैं। इसलिए एकको जोड़करके दूसरेकी कोई पहचान अगर बनाना चाहो तो वह पहचान नहीं बन सकती। दुनियामें मर्द हैं इसलिए औरतकी सिद्धि होती है और औरत है इसलिए मर्दकी सिद्धि होती है। अगर दो जाति नहीं हों—दो लिङ्ग न हों तो एक लिङ्गकी सिद्धि नहीं होगी। पुरुषके बिना स्त्रीके पेटमें बच्चा रहता है—यह सिद्ध नहीं हो सकता। यह परस्पर सापेक्ष जो वस्तुएँ संसारमें हैं—इनका स्वतन्त्र लक्षण किसीका नहीं बनता।

लक्षणाशून्यमुभयं—लक्ष्यते अनया इति लक्षणा प्रमाणं—लक्षणा माने लखानेवाला, प्रमाण। वस्तुके बिना प्रमाण नहीं और प्रमाणके बिना वस्तु नहीं। जो लोग चित्तवादी होते हैं, वे कहते हैं कि पहले प्रमाण है, पीछे वस्तु है। जो बाह्यार्थवादी हैं, वे कहते हैं पहले वस्तु है और पीछे प्रमाण है। मार्क्सको पदार्थवादी दार्शनिकोंमें उतना ऊँचा स्थान प्राप्त नहीं है। वह तो समाजके दार्शनिक हैं, वर्गके दार्शनिक हैं। उनके सिद्धान्तका जो मूल है वह अर्थ है। उनके वस्तुमें—से इन्द्रिय उत्पन्न होती है। वस्तुमें—से मन उत्पन्न होता है। वस्तुमें—से चैतन्य उत्पन्न होता है। वस्तुमें—से मनुष्यकी उत्पत्ति होती है। भौतिक वस्तु ही उनके मुख्य हैं। हमारे ईश्वरवादी, विज्ञानवादी हैं, चित्तवादी हैं, दृष्टि-सृष्टिवादी हैं, जीववादी हैं, चैतन्यवादी हैं—वे मानते हैं कि पहले चैतन्य और पीछे बाह्य पदार्थ। क्योंकि हमको ही मालूम पड़ते हैं। हमारे मालूम पड़े बिना तो कुछ सिद्ध हो ही नहीं सकता। डार्विन, हैकले जो जड़वादी दार्शनिक हैं वे भौतिक-पदार्थ प्रधान हैं। जो सूक्ष्मवादी दार्शनिक हैं—वे अन्तःपदार्थ प्रधान हैं। भाई, वेदान्ती क्या पदार्थ-प्रधान हैं? ये सापेक्ष वस्तुको निरपेक्ष-तत्त्व नहीं मानते। असलमें हमारी सात्त्विक परिभाषामें न इन्द्रियाँ हैं और न तो विषय हैं; न अन्तःकरण है और न तो अन्तःकरणका दृश्य है; क्योंकि इनका लक्षण ही परस्पर सापेक्ष है।

‘लक्षणाशून्यमुभयं’—आत्माका कोई लक्षण है? देखो, जितनी बात कही जाती है संसारमें वह दूसरेसे अलग करनेके लिए—काम जो किया जाता है, वह वस्तुका विवेक करनेके लिए किया जाता है। आखिर आत्माको ब्रह्म क्यों कहा जाता है? आत्मामें जो परिच्छिन्नताकी भ्रान्ति है—यह स्वभाव सिद्ध, अनादि,



अविद्यासिद्ध भ्रान्ति है। परिच्छिन्नता निवारणके लिए विचार-सिद्ध ब्रह्मत्वका आरोप किया जाता है। परिच्छिन्नताकी कल्पना काट देनेके बाद न ब्रह्म शब्दकी जरूरत रहती है, न ब्रह्म प्रत्ययकी जरूरत रहती है। किसीको कुछ भी कहा जाता है तो एक चीजसे अलग करनेके लिए कहा जाता है। जहाँ एकसे दूसरेको अलग करना है वहाँ व्यवहार है, वहाँ परमार्थ नहीं है। इसको इसमें मिला दो या इसको इससे अलग कर दो—यह दोनों व्यवहार हैं। विवेक व्यवहार-साधक है। अविवेक व्यवहार-बाधक है। एक सज्जनने तो 'विवेक-नष्ट' शब्दका प्रयोग किया है। 'विवेक-नष्ट' शब्द आपको अच्छा लगता है कि नहीं जो विवेकके कारण नष्ट हो गया हो उसका नाम होगा विवेक-नष्ट और मूर्ख किसको कहेंगे—'नष्ट-विवेक' बहुव्रीहि-समाससे ही वहाँ अर्थका बोध होगा। 'नष्टो विवेको यस्य' और जब 'विवेकेन' नष्ट करोगे—तो गड़बड़ा जायेगा काम।

'लक्षणाशून्यमुभयं'—घट सत्य है कि घटाभाव सत्य है? दोनों आपेक्षित हैं। जिसको घटका ज्ञान नहीं है उसको घटके अभावका तो ज्ञान ही नहीं होगा। नाक सत्य है कि गन्ध? बिना नाकके गन्ध नहीं, गन्धके बिना नाक नहीं—दोनों सत्य नहीं हैं। चित्त सत्य है कि विषय? विषयके बिना चित्तमें आकार नहीं, चित्त और चित्तके बिना विषय नहीं। इसलिए चित्त और विषय दोनों ही सत्य नहीं। ठीक है; तब तो शून्यवादकी ही प्रसक्ति हुई न? न-न, इन दोनोंके भाव और अभावको जो जानता है वह निरपेक्ष सत्य है। है न! उसमें जाननेपनेका—ज्ञातापनेका आरोप तो इनकी दृष्टिसे है, परन्तु जब ज्ञेयका बाध हो गया और ज्ञातृत्वकी भी निवृत्ति हो गयी तो ज्ञप्तिमात्र-ज्ञानमात्र चैतन्य स्वतः सिद्ध हो गया। फिर यह चित्त और चैत्य—ये दोनों ग्रहण कैसे होते हैं? यह मन है और ये मनके विषय हैं, 'तन्मतेनैव गृह्यते'। इसका अर्थ है कि जब हम ऐसा सोचते हैं कि मन है और विषय है। आप कहोगे कि दुःख नहीं है, तो दुःख नहीं है। दुनियामें कहीं दुःख नहीं होता। दुःखके साथ सुख भी कहीं नहीं है, हम अपनेको अपने आपको तन्मय कर देते हैं। अपनेको दुःखाकार कर देते हैं तब दुःखी हो जाते हैं। दुनियामें सुखाकार करते हैं तब सुखी हो जाते हैं। इसमें छुट्टी हो गयी—चाहे सुखी बना लो, चाहे दुःखी। यह छुट्टी नहीं मुक्ति हो गयी, स्वातन्त्र्य हो गया। जिसको आदत पड़ती है—हर बातमें—से दुःख निकालनेकी वह दिनभरमें पचास बार सुखी होगा और पचास बार दुःखी होगा। और जो आदत डाल लेगा सुखीपनेका वह सुखी रहेगा। यदि यह सोचे कि हम न सुखी



होंगे, न दुःखी तो ये सिनेमाके दृश्य, ये सपनेके दृश्य आते-जाते रहते हैं। इनमें क्या सुखी होना, इन्हें क्या दुःखी होना? क्यों हँसना इनमें? कहीं न सुख न दुःख! घटाकार वृत्तिके बिना घटका ग्रहण नहीं होता और घटके बिना घटाकार वृत्ति नहीं होती—इनमें घट प्रमाण है और घटाकार वृत्ति प्रमेय है। घटाकार वृत्ति प्रमाण है और घट प्रमेय है। मेयसे मानकी सिद्धि है कि मानसे मेयकी सिद्धि है? यह बात बिलकुल नहीं बनती।

‘यथा स्वप्नमयो जीवे’—जैसे स्वप्नमें कीड़ा-मकोड़ा, खटमल, आदमी, स्त्री, पुरुष, ब्याह-शादी आदि होते हैं—पैदा होते हैं सब और मर जाते हैं। ऐसे ही इस संसारमें जीव दिखलायी पड़ते हैं, पैदा होते हैं और मर जाते हैं। एक बार और सपनेकी हम आपको सुना दें कि अगर सपनेमें मौत दिखती हो किसीकी—अपने इष्टकी, मित्रकी—कई बार आकर लोग सुनाते हैं—हे महाराज, हमने अपने इष्टकी, अपने प्यारेकी मौत देखी, हमारा मित्र मर गया। हमारी पत्नी मर गयी—रोते हुए आते हैं। सपनेमें मरा देखकर। उनको बतलाना पड़ता है—स्वप्न-शास्त्रकी रीतिसे। स्वप्नमें जिसकी मृत्यु दिखती है उसकी आयु लम्बी होती है। यह देखो, जिसने यह लिखा होगा कि वह कितना बुद्धिमान होगा—आप समझ लो! अगर सपनेमें किसीकी मौत दिखे तो यह समझना कि वह जल्दी मरेगा नहीं। उसकी मृत्युका दुःख होना उसके प्रारब्धमें था। वह बहुत हल्का था। उसने स्वप्नमें ही भोग लिया। अब जाग्रतमें नहीं भोगना पड़ेगा। उस कर्म-फलसे छुट्टी मिल गयी।

‘जायते म्रियतेऽपि च’—पैदा भी होता है और मर भी जाता है। एक गन्धी बाबा थे काशीमें, जब वे थे, मैं पढ़ता था। स्वामी विशुद्धानन्दजी गोपीनाथ कविराजके गुरु थे। उनके प्रथम गुरु थे, गन्धी बाबा! किसीने मरी हुई एक चिड़िया लाकर उनके पास रख दी। कहा—महाराज, इसको जिन्दा कर दो! अब इधर-उधर देखकर उन्होंने उसके ऊपर नजर डाली। एक शीशा था उनके पास जादूका। उसकी रोशनी उसपर डाली तो वह चिड़िया जिन्दा हो गयी। बड़े जादूगर थे। पालब्रिण्टन आया था। उसने ‘गुप्त भारत’की खोज लिखी। उसने उनको बनारसका जादूगर लिखा है। बनारसके जादूगर थे वे। एक बार गोपीनाथ कविराज उनसे वेदान्तकी बात कर रहे थे, तो उनको वे समझा रहे थे कि ये संसारके जो दृश्य हैं सो मिथ्या हैं। तो गोपीनाथ कविराजने कहा—महाराज, यह देखो यह गुलाबका पौधा यहाँ है, इसमें गुलाबका फूल खिला है—मैं पहचान



रहा हूँ। यह मिथ्या कैसे है? तो हँसने लगे और फिर समझाने लगे कि भाई, मिथ्या उसको नहीं कहते हैं कि जो न दिखे। दिखनेवाले पदार्थको भी मिथ्या कहते हैं।

स्वाभावाधिकरणे भासमानत्व ही मिथ्यात्व है। यह गुलाबका फूल जिस देशमें, जिस कालमें, जिस धातुमें, जिस आकारमें दीख रहा है उस आकारमें है नहीं। पाँच मिनटके बाद पूछा कि कविराज, वह गुलाबका पौधा कहाँ है? देखा उन्होंने, तो वहाँ गुलाबका पौधा नहीं था, चम्पाका पौधा था वहाँ। तो इसका नाम जादूका खेल है। माया है।

‘मायामयो जीवो जायते’—ये मन्त्रके प्रभावसे, औषधिके प्रभावसे, मनोबलके प्रभावसे, मानसिक शक्तिके प्रभावसे जादूके खेल दिखलाये जाते हैं। इसी जादूके खेलमें जीवकी उत्पत्ति भी होती है। मृत्यु भी होती है। इसी दृष्टिसे देखो तो ये सब-के-सब जीव एक दृष्टिसे हैं भी और एक दृष्टिसे नहीं भी हैं। अब ‘निर्मितको जीवो’ का अर्थ क्या है कि ये डाक्टर लोग रासायनिक जीव ट्यूबमें बना देते हैं। यह रसायन मिलाया, वह रसायन मिलाया—पैदा कर दिया। निर्मितक माने बनावटी-कृत्रिम चीज। एक कृत्रिम जीव बना दिया। वह पैदा भी होता है और मर भी जाता है। तो जैसे कृत्रिम जीवकी उत्पत्ति और मृत्यु होती है, जैसे जादूके खेलमें जीवकी उत्पत्ति और मृत्यु होती है। जैसे स्वप्नमें जीवकी उत्पत्ति और मृत्यु होती है—वैसे यह जाग्रतमें जीवोंकी उत्पत्ति और मृत्यु है। तत्त्वमें न जन्म है और न तत्त्वमें मृत्यु है। कोई बन्धन सृष्टिमें नहीं है। यह अपने मनीराम जो हैं वे ही सब करते रहते हैं।

‘न कश्चिज्जायते जीवः’—यह श्लोक पहले आया है—अद्वैत-प्रकरणके अन्तमें। अद्वैत प्रकरणका अन्तिम श्लोक बहुत करके यही है—न कश्चिज्जायते जीवः। यह जो तुम जीव-जीव-जीव मान करके बैठे हो! इसमें एक बात ध्यान देने लायक है कि सपनेमें तुम अपनेको जीव मानते हो कि नहीं! जब तुम सपना देखते हो, यात्रा करते हो या बंदीनाथमें स्नान करते हो! क्लबमें हँसते-खेलते हो या विदेश जाते हो या सड़कपर चलते हो या किसीके मरनेपर रोते हो या जन्मनेपर हँसते हो, तो उस समय तुम अपनेको जीव मानते हो कि नहीं! मानते तो हैं। तो क्या वहाँ किसी जीवकी उत्पत्ति होती है, क्या उसका कोई पूर्वजन्म है, क्या उसका कोई उत्तर-जन्म है? उसका कोई रिश्तेदार है! एक पति-पत्नी एक दिन स्वप्नमें अपने विवाहकी वर्षगाँठ मना रहे थे। कितने वर्ष हुए? तो बोले बारह वर्ष



हो गये। सपनेमें विवाहकी वर्षगाँठ मनायी गयी तो क्या बारह वर्ष हुए थे? बोले—उनकी उम्र कितनी थी? बोले अड़तीस-अड़तीस वर्षके दोनों हैं। और बारह वर्ष विवाह हुए हो गया। तो क्या वे अड़तीस वर्षके हैं? तो वहाँ क्या कोई जीव उत्पन्न हुआ है?

‘न कश्चिज्जायते जीवः’—यह असलमें जीव चैतन्य जिसको बोलते हैं उसको यदि मूल चैतन्यसे अलग करके देखें तो एक रासायनिक प्रक्रिया ही है यह। रासायनिक-प्रक्रियाका अर्थ तो आप लोग समझते ही होंगे! यदि अधिष्ठानचैतन्य, ब्रह्मचैतन्य अद्वितीय-चैतन्यसे अलग करके जीवको कुछ देखना हो तो वह केवल रासायनिक प्रक्रियासे उत्पन्न एक कीड़ा है, और कुछ नहीं है। न स्वर्गीय जीव उत्पन्न होता है न नारकीय, न कीट-पतङ्ग, पशु-पक्षी, दैत्य-दानव, देवता-मनुष्य-गन्धर्व पैदा होते हैं न और कोई। ‘संभवोऽस्य न विद्यते’—उत्पत्ति है ही नहीं। यह अनुत्पन्न सत्य है। इसका अभिप्राय यह है कि यह ब्रह्म सत्य है, यह सचमुच ब्रह्म ही है। यह तुम ठीक-ठीक जान लो। एक जीव अगर अपनेको ब्रह्म जान ले तो इससे उत्तम ज्ञान, इससे उत्तम सत्य और कोई नहीं हो सकता। असलमें, गुरु कहते ही उसीको हैं जो जीवका, परिच्छिन्नका भ्रम मिटा करके, उसको अपरिच्छिन्नताका ज्ञान करा दे। अज्ञान मिटा दे। यह वस्तु संसारमें कोई और नहीं दे सकता। भले ही कोई खजूरेके पेड़पर चढ़कर तुम्हारे लिए खजूरेका फल ले आवे। यह हो सकता है, भले ही कोई तुम्हारे लिए आसमानसे तारे तोड़ कर दे दे। ऐसी आणविक प्रक्रिया उत्पन्न हो जाय कि एक तारेको, चन्द्रमाको धीरे-धीरे आकृष्ट करके धरतीपर बुला लिया जाय। ऐसी वैज्ञानिक उन्नति हो सकती है कि एक ग्रहको, एक नक्षत्रको, एक तारेको यदि चाहें तो वहाँसे आकर्षण-शक्तिके द्वारा खींच लें धरतीपर। ऐसा तुम्हारा कोई प्यारा दुनियामें हो सकता है—बड़ी खुशी हो सकती है तुमको उससे—लेकिन तुम्हारे जीवपनेको मिटा दे—जिसमें तुम्हारे पापका, पुण्यका, सुखका, दुःखका, नरकका, स्वर्गका, रागका, द्वेषका—समूचा बन्धन निवृत्त हो जाय—ऐसा हितकारी इस वेदान्तके सिवाय दूसरा कोई नहीं है।

‘एतत्तदुत्तमं सत्यं’—सर्वोत्तम सत्य क्या है? यह है कि जन्म-मृत्युका झगड़ा ही नहीं है। ‘यत्र किञ्चिन्न जायते, किञ्चिन्न म्रियते’—जहाँ जन्म और मृत्युका झगड़ा नहीं है वही परम सत्य है।

परमार्थतः नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त अज, अद्वय-ब्रह्म-आत्मतत्त्व है।



उसके सिवाय कुछ मालूम पड़ता है वह है मनका हिलना। तुम्हारा मन कभी इसपर और कभी उसपर जाता है। भक्ति-रसामृत-सिन्धुमें हँसी उड़ायी है—माथुर स्त्रियोंकी। जब बलराम और श्रीकृष्ण दोनों मथुराकी सड़कपरसे निकले तो दोनों नाचते हुए, गाते हुए, बजाते हुए—मण्डलीके साथ। ग्राम्य हैं न! शहरके लोग तो बड़े सभ्य होते हैं। वे सड़कपर नाचते हुए थोड़े ही चलेंगे। लेकिन ऐसा जमाना आनेवाला है—यह 'बीटल' लोग—ये शहरके सभ्य लोग भी सड़कपर, पार्कमें नाचते हुए, गाते हुए चलेंगे। यह बात ठीक है। अभीतक जो सभ्यताकी धारणा थी उसमें शहरी लोग, नागरिक लोग क्लबमें तो नाचते हैं; लेकिन सड़कपर नहीं। छज्जेपर स्त्रियाँ आगयीं। उनको कभी बलराम दिखें—बड़े लम्बे-तगड़े, हष्ट-पुष्ट, बड़े सुन्दर! कभी साँवरे-सलौने श्रीकृष्ण दिखें! वहाँकी स्त्रियोंकी दशाका वर्णन किया है—भक्तिरसामृत सिन्धुमें। जब बलरामको देखें तो उनकी ओर आकृष्ट हो जायँ जब श्रीकृष्णको देखें तो उनकी ओर आकृष्ट हो जायँ। दोनोंमें प्यारा कौन?

'चित्तस्पन्दितमेवेदम्'—प्यार नहीं है। तब क्या है? मनकी हलचल है। चित्तका स्पन्दन है। चित्तका फिसलना है। चित्तका स्पन्दित होना है। थोड़ा-थोड़ा हिलना। आपने सुना होगा—एक लामाके मठपर झण्डा लगा हुआ था। वह हवामें हिल रहा था। यह हवा शब्द भी संस्कृतका ही है। 'वाह'—वायुका एक नाम है। गन्धको वहन करनेवाला। वाहको उलट दिया तो हवा हो गया। यह विपर्यय है। निरुक्तकी रीतिसे। वर्ण-विपर्यय है। हवा चल रही थी। झण्डा हिल रहा था, एकने जाकर लामासे कहा—दलाईलामासे पूछा—यह हवा हिल रही है कि झण्डा! उन्होंने कहा न हवा हिल रही है, न झण्डा। हिलता हुआ तो मालूम पड़ता है? बोले—तुम्हारा दिमाग हिल रहा है। सपनेमें क्या हिलता है आप बताओ—सपनेमें आप झूलेपर झूल रहे हो तो झूलेकी मशीन क्या चलती है? झूला हिलता है! वे तो हिलते नहीं, आपका मन हिलता है। यह जो सृष्टि हिलती हुई मालूम पड़ती है—यह सारा हिलना सपनेकी तरह है। डाक्टर सारा हिलना एक इन्जेक्शनमें बन्द कर सकता है, एक गोली खिला दी जाय और दुनियाका यह सारा हिलना बन्द। अगर दुनिया हिलती होती तो वह बन्द थोड़े ही होती? तो तुम्हारा दिमाग हिल रहा है। इसीलिए बन्द किया जा सकता है। यह हिलना क्या है कि दिमागका मालूम पड़ना है। हिलनेका मालूम पड़ना ही हिलना है, बिना मालूम पड़े कोई चीज हिल नहीं सकती।



‘चित्तस्पन्दितमेवेदम्’—यह जो मालूम पड़ता है कि हम तुमको देख रहे हैं, तुम ग्राह्य हो और हम ग्राहक हैं, तुम ज्ञेय हो, हम ज्ञाता हैं; तुम जाने जा रहे हो और हम जान रहे हैं—ऐसा सबको मालूम पड़ता है। हमको मालूम पड़ता है कि हम श्रोताओंको जान रहे हैं और हम जाननेवाले हैं—वक्ता! तो क्या श्रोताओंको ऐसा नहीं मालूम पड़ता कि हम श्रोता हैं—अलग-अलग हम श्रोता हैं और वक्ताको हम जान रहे हैं! यह जो आपसमें हमलोग वक्ता और श्रोता बनकर व्यवहार कर रहे हैं—यह क्या है? मनः स्पन्द है। ग्राह्यग्राहकवद्वयम्—इसमें ग्राह्य होना और ग्राहक होना, प्रमाता होना और प्रमेय होना, ज्ञाता होना और ज्ञेय होना—यह जितना व्यवहार है, यह केवल मनका व्यवहार है। देखो, दुनियाके सारे बन्धनोंसे तुमको छुट्टी मिलती है कि नहीं? कि असलमें, चित्तमें भासते हुए विषयको सच्चा मानना—यही भ्रान्ति है—

चित्तं निर्विषयं नित्यमसङ्गं तेन कीर्तितम्।

चित्त निर्विषय ही है। अच्छा; सिनेमाके पर्देपर जो स्त्री, जो पुरुषको लेकर, जो छाया लेकर उनपर प्रकाश पड़ता है उसमें प्रकाशको और तस्वीरको जुदा-जुदा किया जा सकता है कि नहीं? आप विचार करके देखो! यह फिल्म जो है न, बीचमें-से उसको हटा दिया जाय तो प्रकाश ही रहेगा। आकृति तो नहीं रहेगी? यह अकेले-अकेले न प्रकाश तस्वीर दिखा सकता और न अकेले फिल्म तस्वीर दिखा सकती। दोनों मिलकर पर्देपर पड़ते हैं, तब तस्वीर दिखाते हैं। तो जो शुद्ध ज्ञान है उसको देखो, जब वह फिल्मके साथ मिला तब उसका नाम चित्त हो गया। यह फिल्म भी अन्य चीज है और उसकी जो तस्वीर है वह अधिष्ठान ब्रह्ममें संसारके रूपमें दिखलायी पड़ रही है। तो, यह जो पर्देपर दीख रहा है वह सच नहीं है। जो फिल्ममें है वह भी सच नहीं है। जिस रोशनीमें यह फिल्ममें और पर्देपर तस्वीर—दोनों दिख रही हैं—वह रोशनी तुम हो। ‘चित्तस्पन्दितमेवेदम्’—यह फिल्मका हिलना ही प्रकाशका फिल्मके साथ मिलकर पर्देपर पड़ना ही इसीका नाम—वहाँ स्त्री है, पुरुष है, प्रेयसी है, प्रेयान् है—इसलिए चित्त वस्तुतः निर्विषय है और अविनाशी है। यह निर्विषय चित्तका ही नाम ब्रह्म है। अविनाशी चित्तका नाम ही ब्रह्म है। यह जो तुम्हारा चित्त—चित्त माने ज्ञानराशि असङ्ग है। दूसरी कोई वस्तु इसमें है नहीं! यह न किसीके साथ सटता है, न मरता है। देखो निर्विषयका अर्थ है—ऐसा ज्ञान जिसमें जड़ता नहीं है, नित्य माने ऐसा ज्ञान जिसमें परिवर्तन, विनाश, परिणाम नहीं है, ऐसा ज्ञान जिसमें कहीं आसक्ति नहीं है—यह



ज्ञान कौन है कि 'मैं'। यह 'मैं' कौन है? देश-काल-वस्तुसे अपरिच्छिन्न, सर्वावभासक, स्वयंप्रकाश ब्रह्म। आगे माण्डूक्य उपनिषद्का सबसे गम्भीर प्रसङ्ग है। इसमें विनिर्मुक्त आत्मवस्तुका, तत्त्वका वर्णन है। यह सारा प्रसङ्ग आगे आना है।

अभूताभिविशेषोऽस्ति द्वयं तत्र न विद्यते ।

द्वयाभावं स बुद्ध्यैव निर्निमित्तो न जायते ॥ 75 ॥

यदा न लभते हेतूनुत्तमाद्यममध्यमान् ।

तदा न जायते चित्तं हेत्वभावे फलं कुतः ॥ 76 ॥

अनिमित्तस्य चित्तस्य यानुत्पत्तिः समाद्वया ।

अजातस्यैव सर्वस्य चित्तदृश्यं हि तद्यतः ॥ 77 ॥

बुद्ध्वानिमित्तता सत्यां हेतु पृथगनाप्नुवन् ।

वीतशोकं तथाकाममभयं पदमश्नुते ॥ 78 ॥

यह जो संवेदन होता है—संवेदन माने वस्तुएँ, क्रियाएँ मालूम पड़ती हैं—मैं, तुम, होता है इनका संवेदन। क्रम मालूम पड़ता है कि बाप पहले पैदा हुआ और बेटा पीछे। कलेजा शरीरके भीतर है और नाक शरीरके बाहर। यह देशका संवेदन है। हाथ हिलाते हैं, पाँव हिलाते हैं, जीभ हिलाते हैं, चलते हैं—फिरते हैं—यह क्रियाका संवेदन है।

गुणका, क्रियाका, देशका, वस्तुका, कालका, पृथक्-पृथक् संवेदन होता है। संवेदन वस्तुतः एक है। दृश्यकी उपाधिसे-उससे उपहित होकर अनेक भासता है। ज्ञानमें अनेकता नहीं है। विषयमें अनेकता है! वही ज्ञानपर आरोपित करके ज्ञानको अनेक माना जाता है—जैसे रोशनी राम पर पड़ी, श्याम पर पड़ी, मोहन पर पड़ी। रोशनी एक है। और उसीमें सब मालूम पड़ते हैं। बाहरकी रोशनी एक है उसमें सब अलग-अलग मालूम पड़ते हैं। वैसे ही भीतरकी रोशनी भी एक है उसमें सब अलग-अलग मालूम पड़ते हैं। विषय भी अलग-अलग मालूम पड़ते हैं। और इन्द्रियाँ भी। विषयके भेदसे प्रकाशमें भेद नहीं हैं। न बाहरी न भीतरी। ऐसे समझो कि अगर हजार आदमी हों तो क्या सूर्य भी हजार हो जायेंगे? बाहरसे जो आधिदैविक या आधिभौतिक प्रकाश आ रहा है वह एक है। इसी प्रकार बाहर हजार आदमी हों तो भी उनके लिए आध्यात्मिक प्रकाश भी एक है। इसी प्रकार आँख, नाक, कान आदि अनेक होनेपर भी भीतरसे जो प्रकाश निकलता है वह एक है। सूर्य-चन्द्र, अग्नि, वरुण—इनके अलग-अलग होनेपर



भी प्रकाश एक है। देवताओंके अलग-अलग होनेपर भी प्रकाश एक है। आधिभौतिक विषयोंके अलग-अलग होनेपर भी प्रकाश एक है। आध्यात्मिक इन्द्रियोंके अलग-अलग होनेपर भी प्रकाश एक है। ये भेद दृश्यमें हैं। ज्ञानप्रकाशमें भेद नहीं है।

‘ग्राह्यग्राहकवद्वयम्’—ग्राह्य विषयके रूपमें और ग्राहक—अन्तःकरण और बहिष्करणोंके रूपमें, जो कुछ प्रमाता, प्रमाण और प्रमेयमें भेद भास रहा है वह सब स्वप्नवत् चित्तका स्पन्दन है। जैसे स्वप्नमें जितना ग्राह्य और जितना ग्राहक—अलग-अलग जीव दिखते हैं और उनके अलग-अलग शरीर दिखते हैं, उनकी अलग-अलग इन्द्रियाँ हैं, उनके अलग-अलग अन्तःकरण मालूम पड़ते हैं, एक शत्रुका काम कर रहा है, एक मित्रका काम कर रहा है, परन्तु स्वप्नावस्थामें मित्र, शत्रु, पत्नी, पति, माता-पिता वहाँके वेद-मन्त्र, वहाँके देवता, वहाँका आधिभौतिक विज्ञान—‘जितना है वह सब-का-सब चित्तस्पन्दित ही है। जैसे स्वप्नमें चित्तस्पन्दित है वैसे ही जाग्रत्में भी चित्तस्पन्दित है। तो स्वप्नके दृष्टान्तसे दृश्य चित्तसे भिन्न नहीं है। यह बात बतलायी। अब तो यह कह रहे हैं कि असलमें चित्तका, संवेदनका, ज्ञानका विषयके साथ कोई सम्बन्ध है ही नहीं। जिसको हम संवेदन कहते हैं—यह कठोर संविद् और यह मृदु संविद्—कोमलतासे कोई शरीरपर हाथ फेरे तो मृदुता मालूम पड़ेगी और तमाचा लगा दे—तो कठोर मालूम पड़ेगा। तो यह संवेदन ज्ञान है। स्वप्नमें चित्तस्पन्दन है। उसके दृष्टान्तसे जाग्रत्में भी चित्तस्पन्दन है। अब दृश्यके उपाधानसे रहित, दृश्यके स्पर्शसे रहित संवेदनका वास्तविक स्वरूपका निरूपण करते हैं। वस्तुतः संवित्के स्वरूपमें दृश्य नामकी कोई वस्तु है ही नहीं। संवित् दृश्यके रूपमें भास रही है। इतना ही नहीं—संवित्में दृश्य भास रहा है। यह बात व्यावहारिक दृष्टिसे संवित् पर आरोपित की जाती है। जब हम देहाभिमानी होकर दुनियामें अनेकताको देखते हैं तो अपनी इस देहाभिमानीपनेके द्वारा देखी हुई जो अनेकता है और भिन्नता है उसको तत्त्व रूप संवित् पर आरोपित कर देते हैं।

‘तत्त्वतः संवेदनस्य विषयसम्बन्धाभावात् आत्मैव संवेदनम् इति आह’—वस्तुतः ज्ञान और विषयका न कोई कल्पित सम्बन्ध है, न अकल्पित। न कोई संयोग सम्बन्ध है, न कोई सम्प्रदान। न तादात्म्य सम्बन्ध है, न कल्पित। नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त ज्ञान स्वरूप आत्मदेवमें दूसरा कोई पदार्थ है ही नहीं। जब ‘है ही नहीं’, तब ‘है ही नहीं’ कर निरूपण ही क्यों करते हो? यही कहो कि आत्मा ही



है। बोलनेकी शैलीमें हमारे अद्वैत वेदान्तियोंका और द्वैत वेदान्तियोंका जो फर्क है वह समझने लायक है। वह क्या है द्वैतवादी कहते हैं भगवान् ही जगत् है। और भगवान्के बारेमें पूछें तो ठनठनपाल! भगवान्को समझो पहले फिर भगवान्से अभिन्न जगत्को। भगवान्को समझनेके लिए दृश्यका निषेध करते हैं। दृश्यका निषेध भगवान् नहीं है। दृश्यका अभाव भगवान् नहीं है। दृश्यके अभावसे उपलक्षित—दृश्यका अभाव परमात्माके सबसे निकट हैं। उप माने पास, लक्षित माने लखानेवाला। जैसे दृश्यकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय—परमात्माका तटस्थ लक्षण है, वैसे ही दृश्यका अभाव भी परमात्माका तटस्थ लक्षण ही है। वह दृश्यके अभावसे उपलक्षित है प्रत्यक्चैतन्याभिन्न ब्रह्म तत्त्व। पहले दृश्यका निषेध करके उसको जान लो!

दृश्याभावसे उपलक्षित ब्रह्मसे भिन्न न दृश्याभाव है न दृश्य। इसलिए संवित् मात्र ही तत्त्व है। जिसने दृश्यको देखा वह संवित् और जिसने दृश्याभावको देखा वह संवित्। यह संवित् बहिरंगमें दृश्यका निषेध करके और अन्तरङ्गमें दृश्याभावसे उपलक्षित होकर स्वयं दृश्य और दृश्याभावका अधिष्ठान है। स्वयं दृश्य और दृश्याभावका प्रकाशक है। स्वयं दृश्य और दृश्याभाव स्वरूप है। पहले दृश्यका निषेध होना और दृश्याभावसे उपलक्षित स्वयं-प्रकाश सर्वावभासक संवित्को जानना और यह स्वयं अनुभव स्वरूप है। दृश्यका निषेध करके उससे उपलक्षित निर्विषय जो संवित् है, संवेदन है वह स्वयं प्रकाश है, उसको जानना। तो इसीसे बतलाया—

‘चित्तं निर्विषयं’—यह निर्विषय संवित् है—दृश्य और दृश्याभावसे विलक्षण संवित् चित्त नहीं है। यह निर्विषय असङ्ग ब्रह्म ही है। इसीलिए सविषय चेतनको चित्त बोलते हैं। निर्विषय चित्तको चेतन बोलते हैं। चित्त और चित्—एक डबल त्त का और एक आधे त् का है। एक पूरे त का भी होता है। यह तीन प्रकारका चित् माने जिसमें त हलन्त है—हलन्त चित् शब्द और एक अदन्त चित्त शब्द और एक अदन्त होनेपर भी डबल ‘त्त’ वाला चित्त शब्द। तो चित्त जो है—एक त वाला—वह तो चित्त है—संचित, प्रचित, उपचित, परिचितमें, जो चित्त है। इसका अर्थ होता है—ढेर राशि समूह। चित् चयने धातुसे त प्रत्यय होकर चित्त शब्द बनता है। और जो हलन्त चित् है न—वह चित्ति संज्ञानेसे—चेतसि इति चित्। वह चयनेसे भी बनता है दुःखका आगम होनेपर; परन्तु यहाँ चेतति इति चेत् स्वयंप्रकाशते—स्वयं-प्रकाशको चित् बोलते हैं और चित्त क्या है कि वह चित्



धातुसे फिर त प्रत्यय हुआ है। दृश्यकी अनेकतासे चित्तमें वृत्तियोंकी अनेकता मालूम पड़ती है वह चित्त है। चित्तमें भूतकी स्मृति भरी हुई है। और हलन्त चित्तमें भूतकी स्मृति और भविष्यकी कल्पना नहीं है। चित्त संस्कार है उसमें—संचित होता है। जैसे बोलते हैं संचित-कर्म। संचित-कर्मका विशेषण होता है। चित्त कर्म-संस्कारसे संस्कृत चित्तका वाचक होता है। चित्त जो है वह स्वयंप्रकाश चित्त धातुका बोधक है। तो—‘चित्तं निर्विषयं’—विषयका निषेध करके, विषयके अभावसे उपलक्षित जो चित्त है वह चित्त तो ‘अज’ है, ब्रह्म है। निर्विषयसे जड़का सङ्ग काट दिया और नित्यसे कालका सङ्ग काट दिया। अविनाशी और असङ्ग कहीं जाकर किसीके साथ चिपक जाता हो—ऐसा नहीं। उसमें आना-जाना नहीं, देशान्तरमें अवस्थित कोई विषय नहीं है। कालान्तरमें अवस्थित कोई विषय नहीं है। प्रत्यक्ष भी कोई विषय नहीं है। देश, काल और वस्तुकी कल्पनासे मुक्त चित्त साक्षात् ब्रह्म है। हमारे मनका ही नाम, ज्ञानका ही नाम ब्रह्म है। मन ही माया, मन ही ब्रह्म। विषय-कल्पनावाला मन माया है। विषय कल्पनासे मुक्त मन ब्रह्म है।

‘योऽस्ति कल्पितसंवृत्या’—अब प्रश्न यह हुआ कि यदि तुम निर्विषय होनेपर चित्तको असङ्ग—ब्रह्म बतलाते हो तो चित्तमें कोई विषय ही न रहे, कोई काल, कोई संस्कार ही न रहे तब चित्त ब्रह्म है तो ऐसा कभी होगा ही नहीं। ज्ञानको ज्ञान तब कहते हैं जब प्रकाश हो। तो अब यह प्रश्न हुआ कि निर्विषय चित्त ब्रह्म है, तो इसका अर्थ हुआ—समाधिस्थ चित्त ब्रह्म है। समाधि भी तो एक विषय है। क्यों! समाधि एक कालमें होती है। कालातीत तो होती नहीं। पाँच मिनट तक समाधि लगी। अन्तर्देशमें प्रवेश होकर समाधि लगी। विषयाभासमें स्थित होकर समाधि लगी। एतावत्काल पर्यन्त निर्बीज, निर्विकल्प अवस्थाका नाम समाधि है। असम्प्रज्ञात अवस्थाका नाम समाधि है। विषय-रहित अवस्थाका नाम समाधि है। तो फिर समाधि-कालमें ब्रह्म और व्यवहार कालमें चित् और जीव कैसे होगा? कितनी बार यह प्रश्न हुआ कि समाधि कर्मका फल है या नहीं? बहिरंग कर्मका फल न हो तो अन्तरङ्ग कर्मका फल तो मानना ही पड़ेगा। प्रवृत्ति कर्म है तो निवृत्ति क्या कर्म नहीं है? जैसे-आगे चलना कर्म है तो क्या पीछे चलना कर्म नहीं है? तो मनका विषयकी ओर जाना यह कर्म है, यह प्रवृत्ति है तो आत्माकी ओर लौटना—यह निवृत्ति है तो क्या यह कर्म नहीं है? प्रवृत्ति भी कर्म है निवृत्ति भी कर्म है। तत्त्वज्ञ न प्रवृत्ति-प्रधान होता है न निवृत्ति-प्रधान। वह



प्रवृत्ति और निवृत्तिमें सम होता है। तब प्रश्न यह है कि केवल समाधि दशामें, निर्विकल्प दशामें निःसंकल्प दशामें, निर्विषयक दशामें—निवृत्तिक दशामें ब्रह्म है। तब बाकी दशामें क्या है?

एक शास्त्र है—आप जानते ही हो—शासन करनेवाला, बाहर भी होता है, भीतर भी। बाहरका शास्त्र गुरु होता है, भीतरका शास्त्र—अन्तर्यामी। ‘अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानाम्’ शंकराचार्य भगवान् कहते हैं—‘न शास्ता न शास्त्रं न शिष्यो न शिक्षा।’ ‘योगिनो बिभ्यन्ति यस्माद्’ योगी लोग इससे डरते हैं। एकको भोगकी आदत पड़ जाती है कि जीभसे खाये तब मजा आये और एकको आँख बन्द करनेकी आदत पड़ जाती है कि आँख बन्द करें तब मजा आयेगा। अपनी-अपनी आदतमें दोनों इतने बँध जाते हैं कि आँख बन्द करनेवालेको खुली आँखसे मजा नहीं आता और खुली आँखसे देखनेवालेको आँख बन्द करने पर मजा नहीं आता। यह तो दोनों अपनी आदतसे ‘आदत्तं स्वीकृत’ अपने आदानसे, अपने चित्तके आग्रहसे बद्ध हैं। अपने मजाको बाँध देना—यह चित्तके संस्कार हैं—यह आग्रह हैं। इसीसे आशिक लोग दुनियामें दुःखी रहते हैं। दुनियामें आसक्त दुःखी रहते हैं। उनको तो दुनियामें वही एक चीज मिले तब सुखी होंगे। कढ़ी मिले तो खानेका मजा आये! और दाल मिले तो न आवे। खीर मिले तो भोजनका मजा! छाछ मिले तो ठीक नहीं। इस तरह जिन्होंने अपने आपको संसारके किसी भावमें बाँध दिया है वे आग्रही लोग ही संसारमें दुःखी हैं। यह देखो कि इस तरहसे यदि कोई विषयका मटियामेट करके दुःखी होगा तो असलमें—उस आदमीकी प्रकृति क्या है, बतलावे? एक आदमी बड़ा दुःखी था गाँवमें। एक दिन उससे बातचीत की कि तुम इतने दुःखी क्यों रहते हो? तो उसने कहा—महाराज, गाँवमें हमारा एक दुश्मन है। जबतक वह जिन्दा रहेगा तबतक हम सुखी नहीं हो सकते! अरे बाबा, वह अपने घरमें जीता है, तुम अपने घरमें जीते हो, उसको जीने दो, तुम्हारा क्या बिगड़ता है उससे? बोले—न-न महाराज, हम माला उलटा फेर रहे हैं!

‘जाके दुश्मन समुह बैठे ताके जीवनको धिक्कार!’ दुश्मन जिसके सामने आकर बैठ जाय उसकी जिन्दगीको धिक्कार है। अब यह क्या हुआ—यह द्वेषी प्रकृति हुई। अब जब ये ब्रह्म भी हुए पड़े, तब इनकी प्रकृति वही-की-वही बनी रह गयी। हमारे सामने यदि दृश्य रहेगा तो हमारे ब्रह्मपनेको धिक्कार है। धत् तेरेकी ऐसा द्वेषी ब्रह्म!



ब्रह्मकी प्रकृति न द्वेषकी है, न रागकी है। वह न तो किसीको अपने सामनेसे हटाना चाहता है और न किसीको पकड़कर अपने सामने रखना चाहता। उसकी प्रकृति सम है, उसकी प्रकृति असङ्ग है। द्वेषी, प्रकृतिके लोग बोले—जब तक दृश्य रहेगा तबतक ब्रह्मपना कैसे? महात्माओंने भी बड़ी अच्छी इसकी तरकीब निकाली—बोले, देखो, तुम कमरा बन्द करके, आँख बन्द करके बैठो। अपने मनको दृश्य, गुहामें ले जाओ। वहाँ तो नहीं जाता महाराज! तो चले जाओ, हिमालयमें। वहाँ बैठकर अपने मनको गुफामें ले जाओ! सचमुच तुम लोगोंमें रहने लायक नहीं है! यह ध्यान-धारणाका जो लोगोंको उपदेश है, वह बिलकुल ऐसे लोगोंके लिए ही है। आप बुरा मत मानना। यह बिलकुल सच्ची बात है। जिसकी प्रकृतिमें द्वेष है, दृश्यसे द्वेष है उसके लिए धारणा-ध्यानके द्वारा दृश्यके निवारणका उपदेश है।

‘योऽस्ति कल्पितसंवृत्या’—दो तरहसे यह दृश्य दिखायी पड़ता है। एक तो अपने स्वरूपका अज्ञान होनेसे यह दृश्य सच्चा मालूम पड़ता है और दूसरा—गुरु लोग—ये गुरु-घण्टाल लोग, कल्पना करनेवालेके अन्दर जैसा रोग रहता है उसके लिए वैसी कल्पना करके बतला देते हैं। जो मूर्खतामें फँसा हुआ है उसके लिए गुरुकी जरूरत है। उसके लिए शास्त्रकी जरूरत है। उसके लिए शिक्षाकी जरूरत है? जो हजार-हजार द्वैतमें फँसा हुआ है उसके लिए प्रमाता, प्रमाण, प्रमेयके द्वैतकी कल्पना करके विवेक करो कि यह प्रमेय है, विषय है—यह प्रमाण है—इन्द्रियाँ, बहिःकरण और अन्तःकरण और प्रमाता है जीव—तो उनके लिए हजार-हजार द्वैतको तीन विभागमें बाँट दिया। तो गुरुने उनकी भलाई की कि उनकी बुराई की? वे तो हजार द्वैतमें फँसे हुए थे, गुरुने उनकी भलाई की। यह कल्पित द्वैत हुआ न! यह कल्पित द्वैत अज्ञानका निवर्तक होता है, अज्ञानकी निवृत्तिमें सहायक होता है। तो यह गुरु-शास्त्रके द्वारा जो कल्पित द्वैत है वह साधक द्वैत है, बाधक नहीं। पर परमार्थ-दृष्टिसे वह नहीं है।

जबतक गुरु है, शास्त्र है, चेला है तबतक भला ब्रह्म कैसे! गुरु भी है—ब्रह्म है, चेला भी है—ब्रह्म है! शास्त्र भी है—ब्रह्म है; क्योंकि यह तो कल्पित संवृत्तिसे है न! संवृत्ति माने व्यवहार संवरण। आवरणकी दशामें जो साधककी कल्पना की गयी है वह है संवरण। अच्छा, दूसरी बात यह हुई। एक तो अपने स्वरूपके अज्ञानसे प्रपञ्चमें नानात्वकी भ्रान्ति और एक उस नानात्वकी भ्रान्तिके निवारणके लिए गुरु-शास्त्र आदिके द्वारा कल्पित युक्ति—इन दोनोंसे द्वैत नहीं होता है। माने



यह कि परमार्थ दृष्टिसे विषय दीखते हुए भी, दृश्य दीखते हुए भी, इन्द्रियाँ मालूम पड़ती हुई भी, अन्तःकरण मालूम पड़ता हुआ भी और प्रत्येक शरीरमें अलग-अलग प्रमाता मालूम पड़ते हुए भी—विषय भी प्रतीत होते हैं, इन्द्रियाँ भी प्रतीत होती हैं। प्रत्येक अलग-अलग प्रमाता भी प्रतीत होते हैं। परन्तु, प्रतीत होते हुए भी यह कल्पित संवृत्तिसे प्रतीत होते हैं। अपने स्वरूपके अज्ञानसे अथवा अज्ञानके निवारणके लिए कल्पित व्यवहारसे इनकी प्रतीति होती है, तत्त्व-दृष्टिसे परमार्थ-दृष्टिसे यह नहीं है।

बाबा! कल्पितसे अकल्पितका कहीं ज्ञान होता है? हम कहते हैं परछाँसे आदमीका ज्ञान होता है? शीशेमें जो तस्वीर है उससे अपनी नाकपर तिल है, इसका पता चलेगा! पानीमें जो परछाई दीखती है उससे आदमीका पता चलता है! आकाशमें जो नीलिमा है उससे आकाशकी विशालताका पता चलता है! कल्पित मिथ्या वस्तु सत्यकी प्रतिपत्तिमें, सत्यके ज्ञानमें सहायक होती है। इसलिए—

योऽस्ति कल्पितसंवृत्या परमार्थेन नास्त्यसौ।

जो ब्रह्म ज्ञानके उपायके रूपमें कल्पित जो श्रवण-मनन-निदिध्यासन है—श्रवणकी दृष्टिसे वेद है, मननकी दृष्टिसे बुद्धि है, निदिध्यासनकी दृष्टिसे स्थिरता है तो कल्पित साधनाकी दृष्टिसे वे सब-के-सब होने पर भी और प्रतीत होने पर भी, मालूम पड़ते रहनेपर भी परमार्थ-दृष्टिसे नहीं हैं। अर्थके परमरूपमें वे नहीं हैं। हम श्रवण करते हुए भी श्रोता नहीं हैं। मनन करते हुए भी वक्ता नहीं हैं, निदिध्यासन करते हुए भी निदिध्यासिता नहीं हैं, समाधि लगाते हुए भी समाधिस्थ नहीं हैं। तो, इसका मतलब हुआ कि निर्विषय बनाकर कृत्रिम निर्विषयता उत्पन्न करके कोई निर्विषय नहीं होता क्योंकि निर्विषयता जो उत्पन्न की जायेगी वह तो कृत्रिम होगी। अब प्रश्न यह आया कि परमार्थमें तो नहीं है और मालूम पड़ता है। इससे कोई हानि नहीं है?

‘परतन्त्राभिसंवृत्या’—बोले, भाई, कई चीजें तो हमारे सिद्धान्तोंमें न्यायमें, वैशेषिकमें, मीमांसामें अलग-अलग रूपसे कही गयीं। वैशेषिकने कहा कि परमाणु ही है! सांख्य-योगने कहा प्रकृति ही है। पूर्व-मीमांसाने कहा-कर्म है। जैनोंने कहा-पुद्गल है—द्रव्य-अद्रव्य, जीव-अजीव। दो प्रकारके द्रव्य हैं। पर्याय पृथक् है, द्रव्य पृथक् है। बौद्धोंने कहा विज्ञान है अथवा शून्य है। ये सब बातें परतन्त्र हैं। परतन्त्र दूसरे विचारक भी हमारे मददगार हैं। यह मत समझना कि



वे हानिकारक हैं। वे भी अपनी-अपनी भूमिकामें रहकर अपनी-अपनी सीढ़ीपर रहकर हमारी मदद करते हैं। जैसे कहीं सौ सीढ़ी चढ़ना हो और पाँच-पाँच सीढ़ी पर एक-एक स्वयं सेवक खड़े हों और हाथ पकड़कर नीचेसे ऊपर चढ़ा दें तो वे तो हमारे मददगार हैं। यदि उसमें-से कोई स्वयं सेवक हाथ पकड़कर रोक ले और कहे कि आगे मत बढ़ो तो यह तन्मतमें आग्रह हो जाना और वहीं रुक जाना—यह उन्नतिमें बाधक है। उन-उन मतोंमें होकर, उन-उन मतोंसे पार जाकर, उनके अभावसे उपलक्षित—मतिके, मतके अभावसे उपलक्षित रहकर सत्यका विचार करना।

यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः ।

मतिका कर्मभूत नहीं, मतिका अधिष्ठानभूत जो तत्त्व है, वहाँ पहुँचनेमें वे सहायक हैं दूसरे-दूसरे शास्त्रके व्यवहारकी रीतिसे उन-उन पदार्थोंकी सिद्धि होती है। जब वेदान्ती भी यह सिद्ध करने लगता है कि कर्मका संस्कार होता है तो वह स्वतन्त्रकी रीतिसे नहीं सिद्ध करता। पूर्व-मीमांसककी रीतिसे सिद्ध करता है। वह भी शून्यकी सिद्धि, निष्प्रपञ्चताकी सिद्धि करने लगता है तो वेदान्तकी रीतिसे नहीं करता। वह निष्प्रपञ्चता वेदान्तकी रीतिसे सिद्ध करता है! जब वह स्वर्ग-नरक आदिकी सिद्धि करने लगता है। वह पुराण दृष्टिसे उसको सिद्ध करने लगता है परतन्त्रकी दृष्टिसे लोक-कल्याणके लिए उनको सिद्ध करते हैं। लेकिन परमार्थतः वेदान्तकी जो दृष्टि है, अर्थका जो परम स्वरूप है वहाँ यह सब बात नहीं है। क्योंकि किसी भी वस्तुका लक्षण सृष्टिमें बनाये बनता ही नहीं। लक्षण बनाओ, तो लक्षणका मतलब यह होता है कि जैसे ये दो फूल हैं इसमें एक बड़ा है और एक छोटा है। दोनों हैं तो कुमुदके ही फूल। परन्तु एक दूसरेसे अलग हैं। बोलना पड़ेगा—एक दाहिने है। किसके दाहिने है? तब बायेंवाला सिद्ध हो जायेगा। एक बायाँ होगा तो दूसरा दाहिना होगा। एक छोटा है, तो एक उससे बड़ा होगा तब तो दूसरा छोटा सिद्ध होगा। दुनियामें कोई भी वस्तु एक दूसरेसे जुदा करनेपर दूसरी सिद्ध होती है। दूसरीके जुदा करनेपर पहली सिद्ध होती है। दोनोंमें जो पृथक्त्व है वह सिद्ध नहीं होता तो वह सिद्ध नहीं होती। बोले कि गायका क्या लक्षण है? 'सासनत्वं गोत्वम्'। सासनत्व माने जानते हैं आप? यह गलेमें जो ललरी होती है—गलकम्बल ललरी—वह जिस पशुके हो उसका नाम गाय। यह पहचान तुमने कैसे बनायी? कि हमने देखा कि यह भैंसके भी नहीं होती, बकरीके भी नहीं होती ऊँटनीके भी नहीं होती, भेड़के भी नहीं होती, गधीके भी नहीं होती—हमने



बहुत सारे पशु देखे। बिना ललरीके पशु देखकर तब ललरीरूप वैचित्र्य गायमें स्थापित किया। जब ललरीरूप वैचित्र्य एकमें स्थापित किया जायेगा तब दूसरे इससे रहित होंगे। क्योंकि अपने विरोधीके लक्षणके ज्ञानके बिना दूसरी वस्तुके लक्षणका ज्ञान होता ही नहीं; क्योंकि लक्षण तो व्यावर्तक होते हैं। तो किसीसे व्यावृत्त किया। यह जब रासायनिक विश्लेषण करते हैं—डाक्टर लोग खोज करते हैं। इसमें यह-यह है, इसमें यह नहीं है। इसमें ये दो चीजें ज्यादा हैं—एक मानक स्थापित करते हैं। उनमें-से इतने हैं और इतने नहीं हैं। एक इस प्रकार वस्तुकी पहचान बनानी पड़ती है। एकका लक्षण जब मालूम पड़ जाता है, तब दूसरेका लक्षण मालूम पड़ता है। यह जो लक्षणका ज्ञान है यह परस्परश्रित है। इसलिए भेद सबका-सब अन्योन्याश्रय है। यह जितना भौतिक विज्ञान है वह सब-का-सब द्वन्द्वात्मक है। परस्पर सापेक्ष है। परस्पर सापेक्षमें स्वतः सिद्धता नहीं होती। और जिसमें स्वतः सिद्धता नहीं होती, वह तत्त्व नहीं होता है। इसलिए परमार्थमें ये जो परस्पर सिद्ध पदार्थ हैं, ये तत्त्व नहीं हैं। ये परमार्थ नहीं हैं।

‘अजः कल्पितसंवृत्या’—यह अज क्या है? यह शास्त्र सांवृतिक भी सत्य है। कुछ ढककर कुछ बोलना—यह सांवृतिक सत्य है। जैसे स्त्री अपना मुँह थोड़ा घूँघटसे ढककर बात करे। यह जो परब्रह्म परमात्मा है, परमार्थ है, यह थोड़ा-सा शास्त्रके घूँघटकी आड़ करके तब शास्त्रसे थोड़ा दिखाते हैं, थोड़ा ढकते हैं। इसीको सांवृतिक सत्य बोलते हैं। जहाँ आवरण है। वहाँ संवृति है मुखपर संवरण है—तो व्यवहारमें संवरणको मानते हैं।

यह देखो एक श्लोक है—है तो नृसिंहका श्लोक और ऐसा श्लोक है कि जैसे पति और पत्नीमें परदा नहीं है, एकने दूसरेका अङ्ग सर्वथा देख लिया, परन्तु जब व्यवहारमें दोनों उतरते हैं तब ‘चैलांचले व्यवहितेन निरीक्षणीयः’—घूँघटकी ओटसे देखते हैं। नंगे होकर पति-पत्नी एक साथ नहीं रहते। व्यवहारमें ढककर रहते हैं। इसी प्रकार परब्रह्म परमात्माका जो निवारण रूप है वह परमार्थ होने-पर भी जब व्यवहारमें उसका निरूपण करते हैं तो थोड़ी-सी संवृति उसमें आ जाती है।

अच्छा, यह ‘अज’ क्या है? सुषुप्तिमें जो चीज नहीं होती है वह तो काल-परिच्छिन्न हो गयी न! वेदका कहना है कि सुषुप्ति कालमें वेद अवेद हो जाते हैं। यह बात आपके ध्यानमें होगी—‘तत्र देवा अदेवाः भवन्ति वेदा अवेदाः भवन्ति।’ उपनिषद्का कहना है कि सुषुप्ति कालमें पिता-पिता नहीं रहता, माता-माता नहीं



रहती, देवता देवता नहीं रहते, वेद-वेद नहीं रहते। सुषुप्तिमें अज्ञान तो रहता है; परन्तु वेद नहीं रहते। तो जो चीज सुषुप्तिकालमें अज्ञानमें लीन हो जाती है वह चीज अज्ञान-जन्य है वह बात मालूम पड़ेगी। अज्ञान निमित्तक है, अज्ञानके कारण है। साक्षी अज्ञानमें लीन नहीं होता। वह अज्ञानसे परे है। युक्ति तो सीधी-सादी है। सुषुप्ति अज्ञानमें लीन नहीं होती। सुषुप्तिसे उठने पर जो व्यवहार होता है वह सुषुप्ति-कालीन अज्ञानसे किञ्चित् अनुगत ही होता है। इसलिए वह सांवृतिक सत्य होता है। वहाँ संवृत्ति जरूर है। ढक्कन है, परदा है। अपने स्वरूपमें न जाग्रत् है, न स्वप्न है, न सुषुप्ति।

इस बातको हम फिर थोड़ा—‘यतो वाचो निर्वर्तन्ते’—जहाँ वाणीकी गति नहीं है। अच्छा—‘न विदमो न विजानीमः’—जहाँ बुद्धिकी गति नहीं है, अच्छा ‘अविज्ञातं विजानतां विज्ञातम् अविजानताम्’ जिन्होंने नहीं जाना उन्होंने जान लिया और जिन्होंने कहा कि हमने जान लिया उन्होंने नहीं जाना, क्योंकि जान लिया में सांवृतिक सत्य है। जान लिया इसमें अहं है—सांवृतिक-सत्य है। कुल मिलाकर देखो—अब यदि वेद-शास्त्रकी स्थितिका भी पर्यालोचन कर दें कि वे कहाँ रहते हैं! तो तैत्तिरीय उपनिषद्में इसका सबसे बढ़िया विवेचन है। आप कभी उसको देख लेना! मनोमय-कोषका जहाँ वर्णन है—एक मनोमय कोष है, एक प्राणमय कोष, एक अन्नमय कोष है। आजकल तो लोग सुन लेते हैं और कहते हैं कि हम अन्नमय कोष नहीं हैं। हम मनोमय कोष नहीं हैं। हम प्राणमय कोष नहीं हैं। हुक्म देते हैं कोषको कि हे कोष, तुम भाग जाओ हम कोष नहीं हैं। समझनेसे उनका बाध होता है, हुक्म देनेसे उनका बाध नहीं होता। चिड़िया है। एक तितर पक्षी है। उसका सिर है मनोमय कोष—‘तस्य यजुरेव सिरः।’ मनोमय कोषका सिर है-यजुर्वेद। ऋग् दक्षिण पक्ष है। साम-वाम पक्ष है।

मनोमय पुरुष सुषुप्ति कालमें इस मनोमय कोषको छोड़ देता है। स्वयं वह विज्ञानमय, आनन्दमय, ब्रह्ममें स्थित हो जाता है। उस समय इसका जितना सिर, पाँख है—यह सब-का-सब मनोमय कोषमें ही रह जाता है। यह वेदके माहात्म्यकी बात मैं आपको सुना रहा हूँ। वेदान्तकी दृष्टिसे वेदकी स्थिति मनोमय कोषमें है। यद्यपि वह सम्पूर्ण कोषोंसे परे परमात्माको लखानेमें समर्थ है लक्षणावृत्तिसे वह मनोमय कोषमें बैठकर परमात्माको लखा देता है, परन्तु रहता है वह मनोमय कोषमें ही। अच्छा, एक बात और आपको सुना देते हैं—जो चीज उत्पन्न होती है—आप जानते हैं—यह चित्त है।



एतस्माज्जायते प्राणः मनः सर्वेन्द्रियाणि च ।

चित्तकी उत्पत्ति उपनिषद्में साफ-साफ बतलायी हुई है। मनकी उत्पत्ति होती है इसलिए मन अनित्य है। डॉक्टर लोग, वैज्ञानिक लोग बहुत उन्नति करें तो आगे मनका भी निर्माण कर सकते हैं। परन्तु, अधिष्ठानका निर्माण नहीं कर सकेंगे। जिसमें वे खड़े रह सकेंगे। जिसमें सोचेंगे। और जहाँ क्रिया करेंगे और जिसमें बनावेंगे—इन सबका अधिष्ठान है उसका निर्माण डॉक्टर नहीं करेगा। मनका निर्माण रासायनिक विधिसे किया जा सकेगा।

अब, आप देखो—जिसको पुरुष-सूक्त याद होगा वे रोज यह पढ़ते होंगे—

तस्माद् यज्ञात् सर्वहुतः ऋचः सामानि यज्ञिरे..... ।

यह सहस्रशीर्षा पुरुषका वर्णन है। उस सहस्रशीर्षा पुरुषसे 'ऋचः सामानि यज्ञिरे।' ऋग्, साम, यजु और अथर्ववेदकी उत्पत्ति हुई किससे? कि विराट् पुरुषसे। विराट्के अवयव हैं ये सब। इसलिए मनोमय कोषसे ऊपर नहीं जा सकते।

अब प्रश्न यह हुआ कि इन्हीं शास्त्रोंमें अंजन्माका वर्णन है तो वाणीकी वहाँ गति नहीं, बुद्धिकी वहाँ गति नहीं। और वेद-शास्त्र सब रह गये मनोमय कोषमें। ये सब-के-सब विराट्से उत्पन्न हुए। परमात्माको, परमार्थको जो अज-अज कहते हैं सो कैसे? 'कल्पित संवृत्या'—ये भी कल्पित व्यवहारसे कहते हैं। ये शास्त्र भी संवृति हैं। कल्पित-व्यवहारसे बोलते हैं कि यह बात कैसी कि परिणामवादियोंने वर्णन किया कि ब्रह्म जगत्के रूपमें उत्पन्न होता है, आत्मा जगत्के रूपमें उत्पन्न होता है। जब लोगोंने आत्माके जायमान रूपका निरूपण किया तब जायमानताका, उस ज्ञातत्वका निषेध करनेके लिए शास्त्रने उसको अज कहा। अज जो है यह आत्माके जातव्यका व्यावर्तक लक्षण है। स्वरूप लक्षण नहीं है! जैसे जातत्व तटस्थ लक्षण है—

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातेन जीवन्ति ।

यह क्या लक्षण है? यह ब्रह्मका तटस्थ लक्षण है। माने जगत्, जन्मादिके द्वारा परब्रह्म परमात्माको हम सिद्ध करते हैं। यह जगत्के जन्म, स्थिति, प्रलय आदि पृथक् और इसके द्वारा सिद्ध होनेवाला परमात्मा पृथक्। यह जो हम परमात्माको अज कहते हैं, यह भी परमात्माका तटस्थ लक्षण ही है। यह भी स्वरूप लक्षण नहीं है। कि क्यों? कि स्वरूप तो हम खुद ही हैं, लक्षण कहाँसे स्वरूप होगा? लक्षण स्वरूप होता है, लक्षण थोड़े ही स्वरूप होता है। यह लक्षण

हैं, लक्ष्य नहीं। 'अजः कल्पित संवृत्या।' जायमानताका जो भ्रम है कि आत्माका जन्म-मरण होता है उनके लिए श्रुति दोनों तरहसे वर्णन करती है। ब्रह्म किसीका बेटा भी नहीं है, ब्रह्म किसीका बाप भी नहीं—'न कश्चित् जनिता।' 'न तस्य कार्यम्'—माने ब्रह्म का कोई बेटा नहीं है। 'अपूर्व' माने ब्रह्मका बाप नहीं है और 'अनपरं' माने ब्रह्मका बेटा नहीं। न ब्रह्मका कारण है, न ब्रह्मका कार्य। श्रुति सम्पूर्ण जगत्के कारणत्वका अध्यारोप करके ब्रह्मकी अद्वितीयता समझाती है। कारण-कार्य-भावका निषेध करके उसकी अद्वितीयता प्रतिपादित करती है।

अध्यारोपापवादाभ्यां निष्प्रपञ्चं प्रपञ्च्यते।

यह परमात्माकी अद्वितीयताको समझानेके लिए ही उसमें सृष्टिके कारणत्वका निरूपण है। अध्यारोप है। कारणत्वका अपवाद है। इसलिए परमात्मा परमार्थसे न जात है और न अजात। दोनोंसे विलक्षण है। सोचने और कहनेसे निराला। दोनोंका साक्षी। दोनोंका अधिष्ठान। दोनों जिसके स्वरूप जिससे भिन्न दोनों नहीं। जो स्वयं दोनों।

'परतन्त्राभिनिष्पत्या'—दूसरे तन्त्रमें माने जो साधक-तन्त्र हैं इस वस्तुको समझमें आनेके लिए द्वैतवादका आश्रय लेकर जो शास्त्र बनाये गये हैं, उनकी रीतिसे, संस्कृतिसे, कल्पित व्यवहारसे जैसे उसमें जातत्वकी कल्पना है। वैसे ही उसमें अजातत्वकी कल्पना है।

जायमानता भी व्यवहार है और अजायमानता भी। तभी तो अजायमान—स्वप्नका अजायमान जाग्रत्के जायमानका बाधक नहीं हो सकता। जाग्रत्का अजायमान स्वप्नके जायमानका—जिस सत्तामें जायमान है, उसी सत्ताका अजायमान उसका बाधक होता है। इसलिए जिस सत्तामें विधि है, उसीमें निषेध है। जिस सत्तामें जायमान है उसीमें अज है। और ये परस्पर आपसमें टकराकर, लड़कर चूर-चूर हो जाते हैं। परब्रह्म परमात्मा ज्यों-का-त्यों स्वयं प्रकाश है।

'अभूताभिनिवेशोऽस्ति'—इसलिए बतलाते हैं कि देखो यह जो मालूम पड़ता है दृश्य कि यह हमारे अन्दर कुछ पैदा हो गया है, कुछ रह रहा है, कुछ मर जायेगा—यह अभूताभिनिवेश है। यह एक भूताभिनिवेश होता है और एक अभूताभिनिवेश। यह अनुहुए संसारको संसार मानकरके उसमें हम अभिनिविष्ट हो गये हैं। हमारा जन्म-मरण होता है—सचमुच यह मालूम पड़ते हुए भी 'द्वयं तत्र न विद्यते।' इससे यह मत समझना जब समाधि लागेगी तब हम ब्रह्म होंगे। जब



निर्विषय होंगे तब ब्रह्म होंगे। जब निर्वित्तिक होंगे तब ब्रह्म होंगे। जब ऐसा होगा तब ब्रह्म होंगे। यही कल्पना करके लोग मरते हैं। कुछ भोगेंगे, कुछ सुख मिलेगा, कुछ करेंगे तब ब्रह्म होंगे। हेय, आप्य और पाक्य—तीन ब्रह्म होते हैं। हम ये-ये जब छोड़ देंगे तब ब्रह्म हो जायेंगे; हम ये-ये पा लेंगे तब ब्रह्म हो जायेंगे और हम ये-ये राग-द्वेषादि दोषोंसे शुद्ध होकर अपनेको ऐसी अवस्थामें ले जायेंगे तब ब्रह्म होंगे! यह ज्ञान कुछ मिटाकर या कुछ उत्पन्न करके तुमको ब्रह्म नहीं बताता है। यह ज्ञान यह बतलाता है कि सब ज्यों-का-त्यों होता हुआ भी और भासता हुआ भी, सपनेमें तुम बोलते-सुनते हुए भी ज्यों-के-त्यों वही हो, परमार्थ ही हो!

‘अजः कल्पितसंवृत्या’—श्रीगौड़पादाचार्यजीने कहा आत्मा अजन्मा है। ऐसा व्यवहार है। ऐसा हम उपदेश करते हैं। सुननेवाले सुनते हैं। ऐसा शब्द है। ऐसी वृत्ति है, प्रत्यय है। अज इति शब्दः। अज इति प्रत्ययः। ‘आत्मा अजन्मा है’ यह उपदेश गुरुका व्यवहार हुआ। ऐसा सोचना शिष्यके हृदयमें व्यवहार हुआ। ‘व्यवहारः शब्दोच्चारणं स्फुरणरूपो वा’ शब्दके उच्चारणका नाम व्यवहार है। और स्फुरणका नाम व्यवहार है। व्यवहार या तो मनमें फुरता है या शब्दसे बोला जाता है। अजन्मा है, ऐसा वाचिक और मानसिक व्यवहार है। वह कल्पित संवृतिके कारण है। यह व्यवहार अज्ञानमूलक आवरणमूलक कल्पित हुआ। माने प्रश्न यह उठा कि जब शास्त्र भी संवृतिरूप हैं—मन भी संवृतिरूप है, उत्पन्नके रूपमें जिसका वर्णन आता है, वह संवृतिरूप ही है। अनुत्पन्न भी संवृति है। शास्त्र-संवृतिसे कल्पना भी संवृति है। आत्माका अजन्मापन संवृतिसे ही सिद्ध है। संवृतिमूल होनेके कारण अजन्मापन संवृति ही है। बोले ठीक है, हम स्वीकार करते हैं! जन्मकी कल्पनाको काटनेके लिए अजन्मापनकी कल्पना है। एक कल्पित संवृति है, गुरु-शिष्यकी व्यावहारिक अथवा शिष्यके मानसिक व्यवहारकी सूचना है। भला यह जन्मके निषेधकी जरूरत क्या आ पड़ी?

‘परतन्त्राभिनिष्पत्त्या संवृत्या’—जो परिणामवादी हैं—जो आत्माका परिणाम मानते हैं, ब्रह्मका परिणाम मानते हैं, अवस्थान्तर मानते हैं। यह मुख्य बात एक ही है। हमें समझनेमें थोड़ी देर लगी थी, शुरू-शुरूमें हम आपको उसका नतीजा ही बतला देते हैं। जबतक जगत्के मूल तत्त्वको अपनेसे अन्य और परोक्षके रूपमें चिन्तन किया जाता है कि मैं चैतन्य हूँ और मुझ चैतन्यसे अन्य किसी सत्ताके रूपमें जगत्का चिन्तन है, तबतक वह मालूम सत्ता ही जगत्के रूपमें बनी रहेगी। कैसी सत्ता है वह? परोक्ष है। अनिर्वचनीय है। उसका निर्वचन



नहीं कर सकते। 'परोक्षापरोक्षाभ्यामपि'—अनिर्वचनीय है। अपरोक्ष कहना भी नहीं बनता; क्योंकि वह हमारे अन्तःकरणमें भी है। हमारे शरीरमें भी है। इन्द्रियमें भी है। परोक्ष और अपरोक्ष कहना भी नहीं बनता है; क्योंकि वह दृश्य तो होता नहीं। जबतक आत्मासे अन्य किसीको जगत्का कारण माना जाता है, तबतक उसको चाहे परिणामी मानो चाहे कर्ता, कुछ-न-कुछ मानना पड़ेगा। जड़ मानो तो भी परिणामी मानना पड़ेगा। चेतन मानो तो भी परिणामी मानना पड़ेगा। सृष्टिका उपादान कारण मानो तो भी परिणामी और निमित्त कारण मानो तो भी। सारी आपत्ति-विपत्ति जगत्के मूल-तत्त्वको अपनेसे जुदा माननेके कारण है! जहाँ यह बोध हुआ कि मैं चैतन्य ही जगत्का मूल हूँ, वहाँ कार्य-कारण-भावका बाध हो जाता है। दृश्य-द्रष्टा-भाव आगया। साक्षी-साक्ष्य आगया। अधिष्ठान-अध्यस्त आगया। चैतन्य साक्षी है। परिणामको प्राप्त होकर जगत् नहीं बना। मतलब हुआ जन्मका निषेध करनेके लिए अजत्वकी कल्पना की गयी। वस्तुतः अपना आत्मा न जायमान है, न अजन्मा। जो परतन्त्रसे अभिनिष्पन्न सिद्ध, दूसरे मतवादियोंके सिद्धान्तसे सिद्ध सांवृतिक व्यवहार है, उसमें आत्मा परिणामी जन्मवाला सिद्ध होता है—उसके निषेधके लिए श्रौत-सिद्धान्तका निरूपण किया।

प्रमाण-प्रमेय व्यवहार दो प्रकारका होता है। एक शास्त्रीय और स्वाभाविक शास्त्रका प्रमाण होना और स्वर्ग आदिका प्रमेय होना—यह शास्त्रीय व्यवहार है। स्वर्ग-नरक आदिका प्रमेय होना और शास्त्रका प्रमाण होना, घड़ी आदिका प्रमेय होना और नेत्रादि का प्रमाण होना—यह स्वभाविक प्रमाण-प्रमेय व्यवहार है। ये दोनों प्रकारके व्यवहार हैं, इसे श्रीशंकराचार्य भगवान्के अपने उपोद्घात भाष्यमें लिख दिया है। यह वेदान्तका प्रारम्भ है। श्रीगौड़पादाचार्यजी इसे कहीं वेदान्तसे भिन्न स्थानसे ले आये हैं—ऐसा नहीं समझना।

**अविद्यावद्विषयाणि प्रत्यक्षादीनि प्रमाणानि-शास्त्राणि च।**

यह श्रीशंकराचार्यका वचन है कि प्रत्यक्ष आदि स्वाभाविक और शास्त्रजन्य प्रमाण-प्रमेय-व्यवहार—ये अविद्यावान् पुरुषको ही विषय करते हैं। अविद्को सताते हैं, बाँधते हैं। जीवन्मुक्त पुरुषको नहीं। इस प्रकार 'परन्त्राभिनिष्पत्त्या'का अर्थ यह हुआ कि परिणामवादियोंके शास्त्रमें जो परिणाम प्रसिद्ध हैं उसकी अपेक्षासे, उसका निषेध करनेके लिए आत्माको 'अज' कहते हैं। संवृतिसे ही जन्म है और संवृतिसे ही अजन्मापन है, क्योंकि जिस सत्तामें जन्म है उसी सत्तामें उसका निषेध है। जन्म-अजन्मसे—ऐसे समझो कि अदृश्य, अग्राह्य, अचिन्त्य,



अलक्षणत्वात् आदिके द्वारा भी उपलक्षित, संकेतित आत्म-वस्तु नित्य-सिद्ध है। इन सभी कल्पनाओंका वह अधिष्ठान है। फिर शंका होती है—जब शास्त्र आदि कल्पित हैं तो ये अकल्पित आत्माको कैसे समझायेंगे? यह नियम बिलकुल नहीं है कि झूठी वस्तुसे सच्ची वस्तुका ज्ञान नहीं होता। प्रतिबिम्बादिसे भी बिम्बका ज्ञान होते देखा गया है। असलमें, यह अनुहुआ खेल दुनियाका चल रहा है।

अभूताभिनिवेशोऽस्ति द्वयं तत्र न विद्यते।

विषय जो मालूम पड़ता है जिसे प्रकाशित करनेके लिए इन्द्रिय और अन्त-कारणोपाधिक चैतन्यकी आवश्यकता है—उसे विषय बोलते हैं। विषय शब्द अनेक प्रत्ययोंसे निष्पन्न होता है। वि उपसर्गपूर्वक निष् बन्धने धातुसे। जिससे मनुष्य बाँधा जाय—उसे विषय कहते हैं। जो मनुष्यको बाँध ले। भले ही झूठे बाँधे। 'जड़ चेतनहि ग्रंथि परि गई—जदपि मृषा छूटत कठिनई'। बात यह है कि विषय असत्य हैं। असत्यमें अभिनिवेश हो गया है। कभी-कभी हम देखते हैं कि मनुष्यको झूठ ही अभिनिवेश हो जाता है। तन्मय हो जाता है। तन्मय हो जाता है किसी विषयमें। क्रोध आनेपर हम देखते हैं लोगोंको—'जौ सठ दंड करों नहिं तोरा। भ्रष्ट होइ श्रुतिमारग मोरा॥' समझते हैं अगर हम क्रोध नहीं करेंगे इसको मारेंगे नहीं, दण्ड नहीं देंगे तो वैदिक मार्गका ही विनाश हो जायेगा। अनादिकालसे जिसका विनाश अबतक नहीं हुआ, उसका विनाश हमारे दण्ड न देनेसे, गुस्सा न करनेसे हो जायेगा। इसको आवेश बोलते हैं। ऐसा होता है क्रोधावेश, कामावेश ऐसी स्थितिमें अज्ञानी हो जाता है आदमी! लोभावेशमें भी होता है। द्वैतका भी एक अभूताभिनिवेश है। 'असत्यभूते द्वैतेऽभिनिवेशः'—जो चीज कभी पैदा ही नहीं हुई, बिलकुल हैं ही नहीं, अधिष्ठान दृष्टिसे, आत्माकी दृष्टिसे, यथार्थ दृष्टिसे, परमार्थ दृष्टिसे—है ही नहीं—उसमें आग्रह हो गया है कि यह तो ऐसा ही है। अपने परिवारका, अपने भाई-भतीजेका कितना आग्रह होता है। अपने मुँहसे कोई बात निकल जाती है—कितना आग्रह होता है—अपने मनमें।

हम कितने साधुओंके बारेमें जानते हैं कि वे बन्द कमरेमें या बन्द गुहामें आँख बन्द करके बैठे। और उनके सामने कोई चमचम चमकती हुई चीज आ गयी, कोई यक्ष, कोई देवता, कोई भूत-प्रेत आ गया—तो मन ही भूत बनता है। मन ही ब्रह्मा-विष्णु-महेश बनता है। मनका खेल बड़ा विलक्षण है। जहाँ समूची सृष्टि मन बन सकता है वहाँ एक देवता-दानी बननेमें मनके लिए क्या आश्चर्य है? अपने मनके दृश्यमें आग्रह होता है। आग्रह-आग्रह माने बुद्धिको छोड़ना। दृश्यको



पकड़ना। यह आग्रह है। आकाशमें ग्रह रहते हैं, वे ज्यादा करके नासमझोंको सताते हैं समझदारोंको कम। मनमें आग्रह है, विग्रह है, संग्रह है, परिग्रह है, उपग्रह है, निग्रह है। योगियोंको निग्रह ही सताता है। दुनियादारोंको विग्रह, धनियोंको परिग्रह। और ये जो मतवादी, साम्प्रदायिक लोग होते हैं उन्हें आग्रह सताता है। ये सब पापग्रह हैं। पुण्यग्रह कोई नहीं है। ये सब राहु-केतु-शनिश्चर हैं। एक मनमें कोई संस्कार पड़ गया और उसको लेकरके बैठ गये।

हमको एकने आकर बतलाया कि हमको ज्योतिषीने बतलाया है कि उनके घरमें यह हो रहा है, उनका बेटा सोच रहा है, उनकी माँ यह सोच रही है, उनकी बेटी यह सोच रही है—ऐसे आकर एकने बतलाया हमको। अब आप समझो, ईश्वर-कृपासे बहुत अधिक नहीं तो थोड़ा ज्योतिष हमने अपने बाप-दादोंसे सीखा है। हम जानते हैं कि ज्योतिषमें ऐसी कोई प्रणाली नहीं है जो वर्तमान कालकी मानसिक स्थितिको या वर्तमान कालमें कमरेके भीतर बन्द होकर की जानेवाली क्रियाको बतला दे। किसी भी ढंगसे न ग्रह, न हस्तरेखासे, न कुण्डली, न सिर देखकर। यह होता क्या है कि किसी-किसीको यक्षणी सिद्ध होती है। यक्षणी माने—एक प्रकार मानसिक शक्ति। वे भूतको जान सकते हैं। उसके द्वारा वर्तमानको जान सकते हैं। लेकिन कल क्या होगा। यह उनका बतलाना गलत होता है।

मनुष्यको अपनी-अपनी बातपर—जैसे मुसलमानको मस्जिदमें आग्रह हो जाता है—एकको कर्णवेधमें तो एकको खतनेमें। यह मतका आग्रह 'बुद्धे फलमनाग्रहः।' बुद्धिको छोड़कर केवल प्रतीति-आग्रह कर बैठना—जो हमेशा बदलनेवाली है—बुद्धिमानका काम नहीं है। 'अभूताभिनवेशोऽस्ति' जो तुम अपने एक अन्तःकरणको—मैं अन्तःकरण-वाला और यह मेरा अन्तःकरण और यह 'मैं' शरीर और मैं शरीरवाला मानते हो—यह अभिनवेश है। अभूत माने जो चीज कभी बिलकुल पैदा हुई नहीं, जो बिलकुल है नहीं।

एक दिन सपना आया कि हम तो सीधे स्वर्गसे उतरकर आये हैं। दूसरे दिन सपना आया—तुम स्वर्गसे नहीं नरकसे आये हो! यह स्वप्नका स्वर्ग-नरक है। लोग स्वाप्निक प्रतीतिमें इतना दुराग्रह रखते हैं, वे यथार्थ तत्त्वसे, सत्यसे वंचित हैं। 'द्वयं तत्र न विद्यते'—अजी वहाँ द्वैत नामकी बिलकुल वस्तु है ही नहीं! जब मनुष्य यह जान लेता है कि द्वैत है नहीं—न कर्म है, न कर्ता है, न कारण है, न कार्य है। यह आनन्दका विवर्त है—भोक्ता और भोग्य। स्त्री भोक्ता है पुरुष भोग्य



है? पुरुष भोक्ता है, स्त्री भोग्य है? इन दोनोंमें—से कौन भोक्ता? अगर इसका कोई निर्वचन करना चाहे तो नहीं कर सकता! क्यों? यह संस्कार झूठा है कि चैतन्य पुरुष मनुष्य है—पुरुष है। स्त्री प्रकृति है। दोनोंका शरीर प्राकृत है। दोनोंका आत्मा चैतन्य है। दोनोंकी आत्मा प्रकृति, दोनोंका शरीर प्रकृति, दोनोंमें प्रकृति मिथ्या, ब्रह्म ही सत्य।

द्वयाभाव—यह मिथ्या अभिनिवेश है। कोई निर्वचन करके बतला दे! अरे भाई, अन्तःकारणकी उपाधिसे स्त्रीका आत्मा वह भोक्ता बना और पुरुषका शरीर भोग्य हो गया! अन्तःकरणकी ही उपाधिसे पुरुषका आत्मा भोक्ता बना और स्त्रीका शरीर भोग्य हो गया! यह भोक्ता—भोग्य दोनों औपाधिक हैं। आत्मामें न भोक्ता है न भोग्य। बोले, हम ज्ञाता और तुम ज्ञेय। नहीं तुम ज्ञाता और मैं ज्ञेय। शरीरकी दृष्टिसे मैं ज्ञेय और अन्तःकरण की उपाधिसे तुम ज्ञाता। शरीरकी दृष्टिसे तुम ज्ञेय और अन्तःकरणकी उपाधिसे मैं ज्ञाता। ये दोनों चैतन्यका विवर्त हैं। न ज्ञाता—न ज्ञेय। न ज्ञाता सच्चा, न ज्ञेय। हम मालिक तुम नौकर? हम कर्ता तुम कर्म? हम बाप तुम बेटे? हमने तुमको बनाया। ये दोनों सत्यके विवर्त हैं। और जहाँ—सत्—चित्—आनन्द एक है वहाँ कारण और कार्य, वहाँ ज्ञाता और ज्ञेय और वहाँ भोक्ता और भोग्य और वहाँ परिच्छिन्न और नरक—स्वर्गादिमें उसका आवागमन और इनके लिए धर्म—अधर्म आदि रूप हेतु बिलकुल ही सत्य नहीं हैं। तो जो यह जान लेता है कि द्वयाभाव है—द्वैतका बिलकुल अभाव है—वह जाननेवाला है। 'निर्निमित्तः'—अरे न उसको जाननेके लिए सूक्ष्मशरीर है और न सूक्ष्मशरीरको 'ड्राइव' करनेके लिए धर्माधर्म कर्ता है। यह सूक्ष्म-शरीरका संचालन करनेके लिए—एक कर्ता चाहिए। सूक्ष्म शरीर मोटर है। उसमें कर्ता बैठता है, वह ड्राइवर है। वह धर्माधर्मके अनुसार जैसी वासना होती है कि कहाँ जाना है, उसके अनुसार संचालन करता है। यहाँ मोटर भी सपनेकी, ड्राइवर भी सपनेका और धर्माधर्म भी सपनेका और उसमें जो मालिक बनकर बैठा हुआ है, परिच्छिन्न, द्रष्टा बनकर बैठा हुआ है वह भी सपनेका। तो, जब यह बात मालूम हो गयी तो—'निर्निमित्तो न जायते'—मोटर ही नहीं, ड्राइवर ही नहीं, धर्माधर्मका पेट्रोल ही नहीं। अब यात्रा कहाँ होगी? निर्निमित्तो न जायते—यात्राके माने नरकमें जानेके, स्वर्गमें जानेके, पुनर्जन्ममें जानेके, अलोकाकाशमें जानेके, उच्छिन्न होनेके जितने भी निमित्त थे वे सब—के—सब कट गये। निर्निमित्त हो गये तो जन्म कहाँसे होगा? जन्म और मरणके चक्करसे छुटकारा मिल गया!



‘यदा न लभते हेतून्’—जब मनुष्यके चित्तकी ऐसी स्थिति होती है—समझदारीकी बात है यह! आपको यह हम फिरसे बतलाते हैं—जो वेदान्तका ज्ञान है वह प्रमाण और प्रमेयका निर्धारण है। इसका नाम कर्मानुष्ठान नहीं है। यह कर्ताके प्रयत्नसे किये जानेवाला कोई कर्म नहीं है। यह कोई कर्ताके अधीन रहनेवाली भावनात्मक उपासना नहीं है। यह कोई अध्याससे सिद्ध होनेवाली यौगिक समाधि नहीं है। यह किताबमें पढ़कर भी सिद्ध होनेवाली वस्तु नहीं है। जब मनुष्यकी बुद्धि जागती है तब वह ढूँढ़ने लगती है कि स्वर्गमें जानेका निमित्त क्या है? मनुष्य जन्ममें, मर्त्यलोकमें आनेका निमित्त क्या है? नरकलोकमें और तिर्यक् योनियोंमें जानेका निमित्त क्या है? जब बुद्धि जागती है तब सोचने लगती है! तो, श्रुति जो है वह देखती है कि मनुष्य अपने हड्डी-मांस, विष्टा-मूत्र-चामके ही शरीरमें इतना आसक्त है—इतना अभिनिविष्ट है। ‘मैं’, ‘मेरा’ कितना पक्का हो गया है। श्रुति कहती है कि तुम यह स्थूल शरीर नहीं हो, तुम सूक्ष्म शरीर हो। सूक्ष्म शरीर इसलिए नहीं बतलाया कि तुम इसको पकड़ करके बैठ जाओगे! एक आदमीको छतपर जाना था तो उसने कहा कि अभी तो दस सीढ़ी बाकी है। अरे भाई, चार तो चढ़ जा, फिर देखना! चार चढ़नेके बाद फिर छह ही बाकी रहेगी, रास्ता कम हो जायेगा। इसलिए, अपनेको स्थूल शरीरसे जुदा समझना, सूक्ष्म शरीर समझना, नरक-स्वर्गमें जाने-आनेवाला समझना, यह रास्तेको कम करता है। यह नहीं कि चौथी सीढ़ीपर जाकर बैठ गये—बोले, बस हम तो इसीको सच्चा समझते हैं। अब हम इसीमें बैठेंगे! वहाँ मत फँसो भाई! वह फँसनेकी जगह नहीं है!

एक आदमी अन्धेरी रातमें एक बार जंगलमें फँस गया। एकदम अन्धेरी रात, बादल छाये हुए, न चन्द्रमा दिखे न तारा। अब उस बेचारेने रो-गाकर बारह बजा दिये। डर लगे, नौद तो आवे नहीं। कहीं साँप न आजाय! कहीं चोर-भूत न आ जायँ? उसे मालूम पड़े-छह महीने हो गये! रात कटती ही नहीं। दो बज गये। तीन बज गये, चार बज गये। अब वह कहने लगा, हाय-हाय! इतनी देरमें रात नहीं कटी तो अब तो हम मर जायेंगे। उसने आत्म-हत्याका निश्चय किया। क्या वह उसका निश्चय ठीक था? बिल्कुल गलत था। ऐसे ही स्थूल शरीरसे सूक्ष्म शरीरमें ले जानेसे। एक तो देखो, श्रद्धा उत्पन्न होती है अन्तःकरणमें। दूसरे आत्मा जो है वह देहातिरिक्त है—यह भी मालूम पड़ता है। तीसरे धर्मानुष्ठानमें श्रद्धा होती है। चौथे-शास्त्रमें श्रद्धा होती है। पाँचवें-शास्त्रके तात्पर्य-निर्णय



करनेकी युक्ति आती है। बड़े-बड़े लाभ होते हैं। तो, जब विचार करते हैं कि हमारे आत्माका जो स्वरूप है वह तो—‘अदृष्टं द्रष्टुं अश्रुतं श्रोतुं’—‘अमृतं मनु, अविज्ञातं विज्ञातुं’—श्रुति कहती है वह देखा नहीं जाता है, देखता है। वह सुना नहीं जाता सुनता है। वह मनन नहीं किया जाता मनन करता है। वह जाना नहीं जाता है—जाननेवाला है। वह वाच्य नहीं है, वह वाणीका विषय नहीं है, वह वाणीके पीछे बैठकर बोल रहा है। अरे वही ब्रह्म है। यह जो बोलते राम हैं, रमते राम हैं—इनको जरा लाऊड-स्पीकरसे अगल करके देखो! यह वाणी लाऊड-स्पीकर है। भीतर मशीन चल रही है। यन्त्र चल रहा है। जिससे यह जीभ हिलती है और अमुक-अमुक बात बोलती है, वह भीतरका कारखाना है। कारखानेमें एक जगह विनौला-सहित रुई डालते हैं और दूसरी जगह सूत निकलता है। दूसरी जगह सूत लगाते हैं कपड़ा निकलता है। भला! यह छापनेवाली मशीनें होती हैं, उनमें बिलकुल कोरा कागज डालते हैं और हजारों कागजमें-से एक कागज उठाकर उसे छापकर और फिर सुखाकर, मोड़कर और एक जगह बिलकुल करीनेसे सजाती चली जाती है। एक मनुष्य समझ-बूझकर जैसे करता है वैसे। आल्मोनियमका कारखाना देखा। कैसे मिट्टीमें-से अल्मोनियम निकाल लेते हैं। वह सिल्ली-बिलकुल मिट्टीमें-से। यह जो शरीरका कारखाना है—यह कैसे चलता है? जीभ बोलती है, दिमाग सोचता है। जो सोचते हैं सो भी जीभ बोलती है। यह मशीन है। इसमें भीतर एक लाऊड-स्पीकर है। एक मशीन चल रही है। वह मशीन इच्छासे चल रही है। इच्छा भी एक मशीनमें उदय हो रही है—अपनेको उस इच्छासे, उस मशीनसे जरा जुदा करके देखो! वहाँ केवल धर्मसे उत्तम योनियाँ मिलती हैं। ऐसा कहा जाता है।

धर्म और अधर्मके मिश्रणसे मनुष्य-शरीर पैदा होता है। वहाँ जो कहा जाता है कि अधर्मसे पशु-पक्षीकी योनि प्राप्त होती है। नरक प्राप्त होता है। वह सब मशीनके साथ है। अपनी आत्माके साथ कोई नहीं है। अपनी आत्माके स्वरूपमें न उत्तम कर्म है, न मध्यम कर्म है, न अधम कर्म है। अब उस समय जब यह मालूम पड़ा कि यह कर्म और कर्मके निमित्त कोई नहीं हैं तो चित्त किसी आकारको प्राप्त नहीं होता। जन्म नहीं होता उसका। जब धर्माधर्म ही नहीं है तब फलकी प्राप्ति कहाँसे होगी?

अब समझो—चित्त सनिमित्त और निर्निमित्त—दो प्रकारका है। निर्निमित्त माने स्वर्ग, मर्त्यलोक, नरक, ऊँचाई-निचाई जितनी भी प्राप्ति है, वह कर्मसे होती



हैं। हमारे चित्तका तो कर्मसे कोई सम्बन्ध ही नहीं है। पहले यह सिद्ध कर चुके हैं। चित्त हेतु है कि फल? विचार करो! चित्त द्रष्टा है या दृश्य! चित्त कारण है या कार्य! चित्त चैतन्य है या जड़! यदि जड़ है तो उसके जन्म और नाशसे हमारा क्या सम्बन्ध नहीं? यदि चैतन्य है तो उसमें धर्माधर्म आवागमन है या नहीं! स्पष्ट हो गया कि यदि चित्त जड़ है—हम द्रष्टा हैं, तो यदि चित्तका जन्म-मरण होता है तो हो उससे हमारा क्या रिश्ता? श्रीउड़ियाबाबाजी महाराजसे यह प्रश्न मैंने किया था। वे बोले—चित्त जड़ नहीं है, चैतन्य है। इसका माने यह हुआ कि मैं ही हूँ। चैतन्य है तो धर्माधर्मके साथ या कर्माधर्मके साथ उसका सम्बन्ध होगा ही नहीं। सिवाय भ्रान्तिके। चैतन्य वस्तु-स्वयं प्रकाश है, उसका किसीके साथ सम्बन्ध नहीं होता। सम्बन्ध तभी तक है, जबतक हम चैतन्यको नहीं समझते हैं तभी चैतन्य सम्बन्धका भी साक्षी है। चैतन्यकी परमार्थ सत्ता है। उसकी समसत्ता न जाग्रत है, न स्वप्न है, न सुषुप्ति है। तो, यदि इनकी वही सत्ता नहीं है तो उसके साथ इनका सम्बन्ध कैसे होगा? अरे, यह तो मरते-जरते, बिगड़ते टूटते-फूटते रहेंगे। चैतन्य ज्यों-का-त्यों रहेगा। यह असम्बन्धमें ही सम्बन्धकी कल्पना हो रही है। इसके कारण अपना जन्म और मरण; आना जाना; सुखीपना, दुःखीपना, असम्बन्धमें सम्बन्धकी कल्पना हो रही है। असम्बन्धमें सम्बन्धकी कल्पना कैसे हो गयी? तो बोले—अपने असम्बद्ध स्वरूपको जानते नहीं हैं। अपनेको स्वयं प्रकाश सर्वाधिष्ठान नहीं जानते हैं।

‘अनिमित्तस्य चित्तस्य यानुत्पत्तिः समाद्वया।’—प्रश्न यह उठा था कि ‘तदा न जायते चित्तम्’—जब ऐसी स्थिति होगी, माने जब कारण-कार्य-भावकी कल्पना मिट जायेगी तब चित्तकी उत्पत्ति नहीं होगी। तब तो चित्तके साथ कालका सम्बन्ध रहेगा—अमुक कालमें चित्त ऐसा होगा। बोले—यह मतलब नहीं है कि इसी कालमें चित्त ऐसा है, जिस समय रस्सीमें साँप मालूम पड़ता है—या सीपमें चाँदी मालूम पड़ती है उस समय भी वहाँ सीप ही है। जिस समय रस्सीमें साँप मालूम पड़ता है उस समय क्या वहाँ साँप है? आकाशमें नीलिमा मालूम पड़ती है—सोपाधिक-ब्रह्मका दृष्टान्त है इस समय आकाशमें नीलिमा नहीं है। वह भ्रमसे सिद्ध है। ‘तदा न जायते चित्तम्’का अर्थ है कि आत्माका तब जन्म नहीं होगा? आत्माका अभी जन्म नहीं है। तुम आत्माको नहीं जानते हो इसलिए आत्माका जन्म मानते हो। लेकिन, एक बात कहूँ! छोटी-सी बात है—कभी-कभी बड़ी बातके बीचमें छोटी बात कहना भी जरूरी होता है। जो लोग ऐसा मानते हैं कि इस



शरीरके रूपमें मेरा जन्म हुआ है और इस शरीरकी मृत्यु होगी—मैं मरूंगा और शरीरके जन्मसे मेरा जन्म हुआ है, वे यदि यह कल्पना करें कि मेरा पहले जन्म नहीं था और आगे जन्म नहीं होगा तो उन्होंने क्या समझा आत्माके स्वरूपको ? नहीं समझा। इसमें यह समझना जरूरी है कि जो यह हाथ, नाक, कान, पाँव, दिल, दिमागवाला शरीर हमको मालूम पड़ता है। यह मुझ चैतन्यमें न कभी पैदा हुआ, न है, न तो मरेगा। बन्ध्या-पुत्रवत् प्रतीयमान हो रहा है। तो जब इस वर्तमान शरीरके सम्बन्धमें, आत्माके ज्ञानसे शरीर बाधित होगा, तब पूर्व-शरीर और उत्तर शरीर ? किस पूर्वजन्मके कर्मसे यह शरीर पैदा हुआ और इस जन्मके कर्मसे अगला कौन-सा शरीर पैदा होगा—ये दोनों बातें बाधित हो जायेंगी। यदि तुम्हारा यह शरीर बाधित नहीं होता और मान लेते हो कि पीछे भी नहीं और आगे भी नहीं, तो समझना कि वह भी नासमझीसे ही माना है। तुमने स्वर्ग-नरकका खण्डन करनेके लिए माना, वह तो तुमने धर्माधर्मके प्रति नास्तिकतासे माना। इस शरीरका बाध किये बिना तुम्हारा पूर्वोत्तर शरीर यदि बाधित होता है, तो समझना कि तुमने नास्तिकतासे पूर्वोत्तर शरीरका बाध किया, पुनर्जन्मका खण्डन किया। पूर्व जन्मका खण्डन किया। उत्तर जन्मका खण्डन किया। स्वर्गका खण्डन किया। नरकका खण्डन किया और इस शरीरको ज्यों-का-त्यों स्थापित कर लिया। यह रहेगा तो इसका बीज भी रहेगा। इसका अंकुर भी रहेगा। तत्त्वज्ञानकी दृष्टिसे इस शरीरका बाधित होना जरूरी है।

जिनके चित्तमें पहले धर्माधर्म, स्वर्ग-नरक, कर्तृत्व, पूर्व-जन्म और उत्तर जन्मका ठीक-ठीक विवेक नहीं हुआ है, वे भले वेदान्त सुनते हैं, तो ऐसा समझते हैं कि हमारा पूर्वजन्म भी नहीं था और उत्तर जन्म भी नहीं है। तब यह जन्म काहेके लिए है ? तो बोले—मौज करनेके लिए। यह नास्तिकतामूलक पूर्वजन्म और उत्तर-जन्मका निषेध है। पूर्वजन्म और उत्तरजन्म आस्तिकतामूलक हैं। आस्तिकता और नास्तिकता—दोनों अधिष्ठानमें कल्पित हैं। अधिष्ठानका ज्ञान होनेसे आस्तिकता और नास्तिकता दोनों बाधित होती हैं। इस शरीरका अभिनिवेश बाधित होगा। स्वर्ग-नरकका अभिनिवेश बाधित हो गया और इस शरीरका अभिनिवेश बना रहा—तो मूर्खता है यह। यह वेदान्तकी समझ नहीं है।

‘अनिमित्तस्य चित्तस्य’—जब कारण नहीं होता तब चित्तकी उत्पत्ति नहीं होती। कोई काल आवेगा उसमें चित्तकी उत्पत्ति नहीं होगी। तो, यह बात समझाते हैं कि नहीं भाई, यह चित्त यह निर्निमित्त ही है। और इसकी अनुत्पत्ति

है। वह सम है, अद्वय है। साक्षात् ब्रह्म ही है। वह इस कालमें भी है, पहले भी थी, आगे भी है।

‘अजातस्यैव सर्वस्य’—सर्वदा यह आत्मदेव जो हैं—यह अजात ही हैं। द्वैत कभी उत्पन्न हुआ ही नहीं। अद्वय हैं—क्योंकि ज्ञान चाहे हुआ हो या न हुआ हो वस्तु तो अपने स्वरूपमें ही रहती है। आकाश तो स्वच्छ ही रहता है, चाहे तुमको उसमें धूल-धूसरत्व आदिका पता लगे कि नहीं लगे—

यथा गगन घन पटल निहारी,  
झांपेहुँ गगन कहहिं अविचारी।  
निरखहिं लोचन अंगुली लाए,  
प्रकट युगल ससि तिनके भाएँ॥

‘नभ तम धूम धूरि जिमि सोहा’—जैसे नभमें तमका सम्बन्ध। यह अन्धेरेसे आकाश—ढक जाता है। अन्धेरा आता है, जाता है—आकाश तो आकाश है! क्या धुँएसे आकाश धूमिल हो जाता है? धुँआ आता है और जाता है। धूल आकाशमें आती है, जाती है। आकाशके साथ तमका, आकाशके साथ धूमका, आकाशके साथ धूलका क्या सम्बन्ध है?

बालक भ्रमहि न भ्रमहि गृहादी।  
कहहिं परस्पर मिथ्यावादी॥

‘अजातस्यैव सर्वस्य’—यह जो आत्मदेव हैं यह सर्वथा अजात हैं। क्योंकि यह जन्म जो है—‘चित्तदृश्यं हि तद्यतः’—(77) कितने धर्माधर्मरूप निमित्त; नरक-स्वर्गादिरूप लोक; सुख-दुःखादि फल—ये सब-के-सब दृश्य हैं। दृश्य अधिष्ठानमें सर्वदा कल्पित ही होता है।

‘बुद्ध्वानिमित्तां सत्यां’—‘अमृतमश्नुते’ जैसे आता है। शास्त्रमें—‘यो हविः हवनं ब्रह्म वेद’ जैसे आता है। जिसने अभय-ब्रह्मको जान लिया वह अभय हो गया। ‘अभयं प्रतिष्ठां सिद्ध्यते’—वह निर्भय हो जाता है! काहेसे? जन्मसे, मरणसे, बुढ़ापेसे, रोगसे, वियोगसे, स्वर्गसे और नरकसे निर्भय। शरीरको मिट्टीका डला समझकर मिट्टीमें डाल दिया। अध्यस्तको अधिष्ठानमें फेंक दिया। ‘जिस सरका है यह बाल, उस सरमें इसे जोड़ दें।’ यह जो है इसको वही रहने दो! यह समझ लो यह जो अनिमित्ता है—जन्मका, द्वैतका अभाव है। इसके कारण न जन्म हो सकता, न द्वैत। यह बिलकुल सच्ची बात है। अपने आत्मासे पृथक् न कोई लोक न कोई परलोक। न कोई धर्म, न कोई अधर्म, न कोई वृत्ति, न कोई



अवृत्ति। जहाँ यह बात मालूम पड़ी कि हम जहाँ हैं वहाँ हम ही हैं—जब हैं तब हम ही हैं, सब कालमें, सब देशमें जो है सब हम ही हैं। जो है के रूपमें मालूम पड़ता है सो भी जो नहींके रूपमें मालूम पड़ता सो भी। आस्तिकता और नास्तिकता दोनों—मैं। दोनों अपने-में कल्पित और दोनोंका अपने-में अभाव और दोनों अपने स्वरूप। तो जो है, सो जहाँ है तहाँ और जब है तब माने अभी, यही और यहीं—मैं अपना आत्मा। इसके लिए कोई निमित्त नहीं है, न कहों जाना न आना।

जिसने परमात्माको जान लिया उसने हर्ष और शोकको छोड़ दिया। नदी बह रही है और वह तटस्थ हो गया। 'स शान्तिमाप्नोति न कामकामी'—तो—'यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा यस्य हृदि स्थिताः' शोककी निवृत्ति हो गयी, कामकी निवृत्ति हो गयी, भयकी निवृत्ति हो गयी—'अभयं ब्रह्म तद् जिज्ञासस्व'—जो ब्रह्मको जानता है वह स्वयं अभय ब्रह्म होता है। 'अभयं पदम्'—यह तो शून्यको गोली मारनेवाला है। 'पदम्' शब्द जो यहाँ है। यह—'वीतशोकम्' भी श्रौत, 'अकामम्' भी श्रौत, 'अभयं' भी श्रौत और 'पदम्' भी श्रौत और 'अश्नुते'—भी।

सर्वान् कामान् मया ब्रह्मणा अश्नुते, सर्वान् कामान् यद्गत्वामृतमश्नुतं अभयं पदमश्नुते।

तो यह श्रुति-स्मृति-सूत्र-सम्मत पदका प्रयोग किया। अश्नुतेका अर्थ होता है व्याप्नोति। अभेदं अनुभवति अर्थात् 'स्वयं वीतशोकं ब्रह्म भवति'—अकामं ब्रह्म भवति, अभयं ब्रह्म भवति—वह स्वयं अक्षर है, स्वयं ब्रह्म है।

**अभूताभिनिवेशाद्धि सदृशे तत्प्रवर्तते।**

**वस्त्वभावं स बुद्धवैव निःसङ्गं विनिवर्तते ॥ 79 ॥**

**निवृत्तस्याप्रवृत्तस्य निश्चला हि तदा स्थितिः।**

**विषयः स हि बुद्धानां तत्साग्न्यमजमद्वयम् ॥ 80 ॥**

**अजमनिदमस्वप्नं प्रभातं भवति स्वयम्।**

**सकृद्विभातो ह्येवैष धर्मो धातुस्वभावतः ॥ 81 ॥**

यह बात बतलायी कि जब आत्माको परमात्माके रूपमें जान लेते हैं—एक आत्मदेवके सिवाय दूसरी कोई वस्तु है ही नहीं और यह अनिमित्त है। अनिमित्त माने किसी भी उत्पत्तिका या स्थितिका या प्रलयका निमित्त नहीं है, न नैमित्तिक है। न तो किसी निमित्तसे उत्पन्न हुआ है यह आत्मा और न तो और कुछ इससे उत्पन्न होता है—न हेतु है, न फल है। यह तो सम है, अद्वय है। नित्य-शुद्ध, बुद्ध,

मुक्त, स्वभाव हैं। परमार्थ सत्य यही है। अनिमित्ततां सत्यां बुद्ध्वा—परमार्थ सत्य स्वरूप है। न किसीसे पैदा होता है और न किसीको पैदा करता है। उसके सिवाय दूसरा कुछ है नहीं। 'हेतुं पृथगनाप्नुवन्'—शरीरसे कर्म पैदा होता है कि कर्मसे शरीर पैदा होता है? कौन आगे, कौन पीछे, कौन छोटा, कौन बड़ा—यह सब कुछ नहीं। 'पृथक् हेतुं अनाप्नुवन्'—धर्माधर्मादिरूप हेतु अपने स्वरूपसे पृथक् नहीं। पृथक् सिद्ध नहीं होते। माने अपने-से पृथक् कुछ नहीं। पृथक् सिद्ध नहीं होते। माने अपने-से पृथक् कुछ नहीं। फल बतलाते हैं—'वीतशोकं तथाकामं अभयं पदमश्नुते'—इससे वीतशोक हो जाता है—

मुण्डकोपनिषद्में है—

यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्।

तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरंजनः परमं साम्यमुपैति॥

मु० 3.1.3

श्वेताश्वतरोपनिषद्में आया है—

अणोरणीयान्महतो महीयानात्मा गुहायां निहितोऽस्य जन्तोः।

तमक्रतुं पश्यति वीतशोको धातुः प्रसादान्महिमानमीशम्॥

श्वे० 3.20

यह वीतशोक पद श्रुतिमें आया है। थोड़ी-सी बात आपको सुनाते हैं। शोक कहते हैं भूत-वृत्तिको। जो दुःख पहले बीत जाता है। कोई मर गया तो शोकग्रस्त हो गये। कोई बिछुड़ गया उससे शोकग्रस्त हो रहे हैं। एक दिन बड़ा अपमान हुआ। उसका मनमें बड़ा शोक। हमारे जीवनमें भी बहुत सारी दुःखकी घटनाएँ घटी हैं। आप समझो—हमारे भाई मर गये, बाप मर गये, बाबा मर गये, बड़े-बड़े मित्र बिछुड़ गये। एक बार संकटमें फँस गया। सामने-से आकर एक साँप फण फैलाकर—फुफकारकर खड़ा हो गया। ऐसा भी प्रसङ्ग आया। उस दिन साँप काट ही जाता! मैंने क्या किया—कि एक पंखा था मेरे हाथमें ताड़का। उसके अपने बीचमें चलाता रहा। वह नाग था। कभी दाहिने फण करे कभी बायें! और मैं उस पंखेको दाहिने-बायें करता रहा। तबतक दूसरे लोग आ गये। उन्होंने बचा दिया! अच्छा, उस समय चित्तकी कैसी स्थिति थी? क्या बतावें आपको? अब स्मरण करते हैं तो बड़ी खुशी होती है। क्यों खुशी होती है? कि कैसी बहादुरीसे उसका सामना किया। एक दिन बुखार आया—बड़ा ही तेज। 105 डिग्री आया! अब मरे, तब मरे!! तभी हमारे एक उत्तराधिकारी आ गये—बोले कि 'बिल' पर



हस्ताक्षर कर दो। एक बात आपको सुनाते हैं—अब याद आती है कि कैसे सहकर निकल आया। और उसके बाद स्वास्थ्य बहुत बढ़िया हो गया। तो, यह जो मूर्ख लोग होते हैं वे शोककी घटनाको याद करके कि हमारा मर गया, बिछुड़ गया—रोते हैं। हमको याद आता है कि हमारे पितामह जब मर रहे थे तब हम उनके शरीरके पास खड़े रहकर देख रहे थे कि क्या हो रहा है, कैसे शरीर काला पड़ रहा है—हाथ कैसे काले पड़ गये, पाँव कैसे काले पड़ गये। गलातक काला पड़ गया। याद आता है—एकाएक उनका मुँह कैसे हो गया। उनकी आँख उलट गयी। तो, मैं तो देख रहा था, बड़े गौरसे। आज जो मालूम पड़ता है कि बड़ा शोक हो रहा है, वह बादमें अपने लिए बहादुरीका संस्मरण बन जाता है। एक बार बाढ़-पीड़ितोंमें मदद करनेके लिए गये और डाकू आ गये रातमें! घेर लिया। हमलोग अलग खड़े हो गये। ले जाओ बाबा! 100-200 गाँठ रही होंगी कपड़ेकी। 100-200 मन अन्न होगा। हम तो गरीबोंको बाँटनेके लिए लाये थे, अब तुम लूटकर ले जाते हो तो ले जाओ! आज तुम तो ले जाओ, पर यह बात पक्की है कि फिर कभी हम यहाँ नाव लेकर बाँटनेके लिए नहीं आयेंगे। अब उनमें दो राय हो गयी—एक बोले कि नहीं गरीबोंको बाँटने दो, ये फिर लेकर आयेंगे। दूसरे बोलें कि नहीं उठाकर ले चलो। आपसमें फूट हो गयी, मार-पीटसे किसी तरह बचे। अन्तमें सुलह करके चले गये।

एक बार वृन्दावनमें डाकू आये! सत्रह आदमी बन्दूक लेकर आमने-सामने आ गये। तो, हमने तो पुकार दिया, चिल्ला दिया कई बार कि पुलिसको सूचना लोग पहुँचा दें। जब बात बादमें याद आती है तो गुदगुदी होती है। जीवनमें संकटके, पीड़ाके जो प्रसङ्ग होते हैं, वे आगेके लिए बहादुरीके संस्मरण बन जाते हैं। पाकिस्तानकी लड़ाईके समय-युद्धसे मेजर लोग आये थे—हमने उनसे मुलाकात की थी। वे बतलाते थे—हमने कैसे टैंक तोड़ा, कैसे उनपर चढ़कर गोला फेंका, हमारा पाँव कैसे कटकर गिर गया; हाथमें गोली कैसे लगी! ये बीते हुए जो दुःख हैं उनको याद करके रोना बेवकूफी है। उनको याद करके खुश होना चाहिए। हमने बड़ी बहादुरीसे उनको सह लिया और पार कर लिया। यह तत्त्वज्ञान शोकको मिटा देता है क्योंकि वह तो सपना ही हो गया—फिर लौट थोड़े ही सकता है। अच्छा, सामने जो वस्तुएँ दीखती हैं, वे जब सच्ची मालूम पड़ती हैं तब उनके लिए बड़ी कामना होती है—हमको यह चाहिए, यह चाहिए, यह चाहिए।

इंगलैण्डमें एक सज्जन थे। उन्होंने एक बहुत खूबसूरत महिला देखी। मुग्ध



हो गये। एक दिन, दो दिन, तीन दिन उसका पीछा करते रहे। एक दिन उसने कहा कि चलो हमारे घर ! ले गयी अपने साथ। बातचीत चली। तारीफ करने लगे। वे सज्जन कि तुम बहुत सुन्दर हो ! बोली—हमारा क्या सुन्दर लगता है तुमको ? बोले—तुम्हारे बाल बहुत सुन्दर हैं। तो उसने दोनों हाथसे बाल उतारे मेजपर रख दिया। बोली—ये मेरे नहीं हैं, बनावटी हैं ! फिर, पूछा—क्या सुन्दर लगता है ? बोले—दाँत तुम्हारे बड़े सुन्दर हैं ! वहाँ तो लोग बचपनमें ही, जवानीमें ही नये दाँत बनवा लेते हैं, ताकि पायरिया-वायरिया न हों। वहाँकी भोगकी पद्धतिके साथ उसका भी सम्बन्ध है। स्त्रीने दाँत भी निकालकर मेजपर रख दिये। अब मुँह बिलकुल पिलपिला हो गया। अब सब नकली। उनको मालूम हुआ कि बाल नकली, दाँत भी नकली तो क्या हुआ कि उसके प्रति जो कामना थी, नष्ट हो गयी। ऐसे ही इस संसारमें जो हमलोगोंको सौन्दर्य मालूम पड़ता है—यदि इसका असली रहस्य हम समझ लें तो कौन-सी ऐसी चीज भीतर है शरीरके, जिसकी वजहसे यह बड़ा सुन्दर मालूम पड़ता है। देखो, थालीमें रोटी है—यह रोटी और मुँहके भीतर रोटी तो 'मैं' रोटी। मलके रूपमें बाहर वही रोटी ! तो यह रोटी पट्टी यह है कि 'मैं' है। कभी विवेक किया है। जब वस्तुके यथार्थ स्वरूपको हम समझ लेते हैं तब उसकी कामना जो हमारा दिमाग बिगाड़ती है, जीवन बिगाड़ती है, हमको नष्ट-भ्रष्ट कर देती है, भटकती है, दुनियामें यह सारी अटकन-भटकन दूर हो जाती है।

'अभयं पदमश्नुते'—वह अभय ब्रह्म हो जाता है। कौन ? जो अभय ब्रह्मको जान लेता है। वर्तमानमें सौन्दर्यकी कल्पना कामनाका हेतु है और भूतके दुःखोंका स्मरण शोक है। आगे हमारे ऊपर भय आनेवाला है—बड़े बुद्धिमान् हैं। महाराज ! क्या पूछना—भविष्यत् वृत्ति है। भविष्यत्—वृत्ति है माने—जब आगेकी बात ज्यादा सोचते हैं तब भय होता है। अरे, वर्तमानमें खा रहे हैं, पी रहे हैं, सो रहे हैं और सोच रहे हैं कि हमारे बेटेका क्या होगा ? अगर तुमने अपने बेटेको बिलकुल बेवकूफ और निकम्मा समझ रखा है ओर अभाग—तब तो उसके लिए फ़िक्र करके तुम अपना समय खराब करो। अगर उसको बेवकूफ नहीं समझा, निकम्मा नहीं समझा, अभाग नहीं समझा है—उसके भी कोई प्रारब्ध है, उसके भी कोई बुद्धि है और समय आनेपर वह परिस्थितिके अनुरूप अपना काम बना लेगा, तब तुम आज उसके लिए अपना दिमाग क्यों खराब करते हो ? तो, जब मरोगे तब आजका जो भय है व किस काम आयेगा ? परमात्माके यथार्थ स्वरूपको जाननेका



फल यह है कि भूतके लिए शोक नहीं रहता, वर्तमानमें कामनाओंके ग्रास हम नहीं होते। आगेके लिए भय नहीं रहता। स्वयं हम अकाम, अशोक और अभय हो जाते हैं। अब प्रश्न यह है कि आखिर ये होते ही क्यों हैं?

‘अभूताभिनवेशाद्धि’—जो चीज नहीं है—अभूत है, अनुत्पन्न है, उत्पन्न है तो मिथ्या है, अनुत्पन्न है तो मिथ्या है—सपनेकी सब चीजें पैदा होनेके कारण मिथ्या हैं, जाग्रत्की सब चीजें दृश्य होनेके कारण मिथ्या हैं। जो चीजें पैदा होती हैं, मरती हैं—उनके भाग्यमें ही यह बात लिखी है। पैदा होकर कोई अमर नहीं होता। ‘जो फरा सो जरा’; जो बरा सो बुताना।’ जो फल पेड़में लगता है वह झड़ जाता है। जो दीपक जलता है वह बुझ जाता है। यह अभूताभिनवेश है।

‘असति द्वये द्वयास्थितनिश्चयाः’—द्वैत न होनेपर भी द्वैतका जो निश्चय है इसीका नाम अभूताभिनवेश है। इसका मूल रूप क्या है? वह द्वय और द्वयके बीचमें आकर जो चिह्न है वह गलत है। आनन्द-आश्रमवाली पुस्तकमें दूसरा पाठ है। अर्थ है—द्वैतके न होनेपर भी द्वैतके अस्तित्वका जो निश्चय है उसका नाम है=अभूताभिनवेश। आपको सुना चुके हैं कि नासमझीके कारण मनुष्यमें अस्तित्व-निश्चय होता है। अपनेसे अन्यको, द्वैतको सच्चा मानना यह अपने स्वरूपको यथार्थ ज्ञान न होनेसे होता है। समझो अपने ब्रह्म स्वरूपका अज्ञान। एक इसको अविद्या बोलते हैं और फिर द्वैत होनेका निश्चय—इसका नाम भ्रान्ति है। यह दूसरी चीज है। फिर यह अच्छा है, यह बुरा है, यह शोभना-शोभनाध्यास—तीसरी चीज है और फिर उसमें इष्टानिष्टाध्यास—इससे हमको सुख मिलेगा और इससे हमको दुःख मिलेगा, तो सुखकी प्राप्ति के लिए—ऐसा निश्चय करना और यह दुःख ऐसा निश्चय करना—सुख-संकल्प और दुःखकी निवृत्ति के लिए संकल्प—यह चौथी चीज है। और फिर उसके लिए प्रयत्न—यह पाँचवीं चीज है। उसके बाद सुखीपनेका अभिमान और दुःखीपनेका अभिमान—यह छठी चीज है। यह षट्चक्र है। बंगालमें पहले लोग षड्यंत्र किया करते थे। यह आत्माको दुःखी करनेके लिए षड्यंत्र है। अपने आपको न जानना, दुनियाको सच्ची जानना, उसको अच्छी-बुरी समझना, उनमें इष्ट-अनिष्टताका ख्याल रखना, उसमें राग-द्वेष होना और फिर राग-द्वेषके अनुसार संकल्प होना उसके अनुसार कर्ममें लगना, प्रवृत्त-निवृत्त होना—यह सब क्या है? बोले यही अभूताभिनवेश है।

सदृशे तत्प्रवर्तते—अविद्या सदृश जो चीजें हैं माने जड़वस्तुओंमें जो प्रवृत्ति है वह अपनेको न जाननेके कारण अविद्या है, व्यामोह है। उसीसे मिलती-जुलती



अविद्याके जो बच्चे-कच्चे हैं, अविद्याके जब प्रेमी हो गये तो अविद्याके नौकरका भी आदर करना पड़ेगा! अविद्याके कपड़ेको भी धोना पड़ेगा। किसीके प्रेमी हो जाओगे तो उसका कपड़ा भी धोना पड़ेगा, उसके बच्चोंको भी सम्हालना पड़ेगा, उसके नौकरका भी आदर करना पड़ेगा। 'यह माया महा ठगिनी हम जानी।' 'यह रमैयाकी दुलहिन लूटा बजार।' जब अविद्यासे प्रेम हो गया, अज्ञानको अपने भीतर स्वीकृति दे दी, अज्ञानी होकरके बैठ गये, तब भ्रान्त भी होना पड़ेगा। अच्छे-बुरेकी कल्पना भी करनी पड़ेगी। इष्टानिष्टमें राग-द्वेष भी करना पड़ेगा। संकल्प भी होगा, प्रवृत्ति-निवृत्ति भी होगी। सुखीपना-दुःखीपना भी आवेगा—यह प्रवृत्तिका मूल है।

एक दिन एक गेहूँ कहीं गया। बोला—ऐ देखो, हम गेहूँ हैं, गेहूँ। पूछा—कैसे गेहूँ हो भाई? बोला—हम ऐसे हैं कि न कोई हमारा बाप गेहूँ था न बेटा गेहूँ होगा हम तो अकेले गेहूँ हैं। बोले—तुम गेहूँ हो और तुम्हारे बाप नहीं हैं, यह बात झूठी है। तुम गेहूँ हो और तुम्हारे बेटा नहीं यह बात झूठी है। गेहूँ-गेहूँसे पैदा होता है। फिर गेहूँ से गेहूँ पैदा होता है। अपनेको गेहूँ माने और यह न माने कि—मैं किसी गेहूँसे पैदा हुआ हूँ तो झूठा है। अपनेको गेहूँ माने और अपनेमें गेहूँका संस्कार न माने तो झूठा है। गेहूँ अनुत्पन्न कब है? जब 'मृत्तिकेत्येव सत्यम् वाचारम्भणो विकारो नाम धेयम्।' यदि उसने अपनेको मृत्तिकाके रूपमें जाना तो गेहूँ उसका बाप नहीं है। गेहूँ उसका बेटा नहीं है, गेहूँ उसका भाई नहीं। चना उसका दुश्मन नहीं है। एक बार गेहूँ और चनेमें बहुत लड़ाई हुई। दोनों ब्रह्माजीके पास गये—हममें-से कौन बढ़िया? कौन बड़ा? गेहूँ बड़ा कि चना बड़ा? तो ब्रह्माजीने निर्णय दे दिया कि चना बड़ा! गेहूँका पेट फट गया और चनेकी नाक ऊँची हो गयी। चना गया ब्रह्माजीका चरण छूने, धन्यवाद देने कि आपने हमको बड़ा बढ़ावा दिया धन्यवाद है आपको। ब्रह्माजीने कहा—जरा दूर ही से प्रणाम करो, पास आओगे तो हम तुमको खा जायेंगे। तुम्हारे अन्दर बहुत सोंधापन है। गेहूँका दुश्मन कब? जब गेहूँ है वह। उसका बाप कब? उसका बेटा कब? उसका भाई कब? गेहूँका तना कब? जब गेहूँपनेमें उसका 'मैं' है। जहाँ गेहूँपनाका मैं छूट गया तो वहाँ क्या है—'वाचारम्भणो विकारो नामधेयम्'—गेहूँ नाम केवल वाचारम्भण है। गेहूँकी आकृति केवल विकार है। सत्य उसमें क्या है? मृत्तिका। इसी प्रकार यह गेहूँ रूप जो शरीर है यदि यह अपना बाप स्वीकार नहीं करता, नास्तिक है वह। अपने भाईको स्वीकार नहीं करता, अपने बेटेको



स्वीकार नहीं करता। यदि यह अपनेको मृत्तिका जानता है तो सचमुच इसका बाप गेहूँ नहीं है। इसका बेटा गेहूँ नहीं है। गेहूँ नहीं है तो चना दुश्मन नहीं है। बिना अपनेको ब्रह्म जाने जो माँ-बाप-भाई-बन्धुको अस्वीकार कर देता है, उसमें नास्तिकता आती है। पहले अपनेको ब्रह्म जानो, परमात्माको जानो, सत्यको जानो। तो यह जो संसारमें दुःख है—दुःख माने यह मत समझना कि पैसेका जाना दुःख है या मित्रका बिछुड़ना दुःख है—इसका नाम दुःख नहीं है, दुःख किसको कहते हैं कि यह शरीरमें जो 'मैं पना' है इसका नाम दुःख है। जो, किसीके प्रति हमारे दिलमें जलन होती है उसका नाम दुःख है! जो हम किसीकी मुहब्बतमें, मोह व्रतमें फँस जाते हैं—वह दुःख है। हमें जो अहंकार हो जाता है कि हमारे बराबर और कौन? इसका नाम दुःख है। जो सत्यको नहीं समझते, उसका नाम दुःख है। दुःख है नासमझी, अहंकार, राग, द्वेष और अभिनिवेश—यह शरीर मैं हूँ। इस शरीरके मौतका डर—डर माने दुःख यह जो सदृशमें प्रवृत्ति हो गयी, अविद्याके परिवारमें हम फँस गये।

समझो भाई! समझदारीसे काम लो। जिसमें तुम फँसे हुए हो वह वस्तु तो वही है। मैडमके जैसे बाल हैं और जैसे दाँत हैं। बिलकुल वैसे ही ये संसारके पदार्थ हैं, नकली हैं। इनमें असलियत नामकी कोई चीज नहीं। ये अपने अधिष्ठानमें नहीं हैं। ये अपने द्रष्टामें नहीं हैं। ये निरवयव कालमें नहीं हैं। वर्ष-संवत्सर आदिकी कल्पना जिसमें होती है न उस अधिष्ठानाभिन्न निरवयव कालमें वस्तु नहीं होती। जो द्वैतके भावाभावकी कल्पनाका अधिष्ठान है उस निरवयव देशमें—माने ब्रह्ममें—उस निरवयव देशमें—यह तुम्हारे लिए एक फुट, दो फुट, एक इंच, दो इंच लम्बाई-चौड़ाई-कोई जगह नहीं। यह वस्तु तो कुछ है ही नहीं। अपनी कारण-सत्तामें वस्तु नहीं। निरवधि-लम्बाई-चौड़ाईमें वस्तु नहीं। निरवधि नित्यता अनादि-अनन्ततामें वस्तु नहीं, द्रष्टामें वस्तु नहीं, स्वयं प्रकाशमें वस्तु नहीं, कहीं भी तत्त्वदृष्टिसे देखो तो सही—कहीं नजर जमे तो! तो जब चित्त इस बातको जान जाता है कि दूसरी कोई वस्तु नहीं है—तो निःसंगका हो जाता है। कहीं भी उसकी आसक्ति नहीं होती। निःसंगका अर्थ है निरपेक्षम्। उसको बाहर—भीतरकी, वस्तुकी अपेक्षा नहीं है। आवे तो आवे, जाये तो जाये। रहे तो रहे, दिखे तो दिखे। अब हुआ यह कि चित्तमें—से विषय निकल गया। द्वितीय वस्तुके अभावका ज्ञान होनेसे। यह विज्ञान तो वस्तु है। द्वितीय वस्तुका अभाव ज्ञानका विषय है। इससे ज्ञानकी निरपेक्षता बिलकुल स्पष्ट होगयी। अब देखो, पहले



बतलाया था—‘मनसो निग्रहायत्तमभयं सर्वयोगिनाम्।’ अद्वैत-प्रकरणमें यह बात बतलायी थी कि जब मनोनिग्रह करोगे और लय नहीं होगा, विक्षेप नहीं होगा, रसास्वाद नहीं होगा, कषाय नहीं होगा—इन चार दोषोंसे मुक्त होनेपर चित्त स्थिर होगा, तब उसकी ब्राह्मी स्थिति हो जायेगी। वहाँ चित्तके अभ्याससे ब्राह्मी स्थितिका निरूपण था। अब उसमें और इसमें क्या फर्क है? जो चित्त-निरोधके लिए अभ्यासका निरूपण था वह यहाँ नहीं है। यहाँ है कि बौद्ध-सिद्धान्तमें मानते हैं कि एक तो अभ्यास करके चित्तका निरोध किया जाता है और एक विपश्यनाके द्वारा विवेक करनेसे—‘नेति नेति’—यह वस्तु है ही नहीं, उसके सम्बन्धमें चित्तका उठना बन्द हो जाता है। तो वेदान्तमें भी मन्द और उत्तम अधिकारीके लिए मन्द-मध्यम अधिकारीके लिए निरोधका अभ्यास करके चित्तका ब्रह्माकार करना और उत्तम अधिकारीके लिए ‘नेति-नेति’के द्वारा निषेध करके ही चित्तका ब्रह्माभिन्न कर लेना—इसमें किसीका लोप नहीं होता। निरोधमें दृश्यका लोप करना पड़ता है। और नेति-नेतिमें दृश्यका लोप करनेकी आवश्यकता नहीं होती। यह दोनोंमें फर्क है।

‘निवृत्तस्याप्रवृत्तस्य—निवृत्तस्याद्वैतविषया’—जब यह निश्चय हुआ कि अपने आत्माके अतिरिक्त दूसरा कोई है ही नहीं, मैं-ही-मैं तो चित्त अब किसमें जाय! लौट आया। हमारे कई बाबाजी निवृत्तिका अर्थ समझते हैं—पहले हमलोग तिब्बतकी ओरसे आये थे, हिमालयकी ओरसे नीचे उतरे थे हिन्दुस्तानमें। अगर हम लौट जायँ हिमालयकी ओर तो हमारी निवृत्ति हो गयी! इसका नाम निवृत्ति नहीं है। निवृत्ति समझनेके लिए प्रवृत्तिके स्वरूपको समझो! प्रवृत्ति क्या है? आत्माका परिच्छिन्नके साथ तादात्म्य पहली प्रवृत्ति है। अन्तःकरणवाला होना दूसरी प्रवृत्ति। इन्द्रियोंमें आकर इसके विषयोंको देखना तीसरी प्रवृत्ति। अपने देखे हुए विषयके साथ सम्बन्ध कर लेना—यह मैं, यह मेरा—देहके साथ मैं और सम्बन्धियोंके साथ मेरा—यह चौथी प्रवृत्ति। प्रवृत्तिका स्वरूप है—अपने शुद्ध आत्माको न जानकर परिच्छिन्न पदार्थोंमें ‘मैं’ और ‘मेरे’ का होना। निवृत्तिका क्या अर्थ है? देहसे बाहर किसी भी विषयमें मेरापन न हो। और देहमें मैंपन और मेरापन बिलकुल न हो। स्थूल देहमें मैंपन मेरापन न हो। सूक्ष्म देहमें मैंपन और मेरापन न हो। यह बात कैसे होगी? जब अपने स्वरूपको जानकर अज्ञानरूप कारणको निवृत्त कर दोगे। यह सूक्ष्म शरीर और स्थूल शरीर बिना कारणके ही वन्ध्या-पुत्रवत् प्रतीत हो रहे हैं। अविद्यारूप माता मर गयी, अज्ञानरूप बाप मर



गया तत्त्व ज्ञानके द्वारा। रज्जुमें प्रतीयमान-रज्जुवत् आत्मामें प्रतीयमान सर्पके समान हैं ये शरीर, क्योंकि उस सर्पका कोई बाप नहीं है, उसका कोई बेटा नहीं है। उसकी कोई नागिन नहीं है। वह आकरके रज्जुमें लिपटा हुआ नहीं है। जैसे रज्जुमें लिपटा हुआ सर्प कार्य-कारण भावसे ही केवल प्रतीति मात्र है, इसी प्रकार जब अपने स्वरूपके ज्ञानसे कारणकी निवृत्ति हो जाती है, तब यह सूक्ष्म और स्थूल शरीर किसीके बेटे नहीं हैं। किसीके बाप नहीं हैं। किसीसे हुए नहीं हैं। ये कहीं होते नहीं हैं। इनकी निवृत्ति हो जाती है।

‘निवृत्तस्याप्रवृत्तस्य’—जब चित्त द्वैतके अभावको जानकर द्वैत विकल्पनासे निवृत्त होता है, पुनः उसमें प्रवृत्त नहीं होता, तब चित्तकी स्थिति प्रत्यक् चैतन्याभिन्न होनेके कारण, ब्रह्माभिन्न होनेके कारण स्वयं निश्चल हो गयी। बोले—आओ, इसीका अभ्यास करेंगे, कलसे उठाओ माला! बोले कि नहीं भाई; यह जो स्थिति है या अज्ञानी लोगोंको कभी नहीं दिखती है—‘विषय स हि बुद्धानां’—जो बुद्ध हैं, प्रबुद्ध हैं, जो जागे हुए हैं, इनके लिए। सपना मिथ्या किसके लिए? जो जाग गया। बुद्ध=प्रबुद्ध, जगे हुए।

‘तत्साम्यमजमद्वयम्’—यह तत्त्वस्थिति जो जगे हुए हैं, उनको मालूम पड़ती है। कि कैसी है? उत्तम है। निर्विशेष है। एक घड़ा छोटा हो जिसमें एक गैलन पानी अँटे और एक घड़ा ऐसा हो जिसमें चार गैलन पानी अँटे तो आसमान दोनोंमें कम-ज्यादा है कि निर्विशेष है? एक महात्मा थे, बड़े दुबले-पतले थे और मैं तो आप देखते ही हैं जैसा हूँ वे कहते कि ये परमात्माके बड़े मन्दिर हैं। मैं छोटा मन्दिर हूँ। यह परमात्माका मन्दिर बड़ा-छोटा होता है, दोनोंमें रहनेवाला परमात्मा है। मूर्ति छोटी होनेसे भगवान् छोटा होने लगे तो ये बालकृष्णके मन्दिरोंमें जो बड़ी मुश्किलसे दिखनेवाली मूर्ति है—भगवान् छोटे हो जायेंगे। विशालाकार नृसिंह भगवान् बड़े होंगे! मूर्ति छोटी-बड़ी होनेसे भगवान् छोटे-बड़े नहीं होते। वह चैतन्यके स्वरूपका ज्ञान कराता है। एक मूर्ति स्त्री आकारमें, एक मूर्ति पुरुष आकारमें कौन है? जगज्जननी जगदम्बा। ये कौन? जगत्पिता महादेव। परमात्मामें कोई फर्क पड़ा? नहीं, वह स्त्री आकार है और यह पुरुष आकार। परमात्मा ज्यों-का-त्यों। चैतन्यका शरीर-भेदसे, वस्तु-भेदसे, मरने-जन्मनेसे, भागनेसे-शान्त होनेसे, विक्षेप-निरोधसे कुछ बनता-बिगड़ता नहीं। तत्साम्यम्—वह निर्विशेष है। निर्विशेष क्यों है? अज—वह उत्पन्न नहीं होता। घड़ा बड़ा छोटा नहीं है। वह आकाशवत् परिपूर्ण है। अद्वयं—आकाशमें तो वायु, अग्नि आदि तत्त्व भी हैं न!



वह द्वैतसे रहित है। ऐसा चैतन्य कभी पैदा नहीं हुआ। यह ऐसा चैतन्य है जिसके सिवाय कोई जड़ नहीं है। ऐसा चैतन्य जिसमें किसी प्रकारका भेदक नहीं है। चैतन्य कैसा? जिसका विजातीय जड़ नहीं। विजातीय भावका निषेध करनेके लिए—‘अद्वयम्’—सजातीय कार्य-कारण-रूप भावका निषेध करनेके लिए ‘अजम्’ और स्वगत-भेदका निषेध करनेके लिए—साम्यम्=वह निर्विशेष है। एक पेड़में शाखा, पत्ता, फल, फूल हैं—इनको स्वगत भेद बोला जाता है। दूसरा जो पेड़ है वह स्वजातीय है। पत्थर आदि हैं वे विजातीय हैं। चैतन्य परमात्मामें विजातीय जड़ नामकी कोई वस्तु नहीं। द्वैत नहीं। अजम्—उसका कोई कार्य-कारण रूप-सजातीय कोई भाई-बन्धु, पत्नी-माँ-बाप नहीं। ‘साम्यम्’ वह निर्विशेष है।

‘अजमनिद्रमस्वप्नम्’—यह परमार्थ तत्त्वका निरूपण है। जो पहले दूसरे ढंगसे-छत्तीसवें श्लोकमें किया गया था। उसीको प्रकारान्तरसे बतला रहे हैं। परमार्थका असलमें स्वरूप क्या है? ‘अनिद्रम्’से प्राज्ञ होनेका निषेध है, यह तो स्पष्ट ही है और अस्वप्नसे तैजस होनेका निषेध है। अजम्से जाग्रत्का निषेध है। जाग्रत्में प्रतीयमान जो जायमानता कि मैं इस शरीरके रूपमें, मनुष्य जातिमें पैदा हूँ। जाति तो मनुष्य ही है। ब्राह्मण, वैश्य, क्षत्रिय आदि जाति नहीं। ये तो वर्ण हैं। चार होते हैं। जाति-मनुष्य, पशु-पक्षी, कीट-पतंग आदि ये जन्मति हैं। हिन्दू मुसलमान आदि ये सम्प्रदाय होते हैं। स्त्री-पुरुष आदि लिङ्ग हैं। परमात्मा जाग्रत्-अवस्थामें अपनेको मनुष्य जातिमें उत्पन्न देख रहा है। तो बोले—जो-जाग्रत्-अवस्थामें तुम अपनेको जन्मवान् मान रहे हो सो नहीं हो। हे मानव महाभाग! तुम मानव नहीं हो। साक्षात् परब्रह्म परमात्मा हो। बोले—अजी! हमको तो नींद आती है। परमात्माको कभी नींद आती होगी? कभी सोता नहीं होगा! परमात्माके बारेमें न जाने कैसा-कैसा लोग सोचते हैं। आपको कभी नींद नहीं आती होगी! अगर आपको नींद आ जाती तो नींद नामकी एक अवस्था होती है। इसका आपको पता ही नहीं चलता, यदि सो गये होते, जड़ हो जाते! आप चैतन्यके रूपमें जाग्रत् रहते हैं। आपको यह जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति मालूम पड़ती है। आपने एक ऐसी अवस्था अपने जीवनमें देखी है कि नहीं, जिस समय ये जाग्रत्के दृश्य नहीं रहते। स्वप्नके भी, नहीं आते हैं। इसका अनुभव हुआ। तब अनुभव जाग रहा था। आत्मदेव जाग रहे थे। घरवाली सो रही थी—वह तो बुद्धि ही थी। एक पत्नीने अपने पतिसे कहा कि आप हमेशा हमारे-हमारे बोलते हैं, पर जब यह समझाना होता है कि हमारे



ऊपर इतना कर्ज है, खर्च कम करना चाहिए। कायदेसे चलना चाहिए। जब सिनेमा जाना होता है तब बोलते हैं कि मैं सिनेमा जा रहा हूँ। खर्च कम करना है तो हम दोनों पर कर्ज है और जब सिनेमा जाना होता है तब बोलते हैं मैं सिनेमा जा रहा हूँ। उसमें हमारी गिनती नहीं रहती! हमको क्यों छोड़ देते हो? यह जो सुषुप्ति है—मैं सोकर उठा—जिस समय बुद्धि सो जाती है उस समय ये आत्मदेव कहते हैं कि मैं अकेला हूँ, जाग रहा हूँ। हमारा साथ देनेवाला दुनियामें कौन है? 'सब सो जाते हैं—सारी दुनिया सोवे, तब राधे रोटी पोवे।'

एक अवस्था सुषुप्ति है—तीन अवस्थामें—से एक। यह अवस्था मालूम नहीं पड़ती यदि सो गये होते। इसका मतलब है कि हम कभी नहीं सोते। बुद्धि ही सोती है! बुद्धि ही जागती है। दवाका असर उसीपर पड़ता है। दवा देकर सुलायी जा सकती है। जगायी जा सकती है। इसका अर्थ है बुद्धि जो है वह भौतिक है। अन्नमें—से निकली है। आत्मामें—से नहीं। 'अजं'का अर्थ है जाग्रत् अवस्था मुझमें नहीं। विश्व मुझमें नहीं, जाग्रत्का अभिमानी विश्व है, वैश्वानर विराट् मुझमें नहीं है। अनिद्रम्—सुषुप्ति विश्व, प्राज्ञ, ईश्वर; अस्वप्नं तैजस, हिरण्यगर्भ, स्वप्न मुझमें नहीं।

'प्रभातं भवति स्वयम्'—ज्योति स्वरूप है अपना आत्मा। आपको यह घड़ी दीख रही है। स्वयं दीख रही है। इस कमरेके भीतर रोशनी नहीं होती तो नहीं दीखती। रोशनी सापेक्ष है। रश्मि सापेक्ष है। किरणोंके लिए भी रश्मि शब्दका प्रयोग होता है, प्रकाश सापेक्ष है। किरणोंके लिए भी रश्मि शब्दका प्रयोग होता है, प्रकाश सापेक्ष है। आँखमें—से किरणें निकलती हैं। प्रकाशमें—से भी निकलती हैं और वस्तुमें—से निकलती हैं। तीनोंके मण्डल होते हैं। प्रकाशके मण्डलको अधिदैव मण्डल बोलते हैं। नेत्रका मण्डल अध्यात्म मण्डल है। घड़ी—अभिभूत मण्डल है। तो अधिभूत, अध्यात्म और अधिदैव तीनों मिलकर काम करते हैं। यही घड़ी दीखती है। सापेक्ष ज्योति है। रोशनी न हो तो घड़ी न दिखे। घड़ी न हो तो रोशनी रहनेपर भी घड़ी न दिखे। और आँख न हो तो रोशनी और घड़ी होनेपर भी घड़ी न दिखे। परस्पर सापेक्ष। हमारा आत्मा कैसा है कि 'सूर्यो भाति न चन्द्रतारकम्'—यह आदित्य आदि सापेक्ष ज्योति नहीं है। कहनेका अभिप्राय यह है।

न तद् भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः।

यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्भाम परमं मम॥

सूर्य प्रकाशित नहीं कर सकता माने आत्माको देखनेके लिए आँख है कि



नहीं इससे कोई मतलब नहीं। आँखसे आत्मासे नहीं दिखता। इसका अर्थ है कि अन्धेको आत्माका साक्षात्कार हो सकता है बिलकुल पक्का। मनसे आत्माका दर्शन नहीं होता, इसका अर्थ है कि जो कभी ध्यान न करे उसको भी आत्म साक्षात्कार हो सकता है। कभी ध्यान न करें और आत्म-साक्षात्कार हो जाय। शशाङ्क=चन्द्रमा—माने मनका अधिदेवता। न पावकः—वाणीसे विषय होनेवाली चीज न हो, बोली न जाय, सोची न जाय, देखी न जाय—ऐसी वस्तुका भी साक्षात्कार हो सकता है। वाणी न हो, आँख न हो, मन न हो तब भी वस्तुका साक्षात्कार हो सकता है। इसका अभिप्राय हुआ कि जो आत्मतत्त्व है वह कोई मनकी कल्पना नहीं है। बकवादका विषय नहीं है। नेत्रका विषय नहीं है। 'प्रभातं भवति स्वयम्'—इसकी सिद्धि 'कैसे होगी? सिद्धि इन्हींसे होगी। इन्हींसे सिद्ध होती है और इनसे वह विलक्षण है—कैसे?

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम्।

यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्॥

जिसके होनेसे आँख देखती है, जिसके होनेसे मन सोचता है, जिसके होनेसे वाणी बोलती है—यह अपना आत्म तत्त्व है। यह इसके बिना तो है, परन्तु आत्माके बिना इनकी सिद्धि नहीं होती। इसलिए—'स्वयं' माने दूसरेकी जरूरत नहीं। यहाँ तक कि ब्रह्माकारवृत्ति की भी जरूरत नहीं। सम्पूर्ण वृत्तियोंके निषेधका नाम ही ब्रह्माकार-वृत्ति है।

हमने श्रीउड़ियाबाबाजी महाराजसे पूछा कि महाराज, आत्माका ध्यान कैसे होगा? वे बोले—बस, ध्यानका निषेध कर दो—आत्माका ध्यान है। ध्यानका निषेध करो—अगर यह बात तुम्हारी समझमें आगयी कि आत्मका ध्यान नहीं होता तो ध्यानका निषेध कर दो। ध्यानके अभावका जो प्रकाशक है, ध्यानके अभावका जो अधिष्ठान है, ध्यानके अभावमें जो उपलक्षित है उसका नाम आत्मा है। एक बात बड़ी मजेदार है इसमें। मैं जब बच्चा था। तब एक तस्वीर एकने हमें दिखलायी। बड़ी तस्वीर थी। उसमें जंगल-ही-जंगल, पेड़-ही-पेड़ थे। उसने कहा—इसमें एक गधा चर रहा है, तुम बता दो कि वह कहाँ है? तस्वीर हमारे सामने, हमने एक-एक लकीर ढूँढ़ीं। गधा उसमें दिखे नहीं। उस भलेमानुषने बतलाया इसे ऐसे देखो—यह गधेका मुँह, यह कान, यह पाँव, यह पूँछ। है न गधा! बिलकुल साफ-साफ दिख गया। उसके बाद जितने दिन वह तस्वीर हमारे पास रही, उतने दिन जब उसपर नजर जाय तो गधा ही दिखे। उसमें गधा बना



हुआ था! एक दिन एकने एक बालक की तस्वीर दिखलायी। बड़ा मलूक बालक। उसने कहा कि इसमें एक सरदारजी छिपे हैं। अब मैंने सरदारजीको देखना चाहा। कहीं मिले ही नहीं। वह तो बिल्कुल बालककी तस्वीर थी। मैंने कहा—शर्त बदलो—इसमें सरदारजी नहीं हैं। उसने चित्रको उलट दिया। उलट दिया तो जो बालकके सिरके बाल थे वे सरदारजीकी दाढ़ी बन गये, अब देखें तो सरदारजी दिखें। तो 'सकृद्विभात'का अर्थ है कि असलमें आत्माको पहचाननेके लिए न तो स्वर्ग जानेकी जरूरत है, न तो यज्ञ करनेकी जरूरत है, न वैकुण्ठ-गोलोकमें जानेकी जरूरत है, न तो समाधि लगानेकी। यहीं जो दुनिया दिख रही है—इसीमें है। जैसे जंगलमें गधा छिपा था, जैसे बालकमें सरदारजी। एक बार अगर नजर पड़ जाय—यह तो संस्कार जो पड़ जाते हैं कि ऐसा करनेसे ऐसा होगा। ऐसा होगा तब होगा। यह होगा, वह होगा, दिमाग खराब कर लेते हैं। खुद स्वयं वह हो भाई! अपना आपा कब नहीं मालूम पड़ता। वह जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्तिमें कब अपना आत्मा नहीं मालूम पड़ता? कहाँ नहीं है, अपना आत्मा किस रूपमें नहीं मालूम पड़ता? अरे, यही तो—इसीको बोलते हैं। एक बार जहाँ मालूम पड़ा वहाँ हमेशा 'कृद्विभातः'—माने 'सर्वदा विभातः'। 'ह्येवैष धर्मः'—यही धर्म है। आत्मदेव ऐसा ही है।

ऐसा भला आत्मा कैसे बनेगा? कौन-सी औषधिसे, कौन-से इञ्जेक्शनसे, कितनी आँच देकर। हीरा बनाते हैं तो आँच देकर बताते हैं। नकली हीरा ही नहीं असली हीरा भी आँचसे ही बनता है। कितनी डिग्रीकी आँख देंगे तब हीरा बन जायेगा? साधनसे एक गर्मी पैदा होती है—तो मनुष्यका शरीर देवताका शरीर हो जाता है। साधनाभ्यासकी गर्मी होती है; उससे शरीर हल्का हो जाता है। उड़ सकते हैं। एक तरहकी उष्णता साधनाभ्यासके द्वारा प्राणाभ्यासके द्वारा भीतर पैदा कर ली जाती है। चाहे उससे पंखा भीतर-ही-भीतर चला लो। चाहे गर्म कर लो। हीटर चाहे रेफ्रिजरेटर चला लो। चाहे एयर-कण्डीशन बना लो। एक ऐसी बिजली है जिसे चला लो—योगी लोग काममें लेते हैं। अब बतलाओ वह कौन-सी बिजली पैदा करें, कौन-सी गर्मी पैदा करें, कौन-सा योगाभ्यास करें कि आत्मा ऐसा हो जाय! अज, अनिद्र, अस्वप्न, स्वयंप्रकाश, सर्वदा विभात—कैसे बने? यह तो धातुका स्वभाव है, बनानेका नहीं है। 'धर्मो धातुस्वभावतः' शंकराचार्य भगवान्ने ब्रह्मसूत्रके भाष्यमें आत्माका नाम लिखा है—'विज्ञानधातु'। जैसे स्वर्णधातु होती है ऐसे ही विज्ञानधातु। तो, यह धातुका स्वभाव ही है—सदा

अपरोक्ष, स्वयंप्रकाश, स्वप्न-सुषुप्ति और जाग्रतके भेदसे सर्वथा विनिर्मुक्त, सजातीय-विजातीय स्वगत-भेदसे रहित, देश-काल-वस्तुसे अपरिच्छिन्न, अपनी स्वयंता—अपना-आपा—इसका नाम ब्रह्म है। इसका नाम सत्य है, इसका नाम आत्मा है और यह धर्मका, वस्तुका स्वभाव ही है।

अब चार कोटियोंका वर्णन है आगे। यह आत्मदेव जो है जबतक किसी 'यह'को पकड़ते नहीं वह आपने सुना होगा—महाराष्ट्रमें बहुत प्रसिद्ध है। एक पोपट होता है। वह पोपट एक नलिकाको पकड़ता है—घूमनेवाली एक चक्करदार लकड़ी है, उसपर कोई चिड़िया बैठ जाती है। वह जोरसे घूमने लगती है, जब घूमने लगती है तो चिड़िया डरकर और जोरसे पकड़ लेती है। पोपटका तो स्वभाव है—आसमानमें उड़ना। उस लकड़ीके साथ सट जाना उसका स्वभाव नहीं है। लेकिन वह छोड़ता नहीं है। वह पकड़ लेता है तो, बन्धनमें पड़ता है। इसी प्रकार आत्मदेव जब किसी भी दृश्य भावमें मैपना करके बैठ जाते हैं तब उस भावके जन्मसे, मृत्युसे, रागसे, द्वेषसे सम्बन्ध मालूम पड़ता है। अब इस बातका विवरण करनेके लिए, निरावरण—गन करनेके लिए—पर्दा हटानेके लिए आगेका प्रसङ्ग आता है।

सुखमावियते नित्यं दुःखं विविच्यते सदा ।

यस्य कस्य च धर्मस्य ग्रहेण भगवानसौ ॥ 82 ॥

अस्ति नास्त्यस्ति वास्तीति नास्ति नास्तीति वा पुनः ।

चलस्थिराभ्यामावैरावृणोत्येव बालिशः ॥ 83 ॥

कोट्यश्चतस्र एतास्तु ग्रहैर्यासां सदावृतः ।

भगवानभिरस्पृष्टो येन दृष्टः स सर्वदृक् ॥ 84 ॥

प्राप्य सर्वज्ञतां कृत्स्नां बाह्यण्यं परमद्वयम् ।

अनापन्नादिमध्यान्तं किमतः परमीहते ॥ 85 ॥

विप्राणां विनयो ह्येष शमः प्राकृत उच्यते ।

दमः प्रकृतिदान्तत्वादेवं विद्वाञ्शमं त्रजेत् ॥ 86 ॥

अभिनय करके यह बात महात्मा बतलाते हैं—यह अपना आत्मा साक्षात् अपरोक्ष है। घड़ेको देखनेके लिए आँख चाहिए। रोशनी चाहिए। आँखको देखनेके लिए कोई रोशनी नहीं चाहिए। मनका सपना और मनकी सुषुप्ति हम बिना आँखके ही देखते हैं। अन्तःकरणकी सुषुप्ति हम बिना अन्तःकरणके ही देखते हैं। साक्षी-द्रष्टा और अभावकी अपेक्षासे ही आत्माको साक्षी बोलते हैं।



नहीं तो, साक्षी शब्दकी प्रवृत्ति यह नहीं है। आत्मा—ऐसा यह वस्तु तत्त्व, परमार्थ तत्त्व है। 'एष धर्मः धातुस्वभावतः'—धातुके स्वभावसे माने अकृत्रिम, कोई बनावट नहीं, कोई धर्माचरणसे उत्पन्न स्थिति नहीं, उपासनानुष्ठानसे नहीं, अभ्यासके द्वारा उत्पन्न समाधिवत् कोई कृतक स्थिति नहीं। जैसे धातु—हीराका स्वभाव ही है चमकना, जैसे सोनेका स्वभाव ही है ठोस होना, अग्निसे न जलना—ऐसे ही यह विज्ञानधातुका स्वभाव ही है! क्या? सदा प्रकाश, स्वयं प्रकाश।

'सकृद्विधातः' का अर्थ है—सर्वदा प्रकाश। इसके प्रकाशका कभी लोप नहीं होता। इसके होनेसे ही रोना, तो इसके होनेसे ही हँसना, रोना मालूम पड़ता है। यह कैसा है? बोले—'अजम् अनिद्रं स्वप्नं।' जाग्रत्, निद्रा, स्वप्न इसमें नहीं हैं। ये लक्षण न बौद्धोंके विज्ञानके साथ मिलते हैं, न शून्यके साथ। 'अस्वप्नम् अनिद्रं' कहनेका अर्थ है कि स्वप्नरहित है, निद्रा-रहित है; रहित रहकर उसे प्रकाशता है। यह ऐसा है। बात तो साफ-साफ बार-बार कही जा रही है। फिर भी पूछते हैं—जाग्रत् तीनोंमें एक कौन है? ऐसा बोले—वह ईश्वर है। पर वह ईश्वर नहीं, यह ईश्वर—ऐसा इसका मतलब है। तुम जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्तिमें एक हो कि नहीं हो! उनके बदलनेपर तुम अन-बदले हुए हो कि नहीं हो? तुम्हीं सबके साक्षी इनके अभावके भी साक्षी हो कि नहीं? तुम्हारे बिना दुनियामें कोई चीज मालूम पड़ सकती है? नहीं। गुरु भी तुम्हींको मालूम पड़ता है, ईश्वर भी तुम्हींको मालूम पड़ता है। यह जो तुम हो—अभी हो, यहीं हो, यही हो। परब्रह्म परमात्मासे जुदा नहीं हो। साफ-साफ श्रुति कहती है। दर्शन-शास्त्रसे सिद्ध होता है। विद्वानोंका अनुभव है। महात्मा जितने हुए हैं सृष्टिमें—इस महत्से एक हुए बिना महात्मा कैसे होगा? संत वह जो इस सत्तासे एक हो जाय! है न—ज्ञानी वह जिसको यह ज्ञान प्राप्त हो। इसमें कोई पर्दा नहीं। कोई नमक-मिर्च नहीं। कोई लाग-लपट नहीं। परमार्थ-तत्त्व ऐसा है।

जाननेवाला तो मैं ही हूँ। आखिरी जाननेवाला 'मैं' हूँ। यह देखो, अगर ऐसा किसीको मालूम पड़े कि 'मैं' नहीं सबको ईश्वर ही जानता है तो 'ईश्वर जानता है' यह भी मैं जानता हूँ। अगर मैं न जानूँ तो ईश्वरका जानना हमारे काम कैसे आवे? आखिरमें अपनेको जानना ही काम आयेगा, दूसरेका जानना नहीं। यह स्पष्ट-स्पष्ट बात है। इसमें कोई लष्टम-पष्टम नहीं। फिर भी लोग इसको क्यों नहीं समझते? बोले—

यस्य कस्य च भावधर्मस्य ग्रहेण नित्यं सुखं आब्रियेत तदा दुःखं विब्रियते तेन हेतुना असौ भगवान् स्पष्टो न भवति साक्षात् अपरोक्षो न भवति।

हम कोई पकड़ बना लेते हैं। एक आदमीकी इच्छा थी भगवान्का दर्शन हो। समझ ज्यादा अच्छी नहीं थी, पर बार-बार गुरुजीके पास जाकर आग्रह करें। भगवान्का दर्शन करा दो। गुरुजीने बहुत समझाया। समझमें ही नहीं आवे। एक दिन बहुत परेशान किया—‘भगवान्का असली रूप बतलाओ!’ गुरुजी झल्ला गये, झल्लाकर बोले—जैसी बकरी होती है ऐसा ही भगवान् होता है! अब भगवान्के भावसे बकरीका ध्यान करे। बकरी भगवान्, बकरी भगवान्। बड़ा प्रेम, बड़ी श्रद्धा। भगवान्का भी सिंहासन हिला। साक्षात् शंख, गदा, चक्रधारी रूपमें गरुड़ारूढ़ होकरके—सामने आये! आँख खोली, पूछा—आप कौन हैं? बोले—मैं भगवान् हूँ। आप भगवान् हैं इसका क्या प्रमाण है? बोले—देख यह शंख, चक्र, गदा! चतुर्भुज हूँ। गरुड़ पर बैठा हूँ। मेरा नाम नारायण! अब भगवान् समझाकर हार गये। बोला हम तो बकरी भगवान्को पहचानते हैं। और किसीको नहीं। तब भगवान् बकरी बनकर आये। बहुत बढ़िया! उसने पकड़ लिया उसको। और बोला—कि देखो ऐसे हम नहीं मानेंगे, हम तुमको गुरुजीके सामने ले चलते हैं। गुरुजी कह देंगे—कि यह भगवान् तब मानेंगे! उसके आगेकी बात छोड़ देते हैं। साक्षात् चतुर्भुज नारायणको उसने भगवान् क्यों नहीं माना? बकरीके भावमें उसका आग्रह हो गया था। इसीको ‘ग्रह’ बोलते हैं।

‘यस्य कस्य च भावस्य धर्मस्य ग्रहेण’—हम प्रेम कब मानेंगे! जब हमारा पति हमको दो चपत लगायेगा। पति तो बहुत भलामानुष—चपत् लगाता नहीं है। पतिके प्रेमपर फिर कभी तुम्हारा विश्वास ही नहीं होगा! इसका मतलब इतना धन आवे तब हम समझें कि हम सुखी। तो किसी भी वस्तुका आग्रह हो गया। हम भगवान् मिले कब समझें! जब बैकुण्ठ जायेंगे। हम भगवान् मिले कब समझें! जब समाधि लगेगी। जब हमारे संस्कारके अनुसार हमारी रहनी हो जायेगी। आग्रह मनमें बैठ जाता है तो, ‘नित्यं सुखमाब्रियते’—यह नित्य सुखरूप परमात्मा पहचानमें नहीं आता।

सिनेमा देखने गया बालक। उसमें देखा एक बहुत बढ़िया बगीचा। बहुत बढ़िया-बढ़िया फल लगे हैं। फूल खिले हैं। स्त्री-पुरुष घूम रहे हैं। एक क्षणके लिए दृश्य सामने आया। वह लट्ठू हो गया। बोला—बस, यह सिनेमा हमारे सामने इतना ही रहना चाहिए। यह बगीचा, यह स्त्री, यह अंगूर, यह अनार!



सिनेमाका दृश्य बदल गया। बदल गया तो बालक रोने लगा! माँ-बाप समझावें, बेटा! यह सिनेमा है। यह अधिष्ठान और यह स्वयंप्रकाश। और इसमें भरी यह फिल्म। फिल्म बदलती रहती है। वेदमें एक 'विल्म' शब्द आता है। 'नमो विल्मिने च कवचिने च न नमो वर्म्मिणे च बरूथिने।' फिल्म बदल रही है, उपाधि उड़ रही है। दृश्य भी बदल रहा है। अब बच्चेने कहा—हमको तो वही दृश्य चाहिए। दुःखी हो गया न! संसारमें जब चाहेंगे 'अमुक-अमुक' हो तब सुखी रहेंगे, अमुक-अमुकसे हमको दुःख होगा। तब दिमाग बिगड़ गया न! 'मूड' खराब हो गया। अब दुनियामें चींटीका चलना कैसे रोका जाय? सिनेमा प्रकट होता रहता है। तुम अपने सुखको चवन्नीका क्यों बना रहे हो? यह चवन्नीका सुख है। यह मिले तब सुखी, यह जाय तब सुखी, यह करें तब सुखी, यह भोगें तब सुखी—अरे मेरे बाप! तुम स्वयं सुख हो। सुखस्वरूप तुम मौजूद हो और कहते हो—मेरा सुख चला गया! ऐसा ज्ञान, योग, उपासना, धर्म, हो तो हम सुखी। ऐसा करके तुमने कौड़ीके दाम अपने आत्माके सुखको दूसरेमें पटक दिया। अब उसके लिए रो-रोकर दुःखी हो रहे हो। बिना जिद्दी हुए, बिना आग्रही हुए आदमी दुःखी नहीं हो सकता। अरे! जो होता है सो होने दो।

देखो, आनन्दमयी माँ वे एक बात बोलती हैं—बहुत बढ़िया। बोलतीं—'जो हो जाय पिताजी!' यह तकियाकलाम है—'जो हो जाय पिताजी!' अब इसमें कोई दुःख ही नहीं है। जैसा आता जाय उसका सामना करते जाओ। है न? गरीबी आयी तो तपस्वी हो गये। धन आया तो भोगी हो गये। यह कोई निष्ठा है! दुनिया बदलती रहती है। सबमें परमात्मा है। उसको देखते चल रहे हैं। परमात्मा नाना प्रकारका-आकार-विकार-प्रकार सब-बन-ठनकर आता रहता है। 'दुःखं विब्रियते'—दुःखका विवरण हो रहा है। क्यों? जब हम एक बातको पकड़ लेते हैं कि यह ऐसा होना चाहिए। न हो तो दुःखका बीज बो गया। 'यह चीज ऐसी नहीं होनी चाहिए' 'भला ऐसे कैसे हुई?' कि अब मरो उसके साथ। मगरगहुआ लगाकर बैठे। मगर आदमीको पकड़ लेता है तब छोड़ता नहीं, पाँव पकड़ ले तो भी छोड़े नहीं, सारे-के-सारेको निगल जाय। इसका फल क्या? जब मगर आदमीको पकड़ता है तब उसका मुँह काटना पड़ता है। अगर छोड़ दे तो उसका मुँह नहीं कटे। तो दुनियामें जब हम किसी वस्तु, किसी आदमी, किसी कर्म, किसी व्यक्ति, भोग, मकान, देश, काल, अवस्थाके लिए जब ग्रह—राहु ग्रहको बैठा लिया—अब मनपर चन्द्रमा लग गया—ग्रह लग गया। पाप ग्रह है। बिलकुल



‘बुद्धेः फल अनाग्रहः।’ यही दुःखका कारण है। इस दुःखकी वजहसे भगवान् स्पष्ट नहीं होते हैं।

आचार्योंका बोलते-बोलते गला फटने लगा। लोग कहते हैं इनकी आदत पड़ गयी। बकवादी हैं। दिन भर बोलते रहते हैं। अरे बाबा, नरम चीजपर फूलकी भी लग जाती है। कठोर चीज पर हथोड़ा मारो तब भी चोट न लगे। यह आँख है देखो, जरा-सी फूलकी पंखुड़ीका भी एक नोक पड़ जाय तो आँखमें-से पानी गिरने लग जाय। हमने देखा गाँवमें एक ‘बिन्द’ जातिका आदमी था—वह अपनी छातीपर चक्की रखवाता, चक्कीपर ईंटें और उनको मूसरसे कुटवाता! उसकी छाती इतनी कठोर थी। तो, पत्थर भी मूसरकी चोटसे नहीं टूटता। अपने शरीरपर पहिया रखवाता, हम बच्चे थे—और पहिया रखवाकर कहता इसपर हाथी चढ़वाओ। हाथी चढ़ जाता और वह बिलकुल साँस रोककर पड़ा रहता। उसकी मौत भी दबकर ही हुई। यह सब मनका खेल है। यह एक दुराग्रह ही तो हुआ न! हम ऐसा करेंगे तभी मजा आयेगा! कभी राहु, कभी केतु, कहीं शनिश्चर लगता है—सब पापग्रह हैं। आग्रह, विग्रह, परिग्रह, संग्रह—ये सब। परमात्मा-स्वयं सुखस्वरूप है। उसके ढकनेका कारण तुम्हारी जिद्द है। कर्मके बारेमें, संस्कारको पकड़कर बैठ गये। भोग, धन और परमार्थके बारेमें भी एक जिद्द है—ऐसे देशमें ऐसी समाधि लगे, ऐसा रूप सामने प्रकट हो! वह नहीं मिला तो रोते हैं। रोनेके लिए एक बहाना बच्चा बना लेता है, वैसे हमने भी बना लिया! यह जो दुनियाके लोग भूलमें पड़े हुए हैं, उनकी तो छोड़ो, ये जो बड़े-बड़े विद्वान् और पण्डित—‘अस्ति-नास्ति इत्यादि’ सूक्ष्म विषया अपि पण्डितानां ग्रहा भगवतः परमात्मन आवरणा एव’—बड़े-बड़े विद्वान् भी ‘आवृणोत्येव बालिशः’—झूख मार रहे हैं। ‘बालिशः’ शब्दका अर्थ है—झूख मारना। मछली मारनेकी जो वंशी है जिसमें उन्हें फँसानेके लिए काँटा होता है—उसको ‘बडिश’ बोलते हैं, तो बडिश कर्म-कर्ताको ‘बालिशः’ कहा। दोनों एक ही हैं—मत्स्यभेदन-कर्ता—या मछली मारनेका काम जो करे उसका नाम बालिश, बडिश। वैज्ञानिक खोज अलग गयी, दार्शनिक खोज अलग। प्राचीन संस्कृतिका अनुसन्धान अलग, अर्वाचीन विज्ञानकी खोज अलग छूट गयी। काम क्या करते हैं? दिनभर झूष मारते हैं। झूष माने मछली। हिन्दीमें किसीके निकम्मेपनको सूचित करनेके लिए, व्यर्थ काम कोई आदमी करता है उसे ‘झूष मारता है’ बोलते हैं।

अस्ति नास्त्यस्ति नास्तीति—बड़े-बड़े पण्डित कहते हैं कि अस्ति आत्मा,



कोई कहते हैं—नास्ति। कोई कहते हैं—अस्ति नास्ति। कोई कहते हैं—नास्ति-नास्ति। 'अस्तीत्येके नायम् अस्ति किम् अन्ये'—कठोपनिषद्में यह प्रसङ्ग आया है। नचिकेता व यमराजके प्रसङ्गमें है। कोई कहते हैं आत्मा है, कोई कहते हैं आत्मा नहीं है। यह बात बच्चेकी समझमें तो आनेवाली नहीं है। बोले—आत्मा है कि नहीं! इसपर वोट ले लो। हाई-स्कूलमें पहुँच गये। कालेजमें बड़े पढ़े-लिखे जो माने जाते हैं, वे आत्माके बारेमें बिलकुल बच्चे ही हैं। जो जिस वस्तुको न समझे वह उसके विषयमें बालक है। संस्कृत-भाषाके बालक शब्दका प्रयोग इसी अर्थमें होता है। 'बालानां सुखबोधाय।'

बालक कौन? कुछ पढ़ा हो पर उस विषयको न जानता हो। तुम समझते हो कि हम हीरा पहचानते हैं, इसलिए आत्माको पहचान लेंगे; तुम्हें मकान बनाना आता है, इसलिए आत्माको पहचान लोगे, प्रयोगशालामें विश्लेषण करते हो रसायनका, इसलिए आत्माको भी पहचान लोगे? नहीं। यह बच्चोंकी चीज नहीं। बड़े-बड़े पण्डित भी इसमें भ्रममें पड़ जाते हैं। एकने कहा—'अस्ति आत्मा'—आत्मा है। दूसरेने कहा—नास्ति-आत्मा नहीं है। यह क्या बात हुई? यह नहीं समझना कि 'अस्ति' यह आत्माका सत्स्वरूप बतलाया जा रहा है। उसके सम्बन्धमें एक वाद बताया जा रहा है। एक आदमीने कहा तुमने कभी आत्माकी फोटो देखी है? नहीं। तुमने कभी किसीके शरीरमें-से मरकर निकलते देखा है? नहीं। किसी बच्चेके शरीरमें आते देखा है? नहीं। कोई स्वर्गसे लौटकर आया तुम्हारे पास? नहीं। नरकसे लौटा? नहीं। उसने कहा—'नास्ति आत्मा'—जब कोई सबूत ही नहीं, किसीने आँखसे देखा ही नहीं, नाकसे सूँघा नहीं, जीभसे चखा नहीं, त्सचासे छुआ नहीं—तो आत्मा कहाँ है? नहीं है आत्मा।

तो दूसरेने कहा—नहीं भाई अस्ति। उपलब्ध्या—पहले जरा मानो कि 'है' माने नैयायिक, वैशेषिक, बड़े जोरसे आत्माका अस्तित्व सिद्ध करते हैं। सम्पूर्ण जो देह आदि भाव हैं इनमें वह धर्माधर्म, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख-दुःख—इनका आश्रय यदि वह आत्मा नहीं होता, इन गुणोंका कोई गुणी न होता। देखो; साफ मालूम पड़ता है! आपको दिन भरमें कितनी इच्छा होती है—गिनी हैं कभी आपने? अरे बाबा, सुबह कुछ कहते हैं, शामको कुछ। एकदम पलट जाते हैं। कल जो हमारी इच्छा थी आज नहीं है। आज खूब प्रयत्नमें लगे और कल ढीले पड़ गये—हाँ, धर्माधर्मकी उत्पत्ति हुई। अभी सुखी हुए, फिर दुःखी हो गये, सबेरे रो रहे थे, शामको हँसने लगे। बदला कुछ नहीं, स्थिति ज्यों-की-त्यों। हमने तो



ऐसा भी देखा कि एक आदमी मेरे पास घण्टे भर बैठा और उतनी देरमें वह दो-तीन बार रो गया और दो-तीन बार हँस पड़ा। यह हँसना, रोना जिसका गुण है, पापी-पुण्यात्मा होना जिसका गुण है, सुख-दुःख जिसका गुण है; द्वेष करना, राग करना, प्रयत्न करना यह जिसका गुण है—ये तो हजारों हैं और इनमें एक जो बना हुआ है 'मैं'—वह सुखाकार परिणामको प्राप्त होने वाला, दुःखाकार परिणामको प्राप्त होनेवाला, वह इच्छा करनेवाला, वह द्वेष करनेवाला, वह प्रयत्न करनेवाला—इस स्थूल-देहसे अलग है। आत्मा है—अस्ति। दूसरेने कहा—नास्ति नहीं है। आत्मा क्यों नहीं है? देहसे जुदा होनेपर भी नहीं है। चार्वाक देहसे जुदा भी नहीं मानते। अन्तःकरणको देहका फल मानते हैं। जैसे दो तरहकी दवा एकमें मिला दें। जैसे नशा आ जाता है। खुमारी चढ़ जाती है। उसमें बुलबुले उठने लगते हैं। फुदकने लगता है, ऐसे ही कई प्रकारके धातुओंके विशेष अनुपातके मिश्रणसे शरीरमें चेतना पैदा हो गयी है। जबतक शरीर रहता है तबतक वह काम करती है। शरीर बिखर जाता है तब वह बिखर जाती है। चार्वाकोंने कहा कि देहसे विलक्षण चेतना नामकी कोई वस्तु नहीं। विज्ञानवादी बौद्धोंने कहा यह तो हम मान लेते हैं कि देहसे जुदा एक आत्मा है लेकिन वह भी कभी सुखाकार, कभी दुःखाकार, कभी इच्छाकार, कभी द्वेषाकार, कभी प्रयत्नाकार, कभी धर्माकार, कभी अधर्माकार होता है। तो बुद्धि भी वैसे ही बदलती है जैसे शरीर। जैसे शरीरका नाश होता है, शरीरके उपादान काम करने लायक नहीं रहते। इसी प्रकार बुद्धि भी, विज्ञान भी जब वासनाका क्षय हो जाता है तब इस विज्ञान सन्तान-परम्पराका उच्छेद हो जाता है। 'नास्ति आत्मा'—आत्मा नामकी कोई अलग चीज है ही नहीं। नैयायिक वैशेषिकोंने कहा 'अस्ति-आत्मा।' चार्वाक और विज्ञानवादी-अर्थ वैज्ञानिकोंने कहा 'नास्ति-आत्मा।' दिगम्बर महाराज—बोले जाग्रतमें मालूम पड़ता है और स्वप्नमें। सुषुप्तिमें मालूम पड़ता है 'नास्ति'। तो समझो जीवनकालमें अस्ति मृत्युकालमें नास्ति। बोले—नहीं-नहीं, दोनों तो हमारी अवस्थाएँ हैं न! अमुक अवस्थामें अस्ति भाव, अमुक अवस्थामें नास्ति भाव। शायद है, शायद नहीं। फिर बौद्धोंने कहा—क्या झगड़ेमें पड़ते हो, सबका ही अभाव है। 'नास्ति-नास्ति' जैसे बहुत सुन्दर बतलाना होगा तो मुधर-मुधर, ललित-ललित, सुन्दर-सुन्दर ऐसे बोलते हैं न! वैसे ही बोले—'नास्ति-नास्ति'। बोले—शून्य है। शून्यमें बाबा! क्या होना और क्या नहीं होना? ये चार मत उपस्थित हुए। जब विज्ञान कट जाता है तब क्या रहता है? वासनाकी निवृत्तिसे विज्ञान सन्तान-परम्पराका उच्छेद हो गया,



चित्तका उच्छेद हो गया, अन्तःकरणका उच्छेद हो गया, तब क्या रहता है ? बोले—शून्य रहता है। इनके भाव हैं।

‘चलस्थिरोभयाभावैः’—स्पष्टतासे बोले कि अस्ति भाव चल है इसलिए यह आवरण है। नास्ति भाव स्थिर है—इसलिए आवरण है। अस्ति-नास्ति यह उभय हैं। इसलिए आवरण और ‘नास्ति-नास्ति’ नितान्त अभाव है। इसलिए आवरण है। ये चार बातें बतलायीं। बोले पहले ‘अस्ति भाव’ है, यह आवरण है। यह बात वेदान्तियोंके लिए थोड़ी-सी ध्यान देने लायक है; क्योंकि वेदान्तीका आग्रह है कि अस्ति-भावसे परमात्माका साक्षात्कार करना चाहिए। ‘अस्ति इत्येव उपलब्धस्य तत्त्वभावेन भारत’—श्रुति कहती है—‘अस्ति-आत्मा’ ऐसा ही उपलब्ध है। आत्मा है। क्यों ? बोले कि—‘नाहं अस्ति इति न कश्चित् प्रतीयात्’। कभी किसीको यह प्रत्यय नहीं होता कि मैं नहीं हूँ। इसलिए आत्मा है—ऐसा मानना चाहिए ! तो बोले कि भाई यह जो अस्ति प्रत्यय है यह खाली आत्माके बारेमें तो नहीं है—यह तो ‘घटः अस्ति’, ‘पटः अस्ति’—घड़ा है, कपड़ा है—सभीके साथ है। आत्मा है—घड़ा है, कपड़ा है। जैसे हम घड़ेको, कपड़ेको ‘है’ बोलते हैं वैसे ही आत्माको भी ‘है’ बोलते हैं। इसमें ‘अस्ति आत्मा’—इस प्रत्ययसे यह नहीं सिद्ध होता कि आत्मा अपरिच्छिन्न अमर-अजर अमृत, अभय है—यह सब तो कुछ सिद्ध नहीं होता। बोले—सिद्ध तो होता है। है तो सिद्ध होता; लेकिन तो घड़े, कपड़ेके साथ भी जुड़ जाता है। भाव तो है, बिल्कुल व्यभिचारी भाव है। बोले—दुनियामें सबसे सुन्दर कौन ? अरे, अबतक हजारके बारेमें तुम्हारे मनमें ही परिवर्तन हुआ होगा ? सबसे मीठी चीज कौन-सी है, मालूम है ? अंगूर सबसे मीठा कि गुड़ ? सबसे मीठा आम कि कटहल ? यह मीठा-वीठा तो सब अपने मनका ही खेल है। जिसको जो रुचे—सो मीठा। यह भाव चल है।

‘घटाद्यनित्यलक्षणत्वात्’—दक्षिणवालोंने ऐसा माना कि घटादि रूप अनित्य पदार्थोंमें जैसे अस्ति-रूप ‘घटः अस्ति’ ‘पटः अस्ति’—घड़ा है, कपड़ा है मालूम पड़ता है वैसे ही ‘अस्ति आत्मा’ ऐसा मालूम पड़ता है। घट-पट आदिमें चल है, वैसे ही आत्मामें भी चल है। यह इधरका जो पाठ है—उत्तरका—वह शांकर-भाष्यका ही पाठ है। वे कहते हैं कि घटाद्यनित्यविलक्षणत्वात्। ‘घटाद्यनित्यलक्षणत्वात्’—यह उधर, ‘घटाद्यनित्य-विलक्षणत्वात्’—इधर। तो इसका क्या अभिप्राय ? बोले—ये मानते हैं ‘आत्मा अस्ति’ है। कैसे है कि ‘घटः अस्ति’, ‘पटः अस्ति’में तो ‘अस्ति’ प्रत्यय जो है घट-पट स्वरूपसे भी अनित्य



हैं। उनमें अस्ति प्रत्यय जो है वह प्रत्यय भी अनित्य है वह विलक्षण है। घट है, अब नहीं है; कपड़ा है, अब नहीं है। परन्तु आत्मा है, अब नहीं है—ऐसा नहीं होता। तो घटादि अनित्यसे विलक्षण होनेके कारण आत्मामें जो अस्ति-भाव है वह विलक्षण है। अब प्रश्न यह हुआ कि तुमने तो यह कहा कि 'अस्ति-भाव' चल है तो चलताका क्या सम्बन्ध है? तो 'चलता'का यह सम्बन्ध है कि यह तो हमने कहा कि घट-पट शरीर आदिसे आत्मा विलक्षण है परन्तु वही इच्छा, प्रयत्न, सुख-दुःख, धर्माधर्म, इच्छा-द्वेष—इनके आकारमें परिणत होनेके कारण, ये गुण हैं उसके। ऐसा होनेके कारण जो 'अस्ति' माननेवाले वैशेषिक, नैयायिक आदि हैं उनमें भी आत्मा गुणवान होनेके कारण द्रव्य-रूप है। द्रव्यरूप होनेके कारण उनके मतमें भी आत्मा चल ही है। असलमें आत्माको तो सिद्ध किया न्याय और वैशेषिकने। देहसे विलक्षण सिद्ध किया। घट-पट आदिसे विलक्षण सिद्ध किया। परन्तु आत्माको अविनाशी सिद्ध करनेमें वे सफल नहीं हुए। क्यों? जब आत्माको गुणवान मान लिया तो बुद्धि आकारमें परिणत होनेके कारण उनके मतमें वह आत्मा चल ही रहा गया! इसलिए घटादि अनित्यसे विलक्षण होनेपर भी बुद्धि आदि अन्तरंग पदार्थसे विलक्षण न होनेके कारण उनके मतमें अस्ति रूपसे उपलब्ध जो आत्मा है वह चल ही है। यह दूसरा भाव हुआ। हम समझते हैं कि जो लोग वेदान्तका संस्कार रखते हैं उनके लिए यह स्पष्ट हो गया। अंच्छा, अब वह शंका जो है कि आखिर वेद भी तो कहता है कि आत्माको 'अस्तिरूप'से प्राप्त करना चाहिए।

'अस्ति—सत्'—सत् है वह। तो यहाँ क्या है कि श्रुतिको पढ़ो—'अस्तीत्येवोपलब्धस्य तत्त्वभावः प्रसीदति' (2.3.13) यह अस्ति आत्मा—इस प्रकार जो उपलब्धि करता है, ऐसा अनुसन्धान करता है। उसके अन्तःकरणकी शुद्धि होकर तत्त्वके ग्रहणकी योग्यता आ जाती है। उसके ऊपर सत्त्व-भाव प्रसन्न होता है। तो 'अस्ति-अस्ति' रूपसे मालूम पड़नेवाला जो है वह आत्मा नहीं है। अस्ति-अस्ति इस रूपसे मालूम पड़ने- पर जब अन्तःकरण निर्मल हुआ तो उस निर्मलमें अस्ति-नास्तिसे जो विलक्षण आत्मा है उसकी उपलब्धि हुई। क्योंकि विष्णु-पुराणमें यह बतलाया कि अस्ति और नास्ति यह दोनोंमें आत्मा अनुगत है और दोनोंसे विलक्षण है। अस्ति-नास्ति ये दोनों तो केवल कल्पित प्रत्यय मात्र हैं।

यह तो सिद्ध हो गया कि अस्ति भाव साधन है, अस्ति भाव एक



अनुसन्धान है। अस्ति भाव एक जिज्ञासाकी सिद्धि है। असलमें जो तत्त्वरूप है वह तो अस्तिसे भी विलक्षण है। नास्तिसे भी विलक्षण है। अब यह प्रश्न आया कि श्रुतिने कहा—‘अस्ति’ तो पहले ही बतला दिया कि वह तो साधन है। अन्तःकरण शुद्ध होकर तत्त्व-निष्ठाकी ओर अग्रसर होता है। दूसरी बात—वह कल्पित-संवृत-कल्पित है। संवृतिका अर्थ है कि नास्तिपनेको जिसको भ्रम हो गया कि देहके पहले आत्मा नहीं था और देहके बाद आत्मा नहीं रहेगा—उनके इस भ्रमको दूर करनेके लिए यह कल्पित व्यवहार है। असद्वादका निषेध करनेके लिए, जिससे सदसद् विलक्षण आत्माका बोध हो सके! अब तीसरी बात, अस्ति भावके चल होनेके कारण आवरण है। मूर्ख ही इस बातको पकड़ता है। अस्ति, अस्ति-अस्ति। अरे नींद न आने पावे, नहीं तो अस्ति आत्मा सो जायेगा, सपना न आने पावे नहीं तो विकार हो जायेगा, जाग्रत् न आने पावे नहीं तो उसमें धर्माधर्म-संस्कार-युक्त बन जायेगा। ‘आवृणोत्येव बालिशः।’—इस परम स्वतन्त्र परमात्माको यह मच्छीमार आवृत कर रहा है। ढक रहा है। अस्ति नास्तीति—यह अचल भाव स्थिर भाव कैसे? अभाव निर्विशेष होता है। देखो जैसे यह कहें कि घड़ा है, कपड़ा है तो घड़ा एक अलग चीज और कपड़ा एक अलग चीज है। स्त्री है, पुरुष है लेकिन, जब कहेंगे कि यहाँ स्त्री नहीं है, यहाँ पुरुष नहीं है तो दोनोंका अभाव जुदा-जुदा होगा क्या? घड़ा है—जुदा है, कपड़ा है जुदा है; परन्तु जब कहेंगे कि यहाँ घड़ा नहीं है, कपड़ा नहीं है तो घड़ा और कपड़ा आपसमें कोई विभाजक रेखा बनाकर रहेंगे क्या? तो वे निर्विशेष होते हैं। इसलिए उनमें स्थायित्व होता है। अब बोले—‘अस्ति-नास्ति’—तो एक ही पदार्थमें अस्ति भी बोलना नास्ति भी बोलना—यह उभयात्मक वचन और प्रत्यय परस्पर असंगत हैं। बोले—‘नास्ति-नास्ति’ ये शब्द भी और प्रत्यय भी केवल अभावके बोधक हैं। आत्माका यह भी आवरण है। कहो कि ‘कुछ नहीं है’ तो भी आवरण है। बोलो कि कुछ है, कुछ नहीं है तो भी आवरण है। और बोलो कि कुछ है तो भी आवरण है—पर्दा है। कुछ है तो घड़ा-कपड़ाके समान होगा। कुछ नहीं है—ऐसा बोलो तो वह घटाभाव पटाभावके समान होगा। बोले—कुछ है कुछ नहीं है—तो यह परस्पर विरुद्ध होगा अब बोले कि बिलकुल कुछ नहीं है, नितान्त कुछ नहीं है तो यह तुम निषेध करनेवाले कौन हो? तुम निषेधके साक्षी कौन हो? तो, इस तरहसे यह सब पर्देकी बात है, सबमें पर्दा लगा हुआ है।

इस प्रकार चल अस्ति भावसे, नास्ति स्थिर भावसे और अस्ति-नास्ति



उभय भावसे और शून्य अभाव भावसे—ये अपने स्वरूपमें—एक यह भी पकड़ है, जिद्द है। सब-के-सब जिद्दी हैं। एक पदार्थमें आग्रह हो जाने कारण बस आवरण कर देते हैं और आवरण कर लेनेसे ये विषय-भोगी हो गये—सब-के-सब विषयाक्रान्त—बालिश—बालक मूर्ख हैं। बोले कि अब कैसा भगवान् हमको दिखलायी पड़े तो हम समझें कि हमको असली भगवान् दिख गया?

जाग्रत्-अवस्थाकी दृष्टिसे अस्ति बोलते हैं। सुषुप्ति अवस्थाकी दृष्टिसे नास्ति बोलते हैं। स्वप्नकी दृष्टिसे अस्ति-नास्ति दोनों बोलते हैं। प्रतीतिकी दृष्टिसे, इन तीनोंके अभावकी दृष्टिसे नास्ति-नास्ति बोलते हैं। जब आप उस श्रुतिका अनुसन्धान करोगे जो मूलमें है और जिसकी यह व्याख्या है तब यह बात कभी मत भूलना कि माण्डूक्यकारिकाका एक-एक श्लोक, माण्डूक्य उपनिषद्की व्याख्या है। वह वृत्त्यारूढ़ होना चाहिए। तो 'नान्तः प्रज्ञं, न बहिष्प्रज्ञं' से अस्तिभावका निषेध हुआ; 'नोभयतः प्रज्ञं' से अस्ति-नास्ति दोनोंका निषेध हुआ; 'न प्रज्ञं नाप्रज्ञं' से सुषुप्तिका निषेध हो गया और 'नाप्रज्ञं, न प्रज्ञं, न प्रज्ञानघनं'—यह श्रुति जैसे निषेध करती है। किसका-किसका निषेध करती है? इन्हीं अस्तिका, नास्तिका, अस्ति नास्तिका, नास्ति-नास्तिका। इन चारोंका। जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और इन तीनोंके अभावका सर्वाधिष्ठान स्वयं प्रकाश वस्तुको यह बतलाती है। चार कोटि हो गयी—माण्डूक्योपनिषद्में। विलक्षण ही है। अमात्र आत्माका निरूपण करनेके लिए 'प्रपञ्चोपशमं, शान्तं, शिवं, अद्वैतं' कहा। 'अजम् अनिद्रम् अस्वप्नं' कहा। बतलाया—चार कोटियोंमें—से किसीको पकड़ लोगे तो तुम्हारा आत्मा आवृत हो जायेगा। सचमुच आवृत नहीं होता, आवृत-सा होता है। तो अज्ञानसे जो भी होता है वह नहीं होता। तो बोले कब मानें कि हमको तो भगवान्का दर्शन हो गया। बोले—चार कोटियोंसे—जाग्रत्के पदार्थोंको पकड़कर बैठना, स्वप्नके पदार्थोंको पकड़कर बैठना, सुषुप्तिकी अवस्थाको पकड़कर बैठना, सुषुप्ति समाधिमें बैठना, शून्यको पकड़कर बैठना, आत्माको जाग्रतवत् मानना, आत्माको स्वप्नवत् मानना, आत्माको उभयवत् मानना और आत्माको अनुभववत् मानना—ये चार कक्षाएँ हैं—ये चारों ग्रह हैं। ग्रह माने—पुरानी भाषामें समझो—जैसे चन्द्रग्रह जब पृथिवी और सूर्यके बीच आ जाता है तो सूर्यको ढक देता है। सचमुच सूर्य ढकता है? नहीं। हमारी आँख ढकती है। सूर्य नहीं ढकता। पृथिवी ग्रहकी छायांने चन्द्रमाको ढक दिया। यह ग्रहण हो गया। तो, यह सचमुच आपके मनपर, आपकी बुद्धिपर कोई ग्रहण लग गया है। यह ग्रहण क्या है कि यह अस्ति ग्रहण, नास्ति



ग्रहण, अस्ति-नास्ति ग्रहण, नास्ति-नास्ति-ग्रहण—मनपर भी ग्रहण लग गया है और बुद्धिपर भी ग्रहण लग गया है। 'आभिरस्पृष्टो भगवान्'—भगवान् परम-स्वतन्त्र हैं।

उपचारेण पूजानां भगवच्छब्दः प्रयुज्यते।

विष्णुपुराणमें बतलाया कि 'भगवान्' शब्दका प्रयोग क्यों करते हैं। गौणवृत्तिसे जीवोंकी अपेक्षा विशेषता दिखलानेके लिए। भगवान् क्यों कहते हैं कि जैसे सब जीव हैं, वैसे ये नहीं हैं। अस्ति-ग्रहसे ग्रस्त, नास्ति-ग्रहसे ग्रस्त जो अपनेको मानकर जीव बने हुए हैं उनसे विलक्षण है—यह भगवान्! तो, यह चार बात जिसको कभी नहीं छूतीं ऐसे भगवान्को जिसने देख लिया। क्या देख लिया? देखो! यह भी विलक्षण। बिलकुल श्रौत बात है।

किसका ज्ञान होनेपर सबका विज्ञान हो जाता है? इसी भगवान्का ज्ञान होनेपर सबका ज्ञान हो जाता है। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—जो चाहो सबका ज्ञान हो जाय। घट-पट-मठ आदि अपने अभावके अधिकरणमें कैसे भास रहे हैं? ये अपने अधिष्ठानसे अभिन्न कैसे हैं? ये अपने स्वयंप्रकाश आत्मा कैसे हैं? अपनेसे सिवाय दूसरा कुछ है ही नहीं। वह सर्वदृक् हो गया न!

अस्मिन् विज्ञाते सर्वं विज्ञातं भवति।

यही बात श्रुतिके शब्दोंमें कही गयी—

प्राप्य सर्वज्ञतां कृत्स्नां ब्राह्मण्यं पदमद्वयम्।

मतान्तरकी शंका ही मत करना। इस ब्राह्मणमें भला!

कस्मिन् भगवो विज्ञातं सर्वमिदं विज्ञातं भवति। मु० 1.1.3

य एतदक्षरं गार्गि विदित्वाऽस्माल्लोकात् प्रैति स ब्राह्मणः। बृ० 3.8.9

स्पष्ट वहाँ ब्राह्मण शब्दका प्रयोग है। जान लो बाबा! ब्राह्मण कौन है? सम्पूर्ण वस्तुओंका ज्ञान और ब्राह्मण्य पद है।

ब्राह्मण सच्चा कब समझना? देखो, यजमानके घर गया, गौरी-गणेशकी पूजा करवायी। अरे भाई, गायका गोबर ले आओ। गोबरसे गौरी बनायी। अरे भाई, सुपारी ले आओ, सूत बाँधकर गणेश बनाया। आवाहन किया। पूजन करवाया। प्रसाद बाँटा। स्तुति-नमस्कार कराया। न्यूनाधिक्यका क्षमापन कराया। सब किया। अब विसर्जन करना न आवे तो समझना कि वह पण्डित नहीं है! 'गच्छ-गच्छ सुरश्रेष्ठ!' गोबरको फेंक दिया गंगाजीमें और सुपारीको उठाकर जेबमें रक्खा। पैसा लिया, गौरी-गणेश सबका विसर्जन। इसका नाम ब्राह्मण्य है।

अध्यारोपापवादाभ्यां निष्प्रपञ्चं प्रपञ्च्यते ।

अध्यारोप किया। सुपारीमें गणेशका। और गोबरमें गौरीका। यजमानकी श्रद्धा पूरी हुई। उसको धर्म हुआ। सुख मिला। फल मिला। सब ठीक, पर ब्राह्मण कौन कि जो गौरीको फिर बिगाड़नेमें डरे! गौरी बनाकर पूजा की, अब कैसे बिगाड़ें? उस सुपारीको घरमें ले जाकर तोड़कर खानेमें डर जाय! समझना—अभी यह पुरोहित कच्चा! इसीका नाम ब्राह्मण्य है। जो संसारमें अस्तिभाव, नास्ति-भाव, अस्ति-नास्ति भाव, नास्ति-नास्ति भाव हैं—इनका अध्यारोप करनेमें और फिर इन सबका अपवाद कर देनेमें जो निपुण हैं उसीको ब्राह्मण बोलते हैं। 'ब्राह्मण्यं पदमद्वयम्'—यह अद्वयपद है, जिसकी बराबरीका कोई पद नहीं है। जिसमें सृष्टि और प्रलय दोनों बराबर; जिसमें नरक और स्वर्ग दोनों बराबर। ऐसा यह अद्वय ब्राह्मण पद है। यह बात, मैंने कैसे कही कि 'एष नित्यो महिमा ब्राह्मणस्य'—इस श्रुतिको ध्यानमें रख लेना तो गौरी-गणेशवाली बात भी ध्यानमें रहेगी।

न कर्मणा वर्द्धते नो कनीयान् ।

अमुक कर्म करनेसे हम बड़े हो जाते हैं और अमुक कर्म करनेसे हम छोटे हो जाते हैं—यह ख्याल ब्रह्मज्ञानी ब्राह्मणके चित्तमें—बिलकुल नहीं है। न उसकी आदि है, न मध्य है, न अन्त है, माने वह कालकी कलनासे बिलकुल पृथक् है। ऐसा अद्वय पद ब्राह्मण्य उसको प्राप्त हुआ। 'किमतः परमीहते!' अब क्या चाहिए भाई तुमको। इसके बाद तुमको क्या पाना है? कर्तव्य और अकर्तव्यके बारेमें कहाँ बँधे हुए हो?

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन ।

न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥ 3.18

एक कथा भी ऐसे होती है—अरे, परमेश्वर बड़ी दूर है भाई, परमेश्वरका मिलना बड़ा दुर्लभ है, बड़ा मुश्किल है, वह परे, वह परे इतना जंप करो तब मिलेगा। इतनी उपासना करो तब मिलेगा। इतना योग करो—यह करो, वह करो। और एक यह पद्धति है—यह आत्मा परमात्मा है। कि अभी तुम्हारा यह कर्तव्य है—एक बन्धन है। बोले—तुम्हारा कोई कर्तव्य नहीं है। यह कृतकृत्यता नहीं बनती!

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः ।

आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥



वह कर्तव्य और अकर्तव्यके बन्धनसे विनिर्मुक्त है। प्राप्तव्य और त्यक्तव्यके बन्धनसे मुक्त है। उसके लिए ज्ञातव्य कुछ नहीं है। वह स्वयं सब कुछ है। अब क्या चाहिए?

सवस्तु सोपलम्भं च द्वयं लौकिकमिष्यते ।

अवस्तु सोपलम्भं च शुद्धं लौकिकमिष्यते ॥ 87 ॥

अवस्त्वनुपलम्भं च लोकोत्तरमिति स्मृतम् ।

ज्ञानं ज्ञेयं च विज्ञेयं सदा बुद्धेः प्रकीर्तितम् ॥ 88 ॥

ज्ञाने च त्रिविधे ज्ञेये क्रमेण विदिते स्वयम् ।

सर्वज्ञता हि सर्वत्र भवतीह महाधियः ॥ 89 ॥

हेयज्ञेयाप्यपाक्यानि विज्ञयान्यव्यापणतः ।

तेषामन्यत्र विज्ञेयादुपलम्भस्त्रिषु स्मृतः ॥ 90 ॥

जब तत्त्वज्ञान हुआ, जो मनमें अस्मि-अस्मि 'मैं हूँ', 'मैं हूँ', होता है—वह अन्य पदार्थकी दृष्टिसे है और स्व-पदार्थकी दृष्टिसे जब यह उठेगा तब। अस्मि, जानामि प्रिये! यह रूप इसका होगा जब। मैं हूँ, मैं जानता हूँ, मैं तृप्त हूँ—इसीको सच्चिदानन्द बोलते हैं। अपने आपसे प्रेम करता हूँ, हमारा अपने-आपसे प्रेम है। यह अस्ति-भाव है। व्यक्तिगत योगाभ्यासी लोग इस अस्ति-भावका निषेध कर देते हैं। क्यों? कहते हैं—यह तो वृत्ति है। 'अहम् अस्मि' ऐसा शब्द, 'अहं जानामि'—ऐसा शब्द, 'अहं प्रिये'—ऐसा शब्द। ऐसा अन्तःकरणमें होनेवाला प्रत्यय। इसका निरोध करनेके बाद क्या शेष रहता है—'अस्मि प्रिये जानामि'—यह जो वृत्ति थी इसका निषेध हो गया। इसका अभाव रहा, नास्ति। तो 'नास्ति' तो कभी ऐसा अनुभव होता ही नहीं। कोई भी यह अनुभव नहीं कर सकता, यह बात बिलकुल अनुभवके विरुद्ध है। न आप, न ब्रह्म, न विष्णु, न महेश, न सनकादि, न स्वयं ब्रह्म। यदि यह अनुभव करना चाहे कि 'मैं' नहीं हूँ, तो किसीके अनुभवकी प्रणालीमें यह बात नहीं आ सकती।

'नहि कश्चित् प्रतियात नाहम्।' कोई भी यह अनुभव नहीं कर सकता कि मैं नहीं हूँ। मैं हूँ—यह अनुभव हमेशा बना रहे, यह प्रतिज्ञा नहीं है। प्रतिज्ञा यह है कि मैं नहीं हूँ, ऐसी वृत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि सुषुप्तिमें मैं हूँ, यह वृत्ति नहीं रहे। किसी व्यक्तिगत बुद्धिकी किसी भी अवस्थाका नाम आत्मा नहीं है। अभ्यासी लोगोंका सबसे बड़ा दोष यही है कि वे तो कहीं नाक बन्द करके, कहीं आँख बन्द करके, कहीं दिल बन्द करके—इनके तो हड़ताल ही होती रहती है कि



मजदूर हैं तो हड़ताल करते हैं और मालिक हैं तो तालाबन्दी करते हैं। ये तो बेचारे तालाबन्दी और हड़तालमें ही उलझे हुए हैं। मनको बन्द करो, बन्दको चालू करो—यह तो संघर्ष है। यह अपना परमात्मापना, यह कोई व्यक्तिगत बुद्धिका विलास नहीं है। कोई जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति सरीखा परमात्मामें स्थितिरूप कोई अवस्था नहीं है। यह सत्य है, यह पदार्थ है, इसीको ब्राह्मण्य बोलते हैं। इसमें सर्वज्ञताका अभिप्राय यह समझो कि वैशेषिक आदि केवल परमाणु और उसके कार्यको जानते हैं, सांख्य प्रकृति और उसके कार्यको जानते हैं। बौद्ध विज्ञान और उसकी धारा और शून्यवादी शून्यको जानते हैं, केवल अनात्माके सम्बन्धमें जानते हैं। ये जानते हैं शून्य, विज्ञान, प्रकृति, परमाणु, पंचभूत—ये अन्यरूपसे कभी-कभी होनेवाली समाधि और कभी-कभी मिलनेवाला ईश्वर। अनात्म विषयक ज्ञान। वस्तुतः जिस अनुभवसे ये सब प्रकाशित होते हैं—देश-काल-वस्तु और वह कालसे अपरिच्छिन्न अनन्त-अनादि, वह देशसे परिच्छिन्न अनादि-अनन्त, वह वस्तुसे अपरिच्छिन्न अद्वय-स्वयं जो आत्मतत्त्व है, प्रत्यक् चैतन्य है; असलमें वही सर्व है। वह ज्ञान है। इसलिए आत्म विज्ञानसे सर्वका विज्ञान हो जाता है यह प्रतिज्ञा हो गयी।

‘ब्राह्मण्यं पदमद्वयम्’—ब्राह्मण्य क्या है? मुक्त ब्राह्मण्य क्या है? वह गौण ब्राह्मणसे ही प्रारम्भ होता है, जैसे आपके घरमें दीया जलाना है, अन्धेरा है इसलिए। अन्धेरा न हो तो दीया नहीं जलावेंगे। अन्धेरा दूर हो गया तो दीया बुझा देंगे। अज्ञान मिट गया तो ज्ञान-दीपक जलानेकी जरूरत नहीं। है, स्वयं प्रकाश है ज्ञान। वह दूसरी चीज है जहाँ दीपक आरोपित होता है। दीया संजोना बोलते हैं। जैसे दीपकको संजोना और दीपकको बुझाना होता है। महाराष्ट्रमें गणेशजीकी मूर्ति बनाते हैं और बहुत भाव करते हैं, हजारों रुपये खर्च करते हैं। आठ-दस दिन पूजा करते हैं, आरती उतारते हैं। फिर विसर्जन कर देते हैं। इसीका नाम आवाहन-विसर्जन होता है। प्रयोजनके अनुसार आवाहन किया और प्रयोजन पूरा हो जानेपर विसर्जन। तत्त्वज्ञानमें अध्यारोप-अपवाद जिसे कहते हैं, वह यही आवाहन और विसर्जन है। घरमें बिजली नहीं है तो मोमबत्ती जलायी और बिजली आगयी तो मोमबत्ती बुझा दी। तो, यह क्या हुआ? इसका नाम प्रत्याम्नाय हो गया। जहाँ प्रतिरोध है—एकने घरमें दीपक जलानेकी, दियासलाई जलानेकी कोशिश की, एक बच्चेने या माँने हाथ पकड़ लिया—अरे बेटा, ऐसा मत करो। क्यों? बोली—यहाँ पेट्रोल रक्खा है, विस्फोट होनेका डर है। अपवाद कहाँ होता है जहाँ



प्रयोजनकी पूर्ति हो। जहाँ वैसी दूसरी रोशनी हो जिससे काम चलाया जा रहा हो और फिर सही प्रकाश आ जाय वहाँ अपवाद होता है। यह मीमांसाशास्त्रमें 'अपवाद'का एक अध्याय ही है। पूर्व-मीमांसाके दसवें अध्यायका नाम ही है—अपवादाध्याय। तो वहाँ कोई साढ़े चारसौ रीतिसे बतलाया गया है। प्रत्यक्ष-प्रमाणके द्वारा प्रत्यक्षाभासका बाध होता है। अनुमान प्रमाणके द्वारा अनुमानाभासका बाध होता है। उपमान प्रमाणके द्वारा उपमानाभासका बाध होता है। श्रुतिप्रमाणके द्वारा श्रुत्याभासका बाध होता है। यथार्थ अनुभवके द्वारा अनुभवाभासका बाध होता है। ये बाधकी प्रक्रियाएँ हैं; ये हमारे जीवनकी एक खास प्रक्रिया है। यह नहीं समझना कि वेदान्तियोंने कहीं आसमानमें-से तारा तोड़कर लाकर रखा दिया है। हमारी रहनीमें जैसा होता है उसी ढंगको लेकर अध्यारोप-अपवाद—इनकी स्थापना की गयी है तो अब यह हुआ कि सच्चा ब्राह्मण कौन?

वह विज्ञान जिसको हो गया वह ब्राह्मण। वह ब्राह्मण्यपद कैसा है? बोले—'अनापन्नादिमध्यान्तं'—वह आद्यापन्न नहीं है, मध्यापन्न नहीं है, अन्तापन्न नहीं है, उसमें जन्म नहीं है, मध्य नहीं है, अन्त नहीं है—ऐसा वह ब्राह्मण्य है। 'किमतः परमीहते'—अब बताओ कि यह ब्रह्म आप हो, यह अद्वय पद तो आप हो। अब तो आपको चाहिए क्या? किसके लिए कोशिश कर रहे हो? यदि मनुष्यने जान लिया कि मैं यह देह नहीं हूँ—अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय, आनन्दमय कोष नहीं हूँ; स्थूल, सूक्ष्म, कारण नहीं हूँ, विश्व, तैजस, प्राज्ञ नहीं हूँ—मैं तो नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त ब्रह्म हूँ। यह जान लिया तो 'किमतः परमीहते'—अब तुम कौन-सी वस्तु प्राप्त करना चाहते हो, क्या चाहते हो? किसके लिए चाहते हो? अरे बाबा, 'यह देह ऐसे ही है। आत्मलाभसे बढ़कर और कोई लाभ नहीं है। अब बतलाया कि यह जो ब्रह्मज्ञानी पुरुष है, यह पुनीत होता है।

विप्राणां विनयो ह्येष शमः प्राकृत उच्यते।

विप्र कहते हैं जो विशेष तृप्त हो-प्र-तर्पणे—यह धातु जो है वह तृप्तिके अर्थमें है—'वि' माने विशेष और 'प्र' माने तृप्त। अपने आपमें मगन। हमको बचपनमें एक बड़ा आश्चर्य होता था। आपको सुनाता हूँ—ब्राह्मण लोग आते थे, कहते थे हमको करनेके लिए दुर्गापाठ दिलवा दो। भाई, क्यों दिलवा दें? तो कहते—देखो, गरीबी आगयी है, लड़कीकी शादी है, खाना चाहिए, कपड़ा चाहिए, दुर्गा-पाठ न करें तो कैसे चलेगा? मैं पूछता—भाई, होगा क्या इससे?

अगर किसीका कोई मामला-मुकदमा हो और हम दुर्गापाठ करेंगे तो वह जीत जायेगा, किसीको घाटा लगा हो तो वह पूरा हो जायेगा। किसीका ब्याह न हो तो वह हो जायेगा। यजमानके मनोरथकी पूर्ति हो जायेगी। तो, उनसे कह दो आप, हमें पाँच रुपया देकर दुर्गापाठ करवा लें। शतचण्डी करवा लें, न सही सहस्रचण्डी। तो, हमको इस बातसे बचपनमें बड़ा आश्चर्य होता था, हम कहते थे कि इनको लड़कीकी शादीके लिए रुपया चाहिए और दूसरेकी शादी करवानेके लिए ये दुर्गापाठ करना चाहते हैं। अपनी लड़कीकी शादीके लिए ये दुर्गापाठ करें तो शादी भी हो जायेगी, पैसा भी आ जायेगा—दूसरेका ये क्यों करना चाहते हैं! दूसरेकी गरीबी दूर करनेके लिए तो तुम दुर्गापाठ करोगे, तो तुम अपनी गरीबी दूर करनेके लिए क्यों नहीं करते? तो इसका मतलब यह हुआ कि तुम्हारी श्रद्धामें कमजोरी है।

आपको बतानेमें हमें कोई संकोच नहीं है। ये जो आजकल ज्योतिष्पीठाधीश्वर स्वामी शान्तानन्दजी महाराज हैं, ये पहले हमारे पास रहते थे; हमारे साथ कई बार बम्बई भी आये थे, जैसे अब ये दादा, द्वारका रहते हैं, ऐसे ही वे रहते थे। ये लोग तो पढ़े-लिखे हैं, वे तो पढ़े-लिखे नहीं थे। मेरे पास मैं समझता हूँ 8-10 वर्ष सेवामें रहे। तो वृन्दावनमें श्रीउड़ियाबाबाजी महाराजका जब शरीर पूरा हुआ तो वे उनकी सेवामें थे। श्रीउड़ियाबाबाजीका शरीर जानेका बहुत दुःख हुआ उन्हें। वे चले गये। और जाकर गंगा-किनारे एक मन्दिरमें बैठ गये और उन्होंने अपने लिए चण्डीका पाठ करना शुरू किया। सहस्रचण्डी होते-होते हमारे जगद्गुरु शंकराचार्य श्रीब्रह्मानन्दजी महाराजने उनको बुला लिया। बोले—तुम हमारे यहाँ दण्डी स्वामी हो जाओ! हमारे पास तो ब्रह्मचारी थे। उन्होंने पहले ही कह दिया—हम तुमको शंकराचार्य बना देंगे। सकाम अनुष्ठान ब्राह्मण करते हैं, दूसरेके लिए करनेकी जगह यदि अपने लिए करने लग जायँ तो उनका ब्राह्मण्य भी सुरक्षित रहे और हीनता भी नहीं आवे। बड़ा सामर्थ्य है। कर्ममें शक्ति है। आप कर्मको असमर्थ मत समझना। उपासनामें बड़ी शक्ति है, योगाभ्यासमें बड़ी शक्ति है। सिद्धि है। जिसे ध्यान कहते हैं यह फलकी उपलब्धि के लिए नहीं है, यह फलाकांक्षाका विषय नहीं मिलता। यह फलाकांक्षाको पुष्ट नहीं करता। यह फलाकांक्षाके आधार परिच्छिन्न अहंको नष्ट कर देता है। क्योंकि अहं अज्ञान मूलक है। ज्ञानसे अज्ञान नष्ट हुआ। परिच्छिन्न अहंकार गया। फलाकांक्षा आधार-हीन होकर शून्य हो गयी। अब वह विषयके साथ जुड़े कैसे?



‘विप्राणां विनयो ह्येष।’ विद्यारण्य स्वामीके सामने गायत्री प्रकट हुई, चौबीस लक्ष करनेपर तो नहीं हुई, पच्चीस लक्ष करनेपर प्रकट हुई। बोलों वर माँग लो! बोले—देवी, जब मैं चाहता था तब तो तुम आयी नहीं और अब तो मैं ब्राह्मण हूँ, संन्यासी हूँ। सच्चा ब्राह्मण्य हमको प्राप्त हो गया है।

‘तस्मात् देवो शान्तो दान्तः उपरतस्तिक्षुः श्रद्धावित्तो भूत्वा आत्मन्येव आत्मानं पश्येत्।’

तो शंकराचार्य भगवान्ने दोनोंको मिलाकर छह साधन कर दिया। प्रारम्भमें छह साधन चाहिए। छह साधनोंसे क्या है—इन्द्रियोंका काबूमें रहना, मनका काबूमें रहना, यह शम-दम हुआ और कर्ममें साधन-बुद्धि अधिक न होना। जो दुःख आवे उसको सह लेना। मनमें श्रद्धा रहे, अभिमान न हो, यह श्रद्धा नामकी जो महौषधि है यह अभिमानको क्षीण करनेके लिए है। समाधानकी औषधि विक्षेपको क्षीण करनेके लिए है। तितिक्षा दुःखमें जो घबड़ाहट आती है उसे मिटानेके लिए है। उपरति कर्म-विस्तारको रोकनेके लिए है। शान्ति—मनमें काम-क्रोध कम करनेके लिए है। दान्ति इन्द्रियाँ बहुत चंचल नहीं हों इसके लिए है। तो इन्द्रियाँ चंचल न हों, मनमें विशेष काम-क्रोध न आवे, कर्मोंमें विशेष प्रवृत्ति न हो। जो दुःख आवे उसको सह लें। अभिमान न हो और एकाग्रता बनी रहे। यह छह साधन ज्ञानके पूर्व चाहिए। यह तो करना पड़ता है। और ज्ञान होनेपर—‘विप्राणां एष ब्राह्मण्यं अद्वयं पदं विनयः’—इस अद्वय ब्राह्मण्य पदमें स्थित हो जाना यही ब्राह्मण पद—यही ब्रह्मज्ञानीका विनय है। विनय क्या है इसमें कि जिसकी अपनी वासना तीव्र नहीं होती, उसको अपनी जिद्द नहीं होती।

श्रीउडियाबाबाजी महाराज कासगंज गये तो सनातनधर्मियोंने बड़ा भारी स्वागत-सत्कारका आयोजन किया। ले जाकर ऊँचे सिंहासनपर बैठा दिया। आर्य समाजियोंने विरोध किया। बोले—इनको ऊँचे नहीं बैठने देंगे? जाकर बोले—महाराज तुम ऊँचे क्यों बैठे हो? बोले—भाई, तुम जहाँ कहो हम वहीं बैठें। हमको कोई ऊँचे बैठनेकी इच्छा नहीं है। बोले—आओ, हमारे साथ नीचे बैठो। सिंहासन परसे उतरकर बाबा उनके पास नीचे बैठ गये। जब उनके साथ बैठ गये तब सनातनधर्मियोंने हल्ला किया—अरे, हमारे आचार्यका, हमारे गुरुका अपमान करते हो, लड़ाई करनेपर तैयार। बोले, अच्छा बाबा, तुम कहो वैसा करें। तुम क्या कहते हो? बोले—आप सिंहासनपर बैठो। कि लो, बैठ जाते हैं।



एक और घटना बिलकुल सच्ची आपको सुनाता हूँ। दिल्लीमें एक बहुत गरीब किरायेदार था बेचारा। बड़े मकानमें रहता था। मकान दूसरेका था और मालिक भी रहता था उसीमें। और किरायेदार भी रहते थे। बड़ा मकान था। उसने बाबासे आग्रह किया कि आप हमारे घर चलो! घर पवित्र करानेवाले यह नहीं समझते कि क्या अपना, क्या पराया। अक्कल तो होती नहीं। क्योंकि वे अपनेको पवित्र नहीं करना चाहते हैं, वे दीवारको पवित्र करवाना चाहते हैं। उनकी तो छत पवित्र होनी चाहिए। दीवाल पवित्र होनी चाहिए। बाबा सवारीपर तो बैठते नहीं थे। पाँच-छह मील पैदल चलकर कुर्सिया घाटसे गये। साथमें बीस-पचीस सेवक पहुँचे तो दरवाजेपर ही दरवाने रोक दिया। कि हम बाबाओंको मकानमें नहीं घुसने देंगे। बड़ी अनुनय-विनय की। नहीं जाने दिया। बोला—आप बैठिये, हम मकान-मालिकसे पूछकर आते हैं। अब वह मकान-मालिकके पास गया। तो मकान-मालिकने भी मना कर दिया। बाबा बोले—हम लौट जाते हैं। अब थोड़ी दूर गये तो भगत फिर दौड़ा नहीं महाराज, चलो। लौट गये, फिर आकर बैठ गये। कोशिश हुई। नहीं सिद्ध हुई! तो फिर लौट गये। सात बार वहाँसे लौटकर दो-दो तीन-तीन फर्लाङ्ग गये और दो-दो तीन-तीन फर्लाङ्ग लौटकर आये। ऐसा मालूम पड़ता था कि जैसे कोई कठपुतली हो। उसको कोई उधर ले जाता है और कोई इधर खींचकर ले आता है। अपना कोई संकल्प, अपना कोई अहं हो ही नहीं। अन्तमें यह तय हुआ कि जो भोजन बना है वह टोकरोंमें भरकर जहाँ बाबा ठहरे हैं वहाँ पहुँचा दिया जाय और पाँच-छह मील लौटकर जब बाबा आये तब वहीं कुर्सिया-घाटपर भोजन हुआ! तो सन्तोंमें कितना विनय होता है!

‘विप्राणां विनयो ह्येष’—विनय हो और वह बनावटी नहीं हो। बनावट होनेसे तो जैसे अमृतमें जहर मिल जाय, ऐसा होता है। दम्भसे धर्मकी सिद्धि नहीं होती, कपटसे धर्मकी सिद्धि नहीं होती। यह स्वाभाविक विनय सन्तमें होती है—‘शमः प्राकृत उच्यते’। दुनियावी लोग तो मतलबसे भी शान्त होते हैं। कोई मतलब आवे तो वह लल्लो-चप्पो करें। हफ्तेमें मनुष्य साढ़े तीन दिन दुःखी रहता है। साढ़े तीन दिनतक सुखी। सुबह कुछ, दोपहरको कुछ, शामको कुछ, रातको कुछ। यह दुनिया तो बदलती रहती है। ब्रह्मज्ञानी उसको कहते हैं कि जो स्वाभाविक शान्त रहता है। ‘दमः प्रकृतिदान्तत्वात्’—इन्द्रियोंका दमन करनेके लिए उन्हें जोर नहीं लगाना पड़ता। वे स्वभावसे ही दान्त रहते हैं। विद्वान् पुरुष शान्तिसे रहता है।



गीतामें साधन बतलाया—उसका तो बड़ा विलक्षण अर्थ है। उसमें—से एक साधनका भी अर्थ मनुष्य ठीक-ठीक समझ जाय तो 'अमानित्वम् अदम्भित्वम् अहिंसा, शान्ति आर्जवम्।' यह कागज बाँचनेसे काम नहीं चलता। उसको अपने दिलमें बाँचना पड़ता है। 'अमानित्वं' क्या है? उसकी तस्वीर देखनी पड़ती है। देखो—उसका एक शब्द। मान, मानी, मानित्व और अमानित्व—एक तो मान है साढ़े तीन हाथका शरीर और मानी माने में यह शरीर हूँ—यह अभिमानी। मानित्व माने—में साढ़े तीन हाथका शरीर हूँ—ऐसे अभिमानका भाव और अमानित्व माने—उसका निषेध। अमानी वाला नहीं, अमानीका भाव नहीं। हममें कोई अभिमान नहीं है, इसका भाव—यह एक अभिमान और हुआ। जैसे—ये सारे तो अभिमानी हैं और हम निरभिमानी हैं। बोले—देखो, हम कितने निरभिमान हैं, हम जूतोंमें बैठते हैं...., और ये सब तख्तेके ऊपर बैठते हैं अभिमानी हैं। अब इसमें अभिमानी कौन है—तख्तेके ऊपर बैठा हुआ कि जूतेमें बैठा हुआ? यह जो जूतेमें बैठा हुआ है सो अभिमानी है। अपने मनको देखो, अपने मनके साथ अन्याय नहीं करना। अपने दिलके साथ अन्याय नहीं करना, यह साधकके लिए साधन है। सिद्धका स्वाभाविक लक्षण है। ब्रह्मसूत्रमें यह प्रसङ्ग आया है। साधकको शम-दम आदिसे उपरत होना चाहिए। ब्रह्मके लिए कोई विधान शास्त्रमें नहीं है। कर्त्ताके लिए विधिनिषेध होता है। अकर्त्ताके लिए नहीं। ऐसे करो, ऐसे मत करो, जिनमें कर्त्तापनकी भ्रान्ति है, उनके लिए होता है।

अब बतलाते हैं, एक विलक्षण बात—जहाँ-जहाँ संसारमें वैर-विरोध है, वहाँ संसारका कारण मौजूद है। वैर-विरोध; राग-द्वेष। आप समझो जो आत्माको 'अस्ति' बोलता है उसका 'नास्ति' बोलनेवालेसे वैर-विरोध है कि नहीं? अच्छा जो 'नास्ति' बोलता है, उसका 'अस्ति' वालोंसे वैर-विरोध है। और जो 'अस्ति-नास्ति' दोनों बोलते हैं उनका अस्तिवालोंसे भी विरोध और नास्तिवालोंसे भी विरोध। यह समन्वय नामकी जो चीज होती है, वह एक तीसरा ही मार्ग पैदा कर देती है। बोले—सनातन-धर्म भी ठीक, ईसाई धर्म भी ठीक है; मुसलमानधर्म भी ठीक। कि ठीक सो तो ठीक—सबमें ठीक है; लेकिन वे तीनों भी आपसमें एक मानते हैं कि नहीं! आप बड़े उदार हैं—आप तीनोंको एक मानते हैं। वे आपके साथ क्या व्यवहार करेंगे? वे नहीं मानेंगे कि आप हमारे नेता हैं। हमारे आचार्य हैं। वे कहेंगे कि आप थियोसोफिकल सोसायटीके हो! तुम दीने-इलाही, तुम अकबरके अनुयायी हो, हटो-हटो—सबको एक बतलाते हो! अब न्याय-दर्शन



और मीमांसा-दर्शन तो अपनेको एक मानते नहीं हैं। हम कहें कि ये दोनों एक हैं तो न मीमांसक-पण्डित कहता है कि तुम समझते हो मीमांसाको और न नैयायिक पण्डित कहता है कि न्याय जानते हो। असलमें यह जो अलग-अलग भाव हैं और जो सबको 'नास्ति-नास्ति' बोलता है उसमें भी द्वेष ही है। जितने प्रवक्ता हैं उनके दर्शन राग-द्वेषकी आत्यन्तिक निवृत्तिमें समर्थ नहीं हैं। तो वे दर्शन कैसे हैं कि राग-द्वेषात्मक हैं। देखो, जबतक आदमीके मनमें राग रहेगा तबतक वह पक्षपातसे शून्य नहीं हो सकता। पक्षपाती लोगोंके भीतर जो कमी है न वह उनके भीतर झाँकती है। वे ज्यादा करके जबानसे अपनेको निपक्ष कहकर सन्तोष कर लेते हैं। व्यवहारमें कभी-कभी अपनी निष्पक्षता दिखानेके लिए ऐसा कुछ काम कर लेते हैं, सन्तोष कर लेते हैं। लेकिन जिसके मनमें राग-द्वेष है, वह निष्पक्ष कैसे होगा? यह सत्य आत्मा चतुष्कोटिसे विनिर्मुक्त है। यह जो 'प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवं'—मूल उपनिषद्में यह बात कही गयी कि जिसमें प्रपञ्चका उपशम होता है, वह राग-द्वेषादिसे अनास्पद दर्शन है। राग-द्वेषादि उसमें है ही नहीं। अब आओ, हम यह बात आपको बतलावें जिसमें कोई विवाद नहीं है, कोई विरोध नहीं है।

'अविवादोऽविरोधश्च'—वह क्या दर्शन है? अपनी प्रक्रिया बतावें! क्या प्रक्रिया है माण्डूक्योपनिषद्की, यह आपको भूला नहीं होगा! जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्तिके ये तीन स्थान और तीन स्थानी—विश्व-तैजस-प्राज्ञ। इनका विवेक करके और इनका जो स्वयं प्रकाश अधिष्ठान तुरीय प्रत्यग् आत्मा है उसका बोध कराना। यह माण्डूक्योपनिषद्की अपनी प्रक्रिया है। अवस्थात्रय विवेकके द्वारा आत्माको समझाना। तो अब उसको लेते हैं—

सवस्तु सोपलम्भं च द्वयं लौकिकमिष्यते।

यह जाग्रत् अवस्था है, इसमें घट-पटादि, स्त्री-पुरुष आदि वस्तु भी हैं। और इनकी जानकारी भी है। जाग्रत् अवस्थाके सात अङ्ग हैं। इसमें—पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, सूर्य और चन्द्रमा हैं। ये आधिदैविक और आधिभौतिक दोनों जगत्की जो उपलब्धि है व्यावहारिक—इसको जाग्रत् अवस्था बोलते हैं। इसमें जो अभिमानी हैं उसको विश्व बोलते हैं। आप देखो—द्युलोक, सूर्य—दो ये और पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश—पाँच ये सप्ताङ्ग हैं। अब आप मत भूल जाना कि हम व्यक्तिगत जाग्रत् अवस्थाका निरूपण कर रहे हैं। यह शरीर जब सोता है तब, उसका नाम सुषुप्ति, जब सपना देखता है तब स्वप्न, जब



जागता है तब जाग्रत् अवस्था नहीं। जैसे स्वप्नमें मिट्टी, पानी, आग, हवा आकाश, सूर्य और स्वर्ग—सारा-का-सारा—जैसे स्वप्नमें स्वापिक ही हैं, वैसे ही जाग्रत्में यह सब-का-सब जागरित है। जैसे सपनेमें सब सपना, ऐसे ही यह सूर्य भी जो जाग्रत् अवस्थामें है और इसमें जो कर्मके फलस्वरूप इन्द्रादि लोक, ब्रह्मलोक आदि जो मालूम पड़ते हैं सो और यह मिट्टी, पानी, आग, हवा जितनी मालूम पड़ती हैं सो सब—यह हमारी जाग्रत्-अवस्था है। इनका अभिमानी मैं वैश्वानर हूँ। वस्तु और उपलब्धि—ये दोनों जहाँ हों उसका नाम है लौकिक अवस्था। यह कल्पित संवृत्तिसे बतला रहे हैं—आत्माका ज्ञान करानेके लिए। और 'अवस्तु सोपलम्भं च'—जहाँ वस्तु न हो और उपलब्धि हो उसको बोलते हैं—शुद्ध लौकिक माने स्वप्नावस्था। 'अवस्तु अनुपलम्भं च'—जहाँ कोई स्थूल-सूक्ष्म वस्तु भी न हो और उपलब्धि भी न हो उसको बोलते हैं—सुषुप्ति। इसमें है 'ज्ञानं ज्ञेयं च विज्ञेयम्'। अब देखो इसमें तीन चीजें हैं, एक तो ज्ञेय है—ज्ञेय क्या है कि लौकिक वस्तु और उसकी उपलब्धि और शुद्ध वस्तु-वासनात्मक और उसकी उपलब्धि और अभाव और उपलब्धि—ये हैं ज्ञेय और इनके जो स्थानी हैं वे विश्व-तैजस-प्राज्ञ—उनका ज्ञान होता है उपलब्धि। ज्ञेय और ज्ञेयकी उपलब्धि और इसमें एक ही आत्मा—जो विश्व है वही तेजस् है। वही प्राज्ञ है। वही इन अवस्थाओंका और अभिमानियोंका तिरस्कार कर देनेपर वही मैं 'तुरीय' है।

'सदा बुद्धैः प्रकीर्तितम्'—बुद्धोंने, माने जो जागे हुए हैं उन्होंने 'ज्ञेयं' शब्दका अर्थ श्रुतिके मूलमें माण्डूक्योपनिषद्में—'स आत्मा स विज्ञेयः' सातवें मन्त्रमें आया है, उससे लिया। विज्ञेय है आत्मा और ज्ञेय है जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति—ये तीनों अवस्थाएँ। ज्ञान है उनकी उपलब्धि-अनुपलब्धि। विज्ञेय है तुरीय-आत्मा। उसको जानना चाहिए।

'ब्राह्मणस्य विशेषतः'—ब्राह्मणके जन्मको विशेष करके समझो! जो पढ़े-लिखे विद्वान् शम-दम आदि साधन-सम्पन्न हैं। हम यह बात कई बार कहते हैं—जैसे यज्ञोपवीत-संस्कार क्या है? द्विजत्वका अध्यारोप। वैसे ही संन्यास? द्विजत्वका अपवाद। आप समझो ब्राह्मण कौन? जब वाजपेय यज्ञ करना हो और आकर कोई पूछे कि इस यज्ञका अधिकारी कौन? वहाँ यज्ञ तो कर्म है। वह शरीरसे सम्पन्न होता है। उसके लिए कर्म-काण्डका जैसा नियम है—'ब्राह्मण्यं ब्राह्मणायात'—स्वर्गकी प्राप्तिके लिए भोग करना—आप किसी लौकिक प्रमाणसे सिद्ध कर सकते हो या विज्ञानसे? जो आगमें होम करेगा वह स्वर्गमें जाकर इन्द्र



देवता बनेगा। देवता हो जायेगा वह, स्वर्ग उसको मिलेगा—यह बात आप क्या विज्ञानके किसी भी यन्त्रसे सिद्ध कर सकते हो? जहाँ अलौकिक फल प्राप्तिके लिए अलौकिक फलका आश्रय लिया जाता है, वहाँ अलौकिक रीतिसे प्रतिपादित जो ब्राह्मणत्व है, वही ब्राह्मणत्व मानना पड़ेगा। तो जन्मना जो ब्राह्मण होगा वह 'वृहस्पतिसव'का अधिकारी होगा। जो मूर्धाभिषिक्त होगा वह राजन्य राजसूयका अधिकारी होगा।

श्रीकृष्ण-प्रेमकी अधिकारिणी गोपी है। प्रेम क्या शरीरमें होता है? जो ग्वाल-जाति, कि अहीर जातिमें पैदा हो वही प्रेमका अधिकारी होगा? नहीं। कहीं भी पैदा हो, परन्तु गोपीवत् जिसका हृदय होगा वह कृष्ण-प्रेमका अधिकारी होगा। वहाँ हृदयका गोपीपना, वृत्तिका गोपीपना अभीष्ट है। जहाँ शरीरसे कर्म होगा वहाँ देखना होगा, अहीरका, अमुक जातीय कर्म है। वह अभीष्ट होगा। श्रीकृष्ण-प्रेम करना होगा तो जातिसे अहीर ही प्रेम करे यह नहीं। ब्राह्मण भी गोप-भाव हो, गोपी-भाव हो। वह ऐसे ही यह ब्रह्मज्ञान शरीरका विषय नहीं है। यह अन्तःकरणका विषय है। शुद्ध अन्तःकरण होना चाहिए। तो उसमें 'शमो दमो, तपः शौचम्'—क्या है?

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।

ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्॥

जो ब्रह्मकर्मसे उपलक्षित ब्राह्मण होगा—शम-दम आदि सम्पन्न वह अधिकारी होगा। ब्राह्मण जातिमें पैदा होनेपर भी यदि शमदम, अन्तःकरण शुद्धिसे सम्पन्न नहीं है तो अनधिकारी है। और अन्य जातिमें, अन्य वर्णमें होनेपर भी यदि शम-दम आदिसे सम्पन्न है, तो वह वेदान्तका, ब्रह्मविज्ञानका अधिकारी है। उसके लिए बुद्धिकी अपेक्षा है और यज्ञमें—शरीरकी अपेक्षा है। भक्तिमें भावकी अपेक्षा है! तो, यह बुद्ध किसको बोलते हैं—महाभारतमें यह श्लोक आया है—

एतद् वै जन्मसाफल्यं ब्राह्मणं च विशेषतः।

आत्मज्ञानं शमश्चैव पर्याप्तं तत्परायणम्॥

ब्राह्मण-जन्म साफल्य क्या है? कि अपना ज्ञान हो कि मैं कौन हूँ। मनमें शान्ति रहे। जो ज्ञान हुआ है उसमें निष्ठा हो। यह जानकर ही मनुष्य बुद्ध होता है।

एतद् बुद्ध्वा भवेत् बुद्धो किमन्यत्बुद्धलक्षणम्।

महाभारतमें आया बुद्धका लक्षण क्या है? कि जो यह जान जाय कि मैं ब्रह्म हूँ, उसका नाम बुद्ध है। प्रबुद्ध है—जाग गया, उसका द्वैतका सपना टूट गया।



राग-द्वेष-मोह उसका टूट गया। ज्ञानाग्निमें उसकी अविद्याका परिवार भस्म हो गया।

अब ये तीन तरहके ज्ञान हैं—

‘ज्ञाने च त्रिविधे ज्ञेये’—जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति तीन प्रकारका ज्ञेय—उसमें स्थान और और स्थानी माने विश्व, तैजस, प्राज्ञ और उनका स्थान जो इनको खूब ठीक-ठीक जान लेते हैं, ऐसे महान् ज्ञान-सम्पन्न पुरुष हैं, वह सर्व है और तुरीय स्वयं ब्रह्म हैं। ब्रह्ममें जो फुर रहा है सो भी वही। यदि किसीको यह मालूम हो जाय कि मैं माटी हूँ तो माटीसे बने जितने खिलौने हैं सब वही हैं। अच्छा, यदि किसीको मालूम हो जाय कि मैं पानी हूँ तो सब तरंग, फेन, बुदबुदा-वही है। यदि किसीको मालूम हो जाय कि मैं आग हूँ तो सब लपट-चिनगारी वही है। किसीको मालूम हो जाय कि मैं हवा हूँ तो सबके दिलमें चलनेवाली सांस मैं ही हूँ। यह मालूम पड़ेगा कि नहीं? हम सब एक ही हैं। एक प्राण दो देह—देह ही अलग-अलग मालूम पड़ते हैं। हम सबकी साँस बिलकुल एक है। जब साँस एक है तब आकाश एक है, तब आत्मा एक है, तब ब्रह्म एक है। तो सर्व और ज्ञेय भी वही है। जो जाना जाता है वह भी ब्रह्म, यदि यह मालूम पड़ जाय कि हम मन हैं तो सपनेमें जितनी चीजें दिखलायी पड़ती हैं सब मैं ही हूँ, यह मालूम पड़ेगा कि नहीं? यह मालूम पड़ जाय कि मैं ईश्वर हूँ, तो सम्पूर्ण जीव और जगत् मैं हूँ। संसारका सबसे बड़ा पाप तो यही है कि मैं अपनेको देह मानता हूँ। खटमल काटे तो उसका संहार। मच्छर काटे तो उसका संहार। जो अपनेको मिट्टी मानता है, उससे संहार नहीं होता—यह एक विचित्र बात है। क्या विचित्र बात है? कि मैं भी मिट्टी। यह शरीर मरेगा तो मिट्टी होगा। खटमल भी मरेगा तो मिट्टी होगा। शरीर खटमलका और शरीर मैका दोनोंका रहना भी मिट्टी है और दोनों शरीरोंका टूट जाना भी मिट्टी। गीताका ज्ञान आ गया—

‘तस्मात् युद्धस्व भारत।’ यह शरीर—जब इसको मैं मानकर बैठते हैं तब यह मैं और यह तू—अरे बाबा, हमारी ओर देखना मत और छूना मत—यह देह भाव बड़ी भारी भ्रान्ति है। तो यह—‘महाधियः’ माने जिसने अपनेको ब्रह्म जान लिया, इससे सम्पन्न हो गया उसे सर्वज्ञताकी प्राप्ति हो जाती है।

अच्छा; तुम जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्तिका वर्णन करते हो तो यह सच है कि झूठ? काम, क्रोध, लोभको छोड़ो और शान्ति-दान्तिको ग्रहण करो। यह सच है कि झूठ? आजकलके मनोवैज्ञानिक कहते हैं कि दिमागपर तनाव मत आने दो।



तनाव मिटानेके लिए उपाय क्या बतलाते हैं कि भोगका मन आवे तो भोग करो ! भोग कभी तनाव मिटानेके लिए उपाय नहीं हो सकता। उन्हीं मनोवैज्ञानिकोंसे जाकर पूछो ! एक बार भोग करेंगे तो एक बारका तनाव मिट जायेगा। फिर उस भोगका जो अभ्यास बढ़ेगा और वासना बढ़ेगी वह फिर दुबारा तनाव उत्पन्न करेगी या नहीं ? हम उसका खण्डन करनेके लिए नहीं कह रहे हैं, हम समर्थन करनेके लिए कह रहे हैं—समर्थन क्या करते हैं ? समर्थन क्या है ? कि यह जो सर्वमें समत्वका ज्ञान है, सर्वरूपताका ज्ञान है, ब्रह्मरूपताका ज्ञान है—इसमें तनावकी जैसी निवृत्ति है, वैसी निवृत्ति तात्कालिक इञ्जेक्शनमें, गोलीमें, भोगमें है ? कहते हैं कि बच्चा यदि कोई गलती करे, तो उसपर दबाव डालकर, मारकर या डाँटकर मत रोको। समझाकर रोको। 'बात तो ठीक हुई, परन्तु अब अपनेको जो गुस्सा आया उसको कैसे रोके ? बच्चेको रोकेंगे तब तो वह पागल हो जायेगा, लेकिन हम अपनेको रोकेंगे तो ? ज्ञान ऐसा चाहिए जिसमें बच्चेकी जो गलती है वह शिथिल पड़ जाय, बच्चेके स्वभावके ज्ञानसे बच्चेकी गलती ढीली मालूम पड़े। अपना जो वेग है गुस्सेका वह ढीला रहे। वेगमें शैथिल्य हो। अपराधकी भावनामें शैथिल्य हो। यह बात कैसे होगी ? जब मालूम पड़ेगा कि दोनों ब्रह्म-स्फुरण हैं। यह बात ब्रह्मैकत्वसे मालूम पड़ेगी।

चार तरहकी वस्तु हमारे शरीरमें, जीवनमें हैं। कुछ वस्तुएँ तो ऐसी हैं जिन्हें छोड़ देना चाहिए। कुछ ऐसी हैं जिन्हें पा लेना चाहिए। कुछ ऐसी हैं जिन्हें पचाना चाहिए। एक ऐसी है जिसे जान लेना चाहिए। ये चार विभाग कर दिये। तो यह जो जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्तिमें परिच्छिन्नपना—मैं यह क्या है ? यह ज्ञेय है। जो अज्ञानके कारण परिच्छिन्नमें अपना मैं बैठा देनेके कारण अभ्यास है। यह अभ्यास तो हेय है। आनन्दाश्रमवाली पुस्तकमें जो ज्ञेय-ज्ञेय छपा है, वह गलत है।

शांकरभाष्यमें स्पष्ट ही है—हेय। हेय माने ह्यातुं योग्यम्। त्यागके योग्य। जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्तिकी परिच्छिन्नतामें जो मैंपना है, इसको छोड़ दो। पाना क्या चाहिए ? जो अच्छी आदतें अपने जीवनमें नहीं हैं—गाली देनेपर भी सह सकें। एक महात्मा हमको गाली देते थे तो हमने पूछा—आप गाली क्यों देते हैं ? बोले—हमारी गाली तुमको बुरी लगती है, तो दुनियादार तो बहुत गाली देंगे, क्योंकि तुम जिसके मनके अनुसार नहीं चलोगे वही तुमको गाली देगा। अगर गाली सहनेकी आदत नहीं हो मनुष्यके जीवनमें माने अपमान सहनेकी आदत न हो, अपने मनके विरुद्ध काम सहनेकी आदत न हो तो वह आदमी तो मर जायेगा। दुनियामें—हर



समय बौखलाते रहोगे। एक बहू आयी तो उसको गाँवके लोगोंने बतलाया कि यह जो तुम्हारी सास है, यह दिनभर कुछ-न-कुछ बकती-झकती रहती है। बड़ा खराब स्वभाव है। बहू बड़ी बुद्धिमान थी, समझ गयी। अब सास आकर बिगड़ने लगी कि आज ही आयी है और घूँघट ऐसे नहीं निकालती। और ऐसे नहीं करती। बहूने यूँ अँगूठा दिखलाया। फिर तो वह और बरस पड़ी। खूब गाली देने लगी। गाली देकर वहाँसे हट गयी। थोड़ी देर बाद जब बहू उधरसे निकली तो यों अँगूठा दिखलाती हुई निकली, अब फिर गाली देने लगी। अब दो बार, तीन बार, चार बार—दो—तीन घण्टे जब सासको गाली देते-देते हो गया, पानी-पी-पीकर गाली दे—जब थक गयी बिलकुल तो जाकर सो गयी; उसने सोचा कि अब इस बहूसे तो हम पार पानेवाले नहीं हैं। दूसरे दिनसे उसने गाली देना, अपमान करना—बन्द कर दिया।

देखो, कुछ चीजें ऐसी हैं दुनियामें—अच्छा अभ्यास जिसको बोलते हैं, अच्छी बातें आदतके रूपमें जीवनमें आ जानी चाहिए उनमें बनावट या जोर नहीं लगाना चाहिए। ये पानेकी चीज हैं शम, दम, उपरति, तितिक्षा और कुछ ऐसी चीजें हैं जो न तो छोड़ी जा सकती हैं, न तो पायी जा सकती हैं—वे कौन-सी हैं कि मनमें जो स्वाभाविक राग है, स्वाभाविक द्वेष है। वह है—यह मत कहना कि नहीं है। जब आकर कभी कोई कहता है कि हम कभी झूठ नहीं बोलते तो यह मालूम पड़ता है कि यह आदमी या तो इतना बावरा है कि उसको पता ही नहीं चलता है कि झूठ क्या होता है और या तो यह ढोंगी है पहले नम्बरका। जो आदमी वाणीसे बोलेगा उसके मुँहसे कभी झूठ भी निकलेगा। दस आदमीसे जो मिलेगा उसको कोई आदमी पसन्द आवेगा और किसीको देखकर उसको नफरत भी होगी। यह बात स्वाभाविक है! क्योंकि मन एक संस्कारसे आक्रान्त है। उसको अमुक-अमुक तरहकी चीज अच्छी लगती है। अमुक-अमुक तरहकी चीज बुरी लगती है। देखो, हम लोग मछलीके बाजारमें—से जब निकलते हैं तब नाक दबाकर निकलते हैं। वहीं जो उसके उपासक हैं, भोक्ता हैं—निकलते हैं तो कैसे प्रेमसे। तो मनमें—उसमें दोष क्या है? राग है, द्वेष है। उसको पचाओ। जैसे—आपका संसारमें जगह-जगह राग होता है। अपने पतिसे राग करके उसको पचा लो। द्वेष ही करना हो तो अमुक जगह करना, अमुक जगह नहीं करना। उसका विभाग कर लो। पचा लो। परिपक्व बना लो। जैसे आँवला है। उसे कच्चा खाओ तो कैसा लगता है? और उसको रसायन बना लो—कैसा बढ़िया हो जाता



है। आम है, उसको कच्चा खाओ तो कैसा? और पका लो तो कैसा? कुछ दोष अपने जीवनमें ऐसे हैं जिनको हम छोड़ नहीं सकते। उनका त्याग बनता नहीं। किसीसे उधार ले नहीं सकते; क्योंकि वह तो दिलमें होते हैं। तो उनको पकाना पड़ता है। ब्रह्मज्ञानके पहले राग-द्वेष आदि दोषोंको पकाकर पाक बना लो। करेलेको वैसे नहीं खा सकते। जब उसको घीमें, तेलमें तल देते हैं, उसकी कड़वाहटको पचा देते हैं, उसमें नमक-तेल डाल देते हैं, वह खाने लायक हो जाता है। राग-द्वेष भी जीवनमें रखने लायक होता है। उसको परिपक्व बनाकर रखना पड़ता है। कच्चा न हो, गीला न हो, जहाँ-तहाँ बह न जाय, उसको पानी मत रक्खो, उसको बहता हुआ दूध मत रक्खो, उसको मलाई बनाकर रक्खो। मीठा बना लो। अपने रागको—जैसे जने-जनेसे यारी आवे तो अपने पतिसे राग करके उसको परिपक्व कर लो। चलेका मन जगह-जगह जाय तो बोले अपने गुरुसे राग करके परिपक्व बना लो। ऐसे ही यह दोषको परिपक्व बनाना। एक चीज है—विज्ञेय।

‘स आत्मा स विज्ञेयः’—मूलमें बतलाया वह विज्ञेय क्या है? अपना आत्मा उसे जानो। जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति, विश्व-तैजस-प्राज्ञ इनसे विलक्षण—उसके अतिरिक्त न देश, न काल, न वस्तु, न सजातीय, न विजातीय, न स्वगत, न मैं, न तू, न यह, न वह। वह अखण्ड आत्मा विज्ञेय है। तो ये चारों बातें सच्ची हैं? कि बोले नहीं, चारों बातें सच्ची नहीं हैं, इनमें-से एक सच्ची है। परमार्थ सत्य केवल अपना आत्मा है। जिसको छोड़ना है वह भी झूठा है। जो जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति आदिकी उपलब्धि है वह भी झूठी है। और जिनको पचाना है वह भी केवल मनकी फुर्फुराहट है। इनमें विज्ञेय आत्माको छोड़कर जो तीन हैं ये केवल उपलम्भ हैं। केवल मालूम पड़ते हैं। प्रतीति हैं स्वप्नवत्। सच्चा तो आत्मा ही है।

**प्रकृत्याकाशवज्ज्ञेयाः सर्वे धर्मा अनादयः।**

**विद्यते न हि नानात्वं तेषां कचन किंचन ॥ 91 ॥**

**आदिबुद्धाः प्रकृत्यैव सर्वे धर्माः सुनिश्चिताः।**

**यस्यैवं भवति क्षान्तिः सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥ 92 ॥**

**आदिशान्ता ह्यनुत्पन्नाः प्रकृत्यैव सुनिर्वृताः।**

**सर्वे धर्माः समाभिन्ना अजं साम्यं विशारदम् ॥ 93 ॥**

**वैशारद्यं तु वै नास्ति भेदे विचरतां सदा।**

**भेदनिष्ठाः पृथग्वादास्तस्मात्ते कृपणाः स्मृताः ॥ 94 ॥**



अजे साम्ये तु ये केचिद्विष्यन्ति सुनिश्चिता ।

ते हि लोके महाज्ञानास्तच्च लोको न गाहते ॥ 95 ॥

अपनी प्रक्रिया बतलायी—लौकिक, विशुद्ध लौकिक और लोकोत्तर । लौकिक क्या है ? जाग्रत्-अवस्था, जहाँ वस्तु भी है और उपलब्धि भी है—ज्ञान । स्वप्नमें वस्तु नहीं है; लेकिन उपलब्धि है । उपलब्धि ही वस्तुके रूपमें भास रही है । सुषुप्तिमें न वस्तु है, न उपलब्धि है । इन तीनोंका नाम है—हेय । हेय माने त्याज्य—इनका अपवाद कर दो और इनके अभावसे उपलक्षित जो साक्षी है, अधिष्ठान है वह अपना स्वरूप है । उसको बोलते हैं—ज्ञेय । वह परमार्थ-स्वरूप है । ये तीनों अवस्थाएँ जिनको तुम हेय बतलाते हो ये सच्ची हैं या झूठी ? इसी पदार्थका निर्णय करनेके लिए सच्चाई झूठाई एक हिसाबसे होती हैं । अपेक्षासे होती हैं । बिना अपेक्षाके विवेक नहीं हो सकता । विवेक माने अलगाव । जहाँ अलगाव होगा वहाँ विवेक होगा । सापेक्षता होगी । अब इस बातको आप ऐसे ध्यानमें लो !

एक महात्मा बोलते हैं—जब बुद्धने कहा—‘विज्ञानं, विज्ञानं, विज्ञानम्’—सब विज्ञान है—बोलो उसकी जगह; क्षणिकं, क्षणिकं, क्षणिकम् ।’ कालका अवयव है क्षण । वह काल बुद्धके अनुभवसे अलग होकर खड़ा हो गया । बोला—तुम ‘क्षणिकं’में लगे हो । लेकिन, यह ‘क्षणिकं’ और तुम खुद—दोनों हमारी गोदमें हो । क्षणिकत्वावच्छिन्न तुम्हारा ज्ञान है । कालने कहा—यह तुम्हारी क्षणाकार वृत्ति और क्षण दोनों अभी हमारी गोदमें हैं, आप हमारी गोदमें बैठे हैं । कालका बाध नहीं हुआ । विज्ञानकी धारा, क्षणिकताकी धारा जिसमें बह रही है, उस कालका बाध नहीं हुआ । एकने कहा—वे उड़ गये । कहाँ ? बोले—बैकुण्ठमें गये, स्वर्गमें गये, ब्रह्मलोकमें गये, आलोकाकाशके सिरेपर । बड़ा भारी अनुभव हुआ । क्या पूछना है ! तो देश इतनी जोरसे ठठाकर हँसा—अभी तो तुम्हारा सारा अनुभव हमारी मुट्ठीमें है । यह ऊँचाई-निचाई कहाँ है ? जब चार्वाकने कहा—‘सब जड़ है’, तब सचाई उससे अलग होकर बोली—तुम जड़ और तुम्हारा अनुभव जड़ । तुम जड़के बच्चे । ज्ञान तुम्हारा जड़से पैदा हुआ है । जब एकने कहा—अज्ञेय, अज्ञेय, अज्ञेय । तब जो साक्षात् अपरोक्ष विज्ञान था, वह रोने लगा कि हमको छोड़कर तुम किसको अज्ञेय कह रहे हो ? अज्ञेयताकी कल्पनाको प्रकाशित करनेवाले तुम अपनेको न जानकर किसी औरको अज्ञेय बोल रहे हो ? कहनेका अभिप्राय यह है कि जिन लोगोंने कहा—दो, उनका ज्ञान आधा-आधा हो गया ।



जिन लोगोंने कहा—हजार, उनका ज्ञान हजार टुकड़े हो गया। क्योंकि जिसको तुम देखोगे, जिसको तुम जानोगे उसी आकारमें ज्ञानकी प्रतीति होगी और सबके अत्यन्ताभावसे उपलक्षित जो स्वयं स्वस्वरूप है, वह न देशकी गोदमें है, न कालकी गोदमें है, न द्रव्यकी गोदमें है, न हजार है, न दो है, केवल प्रत्यक् चैतन्याभिन्न ब्रह्मतत्त्व ही अद्वितीय है। वह केवल विज्ञेय है। कुछ साधन-सम्प्रदायमें इस तरह हैं। आप्य और पाक्य। तो शंकराचार्य बिना श्रुतिके कुछ बोलते ही नहीं। आप्य क्या है कि 'पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेत्।'।

वहाँ जो निर्विद्य शब्द है—उसका अर्थ है प्राप्तव्य आप्य—प्राप्त करने योग्य। यह विन्दने लाभे धातुसे निः उपसर्ग लगनेपर बना है, निर्विद्य निःशेषेण उपलभ्य। तो प्राप्त करना चाहिए? बोले एक तो श्रवण करना चाहिए। यह पाण्डित्य है। बोले—भला श्रवणमें क्या पाण्डित्य है? मूर्ख-से-मूर्ख भी आकर बड़े भारी पण्डितके सामने बैठ जाय। दोनों छेद खुले ही हैं—सुन लेगा। इसमें पाण्डित्य काहेका? वेदान्तकी परिभाषामें कानसे सुननेका नाम श्रवण नहीं है। सम्पूर्ण वेदान्तोंके तात्पर्य-निर्धारणमें जो निपुणता है, उसको वेदान्तमें पाण्डित्य बोलते हैं। कोई भी श्रुति पूछो हम उसका समन्वय आत्मा और ब्रह्मकी एकतामें कर सकते हैं। अगर यह बात तुमको मालूम पड़ गयी, यह युक्ति आगयी समझमें—एक ओर श्रुति कह रही है कि सृष्टि हो रही है, एक ओर श्रुति कह रही है कि सृष्टि स्थित है, एक ओर श्रुति कह रही है कि प्रलय हो रहा है, एक ओर कहती है—पुनर्जन्म होता है, एक ओर कहती है उत्क्रान्ति होती है—श्रुति हजार तरहसे वर्णन करती है; परन्तु सब श्रुतियोंका तात्पर्य आत्मा और ब्रह्मकी एकता समझानेमें है। अगर सम्पूर्ण वेदान्तोंका तात्पर्य निरूपण करनेकी विधा-पाण्डित्य आगया तो तुम पण्डित हो गये। यह-यह पण्डिताई सीखनी पड़ेगी। यही आप्य है। यह गुरुसे पाने योग्य है। यह लाइब्रेरीमें बैठकर कोई कहे कि हम किताबोंमें 'स्टडी' करेंगे और उसमें-से यह पाण्डित्य निकाल लेंगे तो नहीं, उसमें-से यह पाण्डित्य नहीं निकलता, बड़े-बड़े लोगोंको भ्रान्त होते देखा है।

'बाल्यं' शब्दका अर्थ है—ज्ञानका बल, एक ब्राह्मण कर्ममें, यज्ञमें विश्वास रखता हो और जब उससे कोई पाप हो जाय तो कहे कि ईश्वरने कराया है, तो वह अपनी धर्म-निष्ठासे च्युत हो गया कि नहीं? उसको तो—मैंने पाप किया और मुझको प्रायश्चित्त करना चाहिए। ऐसा विचार करना चाहिए न! एक भक्त है, उससे यदि अपराध हो जाय और वह कहे कि मैं असङ्ग हूँ, पाप-पुण्यसे मेरा क्या



सम्बन्ध? वह अपनी निष्ठासे गिर गया! तो उसे प्रभुसे प्रार्थना करनी चाहिए न! लेकिन, एक वेदान्तीसे यदि कोई अपराध हो जाय और वह कहे कि हम पहले इसके प्रायश्चित्तका अनुष्ठान करेंगे और तब शुद्ध होंगे या ईश्वरसे प्रार्थना करेंगे तब शुद्ध होंगे वह भी अपनी निष्ठासे च्युत हो गया न! अपनी निष्ठाका ही बल होना चाहिए। ब्रह्म भी बनो और मैं-मैं, पैं-पैं भी करो—यह दोनों निष्ठा एक साथ नहीं चलती।

एक आदमी जिन्दगी भर गणेशजीकी पूजा करता रहा पर उसका मनोरथ पूरा नहीं हुआ। तो, एक दिन वह बहुत नाराज हुआ गणेशजीपर और उनको उठाकर आलेमें रख दिया और बोला कि तुम्हारी पूजासे हमारा काम नहीं बना, अब हम तुम्हारे बापकी पूजा करेंगे। शंकरजीको रख लिया पूजामें। अब शंकरजीके आगे जब धूप दी तब उसमें-से निकला धुँआ और वह शंकरजीकी ओर न जाकर आलेमें रखे हुए गणेशजीकी सूँडमें घुसने लगा, तो उसने कहा—वाह, इतने दिन तो हमसे परिश्रम करवाया, हमारी पूजा ली और अब जब हम तुम्हारे बापकी पूजा करते हैं तो उसे जबरदस्ती छीनते हो? लेकर रूई उसने गणेशजीकी नाकमें ठूँस दी—कि हम तुमको अपना धूप नहीं लेने देंगे! इसपर गणेशजी हँसने लगे। बोले—क्यों हँसे भाई! कि यों हँसे कि अबतक तो तुम हमको पत्थरकी मूर्ति समझते थे। आज तुमने हमको सूँघनेवाला समझा! चेतन समझा—आज ही तो चेतन समझा, इसलिए हँसते हैं। तो, देखो बल जो है—बाल्यका अर्थ है 'बाल्यं ज्ञानवलं भावः निर्द्वन्द्वः, निष्ठापर भोला-भाला, सीधा-साधा बालक जैसे होता है—ऐसे अपनी निष्ठाके बलसे बलवान होना यह बाल्य है। यह मनुष्यके जीवनमें आना चाहिए। एक वेदान्ती थे, वे कहते फिरते कि हम ब्रह्म हैं—जब कोई तकलीफ आती थी तब कहते हमसे—स्वामीजी आशीर्वाद दो, हमारी यह तकलीफ दूर हो जाय। मैं कहता—तुम तो ब्रह्म हो भाई, तुमको क्या आशीर्वाद दें! तुमको तो ब्रह्मज्ञान हो गया, तुम अपनेको ब्रह्म जानते हो तो अब हम तुमको क्या आशीर्वाद दें? व्यवहारकी बात दूसरी है। अपनी निष्ठाका बल होना चाहिए, न कोई तकलीफ कभी पैदा हुई, न है, न होगी। इसका नाम ज्ञान बल है। ये आप्य हैं—श्रवण, मनन, निदिध्यासन, पाण्डित्य, बाल्य और मौन। मौन माने मुनि-वृत्ति। जो बीत गया क्या पकड़ते हो उसको। उसकी पूँछ भी तो तुम्हारी पकड़में नहीं आसकती! जो आनेवाला है वहाँ तक तुम्हारा हाथ पहुँचेगा? काटते चल रहे हैं। ज्ञानके सामनेसे सिनेमा आता है, जाता है। अब ये



अन्तःकरणमें कुछ दोष हैं। बोले—दोष तो कहींसे लाने थोड़े ही पड़ते हैं। माँमें दोष, बापमें दोष, नानामें दोष, नानीमें दोष! नाना-नानीसे लेकरके नारायण तककी जो परम्परा है—नानीकी नानी, नानाके नाना, नानीके बाप, नानाके बाप और अपने बाप और और अपने बाबा और अपनी दादी-दोषोंकी परम्परा तो अनादिकालसे चली आयी है और एक नहीं हजारों पीढ़ीमें-से घूम-फिरकर आयी है। माँ-बापसे देखा उसका, भाई-बन्धुसे देखा उसका, पढ़ा-लिखा उसका, समाजमें देखा उसका, मास्टरने सिखाया उसका। मनुष्यके जीवनका निर्दोष होना आश्चर्य है! सदोष होना सहज है। तो इन दोषोंके साथ क्या करना कि आवो हुकुम दे दें कि हे काम; हमारे मनमें मत आना! हे द्वेष, हमारे मनमें मत आना। तो तुम्हारा हुकुम मानते हैं क्या ये? बोले—हमने हुकुम दे दिया आजसे यह बात हमारे मनमें नहीं आयेगी।

एक महात्मा थे, उनके पास कोई आया और बोला कि हमको ऐसी सिद्धि दे दो कि ईश्वर हमको मिल जाय, हम नचावें वैसा नाचे। तो महात्माने कहा कि लो बाबू, हम तुमको मन्त्र तो दे देते हैं; लेकिन एक बातका ध्यान रखना, जप करते समय बन्दरकी याद तुमको न आवे, तब यह मन्त्र जल्दी सिद्ध हो जायेगा! अब महाराज, जब वे बैठे माला लेकर जप करनेके लिए तो यह ख्याल आवे कि कहीं बन्दरकी याद तो नहीं आगयी। बन्दरकी याद न आवे इसीमें बन्दर याद आजाय। जिसे तुम अपने दिलमें-से निकालना चाहते हो वह तो तुम्हारे दिलमें और घुसेगा, हुकुम देनेसे तो काम बनेगा नहीं। एक लड़केने एक बार हमसे प्रतिज्ञा की कि अब हम दुःखी कभी नहीं होंगे। पर, वह तो अब जब कभी पाँच रुपया खो जाय तब रोये, कभी और कुछ हो जाय तब रोये। अरे भाई, तूने प्रतिज्ञा की है कि हम दुःखी नहीं होंगे। तो बोले—हम दुःखी कहाँ हैं, हँस जाय और आँखसे झर-झर आँसू गिरे और बोले हम दुःखी नहीं हैं। तो, ऐसे बचपनकी बात थोड़े ही चलती है। जिन्दगी हिसाब-किताबसे चलती है।

अच्छा, आपका पाक्यकी बात सुनाते हैं। 'पाक' बनाना पड़ता है। जब आपको अपने घरमें कभी कड़वी सब्जी बनानी होती है—करेलेकी सब्जी बनानी होती है। गुजरातीके घरमें करेलेकी सब्जीमें शक्कर डाल देते हैं, गुड़ डाल देते हैं। तब उसे पकाते हैं। परिपाक जब हो जाता है तब कड़वाहट नहीं रहती। पर सिन्धी लोग इस मामलेमें ज्यादा अच्छे हैं, वे करेलेकी कड़वाहटको जितनी निकाल देते हैं, उतनी गुजरात-महाराष्ट्रमें नहीं निकाल सकते। निकालें



भी तो जला देते हैं। इसकी विद्या सिन्धियोंको ज्यादा मालूम है! तो पाक्य—कोई कच्ची चीज हो तो यह मत समझना कि हम हुक्म दे देंगे, जैसे—बच्चेको कह देते हैं कि ए बेटा, यह काम कर, वैसे हम अपने मनको हुक्म दे देंगे कि ए काम निकल जा, ए क्रोध निकल जा, ए प्रेम निकल जा और ए द्वेष निकल जा, तो तुम्हारे सब प्रान्तका हम भोजन बता सकते हैं—उड़ीसाका, तमिलका, तेलगूका, मलयालमका, कर्नाटकका—सब जगह मैंने जा-जाकर उस-उस प्रान्तका पंजाबका, सिन्धका—तो हम बता सकते हैं कि उसमें क्या विशेषता होती है। पाक्यमें हुक्मसे काम नहीं चलेगा। धीरे-धीरे उसका रसायन बनाना पड़ता है। तेज आँचसे नहीं, तेज आँचमें जल जाता है। आँच न हो तो फट जाय। कहीं खटाई, कहीं नमकसे बनता है, कहीं बिगड़ जाता है। तो यह जो अन्तःकरणके दोष हैं कषाय आदि इनका परिपाक होना चाहिए। परिपाक होनेका अर्थ यह होता है कि जैसे मनमें क्रोध होता है, तो कोई हुक्म दे कि बिलकुल आजसे क्रोध नहीं करना तो कोई नहीं मान सकता। किसीके मनमें सामर्थ्य नहीं है; क्यों कि मन तो अपने काबूमें नहीं होता। वेदान्त दर्शनका पहला ही सूत्र मैं आपको बतला चुका हूँ उसमें आचार्योंके भाष्य—‘अथातो ब्रह्मजिज्ञासा’ में बोले—ब्रह्मके ज्ञानकी इच्छा करो! मार दिया सभी सम्प्रदायके आचार्योंने! देखो, इसमें सब एक मत। बोले—‘इच्छा करो’ यह विधान हो ही नहीं सकता। क्योंकि इच्छा कब क्या होगी—‘इच्छाया श्रुतिसाध्यत्वाभावात्’। जिसमें अनुकूलताका ज्ञान होगा, उसे पानेकी वासना होगी। वासनाके अनुसार पानेकी इच्छा होगी। जिसके प्रति प्रतिकूलताका ज्ञान होगा—यह चीज बुरी है—इससे हमें दुःख होगा—वह छोड़नेकी इच्छा होगी। आग छूनेकी इच्छा नहीं होगी। रसगुल्ला खानेकी इच्छा होगी। जब आ जायेगी तब मालूम पड़ेगी। यह पहलेसे किसीको नहीं मालूम पड़ती। अगले क्षणमें हमारे मनमें क्या इच्छा होनेवाली है, नहीं मालूम। इच्छा हो लेती है तब मालूम पड़ती है।

अब क्रोध—एक व्यवस्था करो कि हम पापके प्रति क्रोध करेंगे, पुण्यके प्रति क्रोध नहीं करेंगे—अब यह व्यवस्था हो गयी और व्यवस्था हो गयी तो धीरे-धीरे इसके लिए एक रास्ता निकल गया, एक नहर खुद गयी और अब यह क्रोध तुम्हारे अन्दर पक जायेगा। देखो, मनमें काम आता है—बोले—बन्द करो, काम नहीं आना चाहिए। यह ऐसा ही है जैसे तुम्हारी आँखको देखो घण्टे भर तक कोई दीखने न पावे। बोले—बन्द कर लें! बन्द कब तक रखोगे? ज्ञानका स्वभाव तो



प्रकाश है, आँखके सामने जो आयेगा सो मालूम पड़ेगा। तो वाक्यका अर्थ क्या है कि मनमें काम है तो उसको एकके साथ जोड़ दो, इसीको अपने यहाँ धर्म-व्यवस्था बोलते हैं। बोले कि नहीं हमको लौकिक वस्तु नहीं चाहिए। तो फिर भगवान्‌के साथ जोड़ लो—इसीको पचाना बोलते हैं। इसका नाम है—परिपाक। धीरे-धीरे कामको एक ओर लगा दो। यह नहीं कि हुकुम देकर या डण्डा मारकर रास्ते बन्द करके। ऐसे नहीं, उसको कायदेसे व्यवस्थित करना होता है। तो, कुछ दोष ऐसे हैं अपने अन्तःकरणमें—राग-द्वेष, मोह कि इनको पकाना पड़ता है। इनको मीठा बनाओ। इनमें रसायन डालो। इनमें दूध डालो, इनमें शक्कर डालो। इनको धर्म-भावनासे व्यवस्थित करो। यह दण्ड देनेकी पद्धति नहीं है। ऐसा रास्ता निकालनेकी पद्धति है जिससे वह पक जाय।

चमत्कारी लोग बड़े-बड़े तमाशे कर देते हैं। काशीमें एक काले राम ब्रह्मचारी थे। योगी भी थे—ऐसा प्रसिद्ध था। तो गुरुजी-श्रीहरिशंकर पण्डितजीसे उन्होंने शास्त्र पढ़ा। फिर बोले—महाराज, अब हम आपको गुरु-दक्षिणा देंगे। क्या दक्षिणा देंगे? कि बोले—हमको योगकी सिद्धि प्राप्त है, हम आपको जरा ऊपर उड़कर दिखायेंगे। बोले—अच्छा! यह तो बड़ी-भारी गुरु-दक्षिणा है, उड़ो भाई! फिर वे बोले कि महाराज, मैं खुले आकाशके नीचे नहीं, कमरेके अन्दर बन्द होकर यह दिखाऊँगा। ले गये गुरुजी अपने कमरेमें। एक-दो उनके विद्यार्थी भी जो बड़ी तीक्ष्ण बुद्धिके थे—गये अन्दर। अब उसने उन लोगोंको तो कमरेके बाहर खड़ा कर दिया कि झरोखेमें-से झाँको और हम कमरेमें ऊपर उड़ते हैं! जाकर कमरेमें बैठ गये, प्राणायाम किया, थोड़ा-थोड़ा अन्धेरा था। एक बुर्का था उनके पास और बाँसके छोटे-छोटे टुकड़े एकमें जोड़नेवाले लगा रक्खे थे उसमें। अब वे खुद तो नीचे बैठे रहे और बुर्केको उठाते गये। वह पहुँच गया छत तक। अब बाहरसे उन लोगोंको मालूम पड़े कि यह तो उड़ गया। धरण पर जाकर बैठ गया। वह ज्यों-का-त्यों, जहाँ-का-तहाँ। अब गुरुजी महाराज उठे, बेचारे बड़े भोले-भाले—बोले कि हमरा शिष्य तो सिद्ध है। आकाशमें उड़ता है। वहीं महामहापोध्याय पण्डित रामअवतार शर्मा थे—अबसे कोई तीस-चालीस वर्ष पहले—हमारे बचपनमें ही—काशी विश्वविद्यालयमें प्राच्यविद्या विभागके अध्यक्ष थे। उन्होंने कहा—ऐ योगिराज, हमें कमरेमें आने दो। बोला—नहीं, नहीं योगीके कमरेमें कोई गृहस्थ आदमी नहीं आ सकता। वे बोले—यह सब कुछ नहीं, हम आकरके देखेंगे। वे तगड़े भी थे। बोले—नहीं आने दोगे तो मारेंगे तुमको। घुस



गये कमरेमें। वह बुर्का और डंडा सब उठाकर ले आये और बोले—गुरुजी! देखो यह सब। यह काला ब्रह्मचारी कितना दुष्ट है।

अगर सच्ची कोई वस्तु है तो अपना आत्मा है। ये हेय, आप्य और पाक्य परमार्थ-सत्य नहीं हैं। पहले दोषोंको पकाना जरूरी है। श्रवण-मनन आदि हैं कर्तव्य, पाक्य—जिनको बहिरंग साधन बोलते हैं, शम-दम आदि इनके द्वारा मनके काम-क्रोध-लोभ आदिको परिपक्व करो। ये बहिरंग साधन आत्माका शोधन नहीं करते, अन्तःकरणका शोधन करते हैं। कामादिकी निवृत्ति आप्य है। जो अन्तरंग साधन हैं तत्-पदार्थ त्वत्-पदार्थका शोधन करते हैं। करणका शोधन जो करे सो बहिरंग और जो लक्ष्य-वस्तुका शोधन करे सो अन्तरंग। हेय क्या है? अवस्थात्रय। इनके अभिमानी और विज्ञेय कौन हैं? इनमें एक ही विज्ञेय है—आत्मा। बाकी ये तीन अवस्थाएँ और बहिरंग साधन और अन्तरंग साधन—ये सब-के-सब उपलम्भ हैं। उपलम्भ हैं—माने केवल उपचार हैं, गौण हैं। सत्य केवल आत्मा है। परमात्मा है। दूसरी कोई वस्तु नहीं।

‘प्रकृत्याकाशवज्ज्ञेया’—जबतक आदमीको किसी वस्तुका रहस्य मालूम नहीं होता तबतक वह ठगा जाता है। आपको अपने बचपनका एक चमत्कार बतलाते हैं—हमको एक आदमीने बतला दिया कि तुम किसी भी बच्चेसे कहो कि तुम अपने मनमें एक गिनती लो हम बतला देंगे, कोई भी गिनती तुम अपने मनमें लो हम बतला देंगे और कहो तो हम सबके मनमें एक ही गिनती ला दें, जितने आदमी यहाँ बैठे हैं, सबके मनमें एक ही गिनती ला दें! अब बचपनमें वह ऐसा चमत्कार मालूम पड़े कि स्कूलमें करें तो स्कूलके बच्चे कहें कि यह विद्या हमको बतलाओ—चेला बननेके लिए आवें। देखो, आपको बतलाते हैं—आप अपने मनमें कोई भी संख्या लो, उतना ही अपने पड़ोसीसे भी ले लो, दुगुना हो गया। अब दो रुपया हम आपको दे देते हैं, हमारा भी दो रुपया मिला लो और फिर क्या करो कि आधेका दान कर दो और पड़ोसीका वापस कर दो, अब आपके मनमें एक रुपया बचा—सबके मनमें एक रुपया बचा। भले ही आपने कोई भी संख्या ली हो—सबके मनमें एक ही रुपया बचा। यह आप सब जानते हैं। पर, जबतक हम यह नहीं समझते थे कि सबके मनमें एक रुपया कैसे बचा? तबतक हमारे लिए यह बड़ा भारी चमत्कार था। यह साधुओंकी बात सुनते हैं गृहस्थ लोग तो उनको चमत्कार क्यों मालूम पड़ता है? कि उसमें जो अकल लगाते हैं, युक्ति लगाते हैं साधु लोग, उसको दुनियादार लोग नहीं समझते। इतनी ही बात है यह,



बिलकुल सच्ची और गणित-सिद्ध वस्तु। तो, यह जो आत्मा है—मेरा मैं, तुम्हारा मैं, उनका मैं, इनका मैं, जों असली मैं है—झूठा मैं नहीं—एक तो झूठा मैं, माना हुआ मैं—मेरा नाम बोले—मोहनलाल! कबसे है भाई? जन्मके पहले तुम्हारा क्या नाम था? तो, रक्खा हुआ, हुआ न! तुम्हारी जाति? तो यह पिताके वीर्यमें, अंगूरमें, हड्डी-मांस-चाम कहाँ था? पंच भूतमें कहाँ था? सत्तामें कहाँ था, ज्ञानमें कहाँ था? यह सब कल्पित ही है न! सहज-स्वभावसे प्रकृति यह है कि आत्मा सबका आकाशके समान है और अनादि है माने व्यापक है। देशके परिच्छेदसे रहित है। यह अलग-अलग शरीरमें धारणात्मक शक्ति बनकर बैठ गया है। जैसे बिजली अलग-अलग बल्बमें जलती है। है तो वह एक!

‘विद्यते न हि नानात्वं’—असलमें बिजलीमें नानात्व नहीं है, बल्बका नानात्व बिजलीपर आरोपित है। इसलिए सबके शरीरमें यह हृदयन्त्र—दिलकी जो मशीन है, यह बल्बके समान है उसमें एक ही बिजली धर्म बनकर, धारणा-शक्ति बनकर अलग-अलग प्रकाशित हो रही है। सबके भीतर एक ही आत्मा है। ‘विद्यते न हि नानात्वं’—नाना-नानी सब मर गये—भला! किंचन नास्ति—कहीं भी नहीं है और किंचित् भी नहीं है। किञ्चित् माने स्वजातीय, विजातीय, स्वगत-भेद रूप—किंचित् भी नहीं है। क्वचन माने किसी देशमें, किसी कालमें और किसी वस्तुमें किंचन, कहीं भी नानात्व नहीं है! एक अखण्ड वस्तु है। नानात्व मिटानेके लिए कोई साधन करनेकी जरूरत नहीं। आत्मा सहज स्वभावसे अनादि है। व्यापक है। अनादिका मतलब हुआ—काल-परिच्छेद नहीं। आकाशवत्का अर्थ हुआ—देश-परिच्छेद नहीं। ‘विद्यते न हि नानात्वं’का अर्थ हुआ—वस्तु परिच्छेद नहीं। क्वचन और किंचन यह आत्माका सहज स्वभाव है। इसके लिए हम आकाश बनें—इसके लिए भावना करनेकी जरूरत नहीं। ध्यान करनेकी जरूरत नहीं। इसके लिए बिलकुल गला सीधा करनेकी जरूरत नहीं। पीठ सीधी करनेकी जरूरत नहीं। यह सत्य है।

‘आदिबुद्धाः प्रकृत्यैव’—बोले—ज्ञान तो इसका प्राप्त होना चाहिए और शान्ति मिलनी चाहिए और अमृतत्व मिलना चाहिए। यह चाहिए—चाहिए करके बात बिगाड़ो मत। तुमको ‘मैं’ चाहिए और कुछ नहीं चाहिए। इस बातको बैठा लो—परमात्माके सिवाय और कुछ नहीं चाहिए। परमात्मा तो तुम स्वयं हो! यह आहके सिरपर ‘च’ की चद्दर लगी तो ‘चाह’ बनी, ब्रह्माने पहले ‘आह’ बनाया। आह! आह!! आह!!! आहसे बनता है ‘आहन्ति’ चारो ओरसे चोट मारे उसका



नाम आह ! बोले—बेटी जाओ, ब्याह कर लो दुनियामें। अब दुःख देनेवालेसे कौन ब्याह करे ? लौटकर ब्रह्माजीके पास आयी—पिताजी, हमको कोई पसन्द नहीं करता। बोले—अरी बेटी, ऐसे ही चली गयी थी ? जरा चकारकी चद्दर ओढ़ ले अपने मुँहपर। तब वह 'चाह' बन गयी। अब तो सारी दुनिया कहे—चाह बड़ी मीठी, चाह बड़ी मीठी। लेकिन वह तो चद्दर ओढ़े आह है—जहाँ 'चाह' वहाँ 'आह'। जहाँ चाह वहाँ राह भी होती है। 'आदिबुद्धाः प्रकृत्यैव'—अपना आत्मा नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-स्वरूप है। जब ज्ञान होगा तब हमारी मुक्ति होगी ? सो बात नहीं। ज्ञान होगा तब हम ब्रह्म होंगे सो नहीं। आदिबुद्धाः—आदिबुद्धा जो ये कहते हैं—ज्ञान प्राप्त करो यह सांवृतिक सत्य है। लोक-व्यवहारमें कोई अपनेको अज्ञानी मान बैठा है, तब उसको ज्ञानी बतलाते हैं। देखो, दुनियामें चाहे 'कण'का ज्ञान हो और चाहे 'अणु'का ज्ञान हो, और चाहे 'प्रकृति'का ज्ञान हो और चाहे ईश्वरका ज्ञान हो—ज्ञान 'अहं'से होगा। 'अहं'के बिना किसीकी सिद्धि नहीं होगी। चाहे देशका ज्ञान हो, चाहे कालका ज्ञान हो, चाहे वस्तुका ज्ञान हो और हमारा अहं जिसको जानता है उससे तो परे है। इसलिए देश-काल-वस्तुसे अपरिच्छिन्न तथा कण व अणु और प्रकृतिसे अपरिच्छिन्न, प्रकृति और प्रकृतिके परमेश्वरसे भी अपरिच्छिन्न—यह आत्माका सहज स्वभाव है। यह आदि बोध स्वरूप है। इसमें कुछ ज्ञान प्राप्त करनेका नहीं है। स्वयं ज्ञान स्वरूप है। ज्ञान तो है, लेकिन जरा निष्ठा तो दृढ़ होनी चाहिए। बोले—'सुनिश्चिताः'—यह पक्की बात है। इसमें निष्ठा-विष्ठाकी भी अपेक्षा नहीं। बोले—कुछ भी हो, शान्ति तो मिलनी चाहिए। बोले—अरे बाबा, शान्ति माँगते-माँगते लोग मर गये, नहीं मिली—एक अपेक्षा होती है, आत्मा-स्वभावसे शान्त है। वह मृत्युमें भी शान्त है, जन्ममें भी शान्त, प्रलयमें भी शान्त है। मालूम पड़े तब भी शान्त है। न मालूम पड़े तब भी शान्त है। शान्ति अपना स्वरूप है। दूसरेके घरसे माँगकर उधार शान्ति लाना चाहता है—है पैसा ! हमको शान्ति दो; हे मकान ! हमको शान्ति दो; हे मोटर ! हमको शान्ति दो; तो शान्ति मिलेगी ! एक लड़कीने किसीसे ब्याह किया—मोटर देखकर, थोड़े दिनों बाद मोटर बिक गयी। अब, वह सिर पीटे कि हम तो धोखेमें पड़ गये, तुमने हमको मोटर दिखाकर ब्याह कर लिया। यह तो मोटरसे प्रेम हुआ न ! जो लोग समाधि देखकर प्रेम करते हैं—निष्ठा बनाते हैं—शान्ति कहाँ मिलेगी ? बोले—समाधिमें। फिर यहाँ नहीं मिलेगी, वहाँ जायेंगे तब मिलेगी। यहाँ तो तुम स्वयं



शान्ति हो तो तुमको वह तो मिली नहीं, अब परायी कोई शान्ति है और तुमको मिलेगी! यह आत्मदेव स्वयं शान्ति-स्वरूप हैं, उत्पाद्य नहीं हैं। हम पैदा करेंगे तब मिलेगी सो नहीं। हम स्वयं शान्ति हैं—‘सोऽमृतत्वाय कल्पते’। देश, काल, वस्तुसे अपरिच्छिन्न अद्वितीय हो यह बात इकानबे श्लोकमें बतलायी। देश-काल-वस्तु, स्वजातीय, विजातीय—स्वगत-भेदसे रहित अपरिच्छिन्न अनादि हो तुम—यह बात पहले श्लोकमें बतलायी। और ज्ञान-स्वरूप और स्वयं दृढ़-निष्ठा-स्वरूप, शान्ति-स्वरूप, अमृतत्व-स्वरूप तुम हो यह बात बानबे श्लोकमें कही गयी।

‘आदिशान्ता ह्यनुत्पन्ना’—श्रीशंकराचार्य भगवान् कहते हैं—‘नापि शान्ति-कर्तव्यतात्मनि’ हम शान्त हो जायँ—कोई योग करेंगे तब शान्त होंगे, उपासना करेंगे तब शान्त होंगे, धर्म करेंगे तब शान्त होंगे, अरे ऐसा ज्ञान होगा तब शान्त होंगे! अरे, हमारे सामने तो कितनी बार अशान्ति आयी और मर गयी। हम ज्यों-के-त्यों—यह ऐसी शान्त ज्योति है। दिव्य ज्योति है। ब्रह्म-ज्योति है। इस आत्म-ज्योतिके सामने शान्ति और शान्तिके अभावका कोई द्वन्द्व नहीं है। आदिशान्त है। जो शान्ति किसी कर्मसे, किसी अभ्याससे, किसी उपासनासे पैदा होती है वह आदिशान्ति नहीं है। तुम आदिशान्त हो और अनुत्पन्न हो, अजन्मा हो। ‘सुनिर्वृताः’ हो।

‘परमानन्द चाहिए’—तुमने अपनेसे अलग कर दिया परमानन्दको। क्या आकर वह तुम्हारा चरण दबावेगा? तुमने खुद ही तो अपनेमें-से निकालकर परमानन्दको फेंक दिया। अब रोते हो कि महाराज, बड़ी गलती हुई, बड़ी गलती हुई। क्या हुआ? हमने अपनी घरवालीको निकाल दिया, अपने बेटेको निकाल दिया। अपने हाथसे रुपया फेंक दिया और उसके बाद रोते हैं। इस शान्तिको, इस निर्वृतिको, परमानन्दको अपनेसे अलग समझना, अगलेमें मिलेगा, अभी नहीं है, एक कदम चलेंगे तब मिलेगा यहाँ नहीं है, वह चीज मिलेगी तब होगा, वह स्थिति होगी तब होगा—सब झूठी बात है। यह जो हमको इच्छा होती है कि यह मिले और यह न मिले, इसके मूलमें बाहरके पदार्थ ही कारण हैं। ऐसा चार्वाक बोलता है। हमारे चित्तका विज्ञान ही कारण है। जिसे अच्छा समझते हैं, उसको चाहते हैं। इच्छाके शान्त होने की दो पद्धति है। एक तो जड़ वस्तु मिले तो हमारी इच्छा शान्त हो और एक हमारी बुद्धि ठीक हो कि अरे बाबा! जिसको तुम अच्छा समझते हो वह अच्छा नहीं है। क्यों उसके लिए तुम इच्छा करते हो। जिसको तुम बुरा समझते हो वह बुरा



नहीं है। क्यों परहेज करते हो ? बुद्धि ठीक हो तब इसको बोलते हैं लौकिक समृद्धि। बुद्धि ठीक हो तब इसको मिलती है लौकिक सिद्धि। बुद्धि ठीक करनेसे इच्छा शान्त होगी। यह साधनाभ्यास है। द्रव्य-प्राप्तिसे इच्छा शान्त होगी, यह लौकिक दृष्टि है। चार्वाक दृष्टि है। अपना जो अनन्त आत्मा है उसमें न तो भिन्न-भिन्न विषयका भिन्न-भिन्न विज्ञान है और न तो भिन्न-भिन्न विज्ञानके अनुसार भिन्न-भिन्न विषय हैं। एक अखण्ड-तत्त्वमें, एक अखण्ड वस्तुमें स्वाभाविक निर्वृत्ति है। आवरण है ही नहीं ! शान्ति-ही-शान्ति है। इसलिए जितने मैं हूँ यह सब शरीरमें जो मैं-मैं-मैं बोलता है, उसका नाम है—धर्म। शरीरके बहुवचनके कारण उसमें बहुवचनका प्रयोग करते हैं। तो सब मैं-मैं-मैं एक हैं, देहकी उपाधिसे-मैं अलग-अलग मालूम पड़ते हैं; परन्तु सबमें 'मैं' एक है। वह सम है, अभिन्न है, अजन्मा है, साम्य है और विशारद है। इसके बाद जो लोग भेदवादी हैं उनकी निन्दा करते हैं।

'वैशारद्यं तु वै नास्ति'—जो लोग भेद-बुद्धिमें बैठे हैं उनका चित्त साफ नहीं। भेद-माने तोड़-फोड़। जैसा अखबारोंमें आजकल छापते हैं, उसीको संस्कृतमें भेदन बोलते हैं। एक चीजसे दिल जुड़ गया था। अब हथौड़ा मारा और टूट गया। भेद-बुद्धि जो है—यह हथौड़ा है—हथौड़ा। टूटना-फूटना इसका नाम भेदन है। तलवारसे काट दिया तो छेदन हो गया। एक अखण्ड-वस्तुको छिन्न-भिन्न करके देखना—यही भेद है ! स्वच्छता—सफाई तो उनके दिलमें कभी नहीं आयेगी। क्यों ? बोले—एकको मलिन समझेंगे, एकको अच्छा समझेंगे, इसलिए। विशारदता, निर्मलता कभी उनके ज्ञानमें, उनके हृदयमें नहीं आयेगी। भेदके कारण निम्न-कोटिके हैं—छोटी किस्मके हैं। एक बच्चा था, उसने एक हाथमें पकड़ी। अब बाप सौ रुपयेका नोट दिखावे और बोले कि यह नोट तू ले-ले और दुवनी मुझे दे दे। बेटा बोले कि नहीं हमको तो दुअनी ही चाहिए। क्यों ? बेवकूफीसे। तो, यही—हम बतला रहे हैं कि तुम ब्रह्म हो और तुम पकड़ क्या रहे हो कि शरीर। शरीर तो कानी-कौड़ीके बराबर भी नहीं है। तुमको हम बतला रहे हैं—ब्रह्म और तुम समझ रहे हो अपनेको हड्डी-मांस-चामका एक परिच्छिन्न पुतला। पापी-पुण्यात्मा, सुखी-दुःखी, नरक-स्वर्ग, पुनर्जन्ममें जानेवाला। तस्मात्—कौन है ये ? बोले—कृपण। यह कृपण शब्द भी श्रुतिका ही है। 'कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः।'

'अजे साम्ये तु ये'—अब ज्ञानीकी प्रशंसा करते हैं। अज्ञानीकी जैसे निन्दा की। वह कृपण है जो छोटी चीजको भी छोड़नेको तैयार नहीं। बड़ी चीज मिल



रही है पर वह छोटी चीजको छोड़नेको तैयार नहीं। अपनी पकड़, अपना धर्म, अपना कर्म, अपना सम्प्रदाय क्या पूछना है! पकड़कर बैठे हैं। असलमें ये कृपण कृपाण ही हैं। कृपाण तो आप जानते हैं! सिक्खोंके हाथमें रहती है। यह कृपणता कृपाण है। यह खुदकशी करनेके लिए है—अपनेको काटनेके लिए। श्रीमद्भागवतमें आया है—चील आपसमें लड़ रहे हैं। एक चीलके मुँहमें मांसका टुकड़ा था, तो दूसरे चील पक्षी उसके ऊपर झपटें, खूब लड़ाई हो। उधरसे दत्तात्रेयजी निकले। अब देखा कि यह बेचारा अकेला चील कितनी तकलीफमें पड़ा है! चीलमें सदबुद्धि आयी कि उसने वह मांसका टुकड़ा नीचे फेंक दिया। अब सब चील नीचे मांसके टुकड़ेकी ओर झपटे। और वह शान्तिसे पेड़पर जाकर बैठ गया। पिण्ड छूट गया। आनन्द आगया! तो जो लोग दुनियाके एक-एक भावको पकड़कर बैठे हैं वही तकलीफ पा रहे हैं। जितना कष्ट है, कृपणको ही है। अज्ञान वश छोटी-छोटी चीजोंको पकड़कर। अज और साम्य तत्त्व सबमें सम—एक सरीखा है। क्या जाग्रत, क्या स्वप्न, क्या सुषुप्ति। तुरीयम् सन्ततम्—उसमें व्याप्य-व्यापक भाव बिलकुल नहीं। व्याप्य-व्यापकता मिथ्या, अन्वय—व्यतिरेक नहीं। किसका किसमें अन्वय हो, द्वैत है ही नहीं। बोले रज्जुका सर्पमें अन्वय है? सर्प है ही नहीं उसमें अन्वय कहाँसे होगा? अच्छा, सर्पसे रज्जुका व्यतिरेक है। जब सर्प है ही नहीं तब उससे व्यतिरेक क्या होगा? तो प्रपञ्चमें न आत्माका अन्वय है और न आत्मा इससे व्यतिरिक्त है। न आत्मा कर्ता है और न तो यह कर्म है। न आत्मा भोक्ता है और न तो प्रपञ्च भोग्य है। न तो आत्मा द्रष्टा है और न तो यह दृश्य है। यह तो समझानेके लिए द्रष्टा-दृश्य, भोक्ता-भोग्य हैं। आनन्दके दो विवर्त हैं—भोक्ता और भोग्य; चेतनके दो विवर्त—ज्ञाता और ज्ञेय। द्रष्टा और दृश्य। सत्ताके दो विवर्त—कर्ता और कर्म। कुल मिलाकर इसका नाम हुआ—अज्ञान। सच्चिदानन्दघन प्रत्यक्चैतन्यमें ये विवर्त विरुद्ध वर्तन—अपने स्वरूपके विरुद्ध वासनाएँ हैं ही नहीं। तो जो कोई निश्चय करके बैठ जाय कि अपना आत्मा अज, साम्य है—यही सांवृतिक सत्य है।

‘केचिद्भविष्यन्ति’—श्री शंकराचार्य भगवान्ने भाष्यमें कहा—‘केचित्सिन्ध्यादयः’। है—तो इसका यह मतलब है कि पुरुषको ही ज्ञान नहीं होता, स्त्रीको भी ज्ञान होता है। बिलकुल स्पष्ट आगया—शंकरभाष्यमें। ‘ये केचिद्भविष्यन्ति सुनिश्चिताः’—जो कोई इस परमार्थ तत्त्वके सम्बन्धमें निश्चय



करेंगे। 'आदि' शब्दसे क्या लेना? जो यज्ञोपवीत संस्कार-रहित वर्ण-वाह्य हैं, द्विजाति-वाह्य हैं, वे भी। गुरुकी कृपासे अपनी भाषामें चाहे कोई भी भाषा हो, यदि इस ज्ञानको प्राप्त कर लें तो वे महाज्ञानी हैं।

'ते हि लोके महाज्ञानाः'—उनको संस्कृत न जाननेके कारण नहीं कहना कि अज्ञानी हैं, उनको वेद न पढ़नेके कारण नहीं कहना कि अज्ञानी हैं—किसी भी भाषामें अगर गीधको गीधकी भाषामें यह ज्ञान हो जाय कि मैं परिच्छिन्न जीव नहीं हूँ, ब्रह्म हूँ तो क्या गिद्ध मुक्त होगा? अरे, वह तो पहलेसे ही मुक्त है, बन्धनकी तो भ्रान्ति ही थी।

'तच्च लोको न गाहते'—वह जो परमार्थ-तत्त्व-विहित महाज्ञान तत्त्व है। उसकी दुनियादार लोग थाह नहीं लगा सकते। अथाह है, अगाध है, कोई उसको विषय नहीं कर सकता। शंकराचार्यजीने डेढ़ श्लोक उद्धृत किया है—

सर्वभूतात्मभूयस्य सर्वभूतहितस्य च।

देवा अपि मार्गे मुह्यन्त्यपदस्य पदैषिणः॥

शकुनीनामिवाकाशे गतिर्नैवोपलभ्यते।

जिसने सम्पूर्ण प्राणियोंमें अपने आत्माको जान लिया, जो सर्वरूप है, उसको कौन-सा ज्ञान हुआ भाई, किस रास्तेसे चल रहा है? बोले—देवता लोगोंको इसका पता नहीं चलता—'अपदस्य पदैषिणः'—देवता लोग देखते रहते हैं कि यह ज्ञानी महापुरुष स्वर्गमें होकर ब्रह्मलोककी ओर जाता है!

ऐसा है यह तत्त्वज्ञान। साधारण दृष्टिसे इसका अवगाहन नहीं होता। असाधारण दृष्टि चाहिए अवगाहनके लिए!

अजेष्वजमसंक्रान्तं धर्मेषु ज्ञानमिष्यते।

यतो न क्रमते ज्ञानमसङ्गं तेन कीर्तितम् ॥ 96 ॥

अणुमात्रेऽपि तैर्धर्म्यं जायमानेऽविपश्चितः।

असङ्गता सदा नास्ति किमुतावरणच्युतिः ॥ 97 ॥

अलब्धावरणाः सर्वे धर्माः प्रकृतिनिर्मलाः।

आदौ बुद्धास्तथा मुक्ता बुध्यन्त इति नायकाः ॥ 98 ॥

क्रमते न हि बुद्धस्य ज्ञानं धर्मेषु तायिनः।

सर्वे धर्मास्तथा ज्ञानं नैतद्बुद्धेन भाषितम् ॥ 99 ॥

दुर्दर्शमतिगम्भीरमजं साम्यं विशारदम्।

बुद्धत्वा पदमनानात्वं नमस्कुर्मो यथाबलम् ॥ 100 ॥

वस्तुका चार विभाग कर दिया—हेय, ज्ञेय, आप्य और पाक्य-जाग्रत्-स्वप्न, सुषुप्ति—ये तीनों अवस्थाएँ एक दूसरेसे अलग-अलग हैं और तीनोंका साक्षी आत्मा इनसे अलग है। तीनोंका अधिष्ठान ब्रह्म इनसे अलग है। साक्षी ब्रह्म एक है। जो साक्षी सो ब्रह्म, जो ब्रह्म सो साक्षी। देश-काल वस्तुका साक्षी और अधिष्ठान भी। इसको जरा फैलाकर समझना पड़ता है। जब जिज्ञासु मनन करने लगता है कि देश क्या है, काल क्या है, वस्तु क्या है? उसका मैं साक्षी कैसे हूँ? उसका अधिष्ठान क्या है? तब बात अपने आप खुलती है। मनन न हो तो वह पोथीमें ही लिखा रह जाता है। और दिलकी पोथी रीती रह जाती है। वह हेय है जो अपनेसे अतिरिक्त भासता है।

ज्ञेय क्या है कि 'स आत्मा स विज्ञेयः'—अपना आत्मा विज्ञेय है तो विज्ञेय कहनेका अर्थ भी घट-पट आदिके समान विज्ञेय नहीं है। 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोत्रव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो' (बृ० 4.5.6) 'स आत्मा स विज्ञेयः।' वहाँ उसका अभिप्राय यह बतलाया कि 'अनात्मा न विज्ञेयः'—तुम अपना जोर अनात्माको जाननेमें मत लगाओ, क्योंकि आत्मा विज्ञानका विषय नहीं है और जब विज्ञानका विषय नहीं है तो उसका विज्ञान होगा क्या? जो तुम्हारा विज्ञान विषयोंमें व्यक्त हो रहा है—विक्षिप्त हो रहा है, उसको छोड़ दो, तुम तो स्वयं विज्ञान-स्वरूप हो। फिर दो बात बतलायी—आप्य और पाक्य—तो श्रवण-मनन-निदिध्यासन यह गुरुदेवसे प्राप्त करो और जो दोष-दुर्गुण हैं—राग-द्वेष आदि उनको निकालकर फेंकना नहीं है, उनको भीतर-ही-भीतर रसायन बना लेना है, उनको पका लेना है। जबतक चीज कच्ची होती है तबतक वह कड़वी होती है, बेस्वाद होती है, पक जानेके बाद वह स्वादिष्ट हो जाती है। तो तत्त्वज्ञानीके अन्तःकरणमें जीवन पर्यन्त जो अदृढ़ राग-द्वेष आदिके संसार प्रतीत होते हैं वे भी कच्चे नहीं होते हैं। कच्ची चीज खौलती है जल्दी। पकी चीज खौलती नहीं है। दूध जबतक कच्चा रहता है तबतक उसमें उफान आता है, जब पक जाता है तब उफान नहीं आता। हम बचपनमें देखते थे गुड़ पकाया जाता था। कड़ाहेमें रस चढ़ाया गया पहले, फिर उसमें मैल निकलता है और उसके बाद उछलने लगता है, उसमें बड़ा उफान आता है। सैंकी-पौना लेकर आधा-घण्टा लगे रहते कि गिरने न पावे। जब गाढ़ा हो जाता तब उफान आना बन्द हो जाता। यही पाकका लक्षण है। दोषोंका परिपाक हो गया। उफान नहीं आवेगा। वे दोष भी मीठे हो जायें। तो दोषोंका परिपाक हो जाय, श्रवण-मनन आदिकी प्राप्ति हो जाय।



‘आकाशो च सर्वगतः नित्यः’—आकाश जैसा देशसे अपरिच्छिन्न, तो व्यापक नहीं—व्यापक-व्याप्य-भाव तो बहुत सांवृतिक है—अत्यन्त सांवृतिक है। जैसे लोहेके गोलेको आगमें डाल दो और आग उसमें व्याप्त हो गयी तो आग व्यापक और गोला व्याप्य—तो ऐसे ही संसारमें परमात्मा व्यापक है सो बात नहीं, वह तो जैसे मिथ्या प्रतीयमान सर्पमें रज्जु है—रज्जुके सिवाय सर्प कुछ है ही नहीं—ऐसी व्यापकता और ‘अनादयः’ से काल-परिच्छेदको काट दिया और नानत्वसे वस्तु परिच्छेदको काट दिया और ‘आदिबुद्धाः’ से ज्ञान स्वरूप बतलाया, ज्ञेयता भी वास्तविक नहीं और ‘सुनिश्चिताः’ से कि यह बात बिलकुल ज्यों-की-त्यों वैसी ही है—इसमें निष्ठाकी भी अपेक्षा नहीं। बोले भाई कि कोई अपराध करे तो क्षमा करो—बोले आत्मा तो सहज स्वभावसे ही क्षमाशील है—शान्ति तो आत्माका स्वभाव ही है।

बनावटी शान्ति आती नहीं है। बनावटी क्षमा नहीं आती, किसीसे हम कहें कि देखो, तुम हमको गाली दो तो हम सहनेकी आदत डालें, उस गालीमें तो कोई दुःख ही नहीं है। सहोगे क्या? वह तो अपने हुकुमसे आयी है। जब कोई अनजान आदमी गाली दे तब सहज स्वभाव क्या है? ‘सोऽमृतत्वाय कल्पते।’ सहज स्वभावसे क्षमा है। जैसे आकाश आयी हुई आँधीको क्षमा करता है। आये हुए रातके अन्धकारको क्षमा करता है। यह आकाशकी स्वाभाविक क्षमा है। और आकाशमें रजोगुणकी धूलसे भरी हुई आँधी आयी, विक्षेप आया, विक्षेपकी आँधी। आकाशवत् क्षमा करता है।

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव।

न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति॥

गी० 14.22

एक दिन आकर एकने बड़ा प्रेम किया, दूसरे दिन उसने बड़ी गाली दी—अब प्रेम करनेके दिन प्रेम कर गया, गाली देनेके दिन गाली दे गया। स्वभावसे जो अपने स्वरूपमें बैठा है उसके लिए क्या प्रशंसा और क्या निन्दा? तो अमृतत्वकी योग्यता बतलायी। आदिबुद्धाः—यह ज्ञान-स्वरूप है। इसमें ज्ञान भी प्राप्त करना नहीं। यह अविचल निष्ठा है। निष्ठा बनावटी नहीं! क्षमा सीखना नहीं है, सहज-स्वभाव है। आदिशान्त, अनुत्पन्नः। आदिशान्त माने एक शान्ति वह होती है जो विक्षेपके साथ आती है, आदि शान्तका अर्थ क्या हुआ? एक बार विक्षेप हुआ फिर शान्ति हो गयी। मनमें क्रोध आया, बड़ा उबाल आया और फिर चार गाली



किसीको दे दी तो थोड़ा सन्तोष हुआ—अच्छा बदला लिया बचूसे। यह शान्ति झूठी है। आत्मामें आदि शान्ति है। आदि-शान्तिका अर्थ देखो—काम मनमें आवे तो स्त्रीका आकार, क्रोध मनमें आवे तो शत्रुका आकार। मोह मनमें आवे तो परिवारका आकार, लोभ मनमें आवे तो धनका आकार चित्तमें आया और कामके अभावमें क्या रहेगा? शान्ति। क्रोधके अभावमें शान्ति। लोभके अभावमें शान्ति। मोहके अभावमें शान्ति। सबके अभावमें सबका अभाव। अविशेष होनेके कारण अभावमें विशेषता नहीं। घड़ा हटा दिया तो अभाव और कपड़ा हटा दिया तो दूसरा अभाव नहीं, कपड़ा और घड़ा दोनों अलग-अलग हैं। पर, दोनोंको हटा देनेपर जो अभाव है वह तो एक ही है। क्रोधके अभावसे उपलक्षित शान्ति, कामके अभावसे उपलक्षित शान्ति, लोभके अभावसे उपलक्षित शान्ति, मोहके अभावसे उपलक्षित शान्ति, विक्षेपके अभावसे उपलक्षित शान्ति—वह शान्ति जो काम, क्रोध, लोभ, मोहके आनेके पहले भी थी और जब वे आये तब भी मौजूद थी। जब चले गये तब भी मौजूद। यह आत्माका स्वरूप है। यह आत्मा तो साम्य है। स्वयंप्रकाश है। जन्म-मृत्युसे रहित है; अभिन्न है और सम है।

अब भेदवादियोंकी निन्दा भी बतलायी। जो लोग भेदमें ही विचरते रहते हैं दिन-रात—यह अपना, यह पराया। स्व-पर उनके बोधमें स्फुटता नहीं है। विशारदता नहीं है। जितने भेदवादी हैं वे भेदके कारण निम्न गतिको प्राप्त हो रहे हैं। इसीसे उनको कृपण बोलते हैं। जो संसारमें महाज्ञानी हैं वे साम्य अजमें सुनिश्चित हैं। संसारी लोग उसके स्वरूपको नहीं समझ सकते। अब इतनी बात कहनेके बाद एक प्रश्न उठाते हैं कि तुमने तो प्रतिपादन किया अभेदका और तुम्हारे प्रतिपादनमें ही भेद भरा हुआ है। क्या भेद भरा हुआ है? 'अजं साम्यं'—अज कैसा है? बोले—साम्य है। तो यह जाना जायेगा? तो प्रमेय कौन हुआ? अज साम्य आत्मा ब्रह्म—यह हुआ ज्ञेय। उस ब्रह्मस्वरूपका निश्चय जिस अन्तःकरणमें होगा उस अन्तःकरणमें बैठा हुआ ज्ञाता जीव है और उस प्रकारका जो निश्चय ज्ञान है, वह प्रमाण है। तो प्रमाण और प्रमेय और प्रमाता—इनकी त्रिपुटी तो यथावत् बनी रही, तो 'वस्तु परिच्छेदे कथं महाज्ञानत्वम्?' जब वस्तुका परिच्छेद है—एक प्रमाता है, एक निश्चयक ज्ञान है और एक उसका प्रमेय है तो यह त्रिपुटी हो गयी न! नहीं, असलमें एक ही ज्ञान है। 'अजेष्वजमसंक्रान्तं'—आत्मा अजन्मा है उसका ज्ञान भी अजन्मा है। आत्मा और ज्ञान दोनों एक, इसलिए असंक्रान्तं—न ज्ञान आत्मामें जाता है, न आत्मा ज्ञानमें। ज्ञान ही आत्मा है। ऐसा अपना सिद्धान्त



है। 'सत्यं ज्ञानम् अनन्तं ब्रह्मः, विज्ञानम् आनन्दं ब्रह्म, प्रज्ञानं ब्रह्म।' 'ज्ञानम्'—ऐसा ज्ञान जो ज्ञेयको अलग न बनावे। ज्ञाताको अलग न बनावे। यह ऐसा होता है। लौकिक ज्ञानकी पद्धति यह है कि जैसे हम यह घड़ी देखते हैं तो घड़ी हुई—ज्ञेय जानी गयी। ज्ञानका विषय। अन्तःकरण और नेत्र आदि ज्ञानके करण हैं। साधन हैं। ये हुए—'ज्ञायते अनेन इति ज्ञानसाधनम्, ज्ञान करणम्' और इस ज्ञानका अन्तःकरणका जो धर्मीपना, अभिमानीपना है, मैं नेत्र आदिके द्वारा, करणोंके द्वारा घटियन्त्रको जानता हूँ। यह घड़ीका ज्ञान हुआ। इसने अपने तीन टुकड़े किये। एक टुकड़ेमें वह ज्ञेय हो गया। इदं एक। दूसरा—अहं ज्ञाता। इदं ज्ञेय हुआ। अहं वह ज्ञाता। बीचमें ज्ञान। वह स्वयं करण बनकर, गौण बनकर बीचमें बैठ गया। बोले—'ब्रह्मज्ञान' भी ऐसा ही है। नहीं, ब्रह्मज्ञान ऐसा नहीं है। यह जो घटियन्त्रमें ज्ञेय आकार है—अन्तःकरण, नेत्र आदिमें करणाकार है—करणत्व है और जो प्रमातामें, ज्ञातामें प्रमातृत्वाकार है—ये तीनों जो पृथक्-पृथक् भासनेवाले आकार हैं—यह एक ही ज्ञान तीन रूप धारण करके भासता है। जबतक यह त्रिपुटी मालूम पड़ती है तबतक इसका अध्यारोप ज्ञानमें करते हैं। फिर इसका अपवाद कर देते हैं। तो त्रिपुटीके अध्यारोपका अधिष्ठान और त्रिपुटीके बादका अधिष्ठान और त्रिपुटीका स्वयं प्रकाशक यह आत्मा है। तो यह बात जो है इस प्रकरणके प्रारम्भमें ही कही गयी थी।

**ज्ञानेनाकाश कल्पेन धर्मान्यो गगनोपमान्।**

ज्ञान भी आकाश, ज्ञेय भी आकाश और ज्ञाता भी आकाश और आकाश माने जड़ आकाश नहीं—चिदाकाश और वह चिदाकाश जिसमें कालक्रमकी संविद्से निश्चित किया हुआ काल जिसमें कल्पित है—सर्ग्य-विस्तारकी कल्पनासे निश्चित की हुई जो देशकी संवित् है वह जिसमें कल्पित है और घट-पटादि जो वस्तु भेद हैं उनकी भिन्नतासे कल्पित की हुई जो द्रव्य-संवित् है, वह जिसमें कल्पित है—ऐसा जो चिदाकाश-चित् काल, चित् देश, चित् वस्तुमें-से देश-काल-वस्तुका अपवाद करके केवल चित्-चित्-चित् और एक नहीं अद्वय चित्। एकमें और अद्वयमें फर्क है—इसको हम ज्ञान कहते हैं। इसका नाम 'सत्यं ज्ञानम् अनन्तं ब्रह्म' है।

अज जो आत्मा है—महान्-ज्ञानस्वरूप-उसमें यह अजन्मा ज्ञान है। वह 'असंक्रान्तमिष्यते'—यह कोई वृत्ति आदिकी प्रणालीसे जाकर उसके साथ एक होता हो तो बात नहीं, वह स्वयं है। बोले फिर—अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य



वृत्त्यारूढ होकर विषयावच्छिन्न चैतन्यसे एक होता है। यह सब क्या है? यह लौकिक दृष्टिसे जैसी प्रतीति है सांवृतिक सत्य है। उसका अनुवाद है।

यतो न क्रमते ज्ञानमसङ्गं, तेन कीर्तितम्।

क्योंकि यह ज्ञान दूसरे किसीके पास जाता ही नहीं। विज्ञानवादी ऐसा मानते हैं कि यह जो हमको घड़ी दीख रही है, यह हमको जो दिखती है वह बाहर नहीं दिखती है और हमारे अन्तःकरणमें ही दीखती है। अच्छा, बोले कि फिर बाहर तो है न! बाहर है तब तो अन्तःकरणमें दीखती है? बाहर भी अन्तःकरणमें ही दीखता है। यह शरीर है और यह शरीरका बाहर है और शरीरके बाहर घड़ी है यह! बोले—यह भी अन्तःकरणमें ही दीखती है। बोले—अन्तःकरण और बहिःकरण—ये दो चीज तो होगी? नहीं। यह भेद भी विज्ञान ही है। विज्ञानसे पृथक् न शरीर है, न घड़ी है। तो बोले कि यह तो ठीक है। तुम्हारा—‘असंक्रान्तम्’—विज्ञान कहीं जाकर किसीको नहीं देखता। स्वयं स्व-स्वरूपमें रहकर ही तद्गुणपरिणामको प्राप्त होता रहता है। चित्तका परिणाम है, इसी युक्तिसे आचार्यने फिर खण्डन किया—जिस युक्तिसे तुम बतलाते हो कि विज्ञानसे अलग घड़ी नहीं है, उसी उक्तिसे हम यह बतलाते हैं कि आत्मासे अलग चित्त नहीं है। ठीक, उन्हींकी युक्ति। यह कहीं-कहीं शब्द-साम्य, यह बहुत बड़ी प्रौढ़ी युक्ति मानी जाती है शास्त्रकी रीतिसे। हमारे प्रतिपक्षीने जिन शब्दोंसे अपने अभिप्रायको सिद्ध किया और जिन युक्तियोंसे अपने अभिप्रायको सिद्ध किया उन्हीं शब्दोंसे और उन्हीं युक्तियोंसे हम अपना मत और अपना तात्पर्य सिद्ध कर देंगे। माध्यमिकोंकी कारिकासे या लंकावतार सूत्रसे या बोधिचर्यावतारसे जो शब्द लिये गये हैं या जो युक्ति ली गयी है वह शब्द तो लिया गया है बिलकुल ठीक, युक्ति ली गयी है बिलकुल ठीक, परन्तु उन्हीं शब्दोंसे, उन्हीं युक्तियोंसे तात्पर्य बिलकुल पृथक् निकाला हुआ है। एक-एक तात्पर्य श्रुत्यारूढ है।

‘यतो न क्रमते ज्ञानम्’—जैसे हड्डी, मांस, चामका आना-जाना दिखता है वैसे ही क्या ज्ञानका भी आना-जाना होता है? एक बचपनकी बात हम आपको सुनाया करते हैं। हमारे एक ठाकुर साहब थे, उन्होंने पूछा—वैसे तो पाँव छूते थे हमारा। हमारे पितामहके शिष्य थे। उनकी उम्र भी हमारे पितामहसे मिलती-जुलती थी। थोड़े छोटे होंगे। उन्होंने पूछाकि यह जो हम हाथ हिलाते हैं तो हाथ जहाँ-जहाँ जाता है वहाँ-वहाँसे आकाश हटता जाता है कि नहीं हटता है? कि हम



घड़ा लेकर चलते हैं तो घड़ेमें जो पोल है वह घड़ेके साथ चलती है कि नहीं? बोले—बाबा, घड़ा चलता है, पोल तो नहीं चलती। हाथ चलता है, पोल तो नहीं चलती। देखो, एक बात—तो ये वस्तुएँ जो हैं न, एक आदमी यहाँसे वहाँ चलता है और ज्ञान—बोले वह तो आकाशका भी, कालका भी, देशका भी, वस्तुका भी सबका अधिष्ठान और स्वयंप्रकाश प्रकाशक है। वह नहीं चलता, उसमें ये सब चलते हुए मालूम पड़ते हैं। काल चलता हुआ मालूम पड़ता है। रातसे दिन आगया। सूर्य-चन्द्रमा चलते हुए मालूम पड़ते हैं। उसमें पूरब, पश्चिम, उत्तर-दक्षिण मालूम पड़ता है। उसमें चलनेकी क्रिया मालूम पड़ती है। चलनेवाला द्रव्य मालूम पड़ता है। परन्तु ज्ञान नहीं चलता, वह तो है ज्यों-का-त्यों अखण्ड। वही ज्ञान अपना आत्मा है।

‘यतो न क्रमते ज्ञानम्’—बोले, घटाकाशका पुनर्जन्म हो गया। कहाँ हुआ? घटाकाशकी मृत्यु हो गयी! आकाशमें न घटाकाशका जन्म हुआ, न मृत्यु। घटाकाश नरकमें गया? घटाकाश स्वर्गमें गया? घटाकाशमें शराब लग गयी, घटाकाशमें गंगाजलकी पवित्रता आ गयी? कि अरे भाई, न घटाकाशमें गंगाजलकी पवित्रता आती है और न शराबकी अपवित्रता। न घटाकाश नरकमें जाता है और न घटाकाश स्वर्गमें। यह तो आकाशमें सब उठते-बैठते बिना उम्रके पैदा होते हैं। बिना विस्तारके रहते हैं। बिना वजनके इनका आकार मालूम पड़ता है। ऐसी इस प्रसङ्गकी स्थिति अपने स्वरूपमें, अपने आत्मामें है। इसी कारण ये आत्माको, ब्रह्मको असङ्ग बोलते हैं। ‘असङ्गोऽयं पुरुषः।’ असङ्ग कैसा? जैसे पानीमें कमल। पानीमें कमल क्या असङ्ग है? कमल तो पानी ही है। कमलको अगर गला दो तो वह बिलकुल पानी-पानी हो जायेगा। मिट्टीका थोड़ा अंश उसमें है! पानीमें भी तो मिट्टीका अंश है। यह तो ‘कं जलम् अलं करोति’—इति कमलम्—कमलको कमल क्यों कहते हैं—जो कम माने जलको अलंकृत करता है। अथवा ‘कस्य-जलस्य मलम्’—जलका वह मल है। जलमें कमल जैसे असङ्ग वैसे ही ब्रह्म प्रपञ्चमें। जलकी तरह प्रपञ्च आधार है। इसमें कमलकी तरह आत्मा आधेय है और वह असङ्ग है? नहीं, जल-कमलवत् नहीं, पुरुष प्रकृतिके भीतर रहकर असङ्ग है। नहीं, यह रज्जु-सर्पवत् असङ्गता है। जैसे रज्जु जो है वह दूसरोंकी दृष्टिमें दीखनेवाले सर्पसे असङ्ग है। जैसे आकाश नीलिमासे असङ्ग है। द्वैताभावमूलक असङ्गता—द्वैतसे अप्रभावितत्व-रूप असङ्गता।



‘अणुमात्रेऽपि वैधर्म्ये’—यदि ज्ञानस्वरूपसे जुदा किंचित् भी वस्तु होवे—इस ब्रह्मवेत्ताको छोड़कर दूसरे जो वादी हैं उनके मतमें यदि अणुमात्र भी इस ज्ञानसे पृथक् किसी वस्तुकी सिद्धि होती है—चाहे बाहर सिद्धि हो, चाहे भीतर सिद्धि हो, बोले—पक्का ही समझो, वे अविपश्चित्त हैं। अविपश्चित्त उसको कहते हैं जो दूरकी चीजको, व्यवहित वस्तुको भी नहीं पहचाने। ‘विप्रकृष्टं चिन्वन्ति’—जो चीज आँखसे ओझल है उसको भी जो चुन ले, पहचान ले उसका नाम होता है—विपश्चित्त। तो महाराज; अपनेको ही जाननेका सामर्थ्य इनमें नहीं। देखो, ज्यादा बुद्धिमान् जो होते हैं वे दूसरोंके बारेमें ज्यादा सोचते हैं—दुनियामें ऐसा देख लेना। और नहीं तो पैसेके बारेमें ही ज्यादा सोचते होंगे! पैसा तो पराया ही है न! यह पैसा जो है यह सार्वजनिक माल है, जैसे मिट्टी जो है सो सार्वजनिक है। जैसे जल सार्वजनिक है, जैसे सूर्यकी रोशनी सार्वजनिक है, जैसे हवा। अब हवा पकड़कर कोई संग्रह कर ले और लोगोंको साँस लेनेके लिए बेचे—यह ऑक्सीजन देते हैं—शुद्ध हवा बेचते हैं। यह देखो, बिजलीमें रोशनी इकट्ठी कर ली तो बेचते हैं। पंखेकी हवाको बेचते हैं। जब बिजलीका बिल आता है तब बेचते ही तो हैं न! यह पृथिवी है सबकी, पानी है सबका, प्रकाश है सबका, अग्नि देवता हैं सबके। साँस लेनेके लिए वायु है सबका। आकाश घूमनेके लिए है सबका। इसमें यह प्रान्त नहीं है। यह महाराष्ट्र, गुजरात, मैसूर—यह भेद नहीं है। प्रान्तीयता नहीं है। राष्ट्रीयता भी नहीं है। ग्राणीयता तो क्या, ब्रह्माण्डीयता भी नहीं है। सौर्यमण्डल भी नहीं, ब्रह्माण्ड भी नहीं है। बस, एक ईश्वर। अनन्त-कोटि ब्रह्माण्डमें एक परमात्मा भरपूर है। तो लोग जब बुद्धि मिलती है तब बुद्धिसे अपनेको नहीं सोचते कि मैं बुद्धिवाला हूँ; यह सोचते हैं कि बुद्धिके सामने क्या-क्या आता है! हम हजार आदमीसे यह बात पूछकर बता सकते हैं कि वे यह बता देंगे कि आँखके सामने हमारे कौन-कौनसे रंग आते हैं; लेकिन आँखमें देखनेकी रोशनी कैसे पैदा हुई यह उनको नहीं मालूम है। कौन आँखोंके पीछे बैठकर आँखोंके झरोखेसे झाँक रही है? वह आत्म-ज्योति, वह ब्रह्म-ज्योति कौन-सी है—इसका ज्ञान नहीं है! इसीसे श्रुतिको कहना पड़ा, क्या कहना पड़ा—आत्मानम् जिज्ञासस्व। अपने-आपको जानो। श्रुतिको यह नहीं कहना पड़ा कि घटको जानो, पटको जानो, मटको जानो, यह नहीं कहना पड़ा। क्योंकि इसको तो लोग स्वयं जानते हैं। स्वयं जाननेकी कोशिश करते हैं। सहज-प्रवृत्ति, स्वाभाविक प्रवृत्ति है। जो चीज आँखोंसे



ओझल हो गयी रहते हुए भी, उसको जाननेके लिए कहते हैं। बोलता कौन है? यह देखो-दुनियामें कितनी-कितनी भाषा है, कैसे-कैसे शब्द होते हैं, कैसे वाक्य-रचना होती है, कैसे उनके द्वारा अर्थका प्रतिपादन होता है—यह सब मालूम है, परन्तु जीभके पीछे, जीभके भीतर बैठकर कौन बोल रहा है, उधर ध्यान नहीं जाता।

जो देशसे, कालसे, वस्तुसे, इन्द्रियोंसे, करणोंसे ओझल हो रहा है न! उसको जो पहचान लेते हैं, उसका नाम विपश्चित है। वाणी द्वारा जो बोला जाता है—जिसके होनेसे, आँखके द्वारा जो देखा जाता है। जिसके होनेसे, उसकी जिज्ञासा—जो ऐसा विपश्चित न हो, जो इससे उलटा हो, उसको अविपश्चित बोलते हैं। अविपश्चित माने अविवेकी। तो उसके मतमें क्या है कि एक वस्तु है, वह जानी जाती है। एक जाननेका औजार है वह जानता है और जाननेवाली वस्तुमें और जाननेवाले औजारमें जो एकरस चिन्मय वस्तु है उसपर उनकी दृष्टि नहीं जाती। अब क्या होगा फल कि कहाँसे असङ्गता रहेगी! वह या तो अन्तःकरण बनकर किसी वस्तुके साथ बाहर फँस गये या बाहरवाले शरीर बनकर फँस गये या फँसा लिया। यह फँसना-फँसाना द्वैतमें है। अपने स्वरूपमें नहीं है। देखो-राधाकृष्णके प्रसङ्गमें भी यह बात आती है—हम तुम एक कुञ्जके सखा हैं। यहाँ दूसरा कहाँ? बँधता होता है दूसरेसे, मुक्ति होती है दूसरेसे, आसक्ति और अनासक्ति भी होती है दूसरेसे। जहाँ अपना-आपा ही है—परिपूर्ण, अखण्ड, एकरस—तो वहाँ वैधर्म्य नहीं होगा।

एक श्रुति है—‘ब्राह्मण उसका शत्रु है। किसका? जो ब्राह्मणको अपनेसे जुदा जानेगा। क्षत्रिय किसका शत्रु? जो क्षत्रियको अपनेसे जुदा समझेगा। वेद उसके दुश्मन हैं, उसका तिरस्कार करते हैं जो वेदोंसे अपनेको जुदा समझता है। देवता उसका तिरस्कार करते हैं। किसका? जो देवताओंसे अपनेको जुदा समझता है। जो अपनेसे जुदा किसीको समझेगा वह जुदावाला ही तुम्हें काटनेवाला बन जायेगा। अणुमात्र भी कोई देश अपनेसे जुदा होकर सच्चा नहीं होगा। अणुमात्र भी काल अपनेसे सच्चा जुदा नहीं होगा। अणुमात्र भी वस्तु यदि सच्ची होगी तो पृथक् नहीं होगी। न ऐसा कोई भाव होगा जो अपना स्वरूप न हो! असङ्गता कहाँसे आवेगी? आवरण माने-बुद्धिपर पर्दा पड़ गया है—बोलते हैं। देखो, अकलपर पर्दा पड़ जाय तो अपने मित्रको, अपने प्रेमीको ही, पुत्रको ही शत्रु समझने लग जायँ। आपने रामायणका वह प्रसङ्ग सुना होगा—जब भरतजी रामचन्द्रको मनाने



चित्रकूटकी ओर जा रहे थे। लक्ष्मणके मनमें यह शङ्का हो गयी कि ये रामचन्द्रको पकड़नेके लिए आ रहे हैं। उसका फल क्या हुआ? लक्ष्मण बोलने लगे कि मैं भरतको मार डालूँगा। अब क्या वहाँ सचमुच भरत लक्ष्मणके शत्रु थे? नहीं, शत्रु-भावका ही उदय हुआ। यह आवरण है—माने बुद्धिपर पर्दा है। आदमीकी बुद्धिपर पर्दा पड़ जाता है तो जहाँ कोई नहीं है, वहाँ चोर होनेका ख्याल हो जाता है, जहाँ कोई नहीं है वहाँ भूत होनेका ख्याल हो जाता है। जिस एकान्तमें महात्मा लोग आनन्द लेते हैं वह एकान्त सूना बनकर सायँ-सायँ कर काटने लगता है। हमने देखा है कि दुनियामें अगर कभी एक साधुको एकान्त कमरा मिल जाय रातको सोनेको या कोई ऐसा जंगल मिल जाय जहाँ कोई दूसरा आदमी न हो तो उसको बड़ी खुशी होगी कि आज बड़ी शान्तिसे रात बीतेगी। और एक संसारी आदमीको यदि सूना जंगल मिल जाय या एक एकान्त कमरा मिल जाय तो कहेगा कि यह तो काट रहा है। कमरा काटता है। जंगल काटता है। नहीं आदमीका मन काटता है? यह क्या है? इसी को बोलते हैं कि बुद्धिमें जो आवरण है उस आवरणके कारण सङ्ग होता है और सङ्गके कारण दुःख आता है।

‘अलब्धावरणाः सर्वे’—अलग-अलग शरीर हैं, आत्मा एक है। कहीं किसीपर पर्दा नहीं है। आवरण नहीं है। मैल नहीं है। यह आदिबुद्ध है। इनमें अज्ञान बिलकुल हुआ ही नहीं। क्यों? बोले—मल नहीं है। दुनियामें मलिनताकी भी कल्पना कर ली जाती है कि हम मलिन हैं। यह हमलोगोंके यहाँ जरा भी दाग लग जाय शरीरपर या पसीना आजाय तो कहेंगे—अब साबुन लगाकर साफ करो! हमने पहाड़पर देखा—एक-एक तह मैल बैठी रहती है। जैसे इस दीवारपर लेप करते हैं। कलई जैसे करते हैं! उनको यह नहीं लगता कि हमारे मैल पुता हुआ है। मैलके बारेमें भी मनुष्यकी कल्पना ही होती है। यह मैल है, यह मैल है। ‘प्रकृतिनिर्मलाः’—अपना स्वरूप तो प्रकृतिसे निर्मल है। आजतक इसने कहीं मलिनता स्वीकार की? हजारों टन मलिनता इसके ऊपर लाद दो और यह स्वयं-ज्योति, स्वयंप्रकाश उसको पारकर भेद करके निकल आयेगा। एक तो इसपर आवरण डालनेवाली दूसरी वस्तु नहीं है। दूसरी बात यह कही गयी कि इसमें मल नहीं है। किसी भी मलका संयोग नहीं है। तीसरी बात यह कही गयी कि अज्ञान नहीं है। तुम्हारी मान्यताको सिद्ध करनेके लिए अज्ञानकी कल्पना की। बन्धन भी नहीं है तुम मुक्त हो। इसका अर्थ हुआ कि आवरण-भङ्ग करनेके लिए वृत्तिकी जरूरत नहीं है। मल दूर करनेके लिए साधनकी जरूरत नहीं है। अज्ञान दूर



करनेके लिए ज्ञानकी भी जरूरत नहीं है। बन्धनको दूर करनेके लिए मुक्तिकी जरूरत नहीं है। यह सारा-का-सारा कल्पित संवृत्तिसे ही व्यवहार होता है। यह जो हमारे उन्नायक हैं—आचार्य लोग हैं—ये तो मनुष्यकी दुर्दशा देखकर स्वयं नित्य प्रकाशस्वरूप सूर्यके समान हैं। यह आत्मा—किसी भी सूर्यको दिखानेके लिए क्या टॉर्च जलानेकी जरूरत पड़ती है। दीपक जलानेकी जरूरत पड़ती है? यह तो बिलकुल है ही नहीं! तो फिर यह जो कहा जाता है कि 'बुद्ध्यते'—आत्माका बोध होता है आत्माका ज्ञान होता है। यह जो प्रकृति प्रत्ययका विभाग है यहाँ वह कैसे? बोले—'प्रकाशसे सविता'—सूर्य प्रकाशित हो रहा है। प्रकाश उसका स्वरूप है। प्रकाशन क्रिया वह नहीं कर रहा है। बोले—देखते नहीं यह सामने पहाड़ खड़ा है। यह खड़ा होना—क्रिया कर रहा है? क्रिया न होनेपर भी उसमें साम्यसे क्रियाका आरोप होता है। बोधका विषय न होनेपर भी स्वयं बोध-स्वरूप होनेपर भी, प्रकाश-स्वरूप होनेपर भी, अचल होनेपर भी आत्माके लिए यह प्रकाशके बोधका केवल व्यवहार ही किया जाता है। असलमें अज्ञानकी निवृत्ति और ज्ञानका—'तत्त्वमस्यादि' महावाक्यके द्वारा ज्ञानका उदय होना—यह भी एक प्रकारका व्यवहार ही है दुःखकी निवृत्तिके लिए। वस्तुतः नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त आत्मा तुम स्वयं हो। अरे, मानो चाहे मत मानो बात यह बिलकुल ज्यों-की-त्यों सच्ची है, सत्य है।

आत्माका जो स्वरूप है वह स्वभावसे निर्मल है, उसमें किसी प्रकारका आवरण नहीं है, वह नित्य बुद्ध, नित्य-मुक्त है। प्रकृतिका आवरण नहीं है, वह नित्य बुद्ध, नित्य-मुक्त है! प्रकृति निर्मलका अर्थ हुआ नित्यशुद्ध और आदि-बुद्ध माने नित्यबुद्ध और मुक्त माने नित्य मुक्त, नित्य शुद्ध, नित्य बुद्ध, यह आत्माका स्वभाव है। यह बात इस प्रकरणमें विशेषरूपसे कही गयी है। कोई भी वस्तु अपने असली स्वभावका परित्याग नहीं करती—जैसे सूर्य कभी अन्धकार नहीं हो सकता। अग्नि कभी शीतल नहीं हो सकती। आत्माका सहज स्वभाव यही है।

नान्तःप्रज्ञं न बहिष्प्रज्ञं नोभयतःप्रज्ञं न प्रज्ञानघनं न प्रज्ञं नाप्रज्ञम्।

यह जो सातवाँ मन्त्र माण्डूक्योपनिषद्का है यदि व्यवस्थापूर्वक हम इन सौ श्लोकोंपर उसको बैठाना चाहें तो सातवें मन्त्रके किस पदकी व्याख्या कौन-सा श्लोक है—इसको ठीक-ठीक बैठा सकते हैं। क्योंकि यह कारिका तो व्याख्यान-रूप है। जहाँ मूल श्रुतिके साथ कारिकाएँ मिलती जा रही हैं और उनके भावको



प्रकट करती हैं। वहाँ तो मन्त्र एक है और यहाँ श्लोक सौ हैं। सातवें मन्त्रकी व्याख्या इन श्लोकोमें श्रीगौड़ पादाचार्यजीने की है। उन मन्त्रोंके अलावा दूसरे उपनिषदोंमें परमार्थ तत्त्वका वर्णन है उसको इन्होंने लिया है। इनकी अपूर्वता क्या है? अपूर्वता यह है कि प्रपञ्चके अस्तित्वका खण्डन बौद्धोंने किया है। मुख्यरूपसे दो तरहसे किया है। बौद्धोंके चार भेद होते हैं—बाह्यार्थवादी बौद्ध, अन्तरार्थवादी बौद्ध, उभयार्थवादी बौद्ध और अनुभवार्थवादी बौद्ध यह हमने अपनी भाषामें उनका विभाग कर दिया। वे तो उनको माध्यमिक, योगाचार्य-आदि कुछ और ही बोलते हैं। एक तो बाह्य वस्तुका अस्तित्व है—एक पक्ष है और एक नहीं है। यह दूसरा पक्ष है। अन्तर वस्तुका अस्तित्व है—यह तीसरा पक्ष है और दोनोंका अस्तित्व है दोनोंका अस्तित्व नहीं है यह चौथा पक्ष है। तो खासकरके विज्ञानवादी बौद्ध जो हैं वे बाह्यार्थके निषेधमें युक्ति देते हैं कि दृश्य नहीं है, परन्तु चित्त ही है। घटपटादि पदार्थ ये विज्ञानसे बाहर कहीं नहीं हैं। वे कहते हैं कि अन्तस्थ घटका ही बोध होता है, जब हम घड़ेको जानते हैं। एक घण्टेसे बाहर एक हाथकी ऊँचाईपर पानीसे भरा घड़ा रखा हुआ है। पानीसे भरा घड़ा और एक हाथकी ऊँचाईपर इतनी गोलाईमें, इतनी देरसे। घड़ेका स्थान घड़ेका काल, घड़ेका आकार है और उसमें जो जल रखनेकी क्रिया है—यह बाहर होनेपर नहीं मालूम पड़ती है। यह अन्तःस्थ होनेपर मालूम पड़ती है। इसलिए घट-काल, घट-देश, घट-द्रव्य और घटकी क्रिया—ये सब-की-सब विज्ञानरूप हैं। चित्त पृथक् कुछ नहीं है। केवल अन्तःस्थ घटका बोध होता है, बाह्य घटका बोध होता ही नहीं। यह युक्ति देकर विज्ञानवादीने बाह्य पदार्थका खण्डन किया। बोले केवल विज्ञान ही है।

गौड़ पादाचार्यजीने इस युक्तिको बिलकुल ज्यों-का-त्यों मान लिया। बोले—ठीक है, हम मानते हैं आधा काम तुमने हमारा कर दिया। बाह्यार्थ नहीं है—विज्ञान ही है। फिर बोले—अब आधा बाकी क्या रहा? यह जो तुम पैदा होनेवाला और नष्ट होनेवाला विज्ञान मानते हो—यह तो कालका बच्चा है। 'मैं' कालका साक्षी हूँ, केवल हेतु और फल-भाव न होनेसे प्रपञ्च शून्य है या विज्ञानमात्र है, ऐसा जो बौद्ध कहते हैं उसकी जगहपर वेदान्ती कहते हैं कि अधिष्ठानके अदेश, अकाल, अवस्तु स्वयंप्रकाश अद्वितीय होनेके कारण इस अधिष्ठानके बोधसे न अन्तःस्थ घट है, न बहिःस्थ घट। जिस युक्तिसे घट सिद्ध नहीं होता उसी युक्तिसे चित्त भी सिद्ध नहीं होता। हमने शब्द उनका लिया और युक्ति भी उनकी ली। उनकी युक्तिसे प्रपञ्चका निषेध—विज्ञानातिरिक्त प्रपञ्चका



निषेध और उसके बाद प्रपञ्चकी शून्यता भी स्वीकार कर ली। उसके बाद उसका जो अधिष्ठान-चैतन्य है, वह वेदान्तकी अपनी खास विशेषता है और यह बात कारिकामें खासकर अलातशान्ति प्रकरणमें स्थान-स्थानपर इस परमार्थ-तत्त्वका बोध है। इसीसे यह जो निन्यानवेवाँ श्लोक है—इसके भाष्यमें श्रीशंकराचार्यजीने जो लाइन अन्तमें लिखी है वह ध्यान देने योग्य है।

यद्यपि बाह्यार्थनिराकरणं ज्ञानमात्रकल्पना चाद्वयं वस्तुसामीप्यमुक्तम्। इदं तु परमार्थतत्त्वमद्वैतं वेदान्तेष्वेव विज्ञेयमित्यर्थः।

यह शंकराचार्य भगवान्की दो पंक्ति हैं, दो वाक्य हैं। कि बौद्धोंने यद्यपि बाह्य वस्तुका न होना और और केवल ज्ञानमात्र है—उन्होंने तर्कके द्वारा, युक्तिके द्वारा और अपने भाष्य अनुभवके द्वारा भी इस बातका प्रतिपादन किया और वह अद्वितीय वस्तुके बहुत पास हैं परन्तु, यह जो परमार्थ तत्त्व है आत्माको ब्रह्मके रूपमें जानना—यह तो—‘वेदान्तेष्वेव विज्ञेयम्’—यह केवल वेदान्तमें ही जानने योग्य है, यह केवल तर्क, युक्ति कल्पना अथवा अनुमानसे जानने योग्य नहीं है। सबका निषेध करके निषेधकी अवधिमें जो साक्षी बैठा हुआ है उसको ब्रह्म वेदान्त बतलाया है—यह वेदान्तकी अपनी अपूर्वता है, यह केवल आनुमानिक पदार्थ नहीं है, यह स्वयं अनुभव-सिद्ध पदार्थ है, अनुभव-स्वरूप पदार्थ है। तो यह बात बतलायी इन्होंने कि—‘क्रमते न हि बुद्धस्य ज्ञानं धर्मेषु तायिनः’—यह ‘तायिनः’ पाठ नहीं है—‘तायिनः’ है—भाषाकी दृष्टिसे भी। ‘सन्तानवतः निरन्तरस्य आकाशकल्पस्य’—इतने पर्याय इसके दिये हुए हैं, तो जब सन्तानवतः—माने जो कालमें भी फैला हुआ हो, निरन्तरस्य—वस्तु जिसमें न परिच्छेद करते हों और अकाशकल्पस्य—जिसमें देश-परिच्छेद न हों—ये तीन शब्द तीन बातके लिए हैं। सन्तानवतः—माने क्रम संवित् जो होती है—बाप, बेटा, पोता—यह क्रम संवित् है—पहले बाप हुआ, फिर बेटा और फिर उसका बेटा—पौत्र हुआ। यह कालकी संवित् है। सन्तानवतः शब्दसे, कालसे अपरिच्छिन्न; निरन्तरस्य-घट और पट और दोनोंके बीचमें ‘फोंफर’—अवकाश-पोल-सा अन्तर पड़ गया। घट और पटके बीचमें अन्तर है। इसमें कोई अन्तर नहीं है, निरन्तर है। निरन्तर है अर्थात् विषयके परिच्छेदसे, वस्तुके परिच्छेदसे रहित है और आकाशकल्पस्य अर्थात् पूर्व-पश्चिम, उत्तर-दक्षिण, ऊपर-नीचेकी कल्पनासे विनिर्मुक्त है। जब ‘तायी’ शब्दका यह अर्थ है तब उसका अर्थ हुआ—देश-काल-वस्तुसे अपरिच्छिन्न जो बुद्ध माने ब्रह्मस्वरूप जो बुद्धः उनका जो ज्ञान है



वह—'धर्मेण न क्रमते'—आत्मरूप धर्ममें आत्माको भी वह विषय नहीं बनाता और संसारके शब्द, रस, स्पर्श, रूप, गन्ध आदिको भी विषय नहीं बनाता, वह अद्वितीय है। उसके सिवाय दूसरी कोई वस्तु नहीं है। माने बुद्ध भी अद्वितीय है, उसका ज्ञान भी अद्वितीय है और 'सर्वे धर्माः'—सब-के-सब आत्मा भी अद्वितीय हैं। 'सर्वे धर्मास्तथा'—इसका अभिप्राय यह हुआ कि ब्रह्मजानी, ब्रह्मज्ञान और ब्रह्मज्ञानका विषय ब्रह्म—ये तीनों तीन चीजें नहीं हैं। एक ही हैं। इसका कुलका अर्थ यह हुआ—जैसे 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति।' जो ब्रह्मको जानता है वह ब्रह्म ही है, तो ब्रह्मजानीमें और ब्रह्ममें भेद नहीं है। ज्ञानमें और ब्रह्ममें भेद नहीं है। जो ब्रह्म है सो ही ब्रह्मज्ञान है। सो ही ब्रह्मजानी है। सो ही ब्रह्म है। ब्रह्मजानी, ब्रह्म और ब्रह्मज्ञान—ये तीनों तीन चीज नहीं हैं। अब वह गीतामें—

ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वत्र विधितः।

'चराचरमेव च'—चर भी वही, अचर भी वही—माने उस परमात्माके सिवाय दूसरी कोई वस्तु नहीं है। परमात्मा ही यथार्थ तत्त्व, आकाशके समान अचल, अविक्रिय, निरवयव, नित्य, अद्वितीय, असङ्ग है—'न हि द्रष्टुं दृष्टेर्विपरितोषो विद्यते'—अविनाशित्वात्—इस द्रष्टाकी दृष्टिका कभी लोप नहीं होता—अविनाशी होनेके कारण। देखो, विनाश तो अनुभवका विषय है, विनाश हो तो मालूम पड़े कि नहीं मालूम पड़े, जन्म हो तो मालूम पड़े कि नहीं मालूम पड़े तो असलमें जन्म होना और विनष्ट होना—यह तो मालूम पड़ता है, जिसको मालूम पड़ता है उसका न जन्म है, न उसका विनाश है। न उसमें आना-जाना है। तो, 'नैतद् बुद्धेन भाषितम्' वेदान्तके सिद्धान्तसे बहिर्भूत जो कुछ किसी बुद्धने कहा है—'एतद् ज्ञानं बुद्धेन न भाषितम्'—उसने इस अद्वितीय ज्ञानका निरूपण नहीं किया है, उसने अनेक ज्ञानका निरूपण किया हो यह हो सकता है। उसने ज्ञानाभाव शून्यका निरूपण किया हो यह भी ठीक है, परन्तु ऐसे अद्वितीय ज्ञानका निरूपण उन्होंने नहीं किया है। अब यह श्लोक जो है—यह ग्रन्थका जब प्रारम्भ हुआ—

ज्ञानेनाकाशकल्पेन धर्मान्यो गगनोपमान्।

ज्ञेयाभिन्नेन संबुद्धस्तं वन्दे द्विपदांवरम्॥ १॥

बिलकुल वही बात, जो बात उपक्रममें कही गयी थी, वही बात उपसंहारमें कही गयी। इसलिए यह ग्रन्थ बिलकुल अपनेमें सुसंगत है। केवल दूसरोंका शब्द लेकर और दूसरोंकी युक्ति ले-लेकर बीच-बीचमें उन्हींके



शब्दसे और उन्हींकी युक्तिसे उनके मतका खण्डन किया हुआ है। यह वेदान्तकी अपनी एक विलक्षणता है। यह भी कोई नयी बात नहीं है, सारे वेदान्तसम्प्रदायमें माना हुआ है। खण्डन-खण्ड-खाद्यमें वह प्रसङ्ग आया है। एक ब्रह्मवेत्ता बैठे हुए थे। तो जाकर किसीने पूछा कि महाराज, यह सृष्टि कैसे हुई? वह चुप रहे, कुछ बोले नहीं। ये दुनियादार लोग अपनी एक मान्यता बना लेते हैं और आकर पूछते हैं कि महाराज, भूत है न? आप मानते हैं कि नहीं मानते हैं तो, यदि हम कह दें कि नहीं मानते हैं तो सिद्ध करने लगते हैं कि है और हम यदि कह दें कि हम मानते हैं कि है—तो कहते हैं कि सिद्ध करो। अरे, बाबा—भूत तो तुम अपने दिमागमें लेकर आये, अब हमारे दिमागमें काहे को भरते हो? उसको अपने ही दिमागमें रक्खो।

विलायतमें एक लड़की थी, उसको भूत दिखता था! अब बेचारी भूत देखते-देखते पागल हो गयी। रोज उसको भूत दिखे। एक वैज्ञानिकको उसने बतलाया। उसने बतलाया कि एक भूत रोज हमारे कमरेमें आकर खड़ा हो जाता है। उसने कहा कि दरवाजा बन्द कर लो। खोज करवा लो। दो-चार आदमी रख लो। रोशनी कर लो। सब कुछ करके उसने देखा, समय पर रोशनी बुझ जाये और भूत सामने खड़ा हो जाय। उसने कहा—अच्छा, तुम किसीको बतलाना नहीं, आज रात भर मैं तुम्हारे कमरेमें रहूँगा। वह चुपकेसे आकर छिप गया। समय पर रोशनी बुझ गयी और भूत प्रकट हो गया। जो भूत प्रकट हुआ सो उसने अपना टॉर्च जेबमें—से जलाया। वह तो भूत नहीं था, उसका भाई था। रोज आ-आकर शौकिया उसको परेशान करता था, वर्षोंसे। जाँच करने पर वह भूतकी जगह भाई निकला। इस तरह मनुष्यके मस्तिष्कमें कुछ थोड़ी बहुत कमजोरी होती है तो डर दिखाकर, लोभ दिखाकर उससे लोग फायदा निकालते हैं। एक बार 'दादा'का ऐसा ख्याल हो गया कि हमारा 'लीवर' बहुत बढ़ गया है और यह ख्याल कोई दो-चार-छह महीने नहीं रहा, वर्षों रहा, यहाँ तक कि पदमपत सिंहानिया विलायत गये थे तो वहाँसे भी दवा ले आये—'लीवर' अच्छा करनेके लिए। परन्तु अच्छा नहीं हुआ। हम लोगोंको कोई रोग होता था तो बहुत प्रेमसे, बहुत रुचिसे वे चिकित्सा करते थे! पर, रोग ठीक नहीं हुआ। मथुरामें एक 'असिस्टेण्ट सर्जन' था! वह हमारे पास हमेशा आता था—सत्सङ्ग करनेके लिए। उसको मालूम पड़ा तो उसने कहा—दादाजी, हम चिकित्सा करेंगे आपकी। तो, दादाजी तो दही खायें, मूली खायें। उसने देख-दाख करके



इञ्जेक्शन लगाया और फिर एक-आध गोली-बोली खिलायी। पहले महीनेमें कहा—अब कम हो गया। दूसरे महीनेमें कहा—अब कम हो गया। तीसरे महीनेमें कहा—अब बिलकुल अच्छा हो गया। तीन महीने तक दवा की। आता तो था ही देख जाता था। अब कोई दो वर्ष बाद उसका हो गया तबादला—वह गोरखपुर चला गया वहाँ वह सर्जन हो गया। जब हम लोग गये गोरखपुर तो उसने हमें बुलाया अपने घर भोजन करनेको। तो, हमने उससे कहा कि भाई, तुमने तो दादाको अच्छा कर दिया, उसका 'लीवर' बिलकुल अच्छा हो गया, दो वर्षसे वह बिलकुल ठीक है। वह हँसने लगा! उसने कहा—स्वामीजी, दादाका 'लीवर' तो बढ़ा हुआ बिलकुल था ही नहीं, एकदम नार्मल था। तो, तुमने इतने दिनों तक इलाज क्या किया? कि मैंने 'विटामिन'का इञ्जेक्शन दिया और 'विटामिन'की ही गोलियाँ खिलायी। इनको यह बतलाया कि हम 'लीवर'की दवा कर रहे हैं जिससे इनके मनमें जो लीवर खराब बैठ गया है—वह मनका लीवर अच्छा हो जाय। शरीरमें कोई लीवर खराब नहीं था। उसने खुद ही कहा—हमारे वहाँ जाने पर। बहुत अच्छा डाक्टर है। डाक्टर माथुर उसका नाम है।

यह सृष्टि बड़ी विलक्षण है। इसमें कुछ भय दिखाना पड़ता है। भय दिखाकर—ऐसा नहीं करोगे तो यह हो जायेगा; कुछ लोभ दिखाना पड़ता है कि ऐसे तुमको बहुत फायदा होगा और इस तरहसे मनुष्यको आगे लेकर चलना पड़ता है, उसको सामाजिक बनाना पड़ता है। मनुष्य तो व्यक्ति-निष्ठ हो गया है। अपने देहको लेकर। अपने मनको लेकर अत्यन्त स्वार्थी हो गया है, अत्यन्त भोगासक्त हो गया है। उसके जीवनको तरह-तरहसे व्यवस्थित करते हैं। अब यह विवाह है—यह जीवनको व्यवस्थित करनेका एक मार्ग है—भला! यह विवाह न करें तो एक स्त्रीका न जाने कितने पुरुषोंसे सम्बन्ध हो, एक पुरुषका न जाने कितनी स्त्रियोंसे सम्बन्ध हो। कोई व्यवस्था न हो तो किनके ऊपर वह आक्रमण कर दे। उनके दुश्मन वह हो जायें, उनके दुश्मन वे। तो विवाहके द्वारा उसकी व्यवस्था कर दी। ऐसे अपने पुराणोंमें, शास्त्रोंमें तो बहुत-बहुत आता है। सृष्टिका रहस्य ऐसा है। अपने मनमें जो मान लेते हैं वह आकर कहते हैं। यदि कृष्णका भक्त हमारे सामने आजाय और वह हमें कहे कि रामसे कृष्ण बड़े हैं। हमारे देखो यहीं बैठे हैं—विचारवान लोग। एकदिन मैंने कथामें श्रीकृष्णकी सुन्दरताका वर्णन किया तो सुनकर एक बुद्धिमान् पुरुषने पूछा—क्या



स्वामीजी! रामचन्द्रमें ज्यादा सुन्दर थे श्रीकृष्ण, तब मैंने फिर दृग्गं दिन रामचन्द्रके सौन्दर्यका वर्णन किया। यह जो रामचन्द्रके और श्रीकृष्णचन्द्रके सौन्दर्यका वर्णन है, वह हमारे मनको एक स्थानमें, समझाकर, बुझाकर, लाड़लड़ाकर अपने मनको एक जगह फँसानेके लिए, एक जगह व्यवस्थित करनेके लिए है। अगर इसी बातपर लड़ाई कर लो कि राम ज्यादा सुन्दर या कृष्ण ज्यादा सुन्दर तब तो उसका सारा उद्देश्य ही नष्ट हो जायेगा। कल एक मज्जन हमारे पास एक हस्तलिखित पुस्तक ले आये। शतःश्लोकी थी। लिखा यह था—महाकवि जयदेवका मैं बेटा हूँ, और मेरा नाम अमुक है और मैं यह पुस्तक लिख रहा हूँ। लाहौरमें रहता हूँ। इस समय बहुत बड़ा मुसलमानोंका आक्रमण लाहौरपर हो रहा है। ऐसा लिखा है उसमें यह भी लिखा है कि यह जो लोग ईश्वरको निराकार-निराकार बोलते हैं वह तो सोलह आने भ्रममें हैं। क्यों भ्रममें हैं? बोले उनको साकार ईश्वरमें प्रेम नहीं है। भक्ति नहीं है। ध्यान नहीं है। मनमें एकाग्रता नहीं है। अनुभव नहीं है। साकार ईश्वरका अनुभव नहीं हुआ तो बोले अंगूर खट्टे हैं, साकार है ही नहीं। निराकार-निराकार बोलते हैं—वह तो बिलकुल भ्रान्त हैं जो ईश्वरको निराकार-निराकार बोलते हैं—वह तो बिलकुल भ्रान्त हैं जो ईश्वरको निराकार बतलाते हैं। कल मैंने वह पुस्तक महाकवि जयदेवके पुत्रकी रचना—अभी वह प्रकाशित नहीं है—कोई सज्जन ले आये थे तो दस मिनटमें सारी-पुस्तक अक्षर-अक्षर पढ़ ली और वहाँ जो लोग बैठे थे उन सबको भूल गया। किसीका ख्याल मुझे नहीं रहा। अपने दिमागकी बातको प्रधानता देते हैं और उसीको दूसरेके दिमागमें भरना चाहते हैं।

हमारे पास एक रोता हुआ आदमी आता है तो कहता है कि तुम भी हमारे साथ बैठकर रोओ और एक हँसता हुआ आदमी आता है वह कहता है कि तुम भी हमारे साथ बैठकर हँसो। कांग्रेसी आता है तो कहता है स्वामीजी; आप कांग्रेसका काम करो। कम्यूनिस्ट आता है तो कहता है इतनी गरीबी, इतनी अशिक्षा और इतनी बीमारी फैली हुई है और आप बैठकर महन्ती करते हो! आप आओ हमारे साथ कम्यूनिस्ट पार्टीमें शामिल हो जाओ। वे हमारे विचार हमारे अनुभव, हमारे दृष्टिकोणका आदर नहीं करते हैं। वे तो अपने-अपनेमें फँसे हुए हैं।

एकने एक महात्मासे पूछा—सृष्टि कैसे हुई? महात्मा बिलकुल चुप। कुछ बोले ही नहीं हँसते रहे। फिर बोले कि देखो, हम अपने स्वयंप्रकाश-



ग्वरूपमें आनन्दमें रहते हैं, सृष्टि चाहे कैम भी हुई हो और चाहे न हुई हो—  
 इसमें हमारा क्या मतलब? हम तो अद्वितीय ब्रह्म हैं, परिपूर्ण हैं। इसकी चर्चा  
 करनेमें हमारा कोई प्रयोजन ही नहीं। फिर बोला—नहीं महाराज, कृपा करके  
 बतला दो! हमारी शंका मिटा दो। बोले—अच्छा तू कैसे मानता है कि सृष्टि कैम  
 हुई है? बोला कि हम तो मानते हैं कि परमाणुसे सृष्टि हुई। यह खण्डन-खण्ड-  
 खाद्यमें है। बोले—अच्छा परमाणुसे हुई—मानते हो? परमाणु कैसे हुए बेटा? तो  
 बोले—उसमें परमाणुके टुकड़े—अवयव नहीं होते। तो बोले कि जिस चीजमें  
 अवयव नहीं होते उसमें दोका संयोग कैसे होगा और संयोग नहीं होगा तो अणु  
 कैम बनेगा और अणु नहीं बनेगा तो सृष्टिकी उत्पत्ति कैम होगी? निरवयव  
 ब्रह्म, वेदिकमेंकी वस्तुका संयोग ही नहीं होगा और संयोग नहीं होगा तो सृष्टि  
 नहीं होगी। तो बोला—महाराज, आपने तो परमाणुका ही खण्डन कर दिया।  
 बोले—हमने खण्डन कहाँ किया? बोला—कर तो रहे हैं आप? बोले—तुने  
 परमाणुको निरवयव बतलाया और फिर परमाणुसे सृष्टि मानी, तो तेरे मतमें जो  
 अमंगति है वह मैंने बतलाया। मैंने यह नहीं बतलाया कि परमाणुसे सृष्टि होती  
 है कि नहीं होती। तेरी मान्यतामें अमंगति है। बोले—अच्छा महाराज, प्रकृतिमें  
 होता होगा? बोले—प्रकृति क्या होती है बेटा? प्रकृति सम्पूर्ण जगत्का कारण है  
 और नित्य है। नित्य होनेपर भी वह जगत्के रूपमें परिणामको प्राप्त होती है। तो  
 बोले कि भाई, यदि वह जगत्के रूपमें बनती है तो नित्य नहीं है और वह  
 फटती है, फूटती है और यदि फटती-फूटती है तो नित्य नहीं है। दोनों बातमें—  
 मे एक मानो तुम, एक मत मानो। तो असंगत हो गया न? ये कहते हैं कि जब  
 तुम यह कहते हो कि दृश्य आदिमें नहीं था और अन्तमें नहीं रहेगा, यह मध्यमें  
 चिन्तका विलास है—यह युक्ति तुम देते हो, तो हम यह कहते हैं कि आत्मामें  
 यह चिन्त पहले नहीं था और बादमें नहीं रहेगा इसलिए मध्यमें यह आत्माका  
 विलास है। आत्माके अलावा यह चिन्त नामकी कोई वस्तु है ही नहीं। कि भाई,  
 तुम कहते हो कि जगत्के मूलमें निष्प्रपञ्च कोई विलक्षण तत्त्व है—निष्प्रपञ्च  
 तत्त्व ही बोलते हैं वे भी। हम कहते हैं कि जगत्के मूलमें निष्प्रपञ्च आत्म चैतन्य  
 है। यही तो बात है केवल। तो 'नैतद् बुद्धेन भाषितम्'—यह जो वेदान्त है यह  
 वेदान्त किसीने अपनी बुद्धिके द्वारा या भाष्य-पदार्थके रूपमें या दृश्य पदार्थके  
 रूपमें इन्द्रियोंके द्वारा या यन्त्रोंके द्वारा दृश्यविषयक निर्णय यह नहीं है। यह तो  
 सम्पूर्ण दृश्योंका निर्णय, सम्पूर्ण यन्त्रोंका निर्णय, सम्पूर्ण इन्द्रियोंका निर्णय,



सम्पूर्ण अन्तःकरणोंका निर्णय और सम्पूर्ण बुद्धियोंका निर्णय जिससे होता है वह साक्षी देश-काल-वस्तुसे अपरिच्छिन्न अनन्त है—यह बतलानेके लिए है।

‘दुर्दर्शमतिगम्भीरम्’—अब श्रुतिसे उपसंहार करते हैं। यह वेदमन्त्र है। आपने कठोपनिषद्में सुना होगा—

तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेकं पुराणम्।

अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोको जहाति॥

(कठ० 2.12)

बात यह है कि जब आदमी एक चीजको देखने लगता है तब दूसरी चीज नहीं दिखती। दृष्टि सर्वाङ्गीण नहीं बनती। एक उँगली देखने लगते हैं तो दूसरी उँगली नहीं दिखती। जो मालूम पड़ता है कि हम दोनों उँगली एक साथ देखते हैं यह भ्रम है। सूक्ष्मकालमें दृष्टि एक उँगलीसे दूसरी उँगलीपर आती है और फिर लौट जाती है। फिर आती है और फिर लौट जाती है। उस दृष्टिके चाञ्चल्यको हम पकड़ नहीं पाते और दोको देखते हैं।

जो द्वैतको देखनेमें लगा है उसके लिए इसको देखना बड़ा कठिन है। ‘दुर्दर्श’—जो विषय-भोगमें लगे हैं, जो संसारके संग्रहमें लगे हैं, जो कोई क्रियामें लगे हैं, भोगमें लगे हैं, स्थितिमें लगे हैं—उनके लिए कठिन है; क्योंकि बड़ा गम्भीर है। सबसे ऊँचे यही है। ‘अजं’—यह न किसीका कारण है न कार्य है, साम्यं—सम है, विशारदं—निर्मल बोध-स्वरूप है। विशारदका अर्थ है—शुद्ध बोध स्वरूप है। शारद चन्द्रमा है। उसमें प्रकाश है। मजा भी है। रस भी है, आह्लाद भी है। प्रकाश, आह्लाद है और विस्पष्ट है। मेघाच्छन्न नहीं है। मायाका आवरण दूर हो गया—तो उसको बोलेंगे—विशारद! यह आत्मचन्द्र सच्चिदानन्दधन हैं। इनमें न कर्मका मल लगता है। कर्मका मल देहमें नहीं लगता। दो आदमी यदि आपसमें लड़ु चलावें और दोनोंका सिर फूटे तो गवाहकी—देखनेवालेकी आँखें फूटी हुई नहीं होती हैं। इसी प्रकार मनमें कई वृत्तियाँ आती हैं और जाती हैं और आपसमें लड़ती हैं, लेकिन उससे साक्षीकी दृष्टिका लोप नहीं होता। पाप-पुण्य मनुष्यको कैसे लगता है? जब वह अपनेको कर्त्ता मान बैठता है! कर्तृत्वके सिवाय पाप-पुण्य और कुछ नहीं है। और सुख-दुःख कैसे होता है? जब वह अपनेको भोक्ता मान बैठता है। तो एक तो कर्म-मल होता है। कर्मेन्द्रियोंके साथ अपना सम्बन्ध जोड़कर कि हम कर्मी हैं। पापी हैं—पुण्यात्मा हैं। और एक बात इसके साथ और जोड़ दो—यदि तुम दूसरेको



पापी-पुण्यात्मा समझोगे तो अपनेको समझनेके लिए विवश होना पड़ेगा। मजबूर होना पड़ेगा। क्योंकि दूसरोंके लिए दूसरा तराजू और अपने लिए दूसरा तराजू नहीं होता। अगर तुम्हारी चीज कोई चुरा ले जाय तो उसको तुम चोर समझते हो तो जब तुम दूसरेकी चीज चुराकर ले आओगे तो तुम भी चोर हो जाओगे। किसकी नजरमें? अपनी नजरमें। अपने तराजूपर यदि तुमने समझ लिया कि यह सम्पूर्ण वस्तु परमात्माकी है, परमात्मा-स्वरूप है—इसमें न कोई चोर है, न कोई साहूकार है तो इसमें भी एक सेठोंका अद्वैत होता है। एक महात्माओंका अद्वैत होता है। एक हमारे मित्र थे कलकत्तामें—नाम नहीं बतलाते हैं। हम—खूब हँसी-मजाक करते थे, कभी-कभी महीनों हम साथ रहे हैं—तीन महीने तो सन् 38 में ट्रेनमें साथ थे। सन् 34से उनका और हमारा मेल-जोल था, दंगा होता था जब कलकत्तेमें, तब हम साथ ही घूमते थे! तो बोले—देखो, पण्डितजी! मैं तो पण्डितजी था उस समय। तो बोले—पण्डितजी, हमारे अन्दर आधी समता तो आ गयी, और आधेकी कमी है। पर ईश्वर करेगा तो इस जन्ममें नहीं तो अगले जन्ममें पूरी हो जायेगी। मैंने पूछा—सेठजी, आधी समता कैसी होती है? आधी समता यह होती है कि दूसरेका माल तो हम अपना समझते हैं—इतनी आधी समता तो हमारे अन्दर है, लेकिन आधेकी कमी यह रह गयी कि हम अपनी चीज दूसरेकी नहीं समझते। इसकी हमको कोई जल्दी नहीं है।

जो समता—यह एक कर्म है। दूसरेको पापी समझना कि यह अज्ञानी है। इसलिए पापी है और हम ज्ञानी हैं, इसलिए पापी नहीं हैं—यह तराजू अपने बारेमें नहीं चल सकता। हम भी अकर्ता हैं और निष्पाप-निष्पुण्य हैं—भला! और सामनेवाला भी अकर्ता है और निष्पाप निष्पुण्य है। और देखो, अपनेको सुखी और दुःखी मानना—हमको तो बाबा एक ही आदमी दिनमें एक बार फोन करता है तो कोई सुखकी चर्चा करता है। खूब खुशी-खुशी बात होती है। दूसरी बार जब फोन करता है तब किसी बीते हुए दुःखकी चर्चा शुरू कर देता है। दुःख हो जाता है। असलमें तो वे दोनों—सुख-दुःख बीत गये हैं या आनेवाले हैं, यह हमारा मन जब उनके साथ मिल जाता है तब बुला लेता है! तो यह भोक्तापन कर्ताके साथ जुड़ा हुआ मल है। यह कर्ममल है। दूसरा मल ज्यादातर साधुओंमें, जिज्ञासुओंमें, वेदान्तियोंमें रहता है। वह क्या है? बोले—हम अकर्ता हैं, हम अभोक्ता हैं! अच्छा, यह बात बिलकुल झूठी है। क्योंकि यह तो कर्तापनका जो भ्रम है उस भ्रमको काटनेके लिए एक अध्यारोप है कि हम अकर्ता हैं और हम अभोक्ता हैं—यह



मिथ्यान्त नहीं हैं। अविद्याकी निवृत्तिके लिए विद्याके द्वारा अकर्तृत्व और  
 अभोक्तृत्व आरोपित है। तो बोले कि देखो, हम अकर्ता होकर अब कर्म करेंगे ?  
 हम अभोक्ता होकर अब भोग भोगेंगे। यह क्या लाकर हमारे सामने दहीवड़ा रख  
 दिया, समझता क्या है हमको, हम अभोक्ता हैं। बोले कि तुम हमको दुकानमें  
 जानेको कहते हो—जानते नहीं हम अकर्ता हैं। हमने वेदान्त पढ़ा है। हम अकर्ता  
 हैं। तो अकर्ताका मतलब यदि यह हो कि हम शरीरसे कर्म न करें और  
 अभोक्ताका मतलब अगर यह हो कि हम खाना-पीना बन्द कर दें और अप्राणका  
 अर्थ यह हो कि साँस लेना बन्द कर दें और अमनाका अर्थ हो कि एक गोली  
 खाकर चेहरे पड़े रहें तो यह—'अप्राणो अमना'—का अर्थ नहीं है। शरीरसे कर्म  
 करते हुए, आवश्यक उपयोगी भोग भोगते हुए, हँसते हुए, खेलते हुए, रोते हुए,  
 जीवनमें गाते हुए, बैठते हुए, सोते हुए, मौजसे यात्रा पूरी हो रही है, जीवन यात्रा  
 पूरी हो रही है। इसको बोलते हैं अकर्तापनका जो मल है—यह मायामलके नाममें  
 शास्त्रमें कहा गया है। अध्यारोपको स्वीकार कर लिया गया। यह ऐसा है कि एक  
 बच्चेको भाग लगाना नहीं आता था तो मास्टरने सिखाया कि मान लो तुम्हारे जेबमें  
 पाँच रुपये हैं और दो रुपया तुमने मोहनको दिया और दो रुपया तुमने सोहनको  
 दिया तो अब तुम्हारे पास कितना बचा ? उसने कहा—मास्टर साहब, मेरी जेबमें  
 रुपये हैं ही नहीं, पहले पाँच रुपया लाकर इसमें रखो—मेरी जेबमें, जब है ही  
 नहीं तब बचा कहाँसे ? बोले—भाई, मान लो कि हैं। बोला—ऐसा झूठ हम नहीं  
 मानते, पहले पाँच दो तब हम बतलावें, तब हमारा मन होगा तो हम मोहनको देंगे,  
 सोहनको देंगे। बोले—नहीं भाई, हम तुमको गणित सिखाते हैं कि दो रुपया  
 मोहनको दो, दो रुपया सोहनको दो तो तुम्हारे पास एक बचा। और आधा-आधा  
 दोनोंको देना हो तो अढ़ाई-अढ़ाई दोनोंको दे दो तुम्हारे पास कुछ नहीं बचा। हम  
 तुमको गणित सिखाना चाहते हैं। बोले नहीं—पहले पाँच रुपया दो तब हम  
 सीखेंगे। यह जो अकर्तापन-अभोक्तापन है यह तो मान लो कि एक फर्ज की हुई  
 चीज है। अध्यारोप माने फर्ज की हुई। जो न हो उसकी भी कल्पना कर लेना।  
 और कल्पना करके सिखा देना और फिर उसका भी अपवाद कर देना। यह  
 उसकी कथा होती है। तो, तीसरा एक और मल है—वह यह है कि अपनेको ज्ञानी  
 भी मानते हैं और यह मैं-मैं, पै-पै उनसे नहीं छूटती है। तो मैं-मैं-पै-पैका अर्थ है  
 कि जीवनमें स्वातन्त्र्यका नहीं आना। दैन्यका बना रहना। तो बोध तो हुआ परन्तु  
 शास्त्रसे, सम्प्रदायसे, धर्मसे, देवतासे, स्वर्गसे, नरकसे, अपने जो अज्ञान-कल्पित

बन्धन हैं उनसे—उनको अगर तुमने यह नहीं समझा कि ये सब हमारे अज्ञान-कल्पित थे और इनसे अब हम छूट रहे हैं तो तुम्हें बोध क्या हुआ ? स्वातन्त्र्य-हीन बोध भी मल है। बिना बोध हुए अगर स्वतन्त्रता आ जाय, ब्रह्मज्ञान तो हो ही नहीं और वेदको, गुरुको, धर्मको, शास्त्रको, सम्प्रदायको अंगूठा दिखा दे तो क्या होगा ? तब भी मल ही रहेगा। तो, बिना साधनको स्वीकार किये सिद्धका साक्षात्कार नहीं होगा और सिद्धका साक्षात्कार हो जानेपर कहीं भी अपने बन्धनमें रख लेना यह बोधमें न्यूनता होती है। 'विशारद' कहनेका अभिप्राय है कि यह अद्वैत परमानन्द है। यह अद्वैत ज्ञान स्वरूप है। यह अद्वैत सत्ता है। इसमें नानात्व नहीं है। न देशका, न कालका। ऐसे पदको जानो !

आखिरमें यात यह है कि जो गुरु है सो जान है। जो जान है सो ब्रह्म है। जो ब्रह्म है सो गुरु है तो गुरु, ज्ञान, ब्रह्म, आत्मा—जो आत्मा सो ब्रह्म, जो गुरु सो ज्ञान जो जान सो आत्मा, जो ब्रह्म सो गुरु। यह भेद चतुष्टय-विनिर्मुक्त—ये चार भेद नहीं हैं अपने स्वरूपमें। तो 'अनानात्वम्।' अब देखो—नानाकी ओर, नानाको देखकर उसको सच समझनेकी जरूरत नहीं है। नाना तो नाना ही हैं। फिर 'नमस्कुर्मो यथाबलम्' का क्या अर्थ है ? यथाशक्ति। यह सांवृतिक व्यवहार अविद्या-कल्पित व्यवहार है। इसको यथा कथंचित् जिस गुरुसे यह ज्ञान प्राप्त हुआ, जिस ज्ञानसे आत्मा और ब्रह्मकी एकता मालूम पड़ी, जिससे चेला गुरु हो गया—जिससे दोनोंमें सामरस्य हो गया, एकता हो गयी उस वस्तुको हम नमस्कार करते हैं ! नमस्कार करते हैं का अर्थ क्या हुआ कि अब उसको हम अपनेसे भिन्न दृष्टिसे नहीं देखते हैं—नमनका अर्थ दीन होता है। समझो—तुम्हारी सत्तासे हमारी सत्ता अलग नहीं है। झुक गये—नमन हो गया। तुम्हारी इच्छासे, क्रियासे हमारी क्रिया अलग नहीं है। तुम्हारे ज्ञानसे हमारा ज्ञान, तुम्हारी बुद्धिसे हमारी बुद्धि विलकुल एक है—यह व्यावहारिक ऐक्य है। तो नमस्कुर्मो यथाबलम्—न मस् कुर्मा मस् माने मम, अहं और ममको मस् बोलते हैं। मस्—यह अर्थ पांचरात्र संहिता जिसे बोलते हैं उसका है। वैष्णव लोगोंकी 108 संहिता है। पाँचरात्रकी अहिव्युध्न नामकी संहिता है। उसमें नमःका अर्थ लिखा है। न मे—इति नमः, न में, न मेरा; इसका अर्थ हुआ कि न तू, न तेरा। मैं और तू एक। और मेरा-तेरा एक और शब्दका व्यवहार तो केवल शाब्दिक है। मनका व्यवहार केवल मानसिक है। हम तुम एक। वस इतना ही शेष है।

तो, यह इस प्रकार 100 श्लोक अलातशान्तिके पूरे हो गये और विश्व



वेदके, आगमके वेदकी प्रधानतासे जैसे ब्रह्मचारी वेद पढ़ता है, वैसे विश्वका वर्णन वेदकी प्रधानतासे पहले प्रकरणमें और जैसे स्पष्ट जो है वह मानसिक होता है तो युक्तियोंकी प्रधानतासे स्वप्नवत् वैतथ्यकी सिद्धि वैतथ्य प्रकरणमें और जैसे प्राज्ञमें सब-के-सब लय हो जाते हैं, लयकी प्रधानतासे मनोनिग्रहकी प्रधानतासे, अद्वैतस्थितिकी प्रधानतासे वर्णन, प्राज्ञका वर्णन मानो तृतीय—अद्वैत प्रकरणमें और जिसमें न कोई आगम, न कोई युक्ति, न कोई स्थिति—जो स्वतः सिद्ध वस्तु है वह अलातशान्तिमें स्वयंप्रकाश—उस तुरीय तत्त्वका वर्णन है। अब यह प्रसङ्ग पूरा होता है। महात्माओंकी जो पुरानी बातें हैं—धर्मकी, भक्तिकी, ज्ञानकी—बचपनसे इनको पढ़ने-सुननेकी आदत पड़ गयी है, व्यसन हो गया है। उसको हम आपलोगोंके बीचमें बैठकर दोहराते हैं तो हमको मजा आता है। आपलोगोंमें-से जब किसीका मुँख खिल जाता है, दाँत दिख जाता है, जब कोई हँस देता है तब हमारा मजा भी खिल जाता है। हमारा दिल भी खिल जाता है। और आपलोगोंमें-से कोई यदि मनहूस होकर बैठ जाता है या सोने लगता है तो वह फिर भीतरसे निकलता नहीं। हमारा न आनन्द निकलता, न आँख खिलती है, न दिल खिलता है। तो यह हम अपने मजेके लिए, अपने आनन्दके लिए—यहाँ रखते हैं। यहाँ भी करते हैं और वृन्दावनमें रहते हैं तो वहाँ भी करते हैं। हरिद्वार-ऋषिकेष्ट जाते हैं तो वहाँ भी करते हैं। कहीं गाँवमें जाते हैं तो वहाँ भी ऐसे ही करते हैं। रोज वेदान्तकी, भक्तिकी, धर्मकी बात करते हैं। अपने मनमें ऐसा नहीं है कि प्रचार हो जाय इसका।

एक दिनकी बात है—कुचामनके राजा साहब प्रताप सिंहजी यहीं आये थे बम्बईमें। मुझसे बोले कि हमारे दो-तीन मित्र हैं, वे आपके पास आना तो चाहते हैं, सत्सङ्ग करना चाहते हैं, लेकिन उनका खान-पान कुछ ऐसा है कि उनको आपके पास आनेमें बड़ा संकोच होता है। वे कहते हैं—कहीं हम गये और उन्होंने पूछ लिया कि तुम क्या खाते हो—तुम्हारा भोजन क्या है और तुम क्या करते हो तो हम उनके सामने कैसे बात करेंगे, उन्हें क्या बतावेंगे? मैंने कहा—बाबा, तुम बेफिक्र रहो, हम तुम्हारे व्यक्तिगत जीवनमें काहेको हस्तक्षेप करेंगे? न तो हम उनको बुलाते हैं—बुलाते नहीं हैं कि आओ तुम हमारे पास सत्सङ्ग करनेको और न तो हम उनको मना करते हैं, पर यदि वे आवेंगे तो हम यह काहे को पूछने जावेंगे कि तुम अपने घरमें क्या खाते हो? क्या नहीं खाते? उनके व्यक्तिगत जीवनमें हस्तक्षेप करनेकी हमको क्या जरूरत है? लेकिन, अगर वे हमसे पूछेंगे



कि हमको क्या खाना चाहिए महाराज ! तो हम क्या बतावेंगे ? हम तो वही बतावेंगे जो काशीके आस-पासके सरयू-पारीण ब्राह्मण भोजन करते हैं। हम तो वही बतलावेंगे उत्तर-प्रदेशीय-भोजन। गुजराती लोग ऐसा नहीं समझें कि हम गुड़ खानेको बतला देंगे। हमसे आकर कोई पूछेगा कि हम क्या खायें तो हम उसको तेल-गुड़ खानेको थोड़े ही बतलावेंगे—हम उनको लाल मिर्च खानेकी कभी नहीं बतलावेंगे—वह तो हमारा खानेका जैसा अभ्यास है वैसा हम उनको बतलावेंगे। हम जानते हैं कि हमारा अभ्यास कैसा है वैसा हम बतला देते हैं, तुम्हारा अभ्यास वैसा है तुम वैसा बतला दोगे। अब उसमें कौन-सा परमार्थ है और कौन-सा परमार्थका विरोधी है इससे हमारा कोई मतलब नहीं।

तो, यह साक्षात् ब्रह्म है ज्यों-का-त्यों परमात्माके सिवाय दूसरी कोई वस्तु न कभी हुई, न है, न होगी। न माया है, न छाया है, न अज्ञान है, न अविद्या है, न आवरण है, न विक्षेप है, न वासना है, न मल है। कि यह सब बात जो जिसको मानकर बैठ जाता है—तुम दुश्मन मान लो तो हमारी सब क्रिया तुमको शत्रुकी मालूम पड़ेगी और तुम हमको अपना प्रेमी मान लो तो हमारी सब क्रिया तुमको प्रेमसे भरी हुई मालूम पड़ेगी—यह जो कुछ निकलता है वह अपने मनमें-से ही निकलता है अभ्यासके अनुसार, संस्कारके अनुसार और अभ्यास और संस्कारको काट करके अतीतके संस्कार—उनको काटनेका मतलब यह नहीं है कि उनको धूलमें मिलाना पड़ेगा—उनको रहने दो, वे रहें और जो भविष्यकी कल्पना है, तुम्हारे जीवनमें उनको एक तो कल्पना है कि भविष्यमें हमको एक प्रीतम मिलनेवाला है और एक कल्पना यह है कि भूतमें एक प्रेमी मिलकर हमारा बिछुड़ गया, तो हम यह कहते हैं कि यदि तुम यथार्थको समझना चाहते हो तो भूतका जो प्रेमी है उसकी भी याद किया करना और जो भविष्यका प्रेमी है उससे तुम मिलना, लेकिन इन दोनोंकी कल्पना जिस ज्ञानमें होती है, जिस ज्ञानसे ये दोनों कल्पनाएँ मालूम पड़ती हैं, वह ज्ञान स्वयं तुम हो।

उन कल्पनाओंसे जुदा करके अपने ज्ञान-स्वरूपको समझ लो ! देखो जितनी कल्पनाएँ आती हैं सब ज्ञानात्मक हैं। तुम्हीं—तुम हो। तुम्हारे सिवाय दूसरी कोई वस्तु नहीं है। हर समय तुम बिलकुल यथार्थ—ज्यों-के-त्यों हो। तुम्हारा जीवन यथार्थ जीवन है। वास्तविक जीवन है। यह कोई ऐसा वैसा नहीं समझना। वेदान्तमें मिथ्या शब्दका और यथार्थ शब्दका अर्थ एक होता है—यह बात आपकी समझमें जल्दी न आवे तो थोड़े दिन सत्सङ्ग करके इसको



समझना—वेदान्तमें 'रज्जु' शब्दका जो अर्थ है 'सर्प' शब्दका वही अर्थ है। एक ही चीज है जिसको ज्ञानी पुरुष रज्जु देखता है और अज्ञानी पुरुष सर्प। वह चीज दो नहीं है—एकके मुँहमें सर्प शब्द है, एकके मुँहमें रज्जु शब्द है। एकके मनमें सर्पकी कल्पना है, एकके मनमें रज्जुकी कल्पना ही है। शब्द ही दो हैं, चीज दो नहीं हैं। यही जो जगत् है इसको ज्ञानी लोग परब्रह्म परमात्माके रूपमें साक्षात् अपरोक्ष अनुभव करते हैं और अज्ञानी लोग उसी परब्रह्म परमात्माको जगत्के रूपमें अनुभव करते हैं। न कोई जान होना है न जाना है; न अज्ञान जाना है, न जान होना है—तो यह सब परमार्थकी, यथार्थकी बातें हैं तो यथार्थ और मिथ्या शब्दका—यह देखो, वेदान्तियोंकी युक्तिपर आपने कभी ध्यान दिया—प्रपञ्च मिथ्या क्यों है? बोले—दीखता है! अब आपने हम पृष्ठते हैं कि यह घड़ी है उसमें क्या प्रमाण? तो आप कहेंगे, यह दीखती है—घड़ीके होनेमें दीखना प्रमाण होता है—वेदान्ती कहते हैं कि प्रपञ्च दीखता है इसलिए नहीं है—यह भला कहीं कोई युक्ति हुई? बिलकुल उलटी खोपड़ी मालूम पड़ती है, परन्तु, उम दृश्यका मतलब यह होता है कि द्रष्टासे जुदा दृश्य नहीं है—यही मतलब होता है। यह मतलब नहीं होता कि घड़ी नहीं है—यह मतलब नहीं होता कि आँख फूटी हुई है। यह मतलब नहीं होता है कि दिल खराब हो गया है। मतलब यह होता है कि अपना-आप ही सर्व रूपमें अभिव्यक्त हो रहा है, आप तारीफ करो हमारी—कहो कि ये विद्वान् हैं—आपने एक प्रशंसा की हमारी, तो हम उसको क्या समझते हैं कि हम यह समझते हैं कि आपके हृदयमें विद्यामें प्रेम है तो जिससे आपको प्रेम है उसका आरोप हमारे अन्दर करके हममें देख रहे हैं उसको। आपका प्रेम है विद्यासे। आपने कहा कि ये त्यागी हैं तो त्यागके प्रति आपकी श्रद्धा है, आपका प्रेम है, आप जिससे प्रेम करते हैं उसमें त्याग देखना चाहते हैं, इसलिए त्यागसे प्रेम तो आपके हृदयमें है। इसलिए यह सम्पूर्ण प्रपञ्च जो है यह अपने आत्माकी अभिव्यक्ति है। अपना स्वरूप ही सर्वरूपमें प्रकट हो रहा है। और प्रकट नहीं हो रहा है—ऐसा है ही है।

---

इन श्लोकोंकी व्याख्या या अलातशान्तिकी स्पष्टताके लिए लिखे गये एक लेखको हम यहाँ उद्धृत करते हैं। यह लेख 'चिन्तामणि' त्रैमासिकमें प्रकाशित हुआ था।

—सम्पादक

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।

## परिशिष्ट

### मंगलाचरण

ज्ञानेनाऽऽकाशकल्पेन धर्मान् यो गगनोपमान् ।

जेयाभिन्नेन सुबुद्धस्तं वन्दे द्विपदां वरम् ॥

जेयमे अभिन्न आकाशके समान ज्ञानके द्वारा आकाशतुल्य धर्मों अर्थात् शरीरकी अपेक्षामें पृथक्-पृथक् भासमान आत्माओंको जिसने सम्यक् आत्मरूपमें अनुभव कर लिया, उस पुरुषोत्तम भगवान् नारायणकी मैं वन्दना करता हूँ ।

इस मंगल-श्लोकमें सम्प्रदायके प्रथमाचार्य श्रीनारायणकी वन्दना है । अद्वैत सम्प्रदायमें यह प्रसिद्ध है कि श्रीशुकदेवजीके शिष्य गौडपादाचार्यने नर-नारायणाधिष्ठित बदरिकाश्रममें भगवान्को प्रसन्न करनेके लिए महती तपश्चर्या की । भगवान्ने प्रसन्न होकर उन्हें ब्रह्मविद्या प्रदान की । इसलिए परम गुरुके रूपमें उनकी वन्दना की गयी है । धर्मके पुत्र हैं—नर-नारायण और वे रहते हैं बदरिकाश्रममें । देखिये, महाभारत, मोक्षधर्म (334) । वहाँ नर-नारायणके लिए मूलके समान ही 'द्विपदां वरिष्ठम्' शब्दका प्रयोग है । यह निर्विवाद है कि अद्वैत सम्प्रदायके आद्याचार्य नारायण हैं ।

प्रथम प्रकरणमें ओंकार-निर्णय द्वारा आगम दृष्टिसे अद्वैत निरूपण है । उसीमें मात्रा एवं पादसे रहित, जाग्रत् आदि स्थान और स्थानी वैश्वानर प्रभृतिसे विलक्षण तुरीय शिव अद्वैत आत्माका वर्णन है । द्वितीय प्रकरणमें ब्राह्म एवं आध्यात्मिक विषय वितथ हैं—मिथ्या हैं, जैसे दीखते हैं वैसे नहीं हैं—इसका

---

1. स एवमुक्तो द्विपदां वरिष्ठो नारायणेनोत्तमपुरुषेण ।

जगाद वाच्यं द्विपदां वरिष्ठं नारायणं लोकहिताधिवासम् ॥

मो. ध. (335)



युक्तिपूर्वक उपपादन है। उस प्रकरणमें, जाग्रत्-स्वप्नकी एकता एवं सम्पूर्ण द्वैत-व्यवहारकी आत्मासे अविद्या-कल्पितत्वकी प्रतिष्ठा करके प्रपञ्चोपशम अद्वय तत्त्वका युक्ति-युक्त प्रतिपादन है। तीसरे प्रकरणमें, शास्त्र-युक्तिके द्वारा उसी सिद्धान्तको परिपुष्ट किया गया है। जैसे आकाशमें, घट और घटाकाश, जैसे स्वप्नके विविध दृश्य, वैसे ही जीव एवं उनकी उपाधियाँ कार्य-कारण संघात सर्वथा मायिक हैं, इसका उपपादन है। सभी श्रुतियोंका परम तात्पर्य आत्मा एवं ब्रह्मका ऐक्य बोध है। सृष्टि प्रतिपादक वचन आत्माके एकत्व बोधके उपाय हैं। सृष्टि तात्त्विक हो या मायिक, उससे प्रतिपादन की प्रक्रियामें अन्तर नहीं पड़ता। सृष्टिके मायिक सिद्ध होनेपर ही अज, अद्वय ब्रह्मकी सिद्धि होती है। द्वैत-मानसिक है। मन अवच्छिन्न आत्मा एवं मानस-पदार्थ अवच्छिन्न आत्मामें भेद नहीं किया जा सकता। अतएव द्वैत मिथ्या है। मनके अमनोभावमें द्वैतकी उपलब्धि नहीं होती! अतएव द्वैत सापेक्ष है और अद्वैत निरपेक्ष सत्य है। मनोनिग्रहके द्वारा सत्यका बोध अपरमार्थदर्शीके लिए ही है। किसी भी वस्तुकी उत्पत्ति नहीं होती। वह चाहे जीव हो या जगत्। इस उत्तम सत्यका संकेत करके तृतीय प्रकरण पूर्ण हुआ था। यह सब अन्वय मुखसे परमार्थके अधिगमकी प्रक्रिया है।

इस चतुर्थ प्रकरणमें उनसे विलक्षण प्रक्रिया स्वीकार की गयी है, वह यह है कि अन्वय प्रक्रियासे वस्तु-सिद्धि होनेपर भी जब तक सांख्यादि प्रतिपक्षी द्वैतवादियोंके मतका पूर्णतः निषेध नहीं कर दिया जाता, तबतक असंदिग्ध रूपसे अद्वैतका निश्चय नहीं होता। द्वैत-दर्शन परस्पर विरुद्ध हैं। उनसे राग-द्वेषकी आत्यन्तिक निवृत्ति नहीं हो सकती। वे अपने-अपने पक्षके दुराग्रहसे ग्रस्त होनेके कारण 'परस्परं विरुद्ध्यन्ते' (3.17) एक-दूसरेका खण्डन करते हैं। परन्तु अद्वैत-दर्शन सर्वाधिष्ठान एवं सर्वावभासक होनेके कारण विरोधी-अनुरोधी पक्षोंसे अतीत है। इसमें किसीके प्रति विरोध नहीं है और वस्तुतः वे दर्शन भी इसका विरोध नहीं करते। द्वैत ही द्वैतका विरोधी होता है। यहाँ तक कि विरोध भी द्वैतमें होता है। अतएव ठीक ही कहा गया—तैरयं न विरुद्ध्यते (3.17), (3.17)में भी इसीका उपपादन है।

इस प्रसंगमें आचार्य शंकरने अवीत-न्यायका उल्लेख किया है। 'वीत' शब्दका अर्थ है—अन्वय, जो विशिष्ट एवं स्पष्ट रूपसे अनुगत हो! अवस्थात्रयमें चेतन आत्माकी एकता, जाग्रदादि विकल्पों का परस्पर विचार, भेद-दृश्योंका



अननुगम, आत्मसत्ताकी सर्वत्र निर्विशेष विद्यमानता, द्वैतके मिथ्यात्वको एवं अद्वैतके सत्यत्वको सिद्ध करते हैं। स्वर्गादिका प्रतिपादक शास्त्रवचन श्रद्धालुके हृदयमें परोक्ष ज्ञान उत्पन्न करता है, परन्तु आत्माकी अद्वितीयताका प्रतिपादक वचन तत्काल साक्षादपरोक्ष अनुभव उत्पन्न करके अविद्याका विनाश कर देता है। वेदान्तवचन अनुभव पर्यवसान है। अवीत-न्याय कहनेका अभिप्राय यह है कि हम केवल अद्वैतको सम्यक्दर्शन और द्वैतको असम्यक् दर्शन ही नहीं कहते हैं, प्रत्युत द्वैतदर्शन भी परस्पर एक-दूसरेको असम्यक् दर्शन कहते हैं। द्वैतवादी परस्पर एकमत नहीं हैं। वे परस्पर ही खण्डित हो जाते हैं। उनके खण्डनके लिए अद्वैत दर्शनको कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ता, इसीका नाम अवीत-न्याय है।

विशेष यह है कि अन्य प्रकरणोंके प्रारम्भमें नमस्क्रिया रूप मंगलाचरण नहीं है। परन्तु 'अलातशान्ति' मंगलाचरणपूर्वक प्रारम्भ किया जाता है। अपने आचार्यकी पूजा इसलिए है कि दूसरे आचार्योंका खण्डन करनेसे यह न समझ लिया जाय कि अद्वैत मतमें आचार्यपर श्रद्धा अपेक्षित नहीं है। यह प्रकरण केवल परमतमें दोष दिखानेके लिए ही नहीं है, परन्तु अद्वैतमतका असाधारण वैशिष्ट्य प्रकट करनेके लिए है। वह मंगलाचरणसे ही स्पष्ट है।

मंगल श्लोकमें ज्ञानको ज्ञेयाभिन्न और आकाशके समान कहा गया है। अलात शान्तिमें हेय, ज्ञेय, आप्य और पाक्य—ये चार विभाग करके ज्ञेयपदार्थकी यथार्थ और शेष तीनोंको अयथार्थ कहा गया है (90)। ज्ञेय है—अस्ति, नास्ति, अस्ति-नास्ति, नास्ति-नास्ति—इन चारों कोटियोंसे विनिर्मुक्त अत्यन्ताबाध्य परमार्थ तत्त्व। उससे अभिन्न ज्ञान ही उसका बोधक होता है। अतएव ज्ञान भी आकाशके समान अनन्त है। अन्तःकरणावच्छिन्न ज्ञान अर्थात् प्रमाता विषयावच्छिन्न ज्ञान चेतनसे एक होकर ही उसका बोध प्राप्त करता है। अतः ज्ञेय और ज्ञान दोनों ही अपरिच्छिन्न हैं। शरीरके भेदसे भिन्न-भिन्न प्रतीत होनेवाले आत्मा 'धर्म' शब्दसे कहे गये हैं। लोकव्यवहारमें धर्म और धर्मीका भेद होता है। वैशेषिकादि दर्शन धर्मविचार प्रधान हैं। साधर्म्य-वैधर्म्यके ज्ञानसे मोक्ष मानते हैं। सांख्यादि धर्मविचार प्रधान हैं। परन्तु दोनों ही धर्मधर्मीको अनेक मानते हैं। बौद्धमतमें इनकी प्रतीत्यसमुत्पाद अर्थात् परस्पर सापेक्ष मानते हैं। शून्यदर्शन दोनोंका अपलाप कर देता है परन्तु अद्वैतदर्शन इन सबसे विलक्षण है। वह भेद, सापेक्षता एवं शून्यता—सबके अवभासक अधिष्ठानके रूपमें प्रतिष्ठित है। अतएव धर्मोंके भेदको अकिञ्चित्कर मानकर परमार्थ दृष्टिसे उन्हें गगनोपम ही



कहा गया है। अवस्था-भेदसे भोग्यद एवं भोक्तृभेद प्रतीत होते हैं। परन्तु जो दोनोंका प्रकाशक है वह भुञ्जान अर्थात् भोग करता हुआ भी भोग्यके साथ नित्य नहीं होता। अतः भोक्ता नहीं होता। यह निर्द्वन्द्व अभयपद अद्वैत-दर्शनसे ही प्राप्त होता है। इसमें व्याधि, आधि, समाधि, उपाधिका कोई भेद-विभेद नहीं है। विरोध, अनुरोध एवं निरोध भी नहीं है। यह अविवाद एवं अविरोध है।

अब मंगल श्लोकके अभिप्रायपर विचार कीजिए। श्रीगौड़पादाचार्यकी प्रतिपादन-शैली निराली है। वे बाह्यार्थवादी द्वैतियोंका खण्डन करनेके लिए विज्ञानवादियोंकी और कहीं-कहीं तो शून्यवादियोंकी युक्तिका भी आलम्बन लेते हैं। परमतका खण्डन करनेके लिए परमतका प्रयोग करनेमें न वे हिचकिचाते हैं, न चूकते हैं। तथापि इससे इस निष्कर्षपर पहुँचना असंगत होगा कि केवल तर्क-युक्तिके द्वारा अद्वैत-सिद्धान्तका बोध हो सकता है। उसका अधिगम तो केवल वेदान्तसिद्ध अनुभवानुसारी युक्तियोंसे ही होता है। यह विलक्षणता मंगलश्लोकमें भी वर्तमान है। इसमें ऐसे शब्दोंका विन्यास है जिनका प्रयोग वेदान्ती और बौद्ध दोनों ही करते हैं।

उदाहरणार्थ, ज्ञान आकाशके समान है, यह विषय लीजिये। विज्ञानवादी बौद्धोंका कहना है कि विज्ञान निरालम्बन होनेके कारण आकाशके समान अमंगल है। शून्यवादियोंका कहना है कि जैसे आकाश निःस्वभाव होनेके कारण शून्य है वैसे ही ज्ञान भी। आचार्य गौड़पाद कहते हैं कि यह तो ठीक है कि ज्ञान आकाशके समान है परन्तु निरालम्बन अथवा निःस्वभाव होनेके कारण नहीं। श्रुति वचन हैं— 'आकाशवत् सर्वगतश्च नित्यः'। इसके सर्वगत अद्वैत चैतन्यसे अभिन्न होनेके कारण भगवज्ज्ञान आकाशके समान है।

अब दूसरा उदाहरण देखिये। धर्म अर्थात् आत्मा आकाशके समान है। लक्षण धारण करनेके कारण धर्म बाह्यविषयक है। वे विज्ञानके परिणाम मात्र होनेके कारण स्वतन्त्र सत्ता नहीं रखते—यह विज्ञानवादियोंका मत है। शून्यवादी निःस्वभाव होनेके कारण ही उन्हें गगनवत् कहते हैं। गौड़पादाचार्य 'धर्मान् पृथक् पश्यन्' (काठ० 2.3.14) 'अणुरेप धर्मः' (काठ० 1.1.20)—इन श्रुतिवचनोंका आश्रय लेकर अद्वय ब्रह्मसे अभिन्न होनेके कारण आत्माको आकाशकी उपमा देते हैं। श्रुति सूत्रोंमें परमात्माका एक नाम आकाश भी है। आकाशकी उपमा अभेदके अभिप्रायसे है। आत्माओंकी पृथक्ता शरीररूप उपाधिके कारण भासती है। आत्मामें अभेद होनेसे उपाधिरूप बाह्यधर्म भी आत्मरूप ही हो जाते हैं; क्योंकि वे



विकल्पमात्र हैं, जिस अधिष्ठानमें भासते हैं उससे अभिन्न हैं। देखिये 'आत्मैवेदं सर्वम्' (छा० 7.25.2)।

ज्ञान ज्ञेयसे अभिन्न है। क्यों? ज्ञान एवं-ज्ञेयका सहोपलम्भ नियम है, अर्थात् दोनों एक साथ ही भासते हैं—यह विज्ञानवादियोंका मत है। ज्ञान, ज्ञेय दोनों निःस्वभाव हैं अतएव अभिन्न हैं—यह शून्यवादीका मत है। गौडपादाचार्य यह प्रतिपादन करते हैं कि अज अद्वय आत्मस्वरूप ज्ञान और ज्ञेय दोनोंके रूपमें प्रतीत हो रहा है, अतः ब्रह्मत्वेन दोनों एक हैं। अद्वैत प्रकरणमें यह स्पष्ट कह दिया गया है कि ज्ञान परमार्थ-ज्ञेयसे सर्वथा अभिन्न है। 'अज ज्ञानं ज्ञेयाभिन्नं प्रचक्षते' (3.33)। वहाँ यह बात भी कही गयी है कि आत्मरूप धर्म और बाह्यधर्म दोनों ही स्वाप्निक पुरुष और उसके धर्मके समान परब्रह्म परमात्मामें कल्पित हैं। अर्थात् ब्रह्मरूप ज्ञेयसे अभिन्न ही हैं ज्ञान और पदार्थ।

अब 'सम्बुद्धः' पर विचार कीजिए। यह नारायणका विशेषण है। क्यों? वेदबाह्य प्रक्रियासे इस प्रक्रियाको विलक्षण ध्वनित करनेके लिए। बात यह है कि तथागत क्रम-क्रमसे ध्यानादि साधनका अभ्यास करके निम्न-निम्न अविद्या भूमियोंको पार करते हैं तब उन्हें समग्र देश-काल-वस्तुका संबोध प्राप्त होता है। यही उनका मत है। भगवान्‌के सम्बन्धमें ऐसा नहीं समझना चाहिए। भगवान् नारायण नित्य बोधस्वरूप हैं। उनमें काल, देश एवं वस्तुका परिच्छेद नहीं है। ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेयका विभाग भी नहीं है। वे सर्वात्मक हैं। बोद्धा, बोध आदि भी उन्हींके व्यावहारिक रूपविशेष हैं। अतएव ज्ञेयाभिन्न ज्ञानके द्वारा वे धर्मोंको-आत्माओं एवं बाह्य पदार्थोंको जानते हैं। वे सम्यग्बोद्धा हैं—यह कहना उपचार-मात्र है। गौडपादाचार्यके परमगुरु व्यास कहते हैं कि 'नारायण लोकतन्त्रके प्रकाशक एवं एकमात्र अधिष्ठान हैं।' वही परम वेद्य हैं। बोद्धा और बोधनीय भी हैं। मन्ता—मन्तव्य, प्राशिता—प्राशनीय, घ्राता—घ्रातव्य, स्पर्शिता—स्पर्शनीय, द्रष्टा—द्रष्टव्य, श्राविता—श्रावणीय, ज्ञाता—ज्ञेय, सगुण—निर्गुण, नित्यकारण शाश्वत एवं अविनाशी हैं। (मोक्षधर्म० 3.51)' यही बात आचार्यने प्रकारान्तरसे कही है—

1. यत्तत् कृत्स्नं लोकतन्त्रस्य धाम वेद्यं परं बोधनीयः स बोद्धा।

मन्ता मन्तव्यं प्राशिता प्राशनीयं घ्राता घ्रेयं स्पर्शिता स्पर्शनीयम्॥

द्रष्टा द्रष्टव्यं श्राविता श्रावणीयं ज्ञाता ज्ञेयं सगुणं निर्गुणं च।

यद्वै प्रोक्तं तात सम्यक्प्रधानं नित्यं चैतच्छाश्वतं चाव्ययं च॥



ज्ञेयाभिन्न ज्ञानसे 'सम्बुद्ध' हैं, अर्थात् ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेयकी त्रिपुटी नहीं है, अद्वय-तत्त्व ही परमार्थ है।

**अद्वैतदर्शनयोगकी विशेषता :**

अस्पर्शयोगो वै नाम सर्वसत्त्वसुखो हितः।

अविवादोऽविरुद्ध देशितस्तं नमाम्यहम्॥

यह अस्पर्शयोग ब्रह्मवेत्ताओंमें प्रसिद्ध है। यह सम्पूर्ण प्राणियोंके लिए सुखकारी एवं हितावह है। इसमें किसीके साथ विवाद नहीं है। किसीका विरोध भी नहीं है; साथ ही शास्त्रोपदिष्ट है। मैं इस योगको ही नमस्कार करता हूँ।

विषय अत्यन्त गम्भीर है। आचार्यके अनुग्रहसे ही हृदयंगम हो सकता है—आचार्यार्द्धयव विदिता विद्या साधिष्ठ प्राप्त। आचार्यके द्वारा उपदिष्ट शास्त्रानुसारी अस्पर्शयोग भी इतर कर्तृसाध्य योगोंसे विलक्षण है। अतएव उसमें प्रवृत्तिके लिए प्रशंसासूचक नमस्कार उचित ही है। स्पर्शका अर्थ है—सम्बन्ध। इस योगका सम्बन्ध किसी दूसरेके साथ किसी प्रकारका नहीं है। इसको योग कहनेका अभिप्राय यह है कि यही परमार्थ योग है। दूसरे वादीप्रतिवादियोंने जिसे योग माना है वह श्रुति-सम्मत नहीं है। कह चुके हैं—दुर्दर्शः सर्वयोगिभिः (3.39); क्योंकि यह नित्य अद्वैत ज्ञानस्वरूप है। उपनिषदोंमें तत् केन कं स्पृशेत् (बृ० 4.6.15) के अनुसार ब्रह्मवित् महापुरुषोंके द्वारा समादृत है। 'संसारके सभी प्राणी इसी ब्रह्मानन्दकी मात्राका आश्रय लेते हैं' (वृ. 4.3.32)। अतएव यह सबके लिए सुखकारी है। कोई-कोई साधन फलावस्थामें सुखरूप तो हो जाता है परन्तु अनुष्ठान-कालमें दुःख रहता है, जैसे तप। यह वैसा नहीं है। ज्ञानसमकाल ही सुख है। जैसे भ्रान्तिसे घरका काँच समझा हुआ पदार्थ हीरेके रूपमें पहचान लिया जाय। बनाना नहीं है, है। 'सुसुखम् कर्तुं' (गी. 9.2) विषयसेवन भोगकालमें सुख है परन्तु परिणाममें हितकारी नहीं है। अस्पर्शयोग अनायास निर्वासन एवं निरतिशय सुख होनेके कारण सर्वथा हित-ही-हित है, क्योंकि इसके स्वभावमें त्रिचलन अथवा प्रच्युति नहीं है। मनुष्याय हिततमम् (कौ. 3.1)।

अस्पर्शयोग अविवाद है। विरुद्ध बोलना विवाद है। इसमें पक्ष-प्रतिपक्ष स्वीकार करके विवाद करनेका अवकाश नहीं है। पृथक्-पृथक् मत होनेपर विवादको प्राण-लाभ मिलता है। मत मतिमें रहते हैं। समग्र मतों एवं मतियोंके स्वप्रकाश अधिष्ठान अमतमें (यस्यामतं तस्य मतम्—केन.) विवादका अवसर



नहीं है। अविवाद क्यों है? इसलिए कि अविरोद्ध है। ब्रह्मसे अतिरिक्त किसी दूसरेका परमार्थतः अस्तित्व नहीं है तो वह उसका विरोध कैसे करेगा? प्रतीत द्वैत आविद्यक है। अतएव उसका सत्त्व नहीं है। वस्तु सत्य ब्रह्मका विरोधी असत् नहीं हो सकता। कह चुके हैं—तैरयं न विरुद्ध्यते (3.17)। अद्वैतात्मा परमार्थ है। सम्पूर्ण विकल्पोंका अधिष्ठान। द्वैतसिद्धान्त अविद्यमानमें अभिनिवेश मात्र है। कल्पित अकल्पितका विरोध नहीं कर सकते, (3.18)। द्वैतका खण्डन अद्वैत नहीं करता, उसे जीवन देता है, प्रकाश देता है, सुख देता है। वे स्वयं ही परस्पर सुन्दोपसुन्द न्यायसे सजातीय कलह करके यदुवंशियोंके समान प्रनष्ट हो जाते हैं। हमारे श्रुति-शास्त्र ऐसे ही योगका उपदेश करते हैं। वह सम्यक् दर्शनका शंसन है, शासन नहीं। मुमुक्षु जनोंको इसी अस्पर्शयोगका समादर करना चाहिए।

इसमें सन्देह नहीं कि शून्यवादी बौद्धोंने भी अपने दर्शनके लिए 'सर्वसत्त्वसुख' एवं 'हित' शब्दोंका प्रयोग किया है। भूत-भविष्यके भिन्न-भिन्न प्राणियोंका सुखसाधक एवं हितकारी रहा है उनका योग। उसमें भी विवाद एवं दुःखके शमनकी शक्ति है। समाधिराजने कहा है—'अस्ति' यह विवादास्पद है। 'नास्ति' यह भी विवादास्पद है। क्या शुद्ध है और क्या अशुद्ध? यह भी विवाद है। जिसके सम्बन्धमें विवाद है, उससे दुःखकी शान्ति नहीं हो सकती। जो अविवाद पद है उसमें दुःखका निरोध स्वयं हो जाता है।

यह ठीक है, परन्तु केवल तर्कयुक्तिके बलसे किसी भी निसर्ग-प्राप्त या परम्परा-प्राप्त पक्षका निषेध नहीं किया जा सकता। आत्यन्तिक अविवाद और अविरोध तबतक नहीं हो सकता, जबतक जिज्ञासाकी परिसमाप्ति न हो जाय और मनको शान्ति न मिल जाय। तर्क-युक्ति अप्रतिष्ठित हैं और उनमें अनवस्था दोष है। वैयक्तिक अनुभवोंकी अवधि निरोध समाधि भी असंदिग्ध निश्चय करानेमें समर्थ नहीं है। न वह सार्वजनिक है, न सार्वत्रिक। उसके द्वारा सम्पूर्ण प्राणियोंका सुख और हित शक्य नहीं है। औपनिषद अद्वैतदर्शन समाधिकाल, अन्तर्देश अथवा वैयक्तिक अनुभवकी अपेक्षा नहीं रखता। यह सभी अवस्थाओंमें

1. अस्तीति नास्तीति विवाद एष शुद्धी अशुद्धीति अयं विवादः।

विवाद प्राप्या न दुःखं प्रशाम्यते अविवाद प्राप्या च दुःखं निरुध्यते॥

( 'चन्द्रकीर्ति' द्वारा उद्धृत )



बाह्याभ्यन्तर देशोंमें समवेदनके विविध भेदोंमें अद्वैत है। अतएव यही प्राणीमात्रके लिए सुख एवं हितकारी है।

**विवाद और उसका परिणाम :**

भूतस्य जातिमिच्छन्ति वादिनः केचिदेव हि।

अभूतस्यापरे धीरा विवदन्तः परस्परम्॥

भूतं न जायते किंचिदभूतं नैव जायते।

विवदन्तो द्वया ह्येवमजातिं ख्यापयन्ति ते॥

कोई-कोई द्वैतवादी (सभी नहीं) यह कहते हैं कि पहलेसे विद्यमान वस्तुका ही जन्म होता है। उदाहरणार्थ सांख्य-योग। दूसरे प्रमाणपटु प्रज्ञावान वैशेषिक, नैयायिक सिद्ध करते हैं कि अविद्यमानकी ही उत्पत्ति होती है। परस्पर एक दूसरेका विरोध करके खण्डन-मण्डन करते हैं और कभी विवादसे मुक्त नहीं हो पाते।

एक कहता है 'विद्यमान वस्तुकी उत्पत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि वह तो पहलेसे ही विद्यमान है जैसे आत्मा। वह अजन्मा है।' दूसरा कहता है 'अविद्यमान वस्तुकी उत्पत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि वह है ही नहीं, जैसे शशविषाण'। इस प्रकार वादविवादकी प्रगल्भतासे दोनों एक दूसरेके पक्षका प्रतिषेध कर देते हैं। यद्यपि ये द्वैतवादी हैं तथापि इनके विवादका परिणाम यह निकलता है कि अज्ञात ही सिद्ध पदार्थ है; जन्म किसीका भी सिद्ध नहीं होता।

इस सत्कार्यवादी और असत्-कार्यवादीके कलहसे श्रुतिसे अनुगृहीत तर्क सद्युक्तिसे सिद्ध यह सिद्धान्त सिद्ध होता है कि 'स व एष महाजन आत्मा (वृहद् ० ४.४.२५)।' यह ब्रह्माभिन्न महान् आत्मा अजन्मा है। वही अत्यन्ताबाध्य सद्वस्तु है, उसमें परिणमन, रूपान्तरापत्ति अथवा जन्म नहीं है।

असत्कार्यवादी वैशेषिकादिका कहना है कि जो शशविषाणके समान नितान्त असत् है उसका जन्म भी संभव नहीं है। कोई-न-कोई विशेषता हुए बिना किसी भी वस्तुका अपना स्वरूप परिवर्तित नहीं हो सकता। यदि पूर्वावस्थाकी अपेक्षा उत्तरावस्थामें कोई विशेष न हो तो जन्म ही कैसा? असत्कार्यवादके पक्षमें यह कहना पड़ेगा कि असत् ही सत्के रूपमें जन्म ग्रहण करता है। परन्तु क्या ऐसा होना शक्य है। कथमसतः सञ्जायेत (छां० ६.२.२) यह श्रुति है। अर्थात् असत्से सत्की उत्पत्ति नहीं हो सकती।

यह स्पष्ट है कि द्वैतवादियोंमें परस्पर विरोध एवं विवाद है। दोनों पक्षमें इतना बल है कि कोई किसीका खण्डन नहीं कर सकता। सम्यक् ज्ञान उत्पत्तिका प्रतिपादक नहीं है, अजातका बोधक है। किससे जन्म हुआ, इसमें कलह हो सकता है, परन्तु जिसका जन्म ही नहीं है उसमें कलहके लिए कहाँ स्थान है।

इसका परस्पर विरोध क्या सिद्ध करता है? सुनिये। परस्पर विरोधी वाद-विवादसे ये द्वैतवादी पक्ष-प्रतिपक्षका खण्डन करके सज्जन्म और असज्जन्म दोनोंका ही बाध कर देते हैं और इस निष्कर्षपर पहुँचनेके लिए मार्ग प्रशस्त कर देते हैं कि आन्तर अधवा बाह्य जीव या जगत् किसी भी पदार्थ की उत्पत्ति नहीं होती। इनके अतिरिक्त किसी मध्यवर्ती वादके लिए कोई छिद्र नहीं है। यह ठीक है कि वेदान्तोंमें 'सतो हि मायया जन्म' (3.27) स्वीकार है। अर्थात् मायासे सत्का जन्म होता है परन्तु उसको तीसरा पक्ष नहीं माना जा सकता। क्योंकि पूर्वोक्त दोनों मतवालोंने इसको तृतीय पक्षके रूपमें माना ही नहीं है। और वेदान्तकी रीतिसे, मायासे जिसका जन्म होता है वह अजन्मा ही रहता है, उसका जन्म होता ही नहीं है। प्रतीयमान जन्मकी संगति लगानेके लिए मायाका अध्यारोप किया जाता है। अतएव अजात सिद्धान्त ही निर्दोष है।

**अजातवाद निर्विवाद क्यों है ? :**

ख्याप्यमानामजातिं तैरनुमोदामहे वयम्।

विवदामो न तै साधर्मविवादं निबोधत॥

सद्वादी एवं असद्वादी परस्पर विरोध एवं विवादके द्वारा जिस अजातको प्रकाशित करते हैं, हम उसका अनुमोदन करते हैं। हम उनके साथ विवाद नहीं करते। इस प्रकार निर्विवाद सिद्धान्तको समझना सुगम हो जाता है।

हम श्रुति-प्रमाणक साक्षात् अपरोक्ष अनुभवसिद्ध अजातको स्वीकार करते हैं। मायामात्र जन्मको कोई सत्से स्वीकार करे या असत्से—इससे हमारी प्रयोजनसिद्धिमें कोई बाधा नहीं आती। अजातकी परमार्थ सत्ता है। वह स्वयंप्रकाश अधिष्ठान, अद्वैत अपना स्वरूप है। हम स्वरूपस्थित हैं, हमें पक्ष-प्रतिपक्ष ग्रहणसे कोई आसक्ति नहीं है। क्योंकि वे जन्मवाद या जातिवाद कभी सत्य हो ही नहीं सकते। अद्वैत वस्तुसे अनन्य हैं सब प्रतीयमान विषय और



सत्सम्बन्धी वाद। जैसे वस्तुकी विपरीतता विवर्त है, प्रकाशकी विपरीतता भ्रान्ति है, वैसे ही वादकी विपरीतता विवाद है। अजात वस्तुमें इसका कोई कारण नहीं है। अजाति या अजात कोई पक्ष नहीं है, किसी पक्षका प्रतिद्वन्द्वी भी नहीं है। किसी प्रकारके अभावका प्रतियोगी भी नहीं है, अतएव इसके खण्डनकी कोई युक्ति नहीं है। यदि अजात भी कोई विशेष वस्तु-धर्म होता या किसी अभावका प्रतियोगी होता तो उसके सम्बन्धमें पक्ष-प्रतिपक्ष, वाद-विवाद उठाया जा सकता था। अपने स्वरूपके सम्बन्धमें क्या विवाद है ?

**वास्तविक स्वभावमें परिवर्तन नहीं होता :**

अजातस्यैव धर्मस्य जातिमिच्छन्ति वादिनः।

अजातो ह्यमृतो धर्मो मर्त्यतां कथमेष्यति॥

न भवत्यमृतं मर्त्यं न मर्त्यममृतं तथा।

प्रकृतेरन्यथाभावो न कथं चिद्विष्यति॥

स्वभावेनामृतो यस्य धर्मो गच्छति मर्त्यताम्।

कृतकेनामृतस्तस्य कथं स्थास्यति निश्चलः॥

सभी वादी चाहे वे सत्का जन्म मानते हों या असत्का, अन्ततः अजातधर्म अर्थात् आत्माका ही जन्म स्वीकार करते हैं। भला, अजात एवं अमृत भावरूप धर्माख्य मर्त्यभावको कैसे प्राप्त होगा? अमृत कभी मर्त्य नहीं होता और मर्त्य कभी अमृत नहीं होता। किसी भी वस्तुके स्वभावका अन्यथाभाव किसी प्रकार सिद्ध नहीं हो सकता। जिनके मतमें स्वभावतः अमृत भावपदार्थ आत्मा मर्त्यभावको प्राप्त हो जाता है, उनका किसी प्रक्रिया द्वारा निर्मित अमृतत्व निश्चल कैसे सिद्ध होगा?

जाति अर्थात् जन्म। सभी जातिवादी अजधर्मका ही जन्म स्वीकार करते हैं। जाति अर्थात् वस्तुका अन्यथाभाव, उसमें परिवर्तन—ऐसा होना असम्भव है, क्योंकि स्वभावका परिवर्तन कहीं देखनेमें नहीं आता। ये तीनों श्लोक अद्वैत प्रकरण (3.20,21,22)में आ चुके हैं। भाष्यकारने वहीं इनकी व्याख्या की है। यहाँ इनका पुनः उल्लेख इसलिए किया गया है कि आत्माका स्वभाव अजात है और वह उसे छोड़ नहीं सकता। विचार दृष्टिसे देखा जाय तो ज्ञात होगा कि बौद्धोंके अजातवादसे यह सर्वथा विलक्षण है। माध्यमिक वृत्तिके अनुसार सभी धर्म प्रतीत्यसमुत्पादकी रीतिसे अनुत्पन्न स्वभावके हैं। वह एक दूसरी बात है।

औपनिषद दर्शनमें सभी पदार्थ अज, अमृत, ब्रह्मस्वभाव हैं। वे अपने स्वभावका कभी परित्याग नहीं करते। शून्यवादी सभी भावोंको निःस्वभाव मानते हैं। उनके साथ ब्रह्मस्वभावका कोई मिश्रण नहीं है। यहाँ तो उनके निःस्वभावताका निषेध और ब्रह्मस्वभावताका प्रतिपादन है। जो लोग ब्रह्मका पारमार्थिक जन्म मानते हैं; उनका भी निषेध है! सभी जातिवादी अजातकी जाति मानकर वदतोव्याघात दोषसे ग्रस्त हो जाते हैं, परस्पर विरुद्ध अर्थकी कल्पना करते हैं, एक-दूसरेके तर्कसे पराजित होते हैं तथा इस प्रकार परमार्थ-निरूपणसे दूर हो जाते हैं। अजातका जन्म, अमृतकी मृत्यु—ये वचन ही व्यवहृत हैं। अतः उनके द्वारा ख्यापित अजातका हम अनुमोदन करते हैं, विवाद नहीं। वैसे जातका जन्म मानना भी निरर्थक और अनवस्था दोषसे ग्रस्त है। अतः मायिक जन्मके अतिरिक्त जन्मकी कोई उपपत्ति नहीं है।

अब तृतीय प्रकरणमें इन श्लोकोंकी क्या व्याख्या की गयी है, इसपर भी एक दृष्टि डाल लीजिए। वहाँ आत्मा अजात है, आकाशके समान है, जैसे घटादिकी उपाधिसे आकाशमें भेद दीखता है वैसे ही आत्मामें भेद औपाधिक है। रूप, कार्य एवं नामका भेद होनेपर भी आकाशवत् आत्मा अभिन्न ही है। उसमें कोई विकार या अवयव नहीं है, जैसे मूर्ख आकाशको मलिन समझते हैं वैसे ही आत्माकी मलिनता भी अज्ञदृष्टिसे है। इसमें मृत्यु-जन्म, गमनागमन आदि नहीं हैं। सभी संघात स्वप्नवत् मायासृष्ट हैं। आत्माके एकत्वके कारण आधिक्य या समताका प्रश्न ही नहीं उठता। 'तैत्तिरीय उपनिषद्में पंचकोशकी व्याख्याके द्वारा आत्माके शुद्ध स्वरूपका बोध कराया गया है।' (3.11)। 'मधु ब्राह्मणमें पृथिवी और उदर—दोनोंमें एक ही आत्मा है—ऐसा कहा है' (3.12)। 'उपनिषदोंमें अनन्यताकी प्रशंसा और नानात्वकी निन्दा है।' (3.13)। 'कहीं-कहीं उपनिषदोंमें भेदका वर्णन है वह गौण है।' (3.14)। 'मृत्तिका लौह एवं विस्फुल्लिंग आदिके दृष्टान्त आत्मज्ञानमें प्रवेशके लिए सोपान हैं' (3.15)। 'उपासना हीन अधिकारीके लिए है' (3.16)। 'मायासे ही जन्म होता है, वस्तुतः नहीं' (3.19)।

इसके बाद इस प्रसंगके तीनों श्लोक हैं। स्पष्ट है कि इन श्लोकोंकी बौद्धमतकी रीतिसे व्याख्या करना मूलग्रन्थकी दृष्टिसे ही अन्याय है। औपनिषदोंमें ही कुछ ऐसे मतवादी हैं जो ब्रह्मको द्वैताद्वैत एवं जीवको ब्रह्मविकार मानते। ब्रह्म-



जीवका भेदाभेद बतलाते हैं। कोई कहते हैं—उपाधिके कारण भिन्न है, उपाधिनाशसे अभिन्न होता है। कोई-कोई अग्निविस्फुल्लिंगवत् अंशांशिभावका प्रतिपादन करते हैं। उन सबका निशेध करता है। यह श्लोक कि अजात, अमृत आत्मा मर्त्य नहीं हो सकता। वस्तु-स्वभावकी विपरीतता किसीको अभीष्ट नहीं है। जो लोग शरीर-शरीरी भावसे ब्रह्म-जीवकी व्याख्या करते हैं, उनका मत भी श्रुति-शास्त्र-युक्ति-अनुभव विरुद्ध ही है। विद्वान् पुरुष ब्रह्मका वास्तविक जीवभाव और जीवका जीवभाव छोड़कर ब्रह्मभावापत्ति स्वीकार नहीं करते। उनका कहना है—ब्रह्म ही अविद्यासे जीव है और उसकी निवृत्तिसे ब्रह्म है। 'ब्रह्म-ही-ब्रह्म होता है।' 'ज्ञानमात्रसे ब्रह्म हो जाता है' इत्यादि श्रुतियाँ हैं।

किसी भी कृतक उपायसे ब्रह्मभावकी प्राप्ति नहीं हो सकती—नास्त्यकृतःकृतेन (मु० 1.2.12)। इससे यह सिद्ध होता है कि धर्म, उपासना, योगाभ्यास—किसी भी कृतिसाध्य उपायसे ब्रह्मकी प्राप्ति नहीं होती। वह तो नित्य प्राप्त स्वरूप ही है। धर्म—उपासनाके द्वारा अन्तःकरणकी शुद्धि होती है—यही मूलसम्मत है। 'उपासनाश्रित आत्मा कृपण है' (3.1)। 'सभी उपासनाएँ परविद्यामें अधिकृत करती हैं। उनका फल क्रममुक्ति है, सद्योमुक्ति नहीं' (वृ० वा० 4.2.13)। अजात ब्रह्मवादीका अमृतत्व कृतक=कृत्रिम नहीं है—स्वभाव है, यह अभिप्राय है।

इन तीनों श्लोकोंके बाद भी श्रुत्यर्थका ही विचार है। 'नेह नानास्ति किञ्चन' (बृ० 4.4.19), 'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते' (बृ० 2.5.19)—इन श्रुतियोंको उद्धृत किया गया है और सृष्टिको मायिक कहा गया है (3.24)। पच्चीसवें श्लोकमें ईशावास्यका सम्भूति-निषेध, छब्बीसवेंमें 'नेति-नेति'के उद्धरण हैं। तृतीय प्रकरणके उपसंहारमें जीव और जगत्—दोनोंकी उत्पत्तिका निषेध करके अजाद्वयस्वभाव ब्रह्मका निरूपण है। वही सत्यस्य सत्यम् है, (बृ० 2.1.20)। 'ब्रह्म ही सत्य है' (तै० 2.1)।

इस प्रकार तीसरे प्रकरणमें उल्लिखित एवं व्याख्यात श्लोकोंका पुनः उद्धृत होना इनके श्रौतत्वको सम्पुष्ट करना है और चतुर्थ प्रकरण अर्थात् अलातशान्तिको भी श्रौत ही सिद्ध करता है। सिद्ध यह हुआ कि किसी भी परमार्थ-प्रकृतिमें अन्यथा भाव नहीं होता, अतएव ब्रह्ममें भी जन्म नहीं है।

लौकिक प्रकृतिमें भी परिवर्तन नहीं होता :

सांसिद्धिकी स्वाभाविकी सहजा अकृता च या।

प्रकृतिः सेति विज्ञेया स्वभावं न जहाति या॥

जो सांसिद्धिक, स्वाभाविक, सहज एवं अकृता होती है उसे प्रकृति समझना चाहिए। उसका मुख्य लक्षण यह है कि वह अपने स्वभावका परित्याग नहीं करती।

पहिले कहा गया कि प्रकृतिके स्वभावका अन्यथाभाव कभी एवं कैसे भी नहीं होता। इसका कारण यह है कि लोकव्यवहारमें भी प्रकृति-विपर्यास अनुभूत नहीं है। यह प्रकृति क्या है? जो सम्यक् साधनासे सिद्धि मिलती है उसमें रहनेवाला स्वभाव सांसिद्धिकी प्रकृति है, जैसे सिद्ध योगियोंको अणिमादि सिद्धियोंकी प्राप्ति होती है। वह सदा रहती है, उसमें विपर्यय नहीं रहता है। द्रव्यके स्वभावसे ही सिद्ध प्रकृति स्वाभाविकी है। जैसे अग्नि-सूर्यादिमें उष्णता, प्रकाश। वह भी सभी देशकालोंमें अव्यभिचरित है। जन्म-जात स्वभाव भी प्रकृति है जैसे पक्षियोंका आकाशमें उड़ना। ऐसी और भी प्रकृतियाँ होती हैं जिनका किसीने निर्माण नहीं किया है जैसे जलका निम्न-प्रवाह। निष्कर्ष यह कि प्रकृति अपने स्वभावका परित्याग नहीं करती। जब मिथ्याकल्पित लौकिक वस्तुओंकी प्रकृति भी परिवर्तित नहीं होती तो अजस्वभाव परमार्थ वस्तु आत्म-तत्त्वकी प्रकृतिमें परिवर्तन कैसे सम्भव है? उपनिषदोंमें प्रसिद्ध है कि वह महान् अज आत्मा अजर, अमर, अमृत, अभय ब्रह्म है (बृ० 4.4.25) ज्ञानस्वरूप आत्माका जन्म-मरण नहीं होता (कठ० 1.2.28)। अतएव परमार्थतः जीव, जगत् अज स्वभाव ही हैं, जन्म-मरणवाले प्रतीत होते हैं। जन्मके परस्पर निषेधसे सद्वादी एवं असद्वादी दोनों ही आत्माके अज स्वभावका ही समर्थन करते हैं।

वास्तविकता यह है कि शून्यवादी भी प्रकृतिका अन्यथाभाव स्वीकार नहीं करते (माध्यमिक का० 15.8), परन्तु वे पदार्थोंकी कोई प्रकृति स्वीकार करके ऐसा नहीं कहते। वे तो 'भावोंका कोई स्वभाव नहीं है', इस निःस्वभावताको ही प्रकृति मानकर अपनी वाचोयुक्तिका प्रयोग करते हैं। चन्द्रकीर्तिका कहना है कि धर्मोंकी धर्मता क्या है?—उनका स्वभाव। स्वभाव क्या है?—प्रकृति। प्रकृति क्या है?—शून्यता। शून्य क्या है?—निःस्वभावता। निःस्वभावता क्या है?—तथता। वह क्या है? ज्यों-का-त्यों निर्विकारता। बाह्य पदार्थोंका सर्वथा अनुत्पाद ही शून्यकी तथता अथवा निर्विकारता है। इसमें देश-कालादिकी अपेक्षा नहीं है।



निःस्वभावताको अकृत्रिम होनेके कारण ही स्वभाव कहते हैं। माध्यमिक कारिकामें भी वही शैली स्वीकार की गयी है। भावोंका स्वभाव अनुत्पादात्मक होनेके कारण कुछ भी नहीं है। वे अभाव-मात्र स्वभाव हैं। अतएव उनके स्वभावका अर्थ है भावस्वभावका न होना। इत्यादि। इसका अन्यथाभाव नहीं होता।

औपनिषद दर्शनकी स्थिति इससे निराली है। जीव हो या जगत् सब कुछ अजामृत ब्रह्म स्वभाव ही है। जगत् बाधित होकर और जीव अपने परमार्थ-स्वरूपसे ब्रह्म ही है। यह व्यवस्थित-रूपसे सिद्ध करनेके लिए ही इस प्रसंगमें यह निरूपण किया गया है कि प्रकृति=स्वभाव, अर्थात् ब्रह्मभावका कथंचित् परिवर्तन नहीं होता। वेदान्तियोंका है अजात—ब्रह्मस्वभाववाद। बौद्धोंका है, सर्वभाव-निस्वभाव वाद। दोनोंका कोई मिश्रण नहीं है।



**अनन्तश्री स्वामी अखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज  
द्वारा विरचित एवं सम्प्रति उपलब्ध साहित्य**

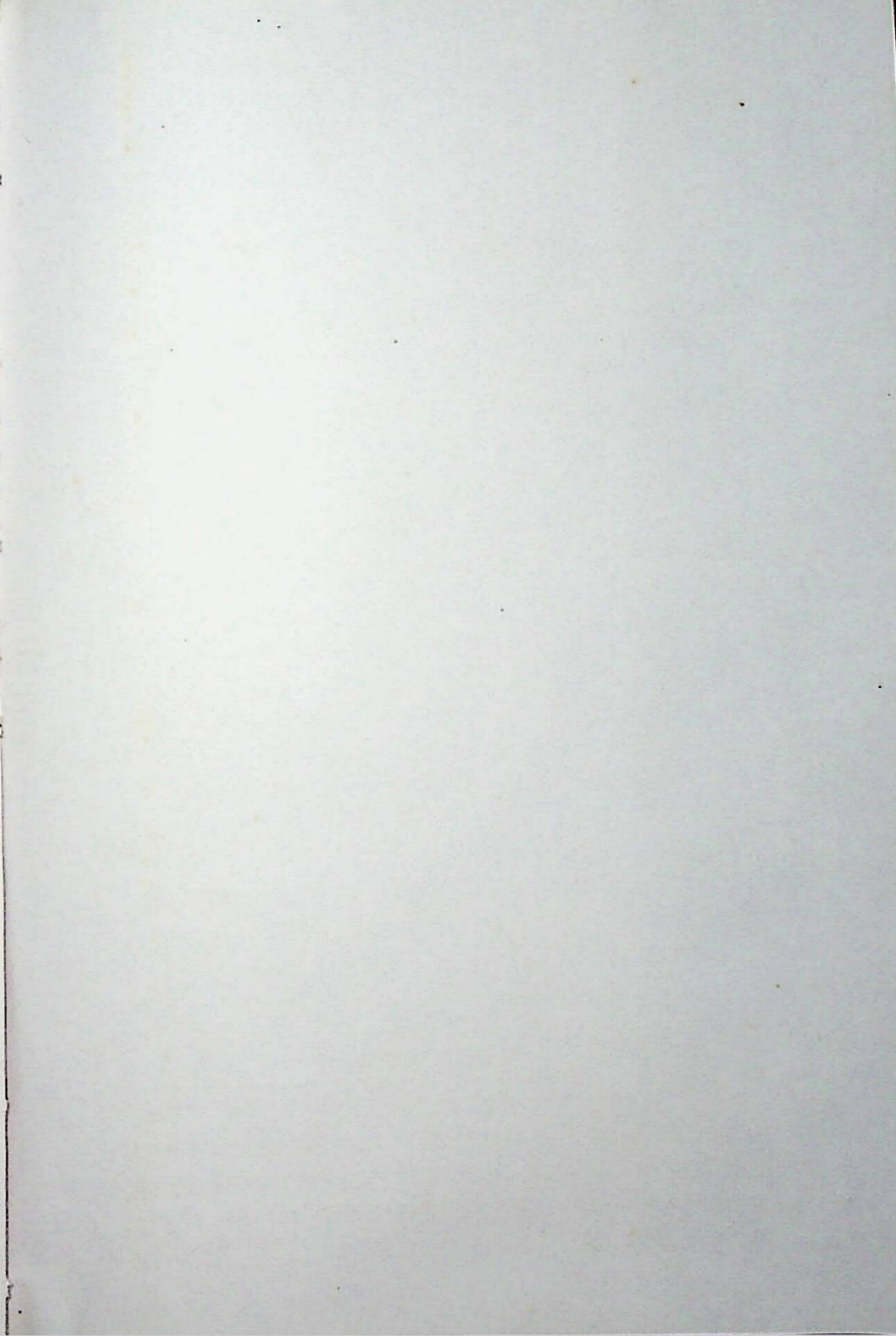
वेदान्त		श्रीमद्भागवत	
मुण्डक सुधा	110.00	भागवत दर्शन (दो भागोंमें)	450.00
माण्डूक्य प्रवचन		मुक्ति स्कन्ध	
(आगम प्रकरण) भाग-1	150.00	(भागवत-एकादश स्कन्ध)	200.00
माण्डूक्य प्रवचन		भागवत - दशम स्कन्ध	150.00
(वैतथ्य प्रकरण) भाग-2	80.00	रास पंचाध्यायी	80.00
माण्डूक्य प्रवचन		श्रीकृष्णलीला रहस्य	40.00
(अद्वैत प्रकरण) भाग-3	150.00	भागवतामृत	70.00
माण्डूक्य प्रवचन		भागवत सर्वस्व	25.00
(अलात शान्ति ) भाग-4	150.00	भागवत व्यंजन	50.00
ईशावास्य प्रवचन	20.00	गोपीगीत	65.00
केनोपनिषद्	50.00	वेणुगीत	30.00
कठोपनिषद् (दो भागोंमें)	250.00	युगलगीत	50.00
बृहदारण्यकोपनिषद्	60.00	गोपियोंके पाँच प्रेमगीत	15.00
श्वेताश्वरोपनिषद् (पेपरबैक)	125.00	उद्धवगीत	12.00
श्वेताश्वरोपनिषद् (सजिल्द)	175.00	कपिलोपदेश	60.00
कैवल्योपनिषद्	10.00	हंसगीता (हंसोपाख्यान)	5.00
छान्दोग्य-बृहदारण्यक एक दृष्टिमें	10.00	सद्गुरुसे क्या सीखें ?	15.00
ब्रह्मसूत्र प्रवचन-भाग 1	60.00	उनकी कृपा	20.00
ब्रह्मसूत्र प्रवचन-भाग 2	60.00	ऊखल बन्धन लीला	50.00
ब्रह्मसूत्र प्रवचन-भाग 3	60.00	सत्संग महिमा	15.00
दृग दृश्य विवेक	65.00	प्रह्लाद चरित	60.00
विवेक कीजिये		उद्धव ब्रजगमन	140.00
(विवेक चूड़ामणि प्रवचन)	65.00	भागवत विमर्श	50.00
अपरोक्षानुभूति प्रवचन	60.00	मानव जीवन और भागवत धर्म	100.00
वेदान्त बोध	60.00	प्रणयगीत	50.00
साधना और ब्रह्मानुभूति	100.00	गर्भ स्तुति	40.00
महाराजश्रीकी डायरीसे	6.00	<b>श्रीमद्भगवद्गीता</b>	
आनन्द सूत्र	12.00	गीता-रस-रत्नाकर (सम्पूर्ण गीता)	130.00
आनन्दानुभव	20.00	सांख्ययोग (गीता अध्याय-2)	150.00
जीवन्मुक्ति विवेक	120.00	कर्मयोग (गीता अध्याय-3)	60.00
अष्टावक्रगीता	80.00	ध्यानयोग (गीता अध्याय-6)	100.00
आनन्द रस-रत्नाकर	150.00	ज्ञान-विज्ञान-योग (गीता अ.-7)	80.00
		अक्षर ब्रह्मयोग (गीता अध्याय-8)	50.00



राजविद्या राजगुह्ययोग (गी. अ.-9)	35.00
विभूतियोग (गीता अध्याय-10)	150.00
भक्ति योग (गीता अध्याय-12)	30.00
ब्रह्मज्ञान और उसकी साधना (गीता अध्याय-13)	100.00
पुरुषोत्तमयोग (गीता अध्याय-15)	25.00
दैवी-सम्पदयोग (गीता अ.-16)	50.00
दैनिक जीवनमें गीता	55.00
योग: कर्मसु कौशलम्	6.00
मामेकं शरणं ब्रज	20.00
गीता दर्शन (तीनों भागोंमें)	600.00
गीतामें भक्तिज्ञान समन्वय	30.00
गीतामें मानवधर्म	25.00
वासुदेव: सर्वम्	10.00
रामायण	
श्रीरामचरितमानस (तीनों भागोंमें)	600.00
सुन्दरकाण्ड	
(वाल्मीकि रामायणान्तर्गत)	25.00
अध्यात्म रामायण	125.00
श्रीमद्वाल्मीकि रामायणामृत	60.00
भक्ति एवं साधना	
भक्ति एवं लीला	10.00
नारद भक्ति दर्शन	75.00
भक्ति सर्वस्व	75.00
भक्तिदर्शनामृत	50.00
अवतार रहस्य	20.00
माधुर्य कादम्बिनी	20.00
शिव संकल्प सूक्त	25.00
कृष्ण-कृष्णके उच्चारणसे कृष्ण प्राप्ति	10.00
मोहनकी मोहनी	15.00
दैनिक साधना : मानसी सेवा	10.00
ध्यानके समय	15.00
हनुमत्स्तोत्र	10.00
श्रीअखण्डानन्द स्तवः	6.00

सत्संग सुधा	20.00
प्रार्थना षट्पदी	25.00
भगवान्के पाँच अवतार	50.00
अंग्रेजीमें अनुदित साहित्य	
God Realization	10.00
Attainment of Krishna by Utterance of Krishna-Krishna	10.00
विविध	
पावन प्रसंग	80.00
आनन्दवाणी	80.00
आनन्द उल्लास	60.00
आनन्द बिन्दु	50.00
आनन्दवचनामृत	10.00
आनन्द वार्ता	10.00
व्यवहारशुद्धि	50.00
हृदयाकाशके हीरे	50.00
आप सबसे श्रेष्ठ हैं	20.00
गृहस्थाश्रम धन्य है	25.00
जीवन-एक यात्रा	20.00
व्यवहार और परमार्थ	25.00
ईश्वर दर्शन	20.00
भारतीय संस्कृति	10.00
जिज्ञासा और समाधान	30.00
ईशानुभूति (ईशा. आधार पर)	40.00
महाराजश्री : एक परिचय	25.00
सबके प्रिय सबके हितकारी	10.00
स्पन्द तत्त्व	15.00
आनन्द मंजूषा	60.00
आनन्द निर्झर	35.00
प्रेरक प्रसंग	15.00
आनन्द-पत्रावली	50.00
भिक्षुगीत	15.00
गुरुपूर्णमा	10.00

- प्रधान कार्यालय : सत्साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट, विपुल 28/16 बी. जी. खेरमार्ग मालाबार हिल, मुम्बई-400006, फोन : (022) 23682055, मो. : 09619858361 (नरेश भाई)
- शाखा कार्यालय : सत्साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट, श्रीअखण्डानन्द पुस्तकालय, आनन्द कुटीर, मोतीझील, वृन्दावन-281124  
फोन : (0565) 2913043, 2540487, मो. : 09837219460







## अलातशान्ति-प्रकरणका क्या अभिप्राय है ?

एक लकड़ीमें एक ओर या दोनों ओर मशालकी तरह, घास-फूस बाँध करके या कपड़ा बाँध करके, किरासनका तेल डाल करके आग जला देते हैं और उस लकड़ीको बीचमें-से पकड़कर घुमाते हैं तो कभी वह लम्बी मालूम पड़े—गोल मालूम पड़े, कभी चौड़ी मालूम पड़े उसको घुमानेसे तरह-तरहकी शक्ल मालूम पड़े। यद्यपि उस 'लूक'में, उस 'अलाव'में किसी प्रकारकी आकृति नहीं है—न लम्बी, न चौड़ी, न गोल, न उसमें हाथी है, न उसमें घोड़ा है, न उसमें रथ है, परन्तु उसको ऐसा घुमाते हैं कि उसमें सब आकृतियाँ मालूम पड़ती हैं। इसी प्रकार वह ज्ञानदेव ऐसी-ऐसी आकृतियाँ बनाते हैं कि उन आकृतियोंकी शान्ति, उन आकृतियोंके बाधके लिए अलातशान्ति प्रकरण प्रारम्भ करते हैं।

